श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २,११

जैन साहित्य का इतिहास

पूर्व-पीठिका



पं० कैलाशचन्द्र

सिद्धान्तरत्न, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

प्रधानाचार्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी

प्राक्कथन लेखक

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

अध्यक्ष इन्डोलॉजी कालेज हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी

प्रकाशक—

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

भदैनी, वाराणसी

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी
ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रथम संस्करण वीर नि० सं० २४८९
मूल्य १०)

मुद्रक—
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस, भदैनी, वाराणसी।

प्रकाशकीय

यह परम सन्तोषकी बात है कि लगभग दश वर्षके अनवरत प्रयत्न के बाद 'जैन साहित्य का इतिहास की पूर्व पीठिका' मुद्रित हो कर तैयार है। आशा है कि वह शीघ्र ही पाठको के अध्ययन के लिए सुलभ हो जायगी।

पूर्वपीठिका श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री प्रधानाचार्य श्री स्या० म० वि० काशी ने परिश्रम पूर्वक लिखी है। उन्हें इसके लिए जो भी श्रम करना पड़ा है उसका निर्देश उन्होंने अपने वक्तव्य में स्वयं ही किया है।

स्थापना काल से लेकर अद्यावधि श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थ-माला का संचालन श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री की देख रेख में होता आ रहा है। आर्थिक और दूसरे प्रकार की सब अनुकूलताओं की ओर भी उन्हीं को ध्यान देना पडता है।

नवम्बर सन् १९५३ की १३ तारीख को ग्रन्थमाला की बैठक आमन्त्रित की गई थी। उस बैठक मे ग्रन्थमाला समिति ने मेरे प्रस्ताव और पं० फूलचन्द्र जी के समर्थन करने पर 'जैन साहित्यका इतिहास' के निर्माण करने की स्वीकृति दी थी।

पूर्व पीठिका का लेखन कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व श्री पं० कैलाश-चन्द्रजी शास्त्री, स्व० श्री पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य और श्री पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने मिल कर 'जैन साहित्यका इतिहास' की 'प्रस्तावित रूपरेखा' तैयार की थी, जो सन् १९५४ में ही एक

पुस्तिका के रूप में मुद्रित कर दी गई थी। प्रस्तुत 'पूर्व पीठिका' उसी के अनुसार लिखी गई है। उस समय सबकी सम्मति से 'पूर्वपीठिका' के लेखन का भार श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री को सौंपा गया था। हमे यहाँ यह लिखते हुए परम हर्ष होता है कि पण्डित जी ने प्रस्तावित रूपरेखा मे निर्दिष्ट बातो को ध्यान मे रख कर यह कार्य बडी योग्यता पूर्वक सम्पन्न किया है। पण्डित जी की लेखनी मजी हुई है। तथ्यो का संकलन भी वे बड़ी योग्यता और तटस्थ भाव से करते हैं जो किसी भी इतिहासान्वेषी का सबसे बड़ा गुण माना गया है। उनकी इस सेवा के लिए श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थ-माला समिति उनकी ऋणी है। ज्ञात हुआ है कि पण्डित जी ने करणानुयोग और द्रव्यानुयोग (दर्शन भाग को छोड़ कर) का इतिहास भी लिख लिया है। मै चाहता हूँ कि वे ही अपने नेतृत्व में ग्रन्थमाला के साधनो को देखते हुए शेष कार्य को भी शीघ्रातिशीघ्र पूरा करा दे ताकि वह प्रकाशन के लिए दिया जा सके।

इसका प्राक्कथन डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने लिखा है। इसके लिए ग्रन्थमाला समिति की ओर से उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ। आशा है कि भविष्य में भी इस महान् कार्य मे उनका मार्गदर्शन प्राप्त होता रहेगा।

अब तक इस कार्य मे आर्थिक या दूसरे प्रकार मे अन्य जिन महानुभावो ने योगदान किया है, इस अवसर पर मैं उन सबका भी आभार मान लेना अपना कर्तव्य समझता हूं। यह कार्य बहुत बड़ा है। इसमे आर्थिक और बौद्धिक सभी प्रकार का सहयोग अपेक्षित है। मुझे विश्वास है कि भविष्य मे भी श्री ग० व० ग्रन्थमाला को उनका सहयोग मिलता रहेगा।

जिस पुण्यात्मा के संस्मरण स्वरूप ग्रन्थमाला की स्थापना हुई

थी वह विभूति अब हमारे बीच में नहीं है। यह एक बहुत बड़ी क्षति है, जिसका मैं ही क्या समग्र जैन समाज अनुभव करता है। फिर भी यह हमारा भाग्य है कि उनका पुण्य आशीर्वाद हमारे साथ है। मुझे भरोसा है कि उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप ग्रन्थमाला समिति ने जो यह कार्य अपने हाथ में लिया है वह अवश्य ही पूरा होगा।

श्री जैन शिक्षा संस्था
कटनी (जबलपुर)
२५-३-६३

निवेदक
जगन्मोहनलाल शास्त्री
(उपाध्यक्ष श्री ग० वर्णी जैन ग्र०)

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथ माला को श्री जैन साहित्य के इतिहास निमित्त जो आय हुई और इस मदमें अभी तक जो व्यय हुआ उसका विवरण—

आय

१५००) श्रीमान् सिंघई श्रीनन्दनलाल राजकुमार जी बीना इटावा
१००१) स्व० श्रीमान् सेठ लालचन्द जी दमोह
६५१) दि० जैन समाज विदिशा
५०१) श्रीमान् श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द जी राजेन्द्रकुमारजी विदिशा
५०१) श्रीमान् अवीरचन्द रूपचन्द जी कुमार स्टोर विदिशा

५००) श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता
५०१) श्री दि० जैन समाज जसवन्तनगर
४००) श्री दि० जैन समाज जबलपुर
१५०) श्री अहिंसा प्रतिष्ठान, श्रीमान् लाला सीताराम
फीरोजीलाल जी दिल्ली
१५१) ट्रष्टियान, स० सि० टोडरमल कन्हैया लाल जी दि० जैन
पा० ट्रष्ट कटनी
१००) श्रीमान् कन्हैयालाल नेमिचन्द जी पलवल
५१) श्रीमान् नेमिचंद सुभाषचंद जी साईकिल मार्ट
पुरानी चरहाई जबलपुर
५०) श्रीमान् मूलचन्द भागचद जी इटोरया दमोह
६०५७) कुल योग

व्यय

१०५२७–६८ पारिश्रमिक
८३–२६ स्टेशनरी, पोष्टेज, रिक्सा व फुटकर
३०८–६७ सफर खर्च
२२८१–१६ छपाई—कागज
१०००–० लगभग (जो पारिश्रमिक, छपाई और पुस्तक
बाईडिंग आदि के बिल के भुगतान में
अभी करना शेष है।)
१४२०१–४३ कुल योग

———

प्राक्कथन

काशीपुरी जैनधर्म का प्राचीन तीर्थ स्थान है। वहीं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय नामकी अतिविशिष्ट विद्या संस्था गंगा तट पर स्थित है। पूज्यपाद श्री वर्णी जी ने अपने तपःपूत आदर्श के अनुसार सन् १६०५ में इसकी स्थापना की थी। उसके वर्तमान विद्याध्यक्ष श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने 'जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका' नामक अन्वेषण युक्त ग्रन्थ लिखा है जिसका मैं स्वागत करता हूँ।

लगभग ५ वर्ष पूर्व मेरे मन मे जैन साहित्य के बृहत् इतिहास निर्माण का एक विचार उत्पन्न हुआ था। काशी के जैन विद्वानों में उसके प्रति उत्साह उत्पन्न हुआ। मुझे इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो मान्यताओंके अनुयायी विद्वानों ने उसका स्वागत किया। तदनुसार पार्श्वनाथ आश्रम की ओर से श्री दलसुख भाई मालवणिया की देख-रेख में जैन साहित्य का इतिहास पाच भागों मे लिखा जाने लगा। उसका पहला भाग तैयार है पर अभी तक वह प्रकाशित होकर सामने नहीं आया। दूसरी ओर स्व० श्री महेन्द्र कुमार जी जैन ने श्री वर्णी जैन ग्रन्थमाला की ओर से अपने सहयोगियों के साथ इस साहित्य का इतिहास दिगम्बर सामग्री के आधार पर विरचित करने का संकल्प किया। श्री महेन्द्र कुमार अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान थे। वे काशी विश्व विद्यालय में बौद्ध दर्शन के प्राध्यापक थे। उनकी प्रेरणा से यह कार्य समय पाकर संसिद्ध होने को था, किन्तु ईश्वर की इच्छा कि वे अकाल में ही स्वर्गवासी हो गये। मुझे इस बात का बहुत हर्ष है कि उनके घनिष्ठ सहयोगी और मित्र श्री पं० कैलाशचन्द्र जी ने उस पवित्र संकल्प को न केवल अविस्मृत ही रखा

वरन् अपनी श्रमशीलता और प्रज्ञा से उसे मूर्तरूप भी दे डाला। फलस्वरूप जैन साहित्य के इतिहास की यह पूर्व पीठिका विद्वानों के सामने आ रही है।

इस ग्रन्थ मे जैनधर्म की मूल स्थापना से लेकर संघ भेद तक के सुदीर्घ काल का इतिहास लिखा गया है। इसमे श्रमण परम्परा इस देश मे जिस प्रकार विकसित हुई उसका विवेचन किया गया है। इतिहास लेखन विशेष कला है। उसमें प्रमाण सामग्री और लेखक की निजी दृष्टि के अनुसार उसकी व्याख्या, इन दो चक्रो पर ऐतिहासिक लेखन का रथ गतिशील होता है।

यह सुविदित है कि जैनधर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान महावीर तो अन्तिम तीर्थङ्कर थे। मिथिला प्रदेश के लिच्छवी गणतंत्र से, जिसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है, महावीर का कौटुम्बिक सम्बन्ध था। उन्होने श्रमण परम्परा को अपनी तपश्चर्या के द्वारा एक नई शक्ति प्रदान की जिसकी पूर्णतम परम्परा का सन्मान दिगम्बर परम्परा में पाया जाता है। भगवान महावीर से पूर्व २३ तीर्थङ्कर और हो चुके थे। उनके नाम और जन्म वृत्तान्त जैन साहित्य में सुरक्षित हैं। उन्ही मे भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर थे जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा? भागवत में ही इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभ के शत पुत्रो में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारत वर्ष कहलाया—

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत ।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥
—भागवत ५।४।९।

भागवत में एक और भी आश्चर्य जनक तथ्य लिखा है—

'तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥

—भागवत ११।२।१७।

इसके अनुसार भरत भी परम भागवत थे और नारायण भगवान् विष्णु के भक्त थे। अत एव एक ओर जहा जैनधर्म में उनका अत्यन्त सम्मानित पद था, वहीं दूसरी ओर भागवत जनता भी उन्हें अपना आराध्य मानती थी। इतना ही नहीं, ऋषभ और भरत इन दोनों का वंशसम्बन्ध उन्हीं स्वायंभुव मनु से कहा गया है जिनसे और भी ऋषियो का वंश और राजर्षियो की परम्परा प्रख्यात हुई। स्वायंभुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ, और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभ वर्ष कहलाता था। प्रियव्रत ने अपने अग्नीध्र आदि सात पुत्रों को सप्त द्वीपों का राज्य दिया था। उनमे अग्नीध्र को जम्बूद्वीप का राज्य मिला। अग्नीध्र की भार्या पूर्वचिति अप्सरा से नौ खण्डो में राज्य करने वाले नौ पुत्रों का जन्म हुआ। उनमे ज्येष्ठ पुत्र नाभि थे, जिन्हें अजनाभ खण्ड का राज्य प्राप्त हुआ। यही अजनाभ खण्ड पीछे भरतखण्ड कहलाया। नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान चक्रवर्ती थे। यह अत्यन्त मूल्यवान् ऐतिहासिक परम्परा किसी प्रकार पुराणों मे सुरक्षित रह गई है। वायु पुराण ३३।५१-५२, मार्कण्डेय पु० ५३।३९-४०, मे भी इसी प्रकार की अनुश्रुति पाई जाती है। ये उद्धरण जैन अनुश्रुति की ऐतिहासिकता सूचित करते हैं। २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ कृष्ण और बलराम के चचेरे भाई थे ऐसा जैन साहित्य मे उल्लेख है। जैन कला में भी नेमिनाथ की मथुरा से प्राप्त मूर्तियो मे कृष्ण और बलराम का अङ्कन दोनों ओर पाया जाता है।

सिन्धु घाटी में भी दो नग्न मूर्तियां मिली हैं। इनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित पुरुषमूर्ति है। दूसरी को भी अब तक पुरुष मूर्ति कहा जाता है। किन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वह नृत्य मुद्रा में स्त्री मूर्ति है। अभी पहली मूर्ति की पहचान किस प्रकार की जाये यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना ही रहता है। अथर्ववेद के एक मंत्र में महानग्न पुरुष और महानग्नी स्त्री के मिथुन का उल्लेख आता है—

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुधावति।
इमा स्तदस्य गा रक्ष यभमामध्यौदनम्॥
—अथर्व० २०।१२६।११

किन्तु जैन और कुछ जैनेतर विद्वान भी पुरुष मूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा के आधार पर इसे ऐसी प्रतिमा समझते हैं जिसका सम्बन्ध किसी तीर्थङ्कर से रहा है। सिन्धु लिपि के पढे विना इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। किन्तु एक दूसरा प्रमाण जो सन्देह रहित है, सामने आ जाता है। वह पटना के लोहानीपुर मुहल्ले से प्राप्त एक नग्न कायोत्सर्ग मूर्ति है। उस पर मौर्य कालीन ओप या चमक है और श्री काशीप्रसाद जायसवाल से लेकर आज तक के सभी विद्वानों ने उसे तीर्थङ्कर प्रतिमा ही माना है। उस दिशा में वह मूर्ति अब तक की उपलब्ध सभी बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मूर्तियों से प्राचीन ठहरती है। कलिंगाधिपति खारवेल के हाथीगुम्फ शिला लेख से भी ज्ञात होता है कि कुमारी पर्वत पर जिन प्रतिमा का पूजन होता था। इन संकेतों से इंगित होता है कि जैन धर्म की यह ऐतिहासिक परम्परा और अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन थी।

वस्तुतः इस देश में प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो परम्पराएँ ऋग्वेद

के समय में भी प्रचलित थीं। प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा कहते थे। यज्ञविधि और चार आश्रम उसी के अंग थे। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहा जाता था। वानप्रस्थ धर्म और श्रमण विधि उसकी विशेषताएँ थीं। ऋग्वेदके दशममण्डलके १३५वें सूक्तके कर्ता सात वातरशना मुनि थे। यथा—'१ जूति, २ वातजूति, ३ विप्रजूति, ४ वृषाणक ५ करिक्रत, ६ एतशः ७ ऋष्यशृङ्ग एते वातरशना मुनयः।' वातरशना का वही अर्थ है जो दिगम्बर का है। वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है। दोनो शब्द एक ही भाव के सूचक हैं। इस सूक्त में वातरशना मुनियों को मलधारी सूचित किया गया है। ज्ञात होता है कि भस्म आदि मलने से उनकी जटाएँ पिशङ्ग या कपिल वर्ण की दिखाई पड़ती थीं। जैसे आज कल के धूनि रमाने वाले साधुओं की होती हैं—

'मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मलाः।'

—ऋग्वेद १०।१३५।२।

इसी सूक्त के पाँचवे मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि एक-एक देव के साथ एक-एक मुनि उसका सखा है—

मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः—१०।१३५।५।

इन उल्लेखो का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कुछ है। देव परम्परा के तुल्य ही मुनि परम्परा की लोकप्रियता भी इससे सूचित होती है। महाभारत में तो स्पष्ट उल्लेख है कि प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि के लिए सनक[1] आदि सात पुत्रों को उत्पन्न किया। किन्तु वे निवृत्तिमार्गी

१—'सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातन ॥७२॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥७३॥

—महाभारत, शान्तिपर्व।

होकर वन में चले गये। तब ब्रह्मा ने दूसरे सात पुत्र उत्पन्न किये। और उन्होंने प्रवृत्ति का आश्रय लेकर प्रजाओं को उत्पन्न किया।

निवृत्तिमार्गीय श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय महावीर और बुद्ध के समय में थे और उनसे पूर्व भी विद्यमान थे एवं उसके बाद भी चलते रहे। अशोक ने इसी आधार पर श्रमण ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। उसका अभिप्राय ब्राह्मण और श्रमणोंकी दो पृथक् परम्पराओंके अस्तित्व से ही था। पतञ्जलि ने पाणिनि के **'एसाञ्च विरोधः शाश्वतिकः'** सूत्रपर 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण **देते हुए** सूचित किया है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का पृथक-पृथक अस्तित्व लगभग शाश्वत काल से था। जैसा हम देख चुके हैं ऋग्वेद से भी यह ज्ञापित होता है।

श्रमण भिक्षु संस्था का जैन, ब्राह्मण और बौद्ध सामग्रीके आधारपर पूरा और तुलनात्मक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उससे विदित होगा कि गोव्रतिक, श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक आदि सैकड़ों प्रकार के श्रमण-मार्गी आचार्य थे। उन्हीं में से एक निर्ग्रन्थ महावीर हुए और दूसरे बुद्ध। औरों की परम्परा लगभग नामशेष हो गई या ऐतिहासिक काल में विशेष रूप से परिवर्तित हो गई। कपिल और जैगीषव्य श्रमण या निवृत्तिमार्गी आदर्शों के मानने वाले थे। किन्तु उनका केवल दर्शन बचा है सम्प्रदाय नहीं। ज्ञात होता है कि बाद के शैव माहेश्वर सम्प्रदाय में उनका अन्तर्भाव हो गया और उनके दार्शनिक सिद्धान्त को भी, जो मूल में अनीश्वरवादी था, सेश्वर बनाकर एक ओर पाशुपत शैवों ने दूसरी ओर भागवतों ने अपना लिया। इस विषय में पुराणों में पर्याप्त सामग्री है।

इन पुराणों से हमारा तात्पर्य यह बतलाना है कि भारतीय संस्कृति में निवृत्तिधर्मी श्रमण परम्परा और प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थ परम्परा दोनों दो बटी हुई रस्सियों की तरह एक साथ विद्यमान रही हैं और दोनों

में बहुत कुछ आदान-प्रदान भी चलता रहा है। श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला, एवं शंकराचार्य ने तो दशनामी संन्यासियों के रूप में मानो श्रमणों जैसा ही नया संगठन खड़ा कर दिया, जो आज तक जीवित है। उधर ब्राह्मणों और भागवतों के गृहस्थ सम्बन्धी सम्मानित आदर्शों से श्रमण सम्प्रदायमें भी गृहस्थ आश्रम को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जो आज भी जैनधर्म में सुरक्षित है। प्राचीन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अनेक गृहपति बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ थे।

इन मिले जुले तारों या उलझे हुए धागोको सुलझाना ऐतिहासिक का कर्तव्य है। इसके लिए मन में सहानुभूति और सहिष्णुता की परम आवश्यकता है। सच्चे ऐतिहासिक को उस प्रकार का मानस अपने भीतर बनाना चाहिए जो राष्ट्रीय संस्कृति के समग्र तत्त्वों को सम्प्रीति के चक्षु से देख सके। इस उद्देश्य मे सामग्री को दृष्टिपथ में लाने वाले जितने भी प्रयत्न हो, स्वागत के योग्य हैं। सत्य यह है कि हमारी निजी व्यक्तिगत मान्यताओं से इतिहास के देवताओं का आसन कहीं ऊँचा है।

हमें प्रयत्न करना चाहिये कि हमारे अन्वेषण के दो पुष्प वहा तक पहुँच सके। इस दृष्टि से हम श्री कैलाश चन्द्र जी के इस प्रयत्न का अभिनन्दन करते हैं।

मालवीय जयन्ती
काशी विश्व-विद्यालय

(डा०) वासुदेव शरण अग्रवाल
अध्यक्ष इन्डोलॉजी कालेज

लेखक के दो शब्द

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है किन्तु उसके इतिहास लेखन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। डा० विन्टरनीट्स ने जर्मनभाषा मे जो भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा था और जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं उसमे उन्होंने जैनसाहित्य के सम्बन्ध में भी एक छोटा सा प्रकरण दिया है। किन्तु वह भी बहुत संक्षिप्त और अपूर्ण है। श्री मोहनचन्द दलीचन्द देसाई ने गुजराती भाषा मे 'जैनसाहित्य नो इतिहास' लिखा था और वह जैनश्वेताम्बर कान्फेंस वम्बई की ओर से प्रकाशित हुआ था। किन्तु उसमे केवल श्वेताम्बर साहित्य को ही अपनाया गया था। अतः दिगम्बरीय जैन-साहित्य का कोई क्रमबद्ध इतिहास नही लिखा गया। दिगम्बर जैन विद्वानो में अपने साहित्य के प्रति अभिरुचि होते हुए भी उसके इतिहास के प्रति कोई अभिरुचि नही है और इसका कारण यह है कि इस देश के विद्वानो मे प्रारम्भ से ही इतिहास के प्रति अभिरुचि नहीं रही। आज भी संस्कृत भाषा के उच्चकोटि के विद्वान भी इतिहास को अनुपयोगी ही समझते हैं। किन्तु देश के इतिहास की तरह साहित्य का इतिहास भी उपयोगी होता है। उससे ग्रन्थगत और विषय गत बातो के सम्बन्ध में अभिनव प्रकाश पड़ता है और अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः किसी ग्रन्थ का विषयगत हार्द समझने के लिए उस ग्रन्थ और ग्रन्थ-कार की सामयिक परिस्थिति तथा उसके पूर्वज ग्रन्थों और ग्रन्थकारो का उसपर प्रभाव भी जानना आवश्यक होता है। और ये सब साहित्य के इतिहास को जाने बिना सम्भव नही है।

दिगम्बर जैन समाज में सर्व प्रथम इस विषय की ओर श्री नाथूराम जी प्रेमी तथा पं० जुगल किशोर जी मुख्तार का ध्यान गया। इन दोनों आदरणीय व्यक्तियों ने अपने पुरुषार्थ और लगन के बल पर अनेक जैनाचार्यों और जैनग्रन्थों के इतिवृत्तों को खोजकर जनता के सामने रखा। आज के जैन विद्वानों में से यदि किन्हीं को इतिहास के प्रति अभिरुचि है तो उसका श्रेय इन्हीं दोनों विद्वानों को है। कम से कम मेरी अभिरुचि तो इन्हीं के लेखों से प्रभावित होकर इस विषय की ओर आकृष्ट हुई।

सन् १९५४ के करीब कुछ सामयिक परिस्थिति वश, जिसका संकेत डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने प्राक्कथन के प्रारम्भ में किया है, जैनसाहित्य के इतिहास निर्माण की चर्चा बड़े जोरों से उठी और उसको उठाने का बहुत कुछ श्रेय न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमार जी का था। उसी के फल स्वरूप श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला काशी ने उस कार्य का भार उठाया और कुछ विद्वानों को उसका भार सौंपा, जिनमें एक मेरा भी नाम था। पं० महेन्द्र कुमार जी तो स्वर्गवासी हो गये और मुझे अकेले ही इस भार को वहन करना पड़ा। मैं न तो कोई इतिहास का विशिष्ट अभ्यासी विद्वान हूँ और न एसे महान् कार्य के लिए जिस कोटि के ज्ञान की आवश्यकता है वैसा मुझे ज्ञान ही है। किन्तु 'न कुछ से तो कुछ बेहतर होता है' इस लोकोक्ति को ध्यान में रखकर मैंने यह अनधिकार चेष्टा की है। और इस आशा से की है कि मेरी गलतियों से प्रभावित होकर ही शायद कोई अधिकारी व्यक्ति इस दिशा मे आगे बढने के लिए तैयार हो जाये। यदि मेरी यह आशा पूर्ण हुई तो मै अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

यह केवल जैनसाहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका है। जैनसाहित्य का निर्माण जिस पृष्ठभूमि पर हुआ उसका चित्रण करने के लिये इस पीठिका में जैनधर्म के प्राग् इतिहास को खोजने का भी प्रयत्न किया गया है। साहित्य का इतिहास तो आगे प्रकाशित होगा।

मुझे इस कार्य में जिन महानुभावों से सहयोग मिला उनके प्रति भी आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य है। वर्णीग्रन्थ माला के मंत्री पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य और संयुक्त मंत्री पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री का मुझे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ और वे बराबर मेरा

उत्साह बढ़ाते रहे। यदि उनकी ओर से मुझे प्रोत्साहन न मिलता तो मैं भी शायद ही आगे बढ़ सकता।

इस अवसर पर पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी महाराज का स्मरण भी बरबस हो आता है। जब भी उनके दर्शनों के लिए ईसरी जाना होता, वे बराबर कार्य की प्रगति के बारे में पूछते थे। खेद है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही वह स्वर्गवासी हो गये।

हिन्दू विश्व विद्यालय के पुस्तकालय में बैठकर मैंने महीनो तक पुरानी फाइलो और रिपोर्टों का अनुगम किया है और इसके लिए पुस्तकालय के तत्कालीन अध्यक्ष श्री विश्वनाथन् तथा इन्डोलाजी कालिज के तत्कालीन अध्यक्ष डा० राजबलि पाण्डेय का कृतज्ञ हूँ। श्री काशी विद्यापीठ के भगवानदास स्वाध्यायपीठ से भी मुझे अनेक पुस्तकें प्राप्त हो सकीं। उसके अध्यक्ष मेरे अनुज प्रो० खुशालचन्द गोरावाला हैं। उनके प्रति अपना सौहार्दभाव प्रकट करता हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी के अधिष्ठाता मुनिवर श्री कृष्णचन्द्राचार्य के सौजन्य से मुझे आश्रम के पुस्तकालय से भी पुस्तकें प्राप्त हुई, एतदर्थ मैं मुनिजी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ। देहली के लाला पन्नालाल जी अग्रवाल तथा जयपुर के डा० कस्तूर चन्द जी काशली वाल के द्वारा भी हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं। जैन सिद्धान्त भवन आरा के तत्कालीन पुस्तकाध्यक्ष पं० नेमिचन्द जी ज्योतिषाचार्य से भी यथावश्यक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। अत. मैं उन्हें भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अन्त मे मै डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी इस पीठिका के लिए प्राक्कथन लिखा देने का कष्ट उठाया।

क्या मै आशा करूँ कि इस पीठिका को पढ़कर पाठक जैनसाहित्य के इतिहास के प्रति उत्सुक हो सकेंगे।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
ऋषभ जयन्ती
वी० नि० सं० २४८९

कैलाशचन्द्र शास्त्री

— — —

विषय-सूची

—:-:*:-:—

जैन साहित्यका इतिहास

पूर्व-पीठिका

१. जैनधर्मके इतिहासकी खोज और उसका परिणाम

'इतिहास' शब्द हमारे लिए नया नहीं है। किन्तु हमारे देशके इतिहास' लेखकोंको भी यह मानना पड़ा है कि इतिहासकी जिज्ञासा हमारे देशके जन-साधारणमें और शिक्षित कहलानेवाले वर्गमें भी अत्यन्त मन्द रही है। और आज यदि हमारे इतिहास नेत्र खुले हैं तो पाश्चात्य विद्वानोंके संसर्ग और प्रभावसे।

जब पाश्चात्य विद्वान भारतवर्षके निकट सम्पर्कमें आये तो उनका ध्यान इस देशके इतिहासकी ओर गया। पहले तो यही कहा जाता रहा कि मुसलमानोंके आक्रमणसे पूर्व (ईसाकी ११ वीं शती) भारतका कोई इतिहास नहीं मिलता। किन्तु १७९३ ई० में सर विलियम जोन्सने भारतपर आक्रमण करनेवाले सिकन्दरका इतिहास लिखनेवालोंके 'सैन्ड्रोकोट्टस' को जब संस्कृत साहित्यका चन्द्रगुप्त बतलाया तो भारतीय इतिहासकी पूर्वावधि सिकन्दरके आक्रमणकालसे निर्धारित की गई।

इसी समयके लगभग ग्रीक और रोमके प्राचीन साहित्यके पण्डित पाश्चात्य विद्वानोंने भारतकी प्राचीन भाषाओंका अध्ययन प्रारम्भ किया। वे यह देखकर आश्चर्य चकित हुए कि संस्कृत

---

१. भा० इ० रू०, जि० १, पृ० ६। २. कै० हि०, भू०, पृ० १।

भाषाके शब्द और प्रत्यय ग्रीक और लैटिन भाषासे बहुत मिलते जुलते हैं। इस परसे यह प्रश्न पैदा हुआ कि इस समानताका क्या कारण है ? इसी प्रश्नके समाधानके लिये की गई खोजोंके फलस्वरूप आर्योंके भारतमें आकर बसनेकी कथा प्रवर्तित हुई और तुलनात्मक भाषाविज्ञानने जन्म लेकर ऐतिहासिक अनुसन्धान को नई दिशा प्रदान की। उसीके फलस्वरूप ऋग्वेद-को विश्वकी प्राचीनतम पुस्तक और आर्योंके ज्ञान-विज्ञानका अक्षय भण्डार बतलाया गया।

वैदिक साहित्यसे परिचित होनेके पश्चात् पाश्चात्य विद्वान् क्रमसे बौद्ध और जैन साहित्यके सम्पर्कमें आये। और उन्होंने अपनी ऐतिहासिक पद्धतिके द्वारा उपलब्ध साधनोंके आधारपर इन धर्मोंकी खोजबीन आरम्भ की। किन्तु उस समय तक युरोपमें जैन ग्रन्थोंका मिलना दुर्लभ था, अतः बहुत समय तक वे जैन धर्मके सम्बन्धमें कोई स्पष्ट मत नहीं बना सके, और जैन धर्मके आरम्भको लेकर यूरोपीय संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी पूर्व पीढ़ी मुख्यरूपसे दो मतोंमें विभाजित हो गई। उस समयकी इस स्थितिका पूरा विवरण डॉ० बुहलरने अपनी पुस्तिका (इं० से० जै० पृ० २३) में इस प्रकार दिया है–'कोलब्रुक, स्टिवेन्सन और थामस-का विश्वास था कि बुद्ध जैनधर्मके संस्थापकका विद्रोही शिष्य था। किन्तु उससे भिन्न मत एच० एन० विल्सन, ए-वेबर और लॉसेनका था, और साधारणतया यही मत माना जाता था। उनके मतानुसार जैनधर्म बौद्धधर्मकी एक प्राचीन शाखा थी। इस मतका आधार था जैनों और बौद्धोंके सिद्धान्तों, लेखों और परम्पराओंमें समानताका पाया जाना और बौद्धोंके साहित्यकी भाषासे जैन आगमोंकी भाषाका अधिक आधुनिक होना तथा जैन आगमोंके प्राचीन होनेमें विश्वसनीय प्रमाणोंका अभाव। प्रथम मैं भी

इस मतकी सत्यतामे विश्वास करता था और मैने जैनोको सम्मतीय (?) बौद्ध शाखाका समझा। किन्तु अंग्रेजी सरकार के लिये ग्रन्थ संग्रह करनेके कारण मुझे जैन साहित्यका विशेष रूपसे परीक्षण करना पड़ा तो मैने पाया कि जैनोने अपना नाम बदल दिया है। अति प्राचीन कालमे वे निर्ग्रन्थ कहे जाते थे। मैने देखा कि बौद्ध लोग निर्ग्रन्थोंसे परिचित थे, उन्होने उनके प्रभाव तथा संस्थापकका वर्णन बुद्धके प्रतिद्वन्दीके रूपमे किया है और लिखा है कि पावामे उसकी मृत्यु हुई। जैनोमे अन्तिम तीर्थङ्करका निर्वाणस्थान भी पावा माना जाता है। इससे मुझे स्वीकार करना पड़ा कि जैन और बौद्ध एक ही धार्मिक आन्दोलन से उपजे है। मेरी इस धारणाका समर्थन जेकोबीने किया। जेकोबी मेरेसे स्वतन्त्र दूसरे मार्गमे लगभग इसी परिणाम पर पहुँचे थे। उन्होने बतलाया कि बौद्ध त्रिपिटकोमे अन्तिम तीर्थङ्कर का जो नाम आता है वही नाम जैन आगमोमे भी आया है। इं०ए०, जि० ७ पृ० १४३ मे तथा जेकोबीके द्वारा सम्पादित कल्पसूत्रकी प्रस्तावनामे हमारे इस मतका प्रकाशन होनेके बाद उक्त प्रश्न पर मतभेद हो गया। ओल्डन वर्ग, कर्न, हार्नले तथा अन्य विद्वानोने हमारे नये मतको बिना किसी हिचकिचाहट के मान लिया। किन्तु ए० वेबर और बार्थ (रि० इ०) अपने पुराने मत पर ही रहे। बार्थ जैन परम्परा पर विश्वास नही करता और यह संभव मानता है कि जैन परम्पराके कथन असत्य है। निश्चय ही इस स्थितिको स्वीकार करनेमे बड़ी कठिनाइयॉ है, बल्कि यह बात अनहोनी-सी है कि बौद्ध लोग अपने घृणित विरोधियोके धर्म परित्यागकी घटनाको भूल गये (?)। किन्तु यह बात एकदम असंभव नही है क्योकि प्राचीनतम सुरक्षित जैन आगमोका प्रथम प्रामाणिक संस्करण ईस्वी सनकी पॉचवी

अथवा छठी शतीमे तैयार किया गया है। और अभी भी इस बातके समर्थक प्रमाणोकी आवश्यकता है कि प्राचीन कालमे जैन लोग एक सुनिश्चित परम्पराके अधिकारी थे। मै तर्कोकी शृङ्खला मे उस खोई हुई कड़ीको जोड़नेमे योग्य हूँ, इस विश्वास और अपने दो आदरणीय मित्रोके सन्देहोको दूर करनेकी आशाने मुझे समस्त प्रश्न पर सम्बद्ध कथन करनेके लिये प्रेरित किया है। यद्यपि इसमे पुनरुक्ति भी होगी तथा इसके प्रथम भागमे पूर्णतया जेकोवोकी खोजोका ही साराश रहेगा'।

इस प्रकार डा० याकोबी और बुहलर आदि जर्मन विद्वानोकी खोजोके फलस्वरूप जैनधर्म न केवल बौद्धधर्मसे एक स्वतंत्र धर्म प्रमाणित हुआ किन्तु उससे प्राचीन भी प्रमाणित हुआ। बौद्धधर्म के मान्य विद्वान और लेखक श्री रे डेविडसने भी स्वीकार किया है कि भारतके सम्पूर्ण इतिहासमे बौद्धधर्मके उत्थानसे लगाकर आजतक जैन लोग एक व्यवस्थित समाजके रूपमे रहते आये है।

श्री याकोबी जैनधर्मको बौद्धधर्मसे प्राचीन प्रमाणित करके ही चुप नही बैठे, उन्होने बुद्धसे २५० वर्ष पूर्व होनेवाले भगवान पार्श्वनाथको भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित किया, और उनकी इस खोजको भी इतिहासज्ञोने आदर पूर्वक स्वीकार किया। आज उनकी खोजोके फलस्वरूप जैनधर्मके २३ वे तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथको जैनधर्मका संस्थापक मान लिया गया है। किन्तु जेकोबी अपनी इस शोधको ही अन्तिम सत्य नहीं मानते थे। इसीसे उन्होने लिखा था—'इसमे कोई सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवको जैनधर्मका संस्थापक माननेमे एकमत है। इस

१. बु० इं०, पृ० १४३।

मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।' (इं० ए०, जि० ९, पृ० १६३)। उक्त संभावनाकी पुष्टि डा० राधाकृष्णनने भी अपने भारतीय दर्शनके इतिहास (जि० १ पृ० २८७) में की है। उन्होंने लिखा है—'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्तिका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए है। इस बातके प्रमाण पाये जाते है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि, इन तीन तीर्थङ्करोंके नाम आते है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'

प्रसिद्ध भारतीय इतिहासज्ञ श्री जयचन्द विद्यालंकारने लिखा है—

'जैनोंका मत है कि जैनधर्म बहुत प्राचीन है और महावीर से पहले २३ तीर्थङ्कर हो चुके है जो उस धर्मके प्रवर्तक और प्रचारक थे। सबसे पहला तीर्थङ्कर राजा ऋषभदेव था, जिसके एक पुत्र भरतके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष हुआ। इसी प्रकार बौद्ध लोग बुद्धसे पहले अनेक बोधिसत्त्वोंका हुआ बतलाते है। इस विश्वासको एकदम मिथ्या और निर्मूल तथा सब पुराने तीर्थङ्करों और बोधिसत्त्वोंको कल्पित अनैतिहासिक व्यक्ति मानना ठीक नहीं है। इस विश्वासमें कुछ भी असंगत नहीं है। जब धर्म शब्दको सकीर्ण पन्थ या सम्प्रदायके अर्थमें ले लिया जाता है और यह बाजारू विचार मनमें रखा जाता है कि पहले हिन्दूधर्म, ब्राह्मणधर्म या सनातनधर्म था फिर बौद्ध और जैनधर्म पैदा हुए, तभी यह विश्वास असंगत दीखता है। यदि आधुनिक हिन्दुओंके आचार व्यवहार और विश्वासको हिन्दू

धर्म कहा जाता है तो यह कहना होगा कि बुद्ध और महावीरसे पहले भारतवासियोका धर्म हिन्दू धर्म न था—वह हिन्दू, बौद्ध जैन सभी मार्गोंका पूर्वज था। यदि उस कालके धर्मको वैदिक कहा जाये तो भी यह विचार ठीक नहीं कि उसमे जैन और बौद्ध मार्गोंके बीज नहीं थे। भारतवर्षका पहला इतिहास बौद्धो और जैनोंका भी वैसा ही है जैसा वेदका नाम लेनेवालोका। उस इतिहासमे आरम्भिक बौद्धो और जैनोको जिन महापुरुषोके जीवन और विचार अपने चरित्रसम्बन्धी आदर्शोंके अनुकूल दीखे, उन सबको उन्होने महत्त्व दिया और महावीर और बुद्धके पूर्ववर्ती बोधिसत्त्व और तीर्थङ्कर कहा। वास्तवमे वे उन धर्मो अर्थात् आचरण सिद्धान्तोके प्रचारक या जीवनमे निर्वाहक थे जिनपर बादमे जैन और बौद्ध मार्गोपर बल दिया गया, और जो बादमे बौद्ध जैन सिद्धान्त कहलाये। वे सब बोधिसत्त्व और तीर्थङ्कर भारतीय इतिहासके पहले महापुरुष रहे हों या उनमेसे कुछ अंशतः कल्पित रहे हो। इतने पूर्वज महापुरुषोकी सत्तापर विश्वास होना यह सिद्ध करता है कि भारतवर्षका इतिहास उस समय भी काफी पुराना हो चुका था और उसमे विशेष आचार मार्ग स्थापित हो चुके थे। फिलहाल तीर्थङ्कर पार्श्वकी ऐतिहासिक सत्ता आधुनिक आलोचकोंने स्वीकार की है। बाकी तीर्थङ्करों और बोधिसत्त्वोंके वृत्तान्त कल्पित कहानियोंमे इतने उलझ गये है कि उनका पुनरुद्धार नहीं हो पाया। किन्तु इस बातके निश्चित प्रमाण हैं कि वैदिकसे भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीरसे पहले भी भारत मे थे। अर्हन् लोग बुद्धसे पहले भी थे और उनके चैत्य भी बुद्धसे पहले थे। उन अर्हतो और चैत्योंके अनुयायी व्रात्य कहलाते थे जिनका उल्लेख अथर्व वेदमे है' (भा० इ० रू० पृ० ३४८)।

इस तरह देश और विदेशके माने हुए विद्वानोंने संभावना तथा विश्वासके रूपमे इस सत्यको प्रकट किया है कि भगवान् पार्श्वनाथसे पहले भी जैनधर्म प्रचलित था और उसके संस्थापक ऋषभदेव थे।

जहाँ तक जैन मान्यताका प्रश्न है वह इस विषयमें एकमत है कि जैनधर्मके प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव थे। उसकी इस मान्यताका समर्थन हिन्दू पुराण भी करते है तथा उड़ीसाकी हाथी गुफासे प्राप्त खारवेलका शिलालेख[1] भी उसका समर्थक है।

२ प्राचीन स्थितिका अन्वेषण

किन्तु ऋषभदेवका समय इतना प्राचीन है कि यहाँ तक पहुँच सकना अशक्य ही है, क्योंकि हमारे पास साधन सामग्री का अभाव है। फिर भी जो सभावना व्यक्तकी गई है और उसमे निहित जिस सत्यकी ओर संकेत किया गया है उसको दृष्टिमे रखकर उपलब्ध साधनोंके द्वारा भगवान पार्श्वनाथके समयकी तथा

१—इस शिलालेखका परिचय श्रीयुत जायसवालने **नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ८, अंक ३, पृ० ३०१ मे** प्रकाशित कराया था। उन्होंने लिखा था कि 'अब तकके शिलालेखोमे यह जैनधर्मका सबसे प्राचीन शिलालेख है। इससे ज्ञात होता है कि पटनाके नन्दके समयमे उड़ीसा या कलिंग देशमें जैनधर्मका प्रचार था। और जिनकी मूर्ति पूजी जाती थी। नन्द ऋषभदेवकी जैन मूर्तिको जो कलिंगजिन कहलाती थी, उड़ीसासे पटना ले आया था। जब खार-वेलने मगधपर चढाई की तो वह उस मूर्तिको वहाँ से ले आया। ईस्वी सन्से ४५८ वर्ष पहले और विक्रम सम्वत् से ४०० वर्ष पहले उड़ीसामें जैनधर्मका इतना प्रचार था कि भगवान् महावीरके निर्वाणके कोई ७५ वर्ष बाद ही मूर्तियाँ प्रचलित हो गई।' आदि।

उससे पूर्वकी धार्मिक स्थिति आदिका परिचय प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है।

वैदिक साहित्यके आधारसे डा० विन्टरनीट्सने [1]लिखा है कि 'अपनी प्राचीनताके कारण वेद भारतीय साहित्यमें सर्वोपरि स्थित है। जो वैदिक साहित्यसे परिचित नहीं है वह भारतीयोंके आध्यात्मिक जीवन और संस्कृतिको नहीं समझ सकता।' इस युगके प्रायः सभी देशी और विदेशी विद्वानोंका लगभग यही मत है। और एक दृष्टिसे यह ठीक भी है क्योंकि भारतके जिस वर्गसे वैदिक साहित्य सम्बद्ध रहा है, उस ब्राह्मण वर्गका भारतके सांस्कृतिक और धार्मिक निर्माणमें प्रधान हाथ रहा है, यद्यपि यह वर्ग मूलतः वेदानुयायी था किन्तु उसकी ज्ञान पिपासा और सत्यकी जिज्ञासाका अन्त नहीं था। अतः ब्राह्मण होते हुए भी उसका अतृप्त ज्ञान पिपासा और बलवती जिज्ञासाने उसे ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठताका अभिमान भुलाकर आत्मतत्त्वके वेत्ता क्षत्रियोंका शिष्यत्व स्वीकार करनेके लिये विवश कर दिया। इतना ही नहीं, किन्तु उस वर्गके कतिपय व्यक्तियोंने ही महावीर और बुद्ध जैसे वेदविरोधी धर्म प्रवर्तकोंका शिष्यत्व स्वीकार करके जैनधर्म और बौद्ध धर्मोको भी उसी निष्ठापूर्ण भक्तिसे अपनाया, जिस श्रद्धा भक्तिके साथ वे वैदिक धर्मको अपनाये हुए थे।

किन्तु वैदिक साहित्यके सम्बन्धमें भी दो बातें प्रथम ही कह देना उचित होगा। प्रो० रे डेविडसने लिखा है—[2]'यह विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण साहित्यसे हमें ईस्वी पूर्व छठी सातवीं शतीकी भारतीय जनताके धार्मिक विश्वासोंके सम्बन्धकी प्रामाणिक जानकारी मिलती है। यह विश्वास मुझे सन्दिग्धसे भी कुछ अधिक प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंने हमारे लिये उस समयके मनुष्योंके जो

१. हि० इं० लि, जि० १, पृ० ५२। २. बु० इं०, पृ० २१०-२१३।

वास्तविक विचार थे वे उतने सुरक्षित नहीं रक्खे, जितने वे विचार सुरक्षित रक्खे जो वे जन साधारणमें फैलाना चाहते थे। ब्राह्मण साहित्यके सुरक्षित रखनेमें और उसे हम तक पहुँचानेमें उन्होंने जो अपार श्रम किया है जब हम उसका विचार करते हैं तो हमारा मन उनके प्रति प्रशंसासे भर जाता है जिन्होंने मानव विचारके इतिहासके लिये इतना अमूल्य साहित्य सुरक्षित रखा ··· किन्तु उन्होंने हमारे लिये जो कुछ सुरक्षित रखा वह एकदेशीय है।··· निश्चय ही जब ऋग्वेद अन्तिम रूपसे संकलित हो चुका भारतके आर्योंमें अन्य बहुतसे विचार आमतौरसे प्रचलित थे, जो ऋग्वेद में नहीं पाये जाते।'[1]

विद्वान लेखकका उक्त कथन ऐसा नहीं है जिसे दृष्टिसे ओझल किया जा सके। जो साहित्य किसी विशेष श्रेणी या वर्ग से सम्बद्ध होता है वह उस श्रेणी या वर्गका पूर्ण प्रतिनिधि हो सकता है, किन्तु अन्य सभी विरोधी विचारधाराओंका उसमें संकलन होना संभव प्रतीत नहीं होता।

दूसरी बात है कालके आकलन की। वैदिक साहित्यके काल को लेकर आज भी चोटीके विद्वानोंमें मतभेद है और वह मतभेद न केवल कुछ वर्षोंका या कुछ दशकोंका ही है, किन्तु हजारों वर्षोंको लिये हुए है।

कालक्रमका निर्णय करनेके लिये भाषा और शैलीको विशेषता दी जाती है। किन्तु डा० विन्टरनीट्सने लिखा है कि 'भारतमें यह प्रायः पाया गया है कि अर्वाचीन कृतिको प्राचीनताका रूप देनेके लिये उसमें प्राचीन साहित्यकी शैलीका अनुकरण किया गया है। तथा ग्रन्थोंका आदर तथा प्रचार करनेकी दृष्टिसे अथवा उसमें लिखी गई बातोंको प्राचीन सिद्ध करनेके लिये उनके रचयिताके स्थान

१. हि० इ० लि० जि० १ पृ० २६।

पर किसी प्राचीन प्रसिद्ध व्यक्तिका नाम दे देनेकी या ग्रन्थको प्राचीन नाम दे देनेकी भी परिपाटी रही है। उसीके फलस्वरूप बहुत-सी आधुनिक कृतियाँ भी आज उपनिषदोंका नाम धारण किये हुए हैं'।

इन दो बातोंको दृष्टिमें रखते हुए हम प्रथम वैदिक साहित्यकी ओर आते हैं।

आर्य जन

अन्वेषकोंका कहना है कि आर्य जातिकी एक शाखाने भारतवर्षमें प्रवेश करके एक नये समाज की स्थापना की थी। इससे पहले आर्य लोग मध्य एशियामें रहते थे। किन्तु जन-संख्या वृद्धि आदि कारणोंसे उनका वहाँ रहना कठिन हो गया और वे दल बनाकर इधर उधर चले गये। जो दल सुदूर पश्चिमकी ओर गया उनके वंशज आजके यूरोपियन राष्ट्र हैं। जो लोग ईरान और भारतकी ओर आये, उनके वंशज ईरानी और भारतीय आर्य हुए। इसके विपरीत स्व० लोकमान्य तिलकका मत था कि आर्य लोगोंका आदिदेश उत्तरीय ध्रुवके पासका स्थान था। एक समय पृथिवीका वह भाग मनुष्योंके बसनेके योग्य था। जब वहाँ हिम और सर्दीका प्रकोप बढ़ा तो आर्योंको वहाँसे हट जाना पड़ा। कुछ लोग यूरुपमें बसे, कुछ ईरानमें और कुछ भारतमें। (ओरन)। अन्य कुछ भारतीय विद्वानोंका एक तीसरा मत है कि ऋग्वेदमें सप्तसिन्धव देशकी ही महिमा गाई गई है। यह देश सिन्धु नदीसे लेकर सरस्वती नदी तक था। इन दोनों नदियोंके बीचमें पूरा पंजाब और काश्मीर आ जाता है। तथा कुम्भा नदी जिसे आज काबुल कहते हैं, उसकी भी वेदमें चर्चा है। अतः अफगानिस्तानका वह भाग

जिसमे काबुल नदी बहती है, आर्योंके देशमे गर्भित था। यह सप्तसिन्धव देश ही आर्योंका आदि देश था (आ. आ. ३३)। किन्तु प्राच्य भाषाविद् डा० सु० चटर्जीका कहना है कि प्राचीन रूढ़िवादी हिन्दूमत कि आर्य भारतमे ही स्वयंभूत हुए थे, विचारणीय ही नही है (भा० आ० हि० पृ० २०)। इन्हीं आर्योंकी देन वेद है।

वेद

देवी देवताओ और राजा आदिके सम्बन्धमे जो भी कविताऍ तथा मंत्र बनाये गये थे, उनके संग्रहका नाम ही वेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद कहांसे आए, किसने इनको बनाया और कैसे इनका विकास हुआ, इसका ज्ञान प्रारम्भसे ही किसीको न था। यही कारण है कि वेदोको अपौरुषेय माना जाता है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानोंके मतमे इनके निर्माणका काल ईसासे दो हजार वर्ष पूर्वके लगभग है।

वेदकी दो व्याख्याऍ मुख्यरूपसे मानी जाती हैं, एक महीधरकी और दूसरी सायणकी। सायणकी व्याख्या ही पाश्चात्य भाषाओमे किये गये वेदोंके भाषान्तरोंकी आधारभूत है। एक तीसरी व्याख्या स्वामी दयानन्दने की है, जो आर्य समाजियोंको मान्य है। सायण और दयानन्दके व्याख्यानोमे उतना ही अन्तर है जितना दक्षिण और उत्तरमे।

विद्वानोका कहना है कि उक्त वैदिक भाष्यकर्ताओके भाष्योमे सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उन्होने वेदोके उद्गम स्थानका रहस्य जाने बिना ही उन पर भाष्य रचना कर डाली। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वेदोके ऋषि कौन थे, वे कहॉ रहते थे, वेदोमे किस

देश तथा लोकको घटनाओंका उल्लेख है ? जब[1] तक पुराने इतिहास तथा पुराणका ज्ञान न हो, तब तक वेदोंका समझना कठिन है।

जैसे वैदिकी हिंसाके प्रबल विरोधके कारण उपेक्षित हुए वेदोंकी पुनः प्रतिष्ठाके हेतु स्वामी दयानन्दने वैदिक भाष्य रचा, वैसे ही वेदविरोधी पन्थोंको दबानेके लिये यास्कने ईसासे कई सौ वर्ष पूर्व निरुक्त रचा था। यास्क मुनिके समयमें आचार्य-कौत्सका मत था कि वेदोंके मंत्र निरर्थक है (निरुक्त अ १, पाद ५)।

ऋग्वेदके मण्डल १०, सूक्त १०६ के आरम्भिक ग्यारह मंत्र इसके उदाहरण है, इनमें एक मंत्र है, 'जर्भरी तुर्फरी'। सायण ने भी अपने ऋग्वेद भाष्यमें स्वीकार किया है कि इस मंत्रका अर्थ समझ नहीं पड़ता। अन्य भी कुछ मंत्र है जिनके सम्बन्धमें सायणने लिखा है कि इन मंत्रोंसे अर्थका कुछ भी बोध नहीं होता (ऋग्वेद, भूमिका पृ० ७)। और ठीक भी है, ईसासे कमसे कम दो हजार वर्ष पूर्व निबद्ध हुए वेदोंका यथार्थ अभिप्राय ईसासे १५०० वर्ष बाद रचे गये भाष्योंसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

वेदोंके सम्बन्धमें तीन पक्ष है—धार्मिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक। तीनोंको दृष्टिमें रखकर ही वेदका परिचय कराना उचित होगा।

ऋग्वेद

वर्तमानमें उपलब्ध इस संहिता अर्थात् संग्रहमें दस मण्डल है। जिनमें कुल १०१७ सूक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह

१. 'इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत्।'
इतिहास और पुराणके द्वारा वेदार्थका विस्तार करना चाहिये।

संग्रह विभिन्न कालोंमे किया गया है और उसके मूलमें पुरोहित वर्गमें प्रचलित धार्मिक परम्पराको सुरक्षित रखनेकी भावना है। वेदका अन्तिम संकलन वेदव्यासने किया था। ऋग्वेदकी ऋचाओंका अधिकांश भाग वैदिक देवताओंकी स्तुतियों और प्रार्थनाओंसे सम्बद्ध है। ऐसी ऋचाओंकी संख्या, जो वैदिक देवताओंसे सम्बद्ध नही है, कठिनतासे चार दशकसे अधिक होगी। इन ऋचाओंमे मुख्यतया प्रथम और दसवें मण्डलमें जो दान-स्तुतियाँ है, उनमे कुछ जातियों, स्थानों और राजाओं तथा ऋषियो के नाम आते है, जिनमे रचयिताने उनकी उदारताकी प्रशसा की है। किन्तु ये दानस्तुतियाँ उतनी प्राचीन नही मानी जाती।

भौगोलिक स्थिति

वेदोंमे सप्तसिन्धव देशकी ही महिमा गाई गई हैं। यह देश सिन्धु नदीसे लेकर सरस्वती नदी तक था। इन दोनो नदियोंके बीचमे पूरा पजाब और पूरा काश्मीर आजाता है। कुम्भानदीका नाम भी आता है, जिसे आजकल काबुल कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि अफगानिस्तानका काबुल नदीवाला भाग भी आर्योंके देशमें था।

सप्तसिन्धव देशकी सातो नदियोके नाम थे—सिन्धु, विपाशा (व्यास), शतद्रू (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्ही सात नदियोंके कारण इस देशको सप्तसिन्धव कहते थे। सरस्वतीके पास ही दृषद्वती थी। मनुस्मृतिमे (२, ७) मे कहा है कि 'सरस्वती और दृषद्वती देवनदियाँ हैं, इनके बीच देवनिर्मित ब्रह्मावर्त देश है।'

ऋक् १०-७५-५ मे गंगा यमुनाका भी नाम आया है परन्तु यह केवल नामोल्लेख है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि

मंत्रकारको इनका पता था। ये दोनो नदियाँ सप्तसिन्धवसे बाहर थीं। आजकल हिन्दुओंमे गंगा और यमुनाका बहुत महत्त्व है। किन्तु वैदिक कालमे यह बात नही थी। उन दिनो सिन्धु और सरस्वतीका ही यशोगान होता था। उन्हींके तटपर आर्योंकी बस्तियाँ थी (आ० आ०, पृ० ३८)। ऋग्वेदकी ऋचाओंका बहुभाग भी सरस्वतीके तटपर रचा गया प्रतीत होता है। यह नदी अम्बालासे दक्षिणमे बहती थी।

ऋग्वेदमे विन्ध्य पर्वतका और नर्मदाका उल्लेख नही है, इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि आर्योंने तब तक दक्षिण का परिचय प्राप्त नही किया था। ऋग्वेदमें सिंहका भी निर्देश नही है, जो बंगालके जंगलोमे पाया जाता है। चावलका निर्देश भी नही है, जब कि बादके संहिताग्रन्थोमे उसका निर्देश पाया जाता है।

जातियाँ (कबीले)

वैदिक आर्य भारतके जिस भागसे परिचित थे, वह भाग विभिन्न जातियोंमे विभाजित था, और प्रत्येक जातिका शासक एक राजा था। ऋग्वेदमे दस राजाओंके एक प्रसिद्ध युद्धका वर्णन है। यह युद्ध भरतो और उत्तर पश्चिमकी जातियोंके बीचमे हुआ था। भरतोका राजा सुदास था। पहले उसका पुरोहित विश्वामित्र था जिसकी संरक्षकतामे भरत लोग अपने शत्रुओंसे सफलता पूर्वक लड़े थे। किन्तु बादको सुदासने विश्वामित्रके स्थान पर वशिष्ठको अपना पुरोहित बनाया। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वशिष्ठ उच्च ब्राह्मण था। तबसे दोनो पुरोहितोंमे विरोधका लम्बा प्रकरण चलता रहा। विश्वामित्रने बदला लेनेके लिये भरतोके विरुद्ध दस राजाओंमे मेल करा दिया।

इन दसमेसे पाँचका नाम उल्लेखनीय है, वे हैं—अणु, द्रुह्यु, तुर्वक, यदु तथा पुरु। पुरु सरस्वतीके तट पर रहते थे, अतः वे भरतोंके पड़ौसी थे। सुदासका पिता अथवा पितामह दिवोदास था। तुर्वशो, यदुओं और पुरुओंके साथ उसका युद्ध हुआ था। किन्तु उसका सबसे बड़ा शत्रु दास शम्बर था, उसके साथ दिवोदासका लगातार युद्ध होता रहा। पणियो, पारावतो और त्रिसयोंके साथ भी उसका युद्ध हुआ। दिवोदास भारद्वाज पुरोहितोंके वंशका संरक्षक था। ऐसा प्रतीत होता है कि दास और पणि सम्भवतया मूलनिवासी थे, जिनसे प्रत्येक आर्य राजाकी लड़ाई हुई। ऋग्वेदमे पुरुओंका उल्लेख अनु, द्रुह्यु, तुर्वश और यदुओंके साथ पाया जाता है।

पुरु लोग यद्यपि युद्धमे सुदाससे हार गये तथापि ऋग्वेदके कालमे पुरु एक बड़ी शक्तिशाली जाति थी। पुरु राजाओंकी असाधारण लम्बी सूची पुरु जातिके महत्त्वको सूचित करती है। पुरुओंके मुख्य शत्रु भरत लोग थे। सम्भवतः उन्होने ही उन्हें सिन्धु क्षेत्रसे हटाया था। ऋक् (७-८-४) मे पुरुओंको जीतनेके उपलक्ष्यमे भरतोंके अग्निहोत्र करनेका निर्देश है। पुरुओंका एक राजा पुरुकुत्स था और उसके पुत्रका नाम त्रसदस्यु था। दस राजाओंके युद्धमे पुरुकुत्स मारा गया। ऋग्वेदकी ऋचाओंमे आदिवासियोंके ऊपर पुरुओंकी विजयका उल्लेख मिलता है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि बादको पुरु लोग अपने पूर्व विरोधी भरतोंमे मिल गये और फिर दोनो जन कुरुओंमे मिल गये, क्योंकि उत्तरकालमें वैदिक परम्परासे पुरुओंका नाम लोप हो जाता है। ऐसे भी प्रमाण मिलते है जो पुरुओंको इक्ष्वाकु सिद्ध करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (८, ५-४-३) के अनुसार

पुरुकुत्स इक्ष्वाकु था। अतः इक्ष्वाकु परम्परा मूलत पुरुराजाओंकी एक परम्परा थी। उत्तर इक्ष्वाकुओंका सम्बन्ध अयोध्यामें था। (वै० इं०. जि०१, पृ० ७५)।

पुरुओंके सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि शतपथ ब्राह्मणमे (६, ८-१-१४) उन्हें असुर-राक्षस बतलाया है।

पणि

ऋग्वेदमे दासों और दस्युओंके साथ पणियोंका भी उल्लेख आर्योंके शत्रुरूपमे प्राय मिलता है। यद्यपि वे धनिक और ऐश्वर्य सम्पन्न थे, किन्तु न तो वैदिक देवताओंकी पूजा करते थे और न पुरोहितोंको दक्षिणा देते थे। सम्भवतः इसीलिए वे तीव्र घृणाके पात्र समझे जाते थे। ऋग्वेदमे[1] उन्हें स्वार्थी, यज्ञ न करनेवाला, विरोधी भाषाभाषी, भेड़ियेकी तरह लालची, कजूस दास और दस्यु बतलाया है। कुछ ऋचाओंमे[2] पणियोंका चित्रण दैत्योंके रूपमे मिलता है। वे देवोंकी गाये चुरा लेते थे, वर्षा नहीं होने देते थे।

पणि लोग वैदिक देवता इन्द्रको नहीं मानते थे। ऋग्वेद १०-१०८ मे इन पणियोंके साथ इन्द्रकी दूती सरमाका सम्वाद है। जब पणि लोग बृहस्पतिकी गाये पकडकर ले गये तो इन्द्रने सरमा नामक दूतीको उनका पता लगानेके लिए भेजा। सरमाने पता लगाकर पणियोसे कहा—इन्द्रने गाये मांगी है, उन्हें लौटा दो। तब पणियोंने पूछा— सरमे! जिस इन्द्रकी तू दूती है वह कैसा है, और उसकी सेना कैसी है? इससे यह स्पष्ट होता है कि पणि लोग इन्द्रसे अपरिचित थे। सम्भवतया इसीसे उन्हे 'अनीन्द्र' कहा है।

१. १, ३३-३, ८३-२, १५१-९, १८०-७, ४-२८-७, ५-३४-५, ७, ६-१३-३, ८-६४-२, १०-६-६ आदि। २ १-३२-११, २-२४ ६, ४-५८-४, ६-४४-२२, ७-९-२, १०-६७-६।

असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः ।
गास्तेऽपजह्रुरिन्द्रस्य न्यगूहँश्च प्रयत्नतः ॥

रसाके पार रहनेवाले असुर पणि लोग इन्द्रकी गायें लेकर भाग गये और उन्हें बड़े यत्नसे अपने किलोंमें छिपा दिया। इन्द्रने अपनी दूती भेजी।

शतयोजनविस्तारामतरत्तां रसा पुनः ।
यस्याः पारे परे तेषां पुरमासीत् सुदुर्जयम् ॥

वह सौ योजन विस्तारवाली रसा नदीको तैरकर उस पार पहुंची, जहाँ उन पणियोंका दुर्जय किला था।'

अभीतक यह निश्चित नहीं हो सका कि ये पणि कौन थे। संस्कृतके शब्द पणिक या वणिक, पण्य और विपणिसे ऐसा प्रतीत होता है कि पणि लोग ऋग्वैदिककालीन व्यापारी थे।

एक विदेशी विद्वान (Ludwig) का मत है कि पणियोंसे लड़नेके उल्लेख स्पष्ट रूपसे बतलाते हैं, वे आदिवासी व्यापारी थे जो समूह बनाकर व्यापारके लिए विदेश जाते थे और आर्योंके आक्रमणसे बचनेके लिये लड़नेको उद्यत रहते थे। अपने इस मतके समर्थनमें वह पणियोंको दास और दस्यु बतलानेवाले उल्लेखोंको उपस्थित करता है। अस्तु जो कुछ हो, इतना स्पष्ट है कि पणि वैदिक आर्योंके देवोंको नहीं पूजते थे। (वै० इं० जि० १, ४७१–७२। वै० ए०, पृ० २६८–९। कै० हि०, जि० १, पृ० ८६–८७)।

ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओंमें दस्यु शब्द आया है कुछमें दैवी शत्रुओंके लिये प्रयुक्त हुआ है और कुछमें मानवीय शत्रुओंको, जो सम्भवतया इस देशके आदिवासी थे, दस्यु कहा है। आर्यों और दस्युओंके बीचमें जो बड़ा भेद था वह था उनका धर्म। दस्यु यज्ञ

नहीं करते थे। ऋग्वेदमें (१०-२२-८) में उन्हें अ-कर्मा-क्रिया काण्ड न करने वाला, 'अदेवयु'[1] देवताओंका अपक्षपाती, अब्राह्मण,[2] अयज्वान[3]-यज्ञ न करनेवाला, अ-व्रत—व्रत रहित, अन्यव्रत[4]-वैदिक-अतिरिक्त व्रतोंको धारण करनेवाला, देवपीयु[5]—देवताओंकी निन्दा करनेवाला आदि कहा है। इन विशेषणोंसे स्पष्ट है, यहाँ दस्युसे आशय ऐसे मनुष्योंका है जो आर्योंके धर्मको नहीं मानते थे। दासोंके साथ तुलना करनेसे उनमें और दासोंमें थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होता है। दस्युओंके कबीले नहीं होते थे। तथा इन्द्रकी दस्यु हत्याका तो प्रायः उल्लेख है किन्तु दास हत्याका नहीं है। ऋग्वेद (५-२९-१०) में उन्हें 'अनास' कहा है। इस शब्दका आशय अनिश्चित-सा है। पदानुक्रमणी तथा सायण भाष्यमें इसका अर्थ अन-आस—बिना मुखका किया है। किन्तु 'अ-नास' 'नाक रहित' अर्थ विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आदिवासी द्रविडोंकी नाक चपटी होती थी।

दस्युओंका दूसरा विशेषण 'मृध्रवाचः' है जो अनासके साथ आता है। इसका अनुवाद अस्पष्ट वाणी या 'न समझने योग्य वाणी' किया गया है। अर्थात् उनकी बोली आर्य लोग नहीं समझते थे। एतरेय ब्राह्मणमें दस्युका अर्थ भ्रत्यः-असभ्य मनुष्य पाया जाता है।

दस्युकी तरह दास शब्दका भी प्रयोग ऋग्वेदकी कुछ ऋचाओंमें दैवी शत्रुके रूपमें किया है, किन्तु बहुत-सी ऋचाओंमें दास शब्द आर्योंके मानव शत्रुओंका सूचक है। दासोंके कबीले थे और पुर थे, जो लोहेके बने थे। उनका वर्ण कृष्ण था। दस्युओंकी

१.ऋ० ८-७०-११ । २.ऋ० ७-१६-६ । ३.ऋ० ८-७०-११ । ४. ऋ० ८-७०-११ । ५. अथर्व० १२-१-३७ ।

तरह वे भी 'अनास' और 'मृधुवाच' थे। तथा बड़े सम्पत्तिशाली थे। इलिविश, धुनि, चुमुरि, शम्बर, वरचिन पिप्रु आदि दासोंके राजा थे। बादको इनमेसे कुछको दैत्यराज और इन्द्र तथा अन्य देवताओंका शत्रु मान लिया गया।

किरात, कीकर, चाण्डाल, पर्णाक और सिम्यु वगैरह दास जातियाँ थीं, जो अधिकतर गङ्गाकी घाटीमे रहती थी और जब भरत लोग पूरब और दक्षिण पूरबकी ओर बढ़े तो उनके साथ लड़ी थीं।

ऋग्वैदिक ऋषियोंकी दृष्टिमे दास और दस्युमे कोई भेद नहीं था, यह बात इससे स्पष्ट है कि कुछ विशेषण समान रूपसे दोनोंके लिये प्रयुक्त किये गये है तथा कुछ व्यक्तियोको दास और दस्यु दोनो कहा है।

ऋग्वेदमे ऐसे अनेक दुष्ट आत्माओंकी चर्चा है जो देवोंके शत्रु थे और देवताओंके विरुद्ध लड़े थे। ये देवताओंके शत्रु उत्तरकालीन वैदिक साहित्यमे जिस नामसे सम्बोधित किये गये, वह 'असुर' शब्द ऋग्वेदमे अभी तक भी अपने पुराने अर्थ— 'आश्चर्यजनक शक्तिका धारी' मे मौजूद है। ईरानी उच्चारणकी विशेषताके कारण 'स' का उच्चारण 'ह' होनेसे पारसियोंकी अवेस्तामे यह शब्द 'अहुर' के रूपमे वर्तमान है।

दास और दस्यु शब्द भी, जो भारतके आदिवासी अनार्योंके लिये भी व्यवहृत हुए है, ऋग्वेदमे दुष्टोंके लिये पाये जाते हैं। इनके सिवाय राक्षस और रक्षस शब्द भी हैं। ये सब शब्द वैदिक देवताओंके विरोधियोंके लिए प्रयुक्त हुये है।

ऋग्वेदमे जितनी स्तुति इन्द्रकी है, इतनी अन्य सब देवताओं की मिलकर भी नहीं है। अतः इन्द्रको वैदिक आर्योंका जातीय देवता कहा जा सकता है। ऋग्वेदकालीन आर्य एक लड़ाकू

जातिके रूपमें थे, सो इन्द्र भी एक योद्धा देवताके रूपमे वर्णित है। अनेक ऋचाओमे वृत्रके साथ इन्द्रके युद्धका वर्णन है। इन्द्र केवल वृत्रसे ही नहीं लड़ा, किन्तु अन्य भी अनेक दुष्टोसे लड़ा। इतिहासज्ञोका मत है कि इन्द्रकी यह लड़ाइयाँ उन लड़ाइयोंकी सूचक है जो आर्योंको भारतमे बसने पर यहाँके वासियोंसे लड़ना पड़ी थीं (विन्ट० हि० लि०, पृ० ८४)।

बादके साहित्यमें एक सुसंस्कृत जातिके अनेक उल्लेख पाये जाते है, जो असुर कहलाती थी। ये असुर सभ्य पुरुषोंके रूपमें माने गये है। किन्तु भारतीय आर्योंके देवताओका नहीं मानते थे, इसलिए इन्हे हीन बतलाया गया है। महाभारतमे असुरोका वर्णन एक सुसंस्कृत दानव जातिके रूपमे पाया जाता है, जो मकान बनानेमें चतुर थे, किन्तु जो देवताओंके भी भयानक शत्रु थे। इतिहासज्ञोका मत है कि पंजाबकी भूमिको हस्तगत कर लेनेपर भारतीय आर्योका सघर्ष एक अधिक सुसभ्य जनताके साथ हुआ था (प्री० हि० इ०, पृ० ९९)।

इन्द्रके विपयमे कहा गया है कि उसने सम्बरके सौ प्रासादोंको नष्ट किया था। तथा एक अन्य अनार्य राजा पिप्रुके नगरोंको उजाड़ा था और शुश्नको लूटा था। सतलज और यमुनाके बीचके उपजाऊ प्रदेशमें आर्योकी मुठभेट जिन सुसभ्य लोगोंसे हुई उनके महल थे, नगर थे और वे बड़े धनी थे। ये सब द्रविड़ थे और आर्योसे निश्चित ही अधिक सुसंस्कृत थे। धीरे-धीरे वे सब जीत लिये गये और आर्योमें मिल गये। इनमेंसे कुछ मनुष्योंका ठीक पता नहीं चलता, उन्हे आर्योमे नाग कहते है। शतपथ ब्राह्मणमे असुरोंके प्रमुख वृत्रको नाग कहा है। किन्तु महाभारतमे उसे दैत्यराज बतलाया है।

जब आर्य पंजाबसे गंगाकी ओर बढ़े तो उन्हे चारो ओरसे

असुरोंने घेर लिया था। पाण्डव-कौरव युद्धके समय इन असुरोंके हाथमें मगध और आजका राजपूताना था। ये असुर स्थापत्य-कलामें अत्यन्त चतुर थे। और आर्य लोग उनकी इस कलाका आदर करते थे। वैदिक साहित्यमें असुरोंके नगरोंको पाताल, हिरण्यपुर, तक्षशिला आदि नामोंसे कहा गया है। पूर्वीय देशोंमें असुरराज जरासन्धकी राजधानी गिरिव्रजकी प्रशंसा भीमने की थी। महाभारतमें लिखा है कि युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके लिए मण्डप मयदानवने बनाया था (प्री० हि० इं० पृ० ७०)।

एतरेय ब्राह्मणमें ऋषि विश्वामित्रके सम्बन्धमें एक कथा आती है। उसने अपने पुत्रोंको आर्य देशकी सीमाओंपर बसनेका शाप दिया था। उनकी सन्तानने दस्युओंके बड़े-बड़े गिरोह बनाये और वे आन्ध्र पुण्ड्र, पुलिन्द शबर और मूतिब कहलाये। महाभारत, रामायण और पुराणोंमें आन्ध्रों, पुलिन्दों और शबरोंको दक्षिण भारतकी जातियाँ बतलाया है। इनमेंसे प्रथम कलिंगमें और शेष दो विन्ध्य श्रेणीके दक्षिणमें बसते थे। पुण्ड्र लोग बंगालके उत्तर भागमें रहते थे। उन्होंने अपनी राजधानीका नाम पुण्ड्रवर्धनपुर रखा था।

ऋग्वेदमें द्यावा-पृथ्वी, वरुण, विश्वकर्मा, अदिति, त्वष्टा, उषस्, अश्वी, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, अग्नि, सोम, यम, और पितर देवोंका स्तवन किय गया है। भौतिक जीवनकी भौतिक आवश्यकतायें पूर्ण करनेवाले साधन प्राप्त करनेके लिए ही मुख्यरूपसे इन देवताओंकी आराधना की जाती थी। वैदिक मंत्रोंकी प्रार्थनाओंमें ऐहिक भौतिक आकांक्षाओंका ही घोष सुन पड़ता है। उनमें अन्न, पशु, धन, शरीरेन्द्रिय सामर्थ्य, भार्या, दास, वीर पुत्र शत्रुनाश, रोगनिवारण आदिकी माँग मुख्य है। किन्तु उत्तरकालीन भारतीय साहित्यमें बहुतायतसे

पाये जानेवाले सन्यास धर्मका चिन्ह भी ऋग्वेदकी ऋचाओंमें नही मिलता। (हि० इं० लि० (विन्टर०), जि० १, पृ० ६८)

वैदिक उपासनामें मित्र और वरुणका बड़ा महत्व था। मित्र सूर्यका नाम है, सूर्य दिनके स्वामी है। चन्द्र तारा आदिमे सुशोभित आकाशका नाम वरुण है। वरुण रात्रिके स्वामी है। आजकल मित्रके नामसे कोई पूजा नहीं होती। हॉ, सूर्यके नामोंके पाठमे मित्र शब्द भी आजाता है। वरुणका भी वह पद नहीं रहा। तीसरे देव, जिनका वैदिक उपासनामें महत्त्व है, अग्नि है। ऋग्वेदका पहला मंत्र है— अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देव-मृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्। अग्नि देवोंके पुरोहित है। पुरोहितका अर्थ है आगे रखा हुआ। अग्निमें आहुति देकर ही देवोंको तुष्ट किया जा सकता है। अतः अन्य सब देवोंकी उपासना भी अग्निके द्वारा ही हो सकती है। हिन्दुओंमे यज्ञ यागादिके बन्द हो जानेसे अग्निका भी पुराना महत्त्व जाता रहा। किन्तु पारसियोंमे अग्निका वही पुराना पद है। अग्निके द्वारा ही पारसी लोग उपासना करते है।

चौथे देवता है इन्द्र। ऋग्वेदमे जितनी स्तुति इन्द्रकी है उतनी किसी अन्य देवकी नहीं है। बल्कि सब देवोंकी मिलकर भी नहीं है। इन्द्रमे सब देवोंके गुण वर्तमान है। वह सब देवोंसे बड़े है। उनके बराबर कोई उपास्य नहीं, उनके समान मनुष्योंका कल्याण करनेवाला दूसरा नही। उन्हे इन्द्र, वृत्रघ्न, वृत्रहा, माघवा, शतक्रतु आदि नामोंसे पुकारा गया है (आ० आ० पृ० ५६–५७)।

अग्नि और सोमकी महिमा केवल इन्द्रसे ही कम है। सोम मूलतः वनस्पति था। वैदिक आर्योंमे सोमपानकी प्रथा व्यापक थी। पीछे सोमसे चन्द्रमाका अर्थ भी आगया।

वैदिक देवताओंका मुख्य लक्षण बल सामर्थ्य और शक्ति था, वे मुख्यतः शक्ति और मजबूतीको देनेवाले थे। पुण्य और भलाईका विचार उनमें नहीं था। धर्मभीरुता और भक्तिकी प्रेरणा उनसे नहीं मिलती थी। आर्य उपासक अपने देवताओंसे सभी इसी लोककी वस्तुएँ माँगता था। देवपूजा और पितृपूजा वैदिकधर्मके मुख्य अंश थे और वह पूजा यज्ञमें आहुति देनेसे होती थी। यज्ञमें आहुति या बलि देनेसे देवताओंकी तृप्ति होती थी। वैदिककालमें आर्योंके धर्मका मुख्य चिन्ह यज्ञ ही थे। वे यज्ञ पुरोहितोंके द्वारा होते थे। यज्ञोंके विकासके साथ साथ पुरोहितोंकी एक श्रेणी बनती गई। और यज्ञोंका आडम्बर बढ़ जानेपर उनका करना धनाढ्योंके लिए ही शक्य होगया।

दार्शनिक मन्तव्य

ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है हिन्दू दर्शनके प्रारम्भिक रूपका आभास मिलता है। उसमें बहुदेवतावादके विषयमें शङ्का की गई है और विश्वकी एकता स्वीकार की गई है। सृष्टि विषयक विचार करते हुए सृष्टिको विश्वकर्मा अथवा हिरण्यगर्भकी उपज बताया है।

पुरुष सूक्तमें एक प्राथमिक दैत्यके बलिदानसे, जिसका नाम पुरुष था सृष्टिका निर्माण हुआ। सांख्यदर्शनमें यह पुरुष नाम आत्माके लिए व्यवहृत हुआ। विद्वानोंके मतानुसार ये विचार ही हिन्दू दर्शनके जनक हुए (कें० हि०, जि० १ पृ० १०७)।

ऋग्वेदमें मरणोत्तर जीवन सम्बन्धी विचार नगण्यसा ही है। मुर्दोंको या तो जलाया जाता था या दफनाया जाता था। यदि जलाया जाता था तो अस्थियोंको पृथ्वीमें गाड़ दिया जाता था। इससे सूचित होता है कि दफनानेकी पद्धति प्राचीन थी

और यह प्राचीन पद्धति पुनर्जन्मके सिद्धान्तके प्रभावसे परिवर्तित होगई जिसका श्रेय भारतीय जलवायुको है। (के० हि०, जि० १, पृ० १०७)।

वैदिक आर्योंका यह विश्वास तो था कि शरीरके बाद भी आत्मा जीवित रहता है। इसीसे वे डरकर अपने पुरखोंके भूतोंको पूजते थे। किन्तु भविष्य जीवन कभी समाप्त नहीं होता और आत्मा अमर है, ऐसा स्पष्ट विचार आर्योंका होना सन्दिग्ध ही है।

अतः वे मरणोत्तर जीवनके सम्बन्धमें विशेष उत्सुकता नहीं रखते थे। फिर भी ऋग्वेदमें यत्र तत्र उसकी झलक मिलती है। जैसे दसवें मण्डलमें देवयान और पितृयानका निर्देश है। इसपर से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसके द्वारा परलोकमें जानेका मार्ग सूचित किया है। एक स्थानपर कहा है कि मृत्युके बाद मनुष्य यमके राज्यमें चला जाता है, जहाँ यम और पितृगण अमरत्वके आनन्दके बीच निवास करते हैं। यज्ञ तथा देवोंकी पूजाके द्वारा ही उस स्वर्गमें जाया जा सकता है (ऋ० १०-१४-८)।

ऋग्वेद (१०–१६–३) में जहाँ मृतात्मासे अन्य स्थानोंमें जानेके लिए कहा गया है, पुनर्जन्मके बीज कोई विद्वान मानते है। इस विषयक समर्थक प्रमाणोंकी इतनी न्यूनता है कि डा० रूथने यही मान लिया कि वैदिक ऋषि मरणोत्तर विनाशवादी थे। पुनर्जन्मके विश्वासका स्पष्ट निर्देश तो ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ही मिलता है।

ऋग्वेद कालीन आर्य तो इसी लोकके आनन्दके लिये उत्सुक रहते थे। तभी तो ऋग्वेद दीर्घजीवन, रोगमुक्ति, वीरसन्तान, धन, शक्ति, खान-पानकी बहुतायत, शत्रुओंकी पराजय आदि इहलौकिक सम्बन्धी प्रार्थनाओंसे भरा हुआ है। (वै० इं०, जि० २,

पृ० १५५। हि० फि० इ० वे०, जि० १, पृ० ४९-५०। कै० हि०, जि० १, पृ० १०७-१०८। वै० ए० पृ० ३८१)

अन्य वेद और ब्राह्मण

शेष तीनो वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ ऋग्वेदके बादमे रचे गये है, क्योकि इनमे जिस भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थितिके दर्शन होते हैं वह ऋग्वेदके पीछेकी है। इस कालमे वैदिक आर्य दक्षिण-पूर्वकी ओर बढ़ गये थे और गंगाके प्रदेशमे बस गये थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थोंसे यजु साम और अथर्व विशेष प्राचीन है। यह संभव है कि इन संहिताओंका सबसे उत्तरकालीन भाग और ब्राह्मणोंका सबसे प्राचीन भाग एक ही समयमे रचा गया हो, क्योंकि ऋग्वेदकी तुलनामे, अथर्व और यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थो परसे जिस भौगोलिक तथा सांस्कृतिक स्थितिका दर्शन होता है उस परसे उक्त मतका समर्थन होता है। अथर्ववेदके समयमे वैदिक आर्य ऋग्वेदीय सिन्धुदेशसे पूरबमे गंगाकी ओर बढ़ गये थे। और यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंसे जिस प्रदेशकी सूचना मिलती है वह है कुरुवों और पाञ्चालोंका देश। सरस्वती और दृषद्वती नदीके बीचका क्षेत्र कुरुक्षेत्र था और इससे लगा हुआ, उत्तर पश्चिमसे लेकर दक्षिण पूर्व तक फैला हुआ गंगा और जमुनाके बीचका प्रदेश पाञ्चाल था। इसीको ब्रह्मावर्त अर्थात् ब्राह्मणोका देश कहते थे। यह प्रदेश केवल यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंकी जन्म भूमि नही था, किन्तु समस्त ब्राह्मण सभ्यताका घर था (विन्ट०, हि० इं० लि० भा० १ पृ० १९६)।

एतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि कौरववशी राजा भरत दौष्यन्तीने एक सौ तेतीस अश्वमेध यज्ञ किये थे। उनमेंसे ७८

यज्ञ तो जमुनाके तट पर किये थे और ५५ यज्ञ गंगाके तट पर किये थे। यह उल्लेख उक्त कथनका समर्थक है।

सिन्धु देशसे आर्य सभ्यताका प्रसार किधरको हुआ इसका निर्देश शतपथ ब्राह्मणमें मिलता है। लिखा है—सरस्वतीके तटसे अग्निहोत्रने गंगाके उत्तर तट पर गमन किया, और फिर सरयु, गण्डक तथा कोसी नदीको पार करके सदानीरा (राप्ती) नदीके पश्चिमी तट पर पहुँचा। उसमें अग्निहोत्रके मगध अथवा दक्षिण विहार तथा बंगालमें प्रवेश करनेका उल्लेख नहीं है। ये उल्लेख बतलाते है कि पंजाब तथा उत्तर प्रदेशके भागोंके सिवाय भारतके अन्य भागोंमें वैदिक आर्य अपनी बस्तियाँ नहीं बसा सके थे, (प्री० हि० इं० पृ० ७१)।

ऐतरेय आरण्यक, (२, १–१–५) में वंग, वगध और चेरपादोंको वैदिक धर्मका विरोधी बतलाया है। इनमेंसे वंग तो निस्सन्देह बंगालके अधिवासी है, वगध अशुद्ध प्रतीत होता है, सम्भवतया 'मगध' होना चाहिये। 'चेरपाद' विहार और मध्यप्रदेशके चेर लोग जान पड़ते है।

डा० भण्डारकरने (भां०, इं०, पत्रिका, जि० १२, पृष्ठ १०५) लिखा है कि 'ब्राह्मण काल तक अर्थात ईस्वी पूर्व ८०० के लगभग तक पूर्वीय भारतके चार समूह मगध, पुड्, वंग और चेरपाद आर्य सीमाके अन्तर्गत नहीं आये थे।'

इस प्रकार असुर लोग उस समय विहारसे आसाम तक बसे हुए थे। उनकी अपनी सभ्यता और संस्कृति थी। उन्होंने सुदीर्घ काल तक ब्राह्मण धर्मके आक्रमणोंका सामना अवश्य ही बड़ी दृढ़तासे किया। अन्तमें ब्राह्मण धर्मने असुरोंकी सभ्यताके ऊपर ही अपनी सभ्यताका बीजारोपण किया।

जातियां या कबीले

इस कालमें ऋग्वेदमें निर्दिष्ट विभिन्न जातियोंमें बहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। बहुत सी प्राचीन जातियां या तो लुप्त होगई है, या अन्य जातियोंमें मिल गई है अथवा अपना प्राधान्य खो बैठी है और अनेक नवीन जातियां प्रकाशमें आती हैं। पंजाबकी पाच प्रधान जातियां—पुरु, अनु, द्रुह्यु, यदु और तुर्वश पीछे चली गई है। जैसा कि पहले लिखा है—पुरु भरतोंके साथ कुरुओंमें मिल गये हैं और अपने इन मित्रोंके साथ-साथ पाञ्चाल लोग इस कालके सर्व प्रधान व्यक्ति है। भरत एक जातिके रूपमें तो लुप्त हो जाते है किन्तु उनके राजाओंकी ख्याति जीवित है। भरत दौष्यन्ती और सातराजीतका निर्देश अश्वमेधके कर्ता प्रसिद्ध राजाओंके रूपमें आता है। तथा उन्हें काशी और सात्वन्तोका विजेता और गंगा तथा यमुनाके तटपर अश्वमेध यज्ञ करनेवाला बतलाया है।

पञ्चालो, वशो और उशीनरोंके साथ-साथ कुरु लोगोंने मध्य देशपर अधिकार कर लिया था। ऋग्वेदमें कुरु श्रवण नामके एक राजाका तो निर्देश है किन्तु कुरु जातिका निर्देश नही है। अथर्व-वेद (२०-१२७-७) मे कुरुराज परीक्षितका वर्णन है। मोटे तौर पर आधुनिक थानेश्वर, दिल्ली और गंगा-दोआबाके ऊपरले भाग कुरु राज्यमे थे।

पञ्चालोका निर्देश कुरुओंके साथ कुरु पञ्चाल रूपसे आता है। ऋग्वेदमें पञ्चाल नाम नहीं आता। किन्तु शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि पञ्चालोका पुराना नाम क्रिवि था जो ऋग्वेदमे आता है। कुरुओंसे पृथक् अकेले पञ्चालोंके विषयमें बहुत ही कम वर्णन मिलता है। उपनिषदोंमें प्रवाहण जैबलि नामक एक पञ्चाल राजा का निर्देश है जो दार्शनिक था।

महाभारतमे उत्तर पञ्चालो और दक्षिण पञ्चालोका उल्लेख मिलता है जो वैदिक साहित्यमे नहीं है। इस परसे यह अनुमान किया जाता है कि वैदिक कालके पश्चात पञ्चालोंने अपना राज्य बढ़ाया। मोटे तौरपर बरेली, बदायुं, फर्रुखाबाद तथा उत्तर प्रदेश के इनसे सम्बद्ध जिलोंमे पञ्चालोंका राज्य था।

प्राचीन वैदिक साहित्यमें कोसल और विदेहका निर्देश नहीं है। इनका प्रथम निर्देश शतपथ ब्राह्मण (१, ४-१-१०) मे मिलता है। उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि कोसल और विदेह परस्परमे मित्र थे तथा उनमे और कुरु पञ्चालोंमे कुछ भेद होनेके साथ ही साथ शत्रुता भी थी। ब्राह्मण धर्मका जैसा जोर कुरु-पञ्चालोंमे था वैसा जोर कोसलोंमे नहीं था। ऐसा माना जाता है कि विदेहराज जनक उपनिषद् दर्शनका प्रमुख संरक्षक था और उसके कालमे विदेहको प्राधान्य मिला। कोसल और विदेहके साथ-साथ काशीको भी प्राधान्य उत्तर वैदिक कालमे मिला। काशी और विदेह भी परस्परमे सम्बद्ध थे। काशी और कोसल भी एक साथ पाये जाते है। भरतराज शतानीक सात्राजितके द्वारा काशी-राज धृतराष्ट्रके पराजयकी एक कथा (वै० ए० पृ० २५५) पाई जाती है। उस पराजयके फलस्वरूप काशीराज धृतराष्ट्रको शतपथ ब्राह्मणके (१३-५,४,१९) कालतक यज्ञाग्निको प्रज्वलित करना छोड़ना पड़ा।

इन पूर्वीय जातियोंके साथ कुरु पञ्चालोका सम्बन्ध और जो कुछ भी हो, किन्तु मित्रता पूर्ण नहीं था। कहा जाता है कि इसका कारण दोनोंमे राजनैतिक और सांस्कृतिक विरोध था (वै० ए० पृ० २५५)।

वैदिक सभ्यताके प्राचीन केन्द्रसे दूरवर्ती मगधोंका उल्लेख केवल उत्तरकालीन वैदिक साहित्यमे मिलता है, और वह भी

कोई विशेष महत्त्वका नहीं है। सर्व प्रथम 'मगध' नाम अथर्ववेद (५-२२-१४) में आता है। वहां यह प्रार्थना की गई है कि गन्धारियों, मुजवन्तों और अंगों तथा मगधोंके देशमें ज्वर फैल जाये। इनमेंसे पूर्वकी दो जातियां उत्तरीय हैं और शेष दो पूर्वीय हैं।

अथर्ववेद (१५-२-१ आदि) में मागधोंको व्रात्योंसे सम्बद्ध बतलाया है। यजुर्वेदमें पुरुषमेधकी बलि सूचीमें मागधोंका नाम भी सम्मिलित है। विदेशी विद्वान् जीम्मर (Zimmer) अथर्ववेद और यजुर्वेदमें उल्लिखित मागधोंको वैश्य और क्षत्रियके मेलसे उत्पन्न एक मिश्रित जातिका बतलाते हैं। किंतु सूत्रोंमें और एतरेय आरण्यक में मगधका निर्देश एक देशके रूपमें किया गया है। अतः स्पष्ट है कि यजुर्वेद और अथर्ववेदके समयमें मगध देशके वासीको मागध कहा जाता था। अतः मागध प्रतिलोमजात जाति बहिष्कृत नहीं थे। वैदिक इन्डेक्स (जि० २, पृ० ११६) में इस कल्पनाके आधारपर कि मगध गन्धर्वोका देश था मागधों को गन्धर्व बतलाया है क्योंकि उत्तर कालमें मागध बन्दी भाट कहलाते थे। उत्तरकालीन स्मृतियोंमें इस श्रेणीको एक पृथक् जाति बतलाया है और उसकी उत्पत्तिके लिए दो विभिन्न जातियोंके विवाहकी एक कथाका आविष्कार भी कर डाला है। मागधोंके प्रति इस प्रकारके भावका सम्भावित कारण यह है कि मागधोंका ब्राह्मणीकरण नहीं हो सका था। शतपथ ब्राह्मण (१, ४-१-१०) की साक्षीके अनुसार प्राचीन कालमें न तो कोसलका और न मगधका पूर्णरूपमें ब्राह्मणीकरण हुआ था, उसमें भी मगधका तो बहुत ही कम ब्राह्मणीकरण हुआ था।

भौगोलिक नाम

शेष तीन वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थोंके विषयमें सबसे उल्लेखनीय घटना है सरस्वतीका लोप। जिस स्थान पर उसका लोप हुआ

उसे विनशन कहते थे। अतः इस कालमें पूरब की नदियोंका उल्लेख होना स्वाभाविक है। शतपथ ब्राह्मणमें (१, ४-१-१४) सदानीराका उल्लेख आता है जो कोसलों और विदेहोंके मध्यमें सीमाका कार्य करती थी।

उक्त वैदिक साहित्यमें विभिन्न स्थानोंके नाम आते हैं। जनमेजय परीक्षितकी राजधानीका नाम आसन्दीवन था जहाँ उसके अश्वमेध यज्ञके घोड़ेको बाँधा गया था (श० ब्रा० १३, ५-४-२)। यह कुरुक्षेत्रमें थी। इसे ही विद्वान हस्तिनापुर कहते हैं (वै० ए० पृ० २५१)। गंगाके प्रवाहमें इसके बह जानेपर कौशाम्बीको राजधानी बनाया गया था।

शतपथ ब्राह्मणमें कपिलानाम आता है जो बदायूँ और फर्रुखाबाद जिलोंके मध्यमें है। नैमिषारण्य नाम भी आता है। यह अवध रुहेलखण्ड रेलवेके निमसर स्टेशनसे कुछ दूरी पर था ऐसा माना जाता है।

जैसा कि हम लिख आये हैं उक्त वैदिक साहित्यमें तीन विस्तृत भूभागों का निर्देश है—ब्रह्मावर्त या आर्यावर्त, मध्यदेश और दक्षिणापथ। एतरेय ब्राह्मणमें (८-१४) सर्व प्रथम समस्त देशको पांच भागोंमें विभाजित किया गया है—ध्रुवा मध्यमा प्रतिष्ठा, दिश या मध्यदेश, प्राचीदिश, दक्षिणादिश, प्रतीचीदिश और उदीचीदिश। किन्तु इन विभागोंका विस्तार और सीमा नहीं बतलाई है।

ऊपर जिन जातियों या कबीलोंका निर्देश किया है वे भारतके उक्त पांच विभागोंमेंसे प्रथम दो भागों (मध्य और पूर्वीय प्रदेश) मे रहते थे जैसा कि एतरेय ब्राह्मणमें लिखा है। एतरेय ब्राह्मणमें ही दक्षिणादिशके केवल एक सात्वन्तोंका ही निर्देश है। किन्तु इनके सिवाय विदर्भ, निषाध और कुन्ती जातियाँ भी थीं।

निषध देशके निवासी निषध लोग निषादोंसे बिल्कुल भिन्न थे। निषाद अनार्यजातिके लिये कहा जाता था, किन्तु निषध लोग आर्य थे।

शतपथ ब्राह्मण (१०, ६–१–२) और छान्दोग्य उपनिषदमें (५ २–४) कैकयोंके राजा अश्वपतिका नाम आया है, जो कुछ ब्राह्मणोंको शिक्षण देता था और बड़ा विद्वान था। उत्तर कालमें कैकय लोग सिन्धु और वितस्ताके मध्य भागमें बस गये थे। पौराणिक परम्पराके अनुसार कैकय अणुओंके वंशज थे।

वैदिक ग्रन्थोंमें अन्य भी अनेक छोटी बड़ी जातियोंका निर्देश है जिन्हें यहाँ छोड़ दिया गया है।

एतरेय ब्राह्मणमें आन्ध्रों पुन्ड्रों, शवरों, पुलिन्दों और मूतिबोंका उल्लेख दस्युके रूपमें आया है। कहा जाता है कि विश्वामित्रके पचास पुत्रोंने शुनःशेपका उत्तराधिकारी होना स्वीकार नहीं किया। अतः विश्वामित्रने उन्हें शाप दे दिया। ये उन्हींके वंशज है और इसलिये वे आर्योंकी परिधिसे बाहर थे। महाभारतमें आन्ध्रों, पुलिन्दों और शवरोंको दक्षिणकी जातियाँ बतलाया है।

शतपथ ब्राह्मणमें म्लेच्छ शब्दका प्रयोग अत्याचारीके अर्थमें पाया जाता है। वे म्लेच्छ लोग 'हेऽरयः' के स्थानमें 'हे लवो' बोलते थे। यह बतलाता है कि वे आर्य भाषाभाषी थे और प्राकृत रूपोंका प्रयोग करते थे।

उत्तरकालीन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें निषादोंका निर्देश है, जिससे प्रकट होता है कि निषाद किसी खास जातिका नाम नहीं था। किन्तु जो अनार्य जातियाँ आर्योंके कब्जेमें नहीं थीं उन सबके लिये 'निषाद' कहा जाता था। ये निषाद चार वर्णोंसे पृथक् थे। वेबर उन्हें यहांका मूलनिवासी मानते थे।

स्मृतियाँ निषादोंको ब्राह्मण पिताके संसर्गसे शूद्रा माताओंमें उत्पन्न हुई सन्तान बतलाती है। पुराण उन्हें विन्ध्य और सतपुड़ा पहाड़ोंका निवासी बतलाते है।

उक्त उल्लेखोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्रोंके कालमें वैदिक आर्य पंजाबमें पूरबकी ओर बढ़े थे और गंगाके दोआबेमें बस गये थे। उस कालमें उनका प्रधान कार्यक्षेत्र कुरुक्षेत्र था। यह उल्लेखनीय है कि वैदिक सभ्यताका स्थान पंजाबसे क्रमशः पूरबकी ओर बदलता गया। इस कालमें पंजाब और पश्चिमकी प्रधानता ही नहीं गई किन्तु शतपथ और एतरेय ब्राह्मणमें पश्चिमकी जातियों-को तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा गया है। इस कालमें ऋग्वैदिक कालीन जातियोंमें बहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है तथा अनेक नई जातियाँ प्रकाशमें आती है। भरतोंकी वह स्थिति नहीं रहती, किन्तु वे कुरुओंमें समा जाते है और कुरुपञ्चालोंकी एक शक्ति-शाली जाति खड़ी हो जाती है जिसने मध्यदेशको हथिया लिया। पूरबमें कोसल, विदेह, मगध और अंग चमकते हुए दृष्टिगोचर होते है। आन्ध्र पुंड्र, मूतिब पुलिन्द, शबर और निषाद ये जातियाँ बहिष्कृत मानी जाती थी जिनका आर्यीकरण नहीं हो सका था।

इस तरह उपनिषद काल तक नर्मदाके उत्तर तक ही आर्यों-का प्रभाव विस्तार हो सका था। (वै० इ०, पृ० २५८–२६०, कै० हि०, जि० १, अ० ५, प्री हि० इ०,)।

धर्म और दर्शन

ऋग्वेद पश्चात् कालीन धार्मिक और दार्शनिक विचारोंको जाननेके लिये सबसे प्रथम अथर्ववेदको लेना ठीक होगा, क्योंकि

विद्वानोंके मतानुसार अथर्ववेदमें प्राथमिक धार्मिक विचारोंका रूप रक्षित है, जो अन्य वैदिक ग्रन्थोंमें नहीं है।

ऐसी संभावना की जाती है कि पुरोहितके लिये प्राचीन भारतीय नाम अथर्वन था। अतः अथर्ववेदका मतलब होता है पुरोहितोंका वेद या पुरोहितोंके लिये वेद। अथर्वका मतलब जादूगरीसे भी है। प्रारम्भमें पुरोहित और जादूगर एक ही होते थे। किन्तु पीछे इनमें विभेद हो गया। ब्राह्मण स्मृतियोंमें शत्रुओं के विरुद्ध अथर्ववेदकी भूत-प्रेतविद्याका प्रयोग करनेकी स्पष्ट आज्ञा दी गई है (मनु० ११-३३)। और वैदिक विधिके जिन ग्रन्थोंमें यज्ञोंका वर्णन है उनमें भूत-प्रेतविद्या तथा जादू-टोनोंका भी वर्णन है, जिनके द्वारा पुरोहित बाधाओंको जड़मूलसे उखाड़ सकते थे।

अथर्ववेदमें इन सबकी बहुतायत है और इस दृष्टिसे उसका महत्त्व विशेष है। अथर्ववेदमें जादू-टोनेसम्बन्धी ऋचाएँ बहुत बड़ी संख्यामें वर्तमान है। इनमेंसे कुछ शत्रुओंके विरुद्ध प्रयोग किये जानेवाली भूत-प्रेतविद्यासे सम्बद्ध हैं और कुछ आशीर्वादात्मक हैं। ये सब राजाओंके कामकी वस्तुएँ थीं। प्रत्येक राजाको एक पुरोहित रखनेकी आज्ञा थी और वह पुरोहित जादूगरीका जानकार होता था। उससे वह राजाकी रक्षा करता था। इसलिये अथर्ववेद राजन्यवर्गसे सम्बद्ध था (हि० इं० लि०, विन्ट० पृ० १४६)।

ब्राह्मणवर्ग आरम्भसे ही एक प्रयोगशील वर्ग रहा है। वह हमेशा राजाओं तथा अन्य मनुष्योंके हितमें जादू-टोनेका प्रयोग करता आया है। मनुस्मृति (११-३३) में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मणको बिना किसी हिचकिचाहटके अथर्ववेदका

उपयोग करना चाहिये। शब्द ही ब्राह्मणका अस्त्र है, उसके द्वारा वह अपने शत्रुओंको मार सकता है।

इस प्रकार यद्यपि अथर्ववेद जादू-टोने और भूत-प्रेतसम्बन्धी विद्याओंसे भरा हुआ है फिर भी उसमें कुछ दार्शनिक मन्तव्य भी पाये जाते है।

अथर्ववेदमे भी अग्नि, इन्द्र आदि वे ही देवता है जो ऋग्वेदमे है। किन्तु उनका वह रंग जाता रहा है। भूत-पिशाचोंके नाशकके रूपमें ही उनकी प्रार्थना की जाती है और उनका पुराना स्वाभाविक आधार सर्वथा भुला दिया गया है।

विश्वके रचयिता और रक्षकके रूपमे एक सर्वोच्च देवताका विचार तथा ब्रह्म, तपस्, असन् आदि कुछ पारिभाषिक शब्द अथर्ववेदमे मिलते है। ऋग्वेदमे रुद्रका जो रूप है और श्वेताश्वतर उपनिषदमे जिस शैवदर्शनके दर्शन होते है, अथर्ववेदके रुद्र-शिवका रूप उन दोनोंके बीचका प्रतीत होता है।

इसमें, जो कुछ सत् है उन सबका आद्य कारण कालको बतलाया है (१९, ५३–५–६)। किन्तु इस दार्शनिक विचारके चारो ओर जिन रूपकोका ताना-बाना बुना गया है, उन्होने उसे एक रहस्यका रूप दे डाला है। इसके साथ ही गूढ़ कल्पनाएं भी पाई जाती हैं, जैसे ब्रह्मचारीके वेशमें प्रथम सिद्धान्तके रूपमे सूर्यकी प्रशंसा, तथा बैल, गाय और व्रात्यकी प्रशंसा। साधारणतया यह माना जाता है कि अथर्ववेदका धर्म, आर्य और अनार्य विचारोका मिश्रित रूप है। इस मतके अनुसार जब वैदिक आर्य भारतमे आगेकी ओर बढ़े तो उनकी मुठभेड़ असभ्य जातियोंसे हुई जो सर्प, पत्थर वगैरहको पूजते थे। आर्योंने उनकी इन बातोंको आत्मसात् कर लिया। इसमे

स्वभावतः मूलनिवासी जातियोंके धर्मको प्रोत्साहन मिला और वैदिक धर्मका पतन हुआ, क्योंकि उसमें जादू-टोना घुस बैठा।

जब हम सामवेद और यजुर्वेदकी ओर आते हैं तो एक नवीन ही संसारमें प्रवेश करते हैं। समस्त वातावरण यज्ञके धूम और क्रियाकाण्डकी प्रशंसासे व्याप्त है। यज्ञसे सब कुछ मिल सकता है। ये दोनों वेद यज्ञके लिये ही रचे गये प्रतीत होते हैं। जब तक हम उस स्थितिको न जान लें जिसमें रहकर याज्ञिक संस्थाका विकास हुआ तब तक उस कालके धर्मका विवरण समझमें नहीं आ सकता। अतः उस पर प्रकाश डाला जाता है—

वैदिक कालीन यज्ञ

यद्यपि ऋग्वेदसे धर्मके किसी विकसित रूपकी सुनिश्चित रेखा सामने नहीं आती। तथापि इतना स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों की उपासनाके मुख्य स्तम्भ यज्ञ थे। स्व० लोकमान्य तिलकका मत था (ओरॅन पृ० १२-१३) कि जैसे आजकल भी पारसियों के यहाँ सदा अग्नि प्रज्वलित रहती है वैसे ही वैदिक ऋषियोंके घरोंमें सदा अग्नि जलती रहती थी और वे उसमें यज्ञ किया करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें जिन अनेक यज्ञोंकी विधियोंका विस्तारसे वर्णन है, वे उत्तरकालमें प्रचलित हुए हों, यह संभव है, किन्तु वार्षिक यज्ञ करनेकी परम्परा प्राचीन प्रतीत होती है। यज्ञ करनेवाले पुरोहितके ऋत्विज नामसे भी इसपर प्रकाश पड़ता है। ऋतु + यज् = अर्थात् ऋतु में यज्ञ करनेवाला।

ऋग्वेदके देखनेसे प्रतीत होता है कि उस समय यज्ञोंका वैसा जोर नहीं था, जैसा ब्राह्मणकालमें हुआ। ऋग्वेदकी अधिकतर ऋचाएँ सोमयाग सम्बन्धी विधि-विधानोंसे पूर्ण हैं। और अश्वमेधके सिवाय अन्य किसी पशुयागका भी उल्लेख

नही है। किन्तु ऋग्वेदके पुरुष सूक्तको लेकर कुछ विद्वानोका यह मत है कि इसमे प्राचीन नरमेध प्रथाका वर्णन है, क्योकि शुक्लयजुर्वेदमे यही सूक्त पुरुषमेधके अर्थमे लिया गया है।

यज्ञानुष्ठानके लिए चार ऋत्विजोकी आवश्यकता होती थी—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता मंत्रोका उच्चारण करके देवताओंका आह्वान करता था। इस मंत्रसमुदायका संकलन ऋग्वेदमे है। उद्गाता ऋचाओंको मधुर स्वरसे गाता था, इसके लिये सामवेद है। यज्ञके विविध अनुष्ठानोंका सम्पादन करना अध्वर्युका कर्तव्य था, इसके लिये यजुर्वेद है। ब्रह्मा सम्पूर्ण यागका निरीक्षक था, जिससे अनुष्ठानमे कोई विघ्नबाधा न आवे, इसके लिये अथर्ववेद है।

सोमयागके लिए होता, उद्गाता और अध्वर्युके साथ सात ऋत्विजोका उल्लेख ऋग्वेदमे किया है। किन्तु जब हम अर्वाचीन संहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थोको देखते है तो यज्ञोंका ही प्राधान्य प्रतीत होता है। ऋत्विजोंकी संख्या भी १६-१७ तक पहुंच गई है। सोमयाग और पशुयाग बहुत पेचीदा हो गये है। ऋग्वेदके देवताओंके स्थानपर यज्ञोंने आधिपत्य जमा लिया है, और देवताओंका प्रभाव लुप्त हो गया है। केवल यज्ञ देवताको सब मानते है। यह यज्ञकर्ताके सामने देवताओंको भी झुका सकनेकी सामर्थ्य रखते है।

शतपथ ब्राह्मण(१।३।३।३–७) मे कहा है—'यज्ञ विष्णु था, और वह वामन था। बादमे वह धीरे-धीरे बढ़ता गया और उसका सर्वत्र प्रचार हुआ। फिर आगे कहा है—'देवोंके पुरुपमेध कर चुकनेके बाद पुरुषके अवयवोंसे एक ज्योति निकली. और उसने एक घोड़ेके शरीरमे प्रवेश किया, फिर गायमे, फिर भेडमे, फिर बकरेमें, फिर पृथ्वीमे, पृथ्वीसे वह जौ और चावलमे आई।'

शतपथ ब्राह्मणका उक्त कथन यज्ञके क्रमिक विकासपर प्रकाश डालता है।

यहां एक पशुयागका विवरण देना अनुचित न होगा। यह पशुयाग अन्य पशुयागोंका मूलरूप है। यह छै ऋत्विजोंकी सहायतासे होता था। इसमें एक पाशुक वेदी होती थी, जिसपर पशुयागके लिये आवश्यक सामान और आहुतिका द्रव्य रखा जाता था।

पशुको बाँधने के लिये एक यूप—लकड़ीका खूंटा रहता था। इसपर घी चुपड़ा जाता, फिर एक डोरी बांधी जाती। उसमें एक लकड़ी पिरोई जाती। प्रत्येक काम अध्वर्युको करना पढता था और होता प्रत्येक क्रियाके अनुकूल मंत्र पढ़ता था। इस तरह यूप पशु बन्धनके योग्य होता। पशुके दोनो सींगोंके बीचमें डोरी बांधकर इस डोरीको यूपमें बांधी गई डोरीके साथ बांध दिया जाता। इसके बाद यज्ञकी तैयारी होती।

मुख्य यागके पहले प्रयाज यागकी विधि प्रारम्भ होती। पशु-यागमें ग्यारह प्रयाजयाग होते थे। इन ग्यारह प्रयाजयागोंमें से प्रथम दसमें घीकी आहुति दी जाती। किन्तु अन्तिममें पशुकी नाभिके पास जो मेद रहता है, जिसे वपा कहते है, उसकी आहुति दी जाती। अतः ग्यारहवें प्रयाजयागसे पहले पशुवधकी तैयारी करनी पड़ती।

जो व्यक्ति पशुवध करता उसको शमिता कहते थे। पाशुक वेदीके उत्तरमें पशुवधका स्थान होता था; वहाँ पशुके शरीरको पकानेके लिये अग्नि प्रकट की जाती थी। एक ऋत्विज् अग्निकी मशाल जलाकर पशुके चारों ओर घुमाता। इसका उद्देश्य था कि राक्षस पशुपर आक्रमण न करे, क्योंकि वे अग्निसे डरते हैं। इसी

समय होता पशुवधके लिये शमिताको बुलाता। और एक मंत्र पढ़ता, जिसका भाव इसप्रकार है—

"इस काममे पशुकी माता अनुमति दे, पिता अनुमति दे, सहोदर भाई अनुमति दे, इसके मित्र तथा साथी अनुमति दे। इसके पैर उत्तर दिशामे रहे, चक्षु सूर्यकी ओर रहे, प्राण वायुका, जीवन आकाशका, कान दिशाओंका और शरीर पृथ्वीका आश्रय ले। इसका चमड़ा इस तरहसे अलग करो कि वह फटे नहीं। नाभिको काटनेसे पहले उसकी चर्बी निकाल लो। इसकी श्वांस बाहर न निकले। इसकी छाती इस तरहसे काटो कि वह एक पर फैलाये पक्षीकी तरह मालूम दे। आगेके पैर काटो। इसके कन्धे कछुवेकी शक्लमे काटो। पिछला भाग ऐसा काटो, उसे कोई हानि न पहुँचे। जंघाओंको करवीरकी पत्तीकी शकलमे काटो। २६ पसुलियोंको अलग-अलग करलो। और सब सब्योंको इस तरह बाँटो कि कुछ बाकी न रहे। विष्टे वगैरहके लिए एक नाली खोदो, खून राक्षसोके लिए फेंक दो।

अन्तमे कहता—'हे वधक! इस पशुका घात करो, घात करो, अपाप, अपाप, अपाप, इस कर्ममे जो सुकृत हो वह हमे अर्पण करो। जो दुष्कृत हो वह दूसरोको अर्पण करो' (तैत्ति० ब्रा)।

पशुका बध हो चुकनेके बाद यजमान, उसकी पत्नी और अध्वर्यु पानीसे उसे धो डालते। अध्वर्यु उसका पेट चीरकर वया निकाल लेता। उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता दो लकड़ियोंकी सहायतासे उस वयाको उठा कर अग्नि पर तपाता। फिर उत्तर वेदीके बीचकी आहवनीय अग्निके ऊपर उसे पकड़े रहता। अग्निके तापसे पिघलकर वया अग्निमे टपकती। अध्वर्यु उस पर घी डालता। विधिपूर्वक मंत्र पाठके बाद इस वयाका थोड़ा भाग अग्निमे डालनेके पश्चात् प्रयाजयाग

पूर्ण हो जाता और शेष भाग मुख्य यागके लिये रख लिया जाता।

पशुयागका मुख्य देवता इन्द्र और अग्नि है। प्रयाजयागके बाद अध्वर्यु उनके उद्देश्यसे पहले वयाकी आहुति देता। वयाकी आहुतिके बाद पुरोडाशकी आहुति और अन्तमें पशुके अंगोकी आहुति दी जाती। पूर्णमास यागमें तो मुख्य आहुति पुरोडाशकी दी जाती थी, किन्तु पशुयागकी आहुतिका द्रव्य पशुकी वया और मांस होता था। किन्तु यदि पशुमांसके साथ पुरोडाशकी आहुति न दी जाये तो पशुयाग सम्पूर्ण नहीं होता था। वयाकी आहुतिके बाद एक ओर अग्निमें पशुके अंग प्रत्यंग पकाये जाते, दूसरी ओर अध्वर्यु पुरोडाश याग करता।

पशुके सभी अङ्ग आहुतिके योग्य नहीं माने जाते। हृदय, जीभ वगैरह ग्यारह अंग मुख्य देवताकी आहुतिके योग्य माने जाते थे। पशुका रक्त राक्षसोंको मिलता। रक्तको यज्ञशालासे बाहर फेंक दिया जाता था। जो शमिता पशुका वध करता वही छुरीसे पशुके अङ्गोंको काटकर हाँडीमें उन्हें पकाता था।

पुरोडाशकी आहुति हो चुकनेके बाद शमिता खबर देता कि पशुका शरीर पक गया है। तब अध्वर्यु मुख्य देवता इन्द्र और अग्निके उद्देश्यसे पशुके अङ्गोंकी आहुति देता। मुख्य यागके पीछे स्विष्टकृत याग होता। यह याग रुद्र देवताके उद्देश्यसे किया जाता था। इसके लिए पशुके कुछ अंग निश्चित थे। इसके पश्चात् हविशेषका भक्षण होता। ऋत्विज लोग अपना-अपना भाग खाजाते। जिस वस्तुकी आहुति दी जाती है उसके बाकी बचे भागको 'हविशेष' कहते है। जबतक हविशेष नहीं खाया जाता तबतक यज्ञ पूर्ण और सार्थक नहीं होता। पशुयागमें मांसकी आहुति दी जाती है अतः हविशेष मांसको खाना आवश्यको

है। अथर्ववेदके गोपथ ब्राह्मणमें विस्तारसे उन व्यक्तियोंकी तालिका दी है जो यज्ञमें भाग लेनेके उपलक्ष्यमें हविशेष मांसका भाग पाते हैं। उसके ३६ भाग किये जाते थे और उनका बटवारा इस प्रकार होता था—

प्रस्तोताको जीभके साथ दोनों जबड़े, प्रतिहर्ताको गर्दन और ककुद (बैलके कन्धेका उठा हुआ भाग) उद्गाताको छातीका भाग, अध्वर्युको कन्धेके साथ दाहिना पार्श्व, उपगाताको बायां पार्श्व, प्रति प्रस्थाताको बॉया कन्धा, ब्रह्मा और रथ्याकी स्त्रीको दाहिना नितम्ब, पोताको ऊरू, होताको बॉया नितम्ब, इत्यादि। जो इस बॅटवारेमें सम्मिलित नहीं होते थे उनको अनेक अपशब्द कहे गये हैं। आश्वलायनने अपने गृह्यसूत्रके प्रथम भागके ग्यारहवें अध्यायमें 'पशुकल्प' शीर्षकसे उन नियमोंको दिया है जो पशुको काटनेमें पालन किये जाते थे। यद्यपि ऋग्वेदमें गौको अघ्न्या'—न मारने योग्य कहा है तथापि उसके वधका ऐकान्तिक निषेध नहीं था। आश्वलायनके गृह्यसूत्रमें वर्णित यज्ञोंमें एक 'मूलगौ' यज्ञका वर्णन है। यह शरद या वसन्तमें किया जाता था। इसके लिए ऐसी गाय आवश्यक होती थी, जो पाले रंगकी न हो, जिसपर सफेद या काले धब्बे हों और जो सर्वोत्तम हो। उसको पानीसे नहलाया जाता था और वैदिक मंत्र पढ़कर रुद्रको भेट कर दिया जाता था। उसके बलिदानके लिए ऐसा स्थान पसन्द किया जाता था, जो गांवसे बाहर पूरब या उत्तर दिशामें हो, जहांसे गांव दिखाई देता न हो, और न गांवसे वह जगह दिखाई देती हो। बलिदानका समय मध्य रात्रि था।

पूॅछ, खाल, स्नायु और खुर अग्निमें डाल दिए जाते थे और रक्त कुशोंपर फेंक दिया जाता था। सूत्रकारका कहना है कि उसके

मांसको न तो गाँवमें ही ले जाना चाहिये और न बच्चोंको ही उसके पास आने देना चाहिये। स्वस्त्ययनके बाद इसको प्रसाद रूपमें खा लेना चाहिये। कुछका मत[1] है नहीं खाना चाहिये।

ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि जो यजमान सोमयागकी दीक्षा लेता था वह सभी देवताओंके सामने अपने आलम्भनके लिए तैयार होता था और अपने बदलेमें पशुको क्रय करता था। इसका मतलब यह हुआ कि यज्ञमें जो पशु भेंट दिया जाता था वह यजमानका प्रतिनिधि था। प्राचीनकालमें यह विवाद हुआ था कि सोमयागके पहले अग्नि और सोमको जो पशु भेंट किया जाता है, उसका माँस खाना चाहिये या नहीं? क्योंकि वह पशु यजमानका प्रतिनिधि होता था, अतः उसका मांस नरमांस हुआ और नरमांसका खाना कहाँ तक उचित है?

ऐतरेय ब्राह्मणमें इस विवादका निरसन करते हुए लिखा है कि 'अग्नि और सोमकी मददसे इन्द्रने वृत्रका वध किया था। अतः इन्द्रने सन्तुष्ट होकर अग्नि और सोमको यह वरदान दिया था कि सोमयागके पहले जो पशु भेंट किया जायगा वह तुम्हें मिलेगा। अतः वह पशु देवताका भक्ष्यमात्र है, यजमानका प्रतिनिधि नहीं है।'

मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद प्रतिपादित उक्त यज्ञ धर्मकी क्रमसे किस प्रकार वृद्धि होती गई, और उसका विस्तार कहाँतक हुआ इसका एक चित्र कवि हर्षके नैषध काव्यसे यहाँ देकर इस चर्चाको समाप्त करेंगे। नैषधके १७ वें सर्गमें कविने कलियुगके निषध देशमें जानेका वर्णन करते हुए लिखा है—जब कलि राजा

---

१. अस्य पशोः हुतशेषं न प्राश्नीयात्। अन्यत्र इच्छातः प्राश्नीयात् वा।

नलकी राजधानीके निकट पहुँचा, तो उसे नगरीमे प्रवेश करना कठिन होगया, क्योंकि वेदध्वनि करते हुए श्रोत्रियोके शब्द उसके कानोंमे पड़ने लगे। होमके घीकी गन्धसे उसकी प्राणशक्ति नष्ट होगई, यज्ञका धूम उसकी आँखोमे भर गया। अतिथियोंके पैर धोनेके जलसे पिच्छलित हुए आँगनोमे उसे पैर रखना कठिन होगया, यज्ञकी अग्निकी गर्मीसे उसकी ऐसी दशा होगई, मानो कुम्हारके आवेमे जा पड़ा है। नगरम जगह-जगह यज्ञके पशुओ को बाधनेके लिए गड़े हुए यूप उसे ऐसे लगे मानो पृथ्वीमें जगह-जगह कीले गड़े हुए है। कलिने अपनी प्रिया हिसाको बहुत खोजा, किन्तु उसे वह दृष्टिगोचर न हुई। गोमेध यज्ञमे बलिदान करनेके लिए खड़ी गौको देखकर वह उसक ओर दौड़ा, किन्तु यह हिसा तो वैदिकी होनेसे हिसा ही नहीं थी अतः वहाँ भी उसकी दाल नहीं गली। आगे ब्राह्मणोंको मदिरापान करते देखकर कलि बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु जब उसने देखा कि वे ब्राह्मण सौत्रामणि यज्ञ कर रहे है (इस यज्ञमे मदिरापान विधेय है) तो वह सिर धुनने लगा। एक स्थानपर एक मनुष्यको ब्राह्मणका वध करते देखकर कलि बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु जब उसने देखा कि वह मनुष्य सर्वमेध नामका यज्ञ कर रहा है तो उसे ज्वर ही आ गया (सर्वमेध[१] मे प्रत्येक जातिके एक-एक प्राणिके वध का विधान है)।

'तब कलिने अपने मित्र जैन और बौद्ध साधुओंकी खोज की, क्योंकि वे वैदिक हिंसाके विरोधी है, किन्तु उसे जिन (बौद्ध) के स्थानपर तो अजिन-कृष्णमृगका चर्म दिखाई दिया और क्षपणक (जैन साधु) के स्थान मे अक्षपण—जुआ खेलनेके पासे

१. सर्वमेधे हि तत्तज्जातीयैकैक प्राणिहिंसाधिकारात् 'ब्राह्मणो ब्राह्मण-मालभेत' इति ब्रह्मवधस्य वैधत्वात् ॥ नै. टी. १७ स., १८६ श्लो ।

दिखाई दिये। (राजसूय[1] यज्ञमे यजमान जुआ खेलाता है)। एक स्थानपर कलिने एक कामुकको सजातीया, विजातीया, गम्या, अगम्या सभी स्त्रियोंको भोगते हुए देखकर संतोष किया कि यहाँ मेरी गति है, किन्तु उस कामुकको [2]वामदेव्य मुनिके द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्याका उपासक जानकर खेद हुआ।'

'अग्निष्टोम यागको देखकर उसे बहुत कष्ट हुआ, पौर्णमास यागको देखकर उसे मूर्छा आगई और सोमयागको देखकर उसने अपनी मृत्यु ही समझ ली। एक जगह ब्राह्मणोंको परस्परका छुआ हुआ उच्छिष्ट खाते हुए देखकर उसे परम सन्तोष हुआ। किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि ये लोग हविशेष सोमका भक्षण कर रहे हैं तो सिर धुनने लगा क्योंकि सोममे उच्छिष्ट नहीं माना जाता। एक स्थान पर गोवध होता देखकर कलि उस ओर दौड़ा। किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यह तो अतिथियोंके लिये मारी जा रही है तो बेचारा अपना सा मुँह लेकर लौट आया।

आगे एक मनुष्यको आत्मघात करते हुए देखकर कलिको बड़ा आनन्द हुआ। किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यह सर्वस्वार यज्ञकर्ता है तो उसे बड़ी व्यथा हुई। जिसकी मृत्यु निकट होती है और जो असाध्य रोगसे पीड़ित होता है वही इस यज्ञका अधिकारी है। वह पशुमंत्रोंके द्वारा अपना ही संस्कार करके तथा आत्मघात करके सर्वस्वार नामक यज्ञमे अपनेको होम देता है। आगे [3]महाव्रत नामक यज्ञमे एक ब्रह्मचारीको दुराचारिणी स्त्रीके साथ मैथुन करते हुए देखकर कलिने यज्ञको विटोका

---

१. 'राजसूये यजमानोऽक्षैः दीव्यति।' २ 'वामदेव्योपासने सर्वाः स्त्रिय उपसीदन्ति' इति श्रुतिः। ३. 'महाव्रते ब्रह्मचारि-पुश्चल्योः संप्रवादः'।

कर्म समझा। तथा अश्वमेध यज्ञमे यजमानकी भार्याको अश्वके साथ सम्भोग करते देखकर उस मूर्ख कलिने माना कि वेद किसी धूर्तकी कृति है।'

यज्ञोके सम्बन्धमे एक बात और बतला देना आवश्यक है। पुरोहितोके मन्दिर नहीं थे और सम्भवत न मूर्तियाँ ही थीं। प्रत्येक यज्ञानुष्ठानके लिये यज्ञ करानेवाले यजमानके स्थानमे ही वेदी बना ली जाती थी। यज्ञसे जो पुण्य लाभ होता था वह केवल यज्ञ करानेवालेको ही होता था। अतः वह यज्ञका पूरा व्यय उठाता था—वध किये जानेवाले पशुओंके लिये, विभिन्न कामो पर नियुक्त व्यक्तियोंके लिये और पुरोहितोकी दक्षिणाके लिये उसे पूरा खर्च करना होता था। दक्षिणामे मूल्यवान वस्त्राभूषण, घोड़े, गाये और स्वर्ण दिया जाता था। किस समय दक्षिणामे कौन वस्तु देनी होती थी यह सब लिखा हुआ है। स्वर्णदानकी बहुतायत है। लिखा है—धर्मात्मा पुरोहितको स्वर्णको विशेष रूपसे स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उसमे अग्निके बीज निहित है।

अतः यज्ञोंमे बहुत व्यय होता था और धनी व्यक्ति तथा *राजा लोग ही उन्हे करा सकते थे। इसीसे यज्ञोका मुख्य सम्बन्ध* ब्राह्मणो और क्षत्रियोसे है। अतः ब्राह्मणो और क्षत्रियोंके सम्बन्धमे भी तत्कालीन स्थितिका जान लेना आवश्यक है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय

जब वैदिक आर्य पंजाबमे आये तब उनकी सस्कृति क्या थी, इस विषयमे विभिन्न मत है। फिर भी साधारणतया ऐसा माना जाता है कि वे पशुपालक और कृषक थे। पजाबमे बस जानेपर उनकी इस वृत्तिमे तजीसे वृद्धि हुई। किन्तु उस समय आर्योको

इस देशके प्राचीन निवासियोंसे–जो आर्योंसे अधिक सुसंस्कृत और सभ्य थे, प्रायः युद्ध करना पड़ते थे, जिससे कृषि कार्योंमे विघ्न होता था और सुदक्ष प्रतिद्वन्दी योद्धाओंसे युद्ध करनेमे भी कठिनाई प्रतीत होती थी। अतः कार्यका विभाजन कर दिया गया।

[1]आरम्भमे वैदिक आर्योंमे जातिभेद नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि पौरोहित्य और शासनका काम संयुक्त था। किन्तु वैदिक आर्यो और पंजाब–अफगानिस्तानके प्राचीन निवासियोंके साथ होनेवाले सतत युद्धोंने वैदिक आर्योंको विवश किया कि अपने-अपने व्यवसायके अनुसार वे अपनेको विभिन्न समुदायोंमें विभाजित करलें। धीरे-धीरे योद्धा लोगोंका स्थान उन्नत होता गया और वे क्षत्रिय कहलाये।

ऋग्वेदमे वर्ण' शब्द मनुष्योंकी कक्षाएँ बतलानेके लिये आया है, क्योंकि दासो और आर्योंके वर्णमे अन्तर था। किन्तु, इस दृष्टिसे अन्य संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंसे ऋग्वेदका मौलिक मतभेद है, क्योंकि उनमे चार वर्णोंका स्पष्टरूपसे निर्देश है। यद्यपि ऋग्वेदके अन्तिम पुरुष सूक्तमे भी राजन्य, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र चार वर्णोंका निर्देश है, किन्तु चूँकि विद्वान लोग इस सूक्तको अर्वाचीन मानते है, अतः ऋग्वेद कालमे चारो वर्णोंके स्थापित हो जानेकी बात संदिग्ध मानी जाती है। जिम्मर[2] (Zimmer) का कहना है कि ऋग्वेद की जातिविहीन परम्पराका जो यजुर्वेदकी जातिगत परम्पराके रूपमे परिवर्तन हुआ इसका सम्बन्ध वैदिक आर्योंके पूरबकी ओर बढ़नेसे है।

---

१. प्री हि० इं०, पृ० २३। २ वै० इं०, जि० २, पृ० २४८।

प्रारम्भमें राजन्य अपने तथा जनताके लिये यज्ञ कर सकता था। किन्तु ऋग्वेद (३-३३-८, ७-१८-८३) में ऐसे भी उल्लेख हैं, जिनमें पुरोहिताई जबरदस्ती ली गई है, जैसे विश्वामित्र और वशिष्ठके सम्बन्धमें। जब ऋग्वेद पूर्ण हुआ तब पुरोहित जाति स्पष्टरूपसे पृथक् स्थापित हो चुकी थी। तथापि दो क्षत्रिय वर्गोंने बलपूर्वक पुरोहितोंमें स्थान प्राप्त कर लिया। अंगिरस, वशिष्ठ, अगस्त्य और भार्गवोंको मूलतः दैवीय बतलाया है। किन्तु विश्वामित्र और काण्वको क्षत्रिय वर्गका बतलाया है।

विश्वामित्र भारत क्षत्रियोंमें से थे और कण्व नृपदका पुत्र था, जिसे पुराणोंमें क्षत्रिय कहा है। आश्वलायन श्रौतसूत्रके अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, काश्यप और अगस्त्य ये सब ब्राह्मणोंके पूर्व पुरुष हैं। इन आठोंमें से चारको ब्राह्मण गोत्रोंका मूल माना जाता है। महाभारतमें कहा है कि अंगिरस, काश्यप, वशिष्ठ और भृगुसे वैदिक आर्योंके प्राचीनतम पुरोहितोंकी सन्तान चली है। वैदिक साहित्य बतलाता है कि उन पूर्व पुरोहितोंने अन्य वर्णोंके मनुष्योंके द्वारा पुरोहितोंका कार्य किये जानेपर रोप प्रकट करना आरम्भ किया। विश्वामित्र और वशिष्ठकी कलह स्पष्टरूपसे इस बातकी सूचक है कि प्राधान्य और शक्तिके लिये पुरोहितों और राजन्योंके बीचमें झगड़े[1] हुए थे।

यहाँ पुरोहित और ब्राह्मणके सम्बन्धमें थोड़ा प्रकाश डाल देना उचित होगा। राजाके समस्त धार्मिक कृत्योंमें पुरोहित-अगुआ होता था। एतरेय ब्राह्मण (८-२४) में कहा है कि राजाको एक पुरोहित अवश्य रखना चाहिये, अन्यथा देवता उसकी भेंट

---

१. हीहि० इ०, पृ० २४।

स्वीकार नहीं करेंगे। पुरोहित अपनी प्रार्थनाओंके द्वारा युद्धमें राजाकी विजय और सुरक्षा की गारन्टी लेता था। वह धान्यके लिये पानी बरसाता था। वह एक 'जाज्वल्यमान अग्नि थी जो राजाकी रक्षा करती थी

किन्हीं[1] विद्वानोंके मतानुसार आरम्भसे ही पुरोहित यज्ञोंमें ब्राह्मण पुरोहितके रूपमें काम करते थे। अपने इस कथनके प्रमाणमें वे कहते हैं कि वशिष्ठका निर्देश पुरोहितके रूपमें भी है और ब्राह्मणके रूपमें भी है। शुनःशेपके यज्ञमें उसने ब्राह्मणके रूपमें कार्य किया, किन्तु वह सुदासका पुरोहित था। बृहस्पतिको देवताओंका पुरोहित और ब्राह्मण कहा है। इस तरह स्पष्ट है कि ब्राह्मण प्रायः पुरोहित होता था। यही वजह है जिसके कारण उत्तरकालमें यज्ञोंमें ब्राह्मणका स्थान सबसे प्रमुख हुआ। किन्तु यह कहना कठिन है कि प्रारम्भमें भी ब्राह्मणको वैसा ही प्रमुख स्थान प्राप्त था।

क्षत्रियका ब्राह्मणके साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता था। तैत्तिरीय संहिता (५, १-१०-३) आदिमें दोनोंके अभेद्य सम्बन्ध पर ही दोनोंकी अभ्युन्नतिको स्वीकृत किया है। कभी-कभी दोनोंमें कलह होनेके उदाहरण भी ब्राह्मण ग्रन्थोंमें मिलते हैं। किन्तु ब्राह्मण यज्ञका सर्वेसर्वा था, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियको मिटा डालनेकी शक्ति रखता था।

ब्राह्मणोंने देखा कि युद्धोंमें तो अनेक प्रकारके खतरे और कठिनाईयां हैं जब कि पौरोहित्यमें लाभ ही लाभ है और वह शक्ति प्राप्त करनेका भी अच्छा साधन है, अतः उन्होंने उसे ही हथिया लिया। किन्तु इसके लिये उन्हें अनेक झगड़े उठाने पड़े।

१. एत० ब्रा० ८, २४-२५। २. वै० इ०, जि० २, पृ० ७।

इन झगड़ोंके अवशेष अथर्ववेद (५, १७-१९) में सुरक्षित हैं, जहाँ ब्राह्मणोंको सतानेके कारण सञ्जयोंके विनाशका वर्णन है। अथर्ववेदके सिवाय यजुर्वेदकी शतरुद्रीय प्रार्थनाओंमें भी उस तूफानी कालकी छाया है जब भारतकी आदिवासी जनता असन्तोषको लिये हुए उत्तेजित थी और रुद्र समस्त प्रकारके बुरे कार्य करनेवालोंके रक्षक देवताके रूपमें पूजा जाता था। अस्तु,

मैत्रायणी संहिता (४-३-८) आदि वैदिक ग्रन्थोंमें क्षत्रियसे ब्राह्मणकी श्रेष्ठताका दावा बराबर पाया जाता है और ब्राह्मण अपने मंत्र तंत्र तथा क्रियाकाण्डके द्वारा क्षत्रियों तथा जनताको कभी भी झगड़ेमें डाल सकता था। यद्यपि राजसूय यज्ञमें ब्राह्मण को राजाकी उपासना करना पड़ती थी किन्तु ब्राह्मणकी प्रधानता अक्षुण्ण थी। वहाँ स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया गया है कि पूर्ण उन्नतिके लिये क्षत्रिय और ब्राह्मणका मेल आधारभूत है। वहाँ यह भी बतलाया है कि (मै० सं० १-८-७) बहुधा राजाने ब्राह्मणको सताया तो निश्चय ही उसका विनाश हो गया।

जैसे, स्वर्गके देवताओंकी तरह ब्राह्मण पृथ्वीका देवता (भूदेव) है यह दावा ऋग्वेदमें शायद ही क्वचित् मिले। शतपथ ब्राह्मणमें (११, ५-७-१) ब्राह्मणके चार अधिकार बतलाये हैं—अर्चा (आदर पाना), दान लेना, अज्येयता (किसी के द्वारा पीडित न होना) और अवध्यता (किसीके द्वारा मारा न जाना)। और उसके कर्तव्य है- ब्राह्मण्य, प्रतिरूपचर्या (अपनी जातिके अनुरूप आचरण), और लोकपंक्ति।

अथर्ववेदके कुछ पद्योंमें ब्राह्मणजातिके सर्वोच्च विशेषाधिकारों का भी दावा है और ब्राह्मणको प्रायः भूदेव (पृथ्वीका देवता) कहा है। ब्राह्मणकालमें इसका और भी परिपाक हुआ है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—'देवता दो प्रकारके होते है एक

देवता और एक ब्राह्मण देवता। इन दोनोके बीचमे यज्ञका विभाग होता है। यज्ञमे दीजानेवाली आहुतियां देवताओके लिए हैं और दक्षिणा ब्राह्मण देवताके लिये है। यज्ञमे आहुति देकर यजमान देवोंको प्रसन्न करता है, और दक्षिणा देकर ब्राह्मण देवताओं को प्रसन्न करता है। जब ये दोनो प्रकारके देवता सन्तुष्ट हो जाते हैं तो यजमानको स्वर्ग प्रदान करते हैं।'

यजमान के चार कर्तव्य हैं—उसे ब्राह्मणोका आदर करना चाहिये, उन्हे दक्षिणा देनी चाहिये, उन्हे सताना नही चाहिये, उनकी हत्या नहीं करनी चाहिये। किसी भी परिस्थितिमे राजाको ब्राह्मणकी संपतिको नहीं छूना चाहिये। यदि राजा यज्ञकी दक्षिणाके रूपमें ब्राह्मणोको अपना राज्य प्रदान करता है तो उस राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मणोकी संपत्ति उसमे नहीं ली जायेगी। यदि राजा किसी ब्राह्मणको सताता है तो वह पापका भागी है। राजाके राज्यारोहणके अवसरपर पुरोहित कहता है—ऐ मनुष्यो! यह तुम्हारा राजा है हम ब्राह्मणोका राजा तो सोम है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि इस कथनके आधारपर वह ब्राह्मणोके सिवाय समस्त जनताको राजाका भक्ष्य घोषित करताहै, अतः राजा ब्राह्मणोंका उपभोग भक्ष्यके तौरपर नही कर सकता; क्योकि ब्राह्मणका राजा तो सोम है।

शतपथ ब्राह्मणमे और भी लिखा है—ब्राह्मणका घातक ही वास्तवमें घातक है। ब्राह्मण और अब्राह्मणका झगड़ा होने पर जजको ब्राह्मणके पक्षमें ही फैसला देना चाहिये। जो वस्तु दूसरोके लिए निषिद्ध हो उसे ब्राह्मणको दे देना चाहिये, क्योकि जो दूसरोंके लिये अपच है वह ब्राह्मणोंके लिये सुपच है।

किन्तु ब्राह्मण देवता अधिक दिनो तक स्वर्गीय देवताओके समकक्ष नहीं रहे, उन्होने अपनेको देवताओसे भी ऊपर ला

बैठाया। शतपथ ब्राह्मणमे लिखा है—ब्राह्मण ऋषियोंकी सन्तान है अतः उसमे सब देवताओंका आवास है। इस तरह ब्राह्मणोंने यज्ञके द्वारा अपनेको देवताओंसे भी बड़ा बना दिया।

वैदिक काल विभाग

ऊपर जिस धार्मिक स्थितिका चित्रण किया गया है वह ईसा पूर्व आठ सौके लगभग की है। अन्वेषक विद्वानो ने ब्राह्मण सभ्यता का उचित काल ईसा पूर्व ८०० से ई० पूर्व ६०० तक ठहराया है (कै० हि भा० १, पृ० १४९)। डा० जकोबीका कहना था कि वैदिक पश्चात् काल ईसा पूर्व आठवीं शतीसे आरम्भ होता है क्योंकि सांख्य-योग और जैनदर्शनके समकालीन प्रादुर्भाव के साथ ही वैदिक कालका अन्त हो जाता है। इनमेंसे जैन धर्मको ईसा पूर्व ७४० तक पीछे ले जाया जा सकता है, क्योकि जैन धर्मके सम्भवतया संस्थापक पार्श्वनाथ थे, जिनका निर्वाण महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुआ।' (रि० फि० वे० पृ० ७०)

किन्तु प्रो० बरुआ ऋग्वेदकी अन्तिम ऋचाकी पूर्ति होनेके साथ ही वैदिक पश्चात् कालका आरम्भ मानते हैं। उनका कहना है कि वैदिक कालसे वैदिक पश्चात् कालका विश्लेषण इस आधार पर किया जा सकता है कि ब्रह्मर्षि देश ऋग्वेदके पश्चात् अधिक दिनों तक बौद्धिक केन्द्र नहीं रहा, किन्तु उसका स्थान मध्य देश ने ले लिया। यह[१] मध्यदेश हिमालय और विन्ध्यके बीचमे अवस्थित था और पूरबमें प्रयागसे लेकर पश्चिममें विनशन तक फैला हुआ था। कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन ये चार उस समयके प्रसिद्ध जनतंत्र थे और काशी, विदेह और कोशल शक्तिशाली राज्य थे (प्री० बु० इं० फि०, पृ० ३९)।

१—मनु० २—२१।

डा० होपकिन्सका कहना[1] है कि ब्राह्मण ग्रन्थोंके साथ ही न केवल ऋग्वैदिक कालीन टोन ही बदल गई, किन्तु समस्त धार्मिक वातावरण एक प्रफुल्ल वास्तविक धर्मके बदलेमें, जो ऋक्संहिताका आत्मा है, मंत्र तंत्र, आध्यात्मिकता और धार्मिकताके भारसे आक्रान्त हो उठा। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें न वह नवीनता है, और न वह कविता है। है केवल स्वमताग्रह, मूढ़ता और विद्वेषकी भावना। यह सत्य है कि इन सबके चिन्ह ऋक्वेदके कुछ भागोंमे भी पाये जा सकते है, किन्तु यह भी सत्य है कि वे चिन्ह ब्राह्मण ग्रन्थोंमें जिस प्रकार ब्राह्मण कालका प्रतिनिधित्व करते है, अपने समयका वैसा प्रतिनिधित्व ऋग्वेदमे नही करते। (रि० इं०, पृ० १७६–१७७)।

ऋग्वेदके साथ इतर संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थोका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेदकालीन धर्म ने करवट बदल ली है। अतः वैदिक धर्मका एक अध्याय ऋग्वेदके साथ समाप्त हो जाता है। और इसलिये उसके प्रकाश मे उत्तर कालीन संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थोंके कठोर क्रियाकाण्डी धर्मको लक्ष्यमे रखकर ऋग्वेदके साथ ही वैदिक कालका अन्त मानना अनुचित नही है। वैदिक धर्मका दूसरा अध्याय ब्राह्मण ग्रन्थोके साथ समाप्त हो जाता है और आरण्यक तथा उपनिषदों से तीसरा अध्याय आरम्भ होता है।

स्व० रमेशचन्द्रदत्त ने लिखा है—"इसी समय जब आर्य लोग गंगाकी घाटीमें फैले, ऋग्वेद और तीनों अन्य वेद भी संग्रहीत और सम्पादित हुए। तभी एक दूसरे प्रकारके ग्रन्थोकी रचना हुई, जो ब्राह्मण नामसे पुकारे जाते हैं। इन ग्रन्थोंमें यज्ञोंकी विधि लिखी है। यह निस्सार और विस्तीर्ण रचना

सर्व साधारणके क्षीण शक्ति होने और ब्राह्मणोंके स्वमताभिमानका परिचय देती है। संसार छोड़कर, बनोंमें जानेकी प्रथा, जो पहले नामको भी नहीं थी, चल पड़ी, और ब्राह्मणोंके अन्तिम भाग आरण्यकोंमें वनकी विविध क्रियाओंका वर्णन है। अन्तमें क्षत्रियोंके निर्भय विचार जो उपनिषदोंके नामसे प्रख्यात हैं, आरम्भ हुए। इन्हींके साथ भारतके उस साहित्यका अन्त होता है जिसे ईश्वरकृत कहा जाता है।" (प्रा० भा० सं० इं०, भा० १, पृ० ८-९)।

आरण्यक

एतरेय आरण्यकके भाष्यमें सायणने लिखा[१] है—अरण्य (वन) मे पढ़ाये जानेके योग्य होनेसे इसका नाम आरण्यक है। तथा एतरेय ब्राह्मणके भाष्यमें सायणने लिखा है—'वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ लोग जिन यज्ञादिको करते थे, उनको बतलानेवाले ग्रन्थोंको आरण्यक कहते है।' कहा जाता है कि गृहस्थोंके यज्ञोंका विवरण ब्राह्मण ग्रन्थोंमें हैं और वानप्रस्थ आश्रममे जीवन बितानेवालोंके यज्ञ आदिका विवरण आरण्यकोमें है।

आरण्यक न तो यज्ञोंके विधि-विधानको उठाकर ताकमे रखते हैं और न ब्राह्मण ग्रन्थोंमें प्रतिपादित शैलीका ही अनुसरण करते हैं। वे मुख्य रूपसे पुरोहितदर्शन और यज्ञोंके लाक्षणिक तथा रहस्यमय रूपका विवेचन करते हैं। उनमे यज्ञोके आध्यात्मिक रूपका विवेचन है। देवताविशेषके उद्देशसे द्रव्यका त्याग ही यज्ञ है, यह आरण्यक नहीं मानते। वे क्रियाकाण्डकी अपेक्षा चिन्तन पर विशेष जोर देते हैं और ब्राह्मणोंकी गहन विधिके

१. 'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।'

स्थानमें एक सीधी-सादी विधि बतलाते हैं। चावल, जौ या दूध-की आहुतिसे किये जानेवाले बाह्य यज्ञकी अपेक्षा आन्तर यज्ञ पर विशेष जोर दिया गया है। उनमे सकाम कर्मके प्रति और कर्मफलके प्रति श्रद्धाका भाव दिखाई नहीं देता; क्योंकि कर्म-मार्गसे मिलनेवाला स्वर्ग स्थायी नहीं होता अतः कर्मकाण्डको आत्यन्तिक सुखका मार्ग नही माना जा सकता (वै० सा० पृ० १५) । ब्राह्मण ग्रन्थोंका सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग था, और उसकी प्राप्तिका मार्ग था यज्ञ। किन्तु आरण्यकोंमे ब्रह्मको पहचाननेके लिये आत्मसंयम के आधार पर अनेक उपासनाएँ बतलाई हैं। (वै० ए०, पृ० ४४७)।

तैत्तिरीय आरण्यकमें काशी, पञ्चाल, मत्स्य, कुरुक्षेत्र और खाण्डवका उल्लेख है। उसीमें (२-७-१) 'श्रमण' शब्द, जो आगे वेदविरोधी सम्प्रदायोंके साधुओंके अर्थमे व्यवहृत हुआ और ब्राह्मणका प्रतिद्वन्द्वी कहलाया—तपस्वीके अर्थमे प्रथम बार आता है। तै० आ० (२-१-५) मे ही यज्ञोपवीतका भी उल्लेख मिलता है। लिखा है—'यज्ञोपवीत धारण करनेवाले का यज्ञ भलीभाँति स्वीकार किया जाता है। यज्ञोपवीत धारी ब्राह्मण जो कुछ अध्ययन करता है वह यज्ञ ही करता है।'

आरण्यकोमे वर्णाश्रम धर्मका पूर्ण विकास देखनेमें आता है। सम्भवतया यज्ञ और ब्राह्मणोंके विरुद्ध सिर उठानेवाले सिद्धान्तो-से सुलह करनेके लिये ही ब्राह्मण धर्मने आश्रमोके सिद्धान्तको अपनाया।

उपनिषद्

उपनिषद्का अर्थ है—'निकट बैठना'। इस परसे यह व्याख्या की जाती है कि शिष्य लोग गुरुके निकट बैठकर इनका शिक्षण

लेते थे। उपनिषद् पूर्णतया दार्शनिक ग्रन्थ है और ब्राह्मण ग्रन्थो तथा आरण्यकोके पश्चात् उनकी रचना हुई है। यो तो उनकी संख्या दो सौ से भी अधिक है किन्तु सभी उतने प्राचीन नहीं हैं। एतरेय, कौषीतकी, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य और केन, ये उपनिषत् निश्चितरूपसे प्राचीन माने जाते हैं। इनमे भी छान्दोग्य और वृहदारण्यक विशेष प्राचीन हैं।

दूसरे नम्बरमे आते हैं—कठ, श्वेताश्वतर, महानारायण, ईश. मुण्डक और प्रश्न। शकराचार्यने ब्रह्मसूत्रकी टीकामे इन्ही बारह उपनिषदोको प्रमाण रूपसे उपस्थित किया है। इनमे सांख्ययोगके सिद्धान्त तथा अद्वैतवादी दृष्टिकोणका ताना-बाना है। मैत्रायणीय उपनिषद् और माण्डूक्य उपनिषद् बुद्ध-कालके पश्चात् के है। शंकराचार्यने इनको प्रमाण रूपसे उद्धृत नहीं किया। फिर भी इन दोनो की गणना उक्त बारह उपनिषदो के साथ की जाती है और इन सब उपनिषदोको वैदिक उपनिषद् कहा जाता है।

उपनिषदोंको वेदान्त कहा जाता है। पहले वेदान्तका मतलब केवल उपनिषद् था। पीछेसे उपनिषदोके दर्शनको वेदान्त कहा जाने लगा। उपनिषदोमे जो तत्त्व ज्ञान भरा हुआ है वह सरल नहीं है। अत. उसका शिक्षण अन्तमे दिये जानेसे उपनिषद्को वेदान्त कहना उचित है। दूसरे, उत्तरकालीन दार्शनिकोने उनमे वेदका अन्तिम लक्ष्य पाया इसलिये भी इन्हे वेदान्त कहना उचित है। तीसरे वैदिक कालके अन्तमे उनकी उत्पत्ति हुई इसलिये भी उन्हें वेदान्त कहना उचित है और चौथे धार्मिक कर्तव्य और पवित्र कार्यके रूपमे वैदिक क्रियाकाण्डकी मान्यता का अन्त कर दिया, इसलिये भी उन्हे वेदान्त कहना उचित है (हि० इं० लि० विन्ट०, जि० १, पृ० २३४)।

उक्त तथ्य पर प्रकाश डालनेके लिये याज्ञिक क्रियाकाण्ड तथा वैदिक देवताओंकी ओर उपनिषदोंका रुख कैसा है यह स्पष्ट करना उचित होगा।

उपनिषद् और यज्ञ तथा वैदिक देवता

उपनिषद् वैदिक क्रियाकाण्डके विरुद्ध है। बृह० उप० (१-४-१०) में कहा है कि—'उस ब्रह्मको जो जानता है कि 'मै ब्रह्म हूं' वह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमे देवता भी समर्थ नही होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। जो अन्य देवताकी उपासना करता है वह देवताओंका पशु है। देवताओको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मात्मतत्त्वको जाने।' आगे (३-९-२१) लिखा है 'यम किसमे प्रतिष्ठित है? यज्ञमे। यज्ञ किसमे प्रतिष्ठित है? दक्षिणामे।'

छा० उ० (१-१२) मे यज्ञमे जलूस बनाकर जानेवाले ऋषियोको कुत्तोंका जलूस बतलाया है। कथा इस प्रकार है—

कुछ ऋषि स्वाध्याय करनेके लिये गॉवसे बाहर एक निर्जन स्थानमे गये। उन पर अनुग्रह करनेके लिये एक कुत्ता प्रकट हुआ। इसके बाद और भी कई कुत्ते उस पहले कुत्तेके पास आकर बोले—'श्रीमान! उद्गीथका गान करके हमारे लिये अन्न प्रस्तुत करें, हम भूखे हैं।' पहला कुत्ता बोला—'कल प्रातः इसी स्थानमे तुम लोग मेरे पास आना।' निर्दिष्ट समय पर वे कुत्ते वहॉ एकत्र हुए। और जिस प्रकार यज्ञ कर्ममे उद्गाता एक दूसरेसे मिलकर चलते हैं, ठीक उसी प्रकार वे एक दूसरेसे जुटकर चलने लगे। फिर उन्होंने एक जगह बैठकर 'हाउ हाउ' करके सामगान आरम्भ किया—हे सबकी रक्षा करनेवाले परमात्मन्!

हम भूखे और प्यासे है। अतः हमारे लिये अन्न लाइये ·.... अन्न लाइये ·.....अन्न लाइये।"

यज्ञोके विरुद्ध सबसे प्रबल आक्रमण तो मुण्डकोपनिषद् (१-२-७) मे है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यान्ति ॥७॥

"निश्चय ही ये यज्ञरूप अट्ठारह नौकाएँ अस्थिर हैं, जिनमे नीची श्रेणिका कर्म बताया गया है। जो मूर्ख यही श्रेयस्कर है ऐसा मानकर उनकी प्रशंसा करते है वे बारंबार जरा-मरणको प्राप्त होते है"।

इससे आगेके पद्यमे ऐसे लोगोको 'अन्धेन नीयमाना यथान्धा' अन्धेके द्वारा ले जानेवाले अन्धोके तुल्य बतलाया है।

मुण्ड० उ० (१-१-४१५) मे विद्या अथवा ज्ञानके दो भेद बतलाये हैं एक परा और एक अपरा। तथा वेदोसे प्राप्त ज्ञानको अपरा अर्थात् नीच विद्या कहा है। नारद कहता है—'मै ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदको जानता हूँ किन्तु इससे मैं केवल मंत्रो और शास्त्रो को जानता हू, अपनेको नहीं जानता।

कठ उप० (२-४) मे यमराज नचिकेतासे कहते है—'जो ये *अविद्या* और *विद्या* नामसे विख्यात है, ये दोनो परस्पर अत्यन्त विपरीत और विभिन्न फल देनेवाली है। अविद्याके भीतर स्थित होकर अपने आपको विद्वान और बुद्धिमान् मानने-वाले मूर्ख लोग नाना योनियोमे भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरे खाते है जैसे अन्धेके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे।'

कतिपय उपनिषदोमे यज्ञोका विरोध यद्यपि इतना खुलकर नहीं किया गया है तथापि यज्ञोंके प्रचलित रूपकी ओर उपेक्षा

दिखलाई गई है और उन्हें लाक्षणिक तथा दार्शनिक रूप दिया गया है। जैसाकि पहले लिखा है आरण्यकोंका कार्य—यज्ञोंको लाक्षणिक और दार्शनिक रूप दान—उपनिषदों तक चालू रहा है। उदाहरणके लिये बृहदा० उप०को उपस्थित किया जा सकता है। बृह०उप०का प्रारम्भ करते हुए विश्वमें यज्ञसम्बन्धी अश्वकी कल्पना की गई है। —'उषा यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, अग्नि मुख है, संवत्सर आत्मा है, द्युलोक पीठ है, आकाश उदर है, पृथ्वी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग है, अवान्तर दिशाएँ पसलियां हैं, ऋतुएँ अङ्ग है, मास और अर्द्धमास पर्व है, दिन और रात्रि पाद हैं, नक्षत्र अस्थियां है, आकाशस्थित मेघ मांस है, नदियां गुदा हैं, पर्वत यकृत और हृदयगत मांस खण्ड हैं, औषधि और बनस्पतियां रोम है, उदय होता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और अस्त होता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। विजलियोंकी चमक जमुहाई है, मेघका गर्जन शरीरका हिलना है, वर्षा मूत्रत्याग है, हिनहिनाना उसकी बाणी है।' अश्वमेध यज्ञके द्वारा पृथ्वीका स्वामित्व प्राप्त हो सकता है किन्तु आत्मिक स्वराज्य तो समस्त विश्वको, जिसकी कल्पना उपनिषदोंमें घोड़ेके रूपमेंकी गई है—त्याग देनेसे ही प्राप्त होता है। इस तरह प्रकाराकारसे अश्वमेध यज्ञको त्यागनेका ही उपदेश दिया गया है।

छा० उ० (३, १४–१७) में मनुष्यके समस्त जीवनको सोमयज्ञके रूपमें स्पष्ट किया गया है और (५, १९–२४) में प्राणोंके विभिन्न प्रकाशनोंकी भेटोंको अग्निहोत्रका स्थान दिया है। उपनिषदोंमें जो यज्ञोंको नीचा कर्म बतलाया गया है उसका कारण यही प्रतीत होता है कि यज्ञसे पितृलोककी प्राप्ति हो सकती

है जो अस्थायी है, और वहांसे उसे अवश्य ही इस पृथ्वी पर लौटकर पुनः जन्म-मरणके चक्रमें घूमना होगा।

उत्तरकालीन कुछ उपनिषदोंके अवलोकनसे ऐसा भी प्रतीत होता है कि उपनिषदोंमें भी यज्ञका स्थान स्थिर करनेकी एक भावना काम करती रही है। उदाहरणके लिये श्वेताश्वतर उपनिषद्को उपस्थित किया जा सकता है, उसमें (२, ६-७) अग्नि सोम आदि देवताओंकी प्राचीन प्रार्थनाके रूपकी तरफदारी की गई है और लिखा है कि जहाँ यज्ञ किया जाता है वहां एक दैवी प्रकाश पैदा होता है। किन्तु यहां भी उसका लक्ष स्वर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म है।

उपनिषदोंमें सर्वत्र एक देवता व्याप्त है और वह है ब्रह्म। अन्य सब देवता उसीकी शक्तियां है। मैत्रायणीय उपनिषद (४, ५-६) में ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु आदि देवताओंको अविनाशी ब्रह्मका प्रत्यक्ष रूप बतलाया है। केन उप० में उमा हैमवती इन्द्रसे कहती है कि देवताओंकी शक्ति और प्रभावका मूल स्रोत परम ब्रह्म है। इसमें बतलाया है कि ब्रह्मके सामने अग्नि आदि देवता कैसे हतप्रभ और अकर्मण्य बन जाते है।

कठ उपनिषद्में कहा है कि परम ब्रह्मके भयसे देवता लोग अपने अपने उत्तरदायित्वोंको वहन करते है। ब्राह्मण ग्रन्थोंका सर्वोच्च देवता प्रजापति भी ब्रह्मका सेवक है। कौषीतकी उपनिषद्में प्रजापति और इन्द्रको ब्रह्मका द्वारा रक्षक बतलाया है। इस तरह उपनिषदोंमें ब्रह्मके समकक्ष कोई नहीं है—वैदिक देवता तो उसके आज्ञाकारी मात्र है। वैदिक देवताओं और यज्ञोंके प्रति उपनिषदों के दृष्टिकोणका यह संक्षिप्त चित्रण वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त है।

छा० उ० (६–१–४) मे लिखा है कि जब श्वेतकेतु सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्याता मानता हुआ अनम्रभावसे घर लौटा तो पिता ने उससे कहा—पुत्र ! तू जो ऐसा पाण्डित्यका अभिमानी और अविनीत है तो क्या तूने वह आदेश जाना है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ? यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा—वह आदेश क्या है ? पिताके मुखसे उस आदेशको सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—निश्चय ही मेरे गुरु इसे नहीं जानते थे। अब आप ही मुझे बतलाइये। कहना न होगा कि वह आदेश ब्रह्मके स्वरूपको लेकर था।

आत्मा और ब्रह्म

आत्मा और ब्रह्मको समझे बिना उपनिषदोंको नही समझा जा सकता। इन दो स्तम्भों पर ही उपनिषदोंके तत्त्वज्ञानका प्रासाद खड़ा हुआ है।

यदि एक वाक्यमे उपनिषदोंका मूल सिद्धान्त कहा जाये तो यह है—'विश्व ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मा है।' उपनिषदोंमे अनेक स्थानोंमे ब्रह्म और आत्मा शब्दका प्रयोग एक अर्थमें किया गया है। बृह० उप० (२-४-५) मे लिखा है—'स वायमात्मा ब्रह्म' वह यह आत्मा ब्रह्म है। छा० उ० (५-११-१) मे लिखा है—कुछ महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय परस्परमे विचार करने लगे—'को नु आत्मा, कि ब्रह्म !' आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?

वेदोंमे 'ब्रह्म' शब्द अनेक वार आया है। किन्तु उसका अर्थ या तो प्रार्थना है या मंत्रविधि है। किसी देवताके प्रति श्रद्धा या भक्तिका भाव वहाँ नहीं है। उत्तर काल में त्रयीविद्या (ऋक् यजु, साम) को भी ब्रह्म कहा है और इस तरह ब्रह्म और वेद

शब्दका प्रयोग एक ही अर्थमें किया गया है। अब चूँकि वेद या ब्रह्मको दैवी माना गया था और वेदोंसे उत्पन्न अथवा वेदोंमे वर्णित यज्ञको भी दैवी माना गया था, क्योंकि शत० ब्रा० (५, ५-५-१०) मे कहा है—'समस्त यज्ञ उतने ही महान् हैं जितने महान् तीनो वेद है।' अतः वह ब्रह्म या वेद 'प्रथमज' कहा जाने लगा और अन्तमें उसे सबका मूल कारण माना जाने लगा। इस प्रकार ब्रह्म दैवी मूल तत्त्वके रूपमे ब्राह्मण-दर्शनका बीज है। और प्रार्थना तथा यज्ञके सम्बन्धमें जो ब्राह्मण दृष्टिकोण हैं उसके प्रकाशमें उसका विश्लेषण अच्छी तरह किया जा सकता है। (हि० इं० लिं० विन्ट०, जि० १, पृ० २४८-९)।

अब 'आत्मा' शब्दको लीजिये। संस्कृतमे यह शब्द बहुतायतसे आता है और इसका अर्थ भी स्पष्ट है। यह 'स्वयं' को कहता है। यद्यपि बाह्य संसारसे भेद दिखलाने हुए आत्मा शब्दका प्रयोग कभी कभी शरीरके लिये भी हो जाता है किन्तु इसका यथार्थ मतलब शरीरस्थ आत्मासे है, जो शरीरसे भिन्न है।

उपनिषदोंके दर्शनमे ये दोनो ब्रह्म-आत्मा संयुक्त हो गये है। छा० उ० (३-१४) मे शाण्डिल्यका सिद्धान्त 'सर्वं खल्वि॰ ब्रह्म' 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म है, से आरम्भ होता है और आत्माका वर्णन करनेके पश्चात् 'एप म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म'— 'वह मेरा आत्मा हृदय कमलमे स्थित है वही ब्रह्म है' इत्यादि वाक्यके साथ समाप्त होता है।

आत्म जिज्ञासा

उपनिषदोंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियोंके अन्दर दो जिज्ञासाएँ विशेषरूपसे क्रियात्मक थीं– एक, विश्वका

मूल कारण क्या है ? दूसरी, आत्माका सत्य स्वरूप क्या है ? आत्म स्वरूपकी उत्कृष्ट जिज्ञासा तथा उसको शान्त करनेके लिये आत्म स्वरूपका वर्णन अनेक उपाख्यानोंके द्वारा प्रदर्शित किये गये है। यहॉ उनमेसे दो एक उपाख्यान दिये जाते हैं, उन उपाख्यानोसे उक्त तथ्य पर प्रकाश पड़नेके साथ ही साथ तत्कालीन स्थितिका भी दिग्दर्शन होता है।

कठोपनिषदमें एक उपाख्यान इस प्रकार है—उद्दालक ऋषि ने फलकी कामनासे विश्वजित् नामका एक यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्वदान करना पड़ता है। अतएव उद्दालक ने भी अपना सारा धन ऋत्विजोको दक्षिणामें दे दिया। उद्दालकके नचिकेता नामका एक पुत्र था। जब दक्षिणामे देनेके लिये गौएँ लाई गईं तो बालक नचिकेता ने उन्हे देखा। गौओंकी दयनीय दशा देखकर उसने मनमें सोचा, पिता जी, ये कैसी गौएँ दक्षिणामें दे रहे हैं! अब न तो इनमे झुककर जल पीनेकी ही शक्ति रह गई है, न इनके मुखमे घास चबानेके लिये दॉत है, न इनके स्तनोंमे तनिक सा भी दूध है, और न इनमे गर्भधारण करनेकी शक्ति है। भला, इन गौओसे ब्राह्मणोको क्या लाभ होगा। और पिता जी इस दानसे क्या सुख पायेगे ? इनके सर्वस्वमे तो मै भी हूं। मुझको तो इन्होने दानमे दिया नहीं, पर मै इनका पुत्र हूं अतएव मुझे इनको अनिष्टसे बचाना चाहिये। यह सोचकर वह अपने पितासे बोला—तात! आप मुझे किसको देते हैं ? उत्तर न मिलने पर उसने वही बात दुबारा और तिबारा कही। तब पिता ने क्रोधमें आकर कहा तुझे मै मृत्युको देता हूँ।

यह सुनकर नचिकेता यमराजके पास चला गया। वहाँ पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि यमराज कहीं बाहर गये हैं अतः

वह तीन दिन तक बिना खाये पिये उनके द्वार पर बैठा रहा। लौटने पर यमराजको यह समाचार ज्ञात हुआ और उन्होंने नचिकेता पर प्रसन्न होकर उसे तीन वरदान दिये। तीसरे वरदानको माँगते हुए नचिकेता कहने लगा—मरे हुए मनुष्यके विषयमें संशय है। कोई तो कहते है कि मरनेके बाद वह रहता है कोई कहते है नहीं रहता। मै यह जानना चाहता हूं कि वह रहता है या नहीं रहता ?

नचिकेताका प्रश्न सुनकर यमराज बोले—हे नचिकेता ! इस विषयमें पहले देवताओं ने भी सन्देह किया था परन्तु उनकी भी समझमें नहीं आया, क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है। अतः मुझ पर दबाव मत डालो। इस प्रकार यमराज ने स्वर्गके दैवी प्रलोभन देकर भी नचिकेताको अपने प्रश्नसे विमुख करना चाहा और कहा—हे नचिकेता, मरनेके बाद आत्माका क्या होता है, इस बातको मत पूछो। किन्तु नचिकेता अपने प्रश्न पर ही दृढ़ रहा और बोला—यह मनुष्य मरणधर्मा है इस बातको जाननेवाला मनुष्य लोकका निवासी कौन मनुष्य है जो बुढ़ापेसे रहित, न मरनेवाले आप जैसे महात्माओंका संग पाकर भी आमोद-प्रमोदका चिन्तन करता हुआ बहुत काल तक जीवित रहना पसन्द करेगा। अतः परलोक सम्बन्धी आत्म ज्ञानके विषयमें मेरा सन्देह दूर कीजिये। तब यमराजने उसकी दृढ़तासे प्रसन्न होकर उसे आत्मतत्त्वका उपदेश किया—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य और अगन्ध है, जो अनादि अनन्त महत्तत्वसे भी विलक्षण और ध्रुव है, उस आत्माको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।

प्रश्नोपनिषद्में महात्मा पिप्पलादसे भारद्वाज सुकेशा कहते हैं—भगवन्! एक बार कोसल देशका राजकुमार हिरण्यनाभ मेरे पास आया और उसने मुझसे पूछा—क्या तुम सोलह कलाओं वाले पुरुषके विषयमे जानते हो? मैने स्पष्ट कह दिया—मैं नहीं जानता। तब वह रथपर बैठकर चला गया। अब मैं उसी पुरुष तत्त्वको जानना चाहता हूँ।

छा० उप०, अ० ७ मे नारद जीने सनत्कुमारके पास जाकर कहा—'भगवन्! मुझे उपदेश दीजिये।' सनत्कुमारने कहा—तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाओ, तब मैं तुम्हें आगे बतलाऊँगा।

नारदने कहा—भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इनके सिवा इतिहास पुराणरूप पांचवा वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या आदि सब मै जानता हूं। सो मै भगवन् मंत्रविद् तो हूं किन्तु आत्मवित् नहीं हूं। मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पारकर लेता है, परन्तु भगवन् मै शोक करता हूं मुझे शोकसे पार कर दीजिये।

तब सनत्कुमारने उनसे कहा—तुम जो कुछ जानते हो वह नाम है तुम नामकी उपासना करो। तब नारदने पूछा-क्या नामसे भी अधिक कुछ है? हां नामसे भी अधिक है? तो भगवन् मुझे वही बतलाइये। इस प्रकार सनत्कुमार जो कुछ बतलाते गये नारद उससे भी अधिक, उससे अधिक की जिज्ञासा करता गया। अन्तमे सनत्कुमारने कहा—आत्मदर्शनसे इन सबकी प्राप्ति हो जाती है। आत्मा ही सत्य है।

छा० उप० अ० ८ में इन्द्र, और विरोचनका वृत्तान्त भी इस विषयमें अच्छा प्रकाश डालता है अतः उसे भी यहां दिया जाता है।

एक बार प्रजापतिने कहा—'जो आत्मा पापशून्य, जरा रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, प्यास रहित, सत्य काम और सत्य संकल्प है उसे खोजना चाहिये। और उसे विशेषरूपसे जानना चाहिये। जो उस आत्मा को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्तकर लेता है।'

प्रजापतिके इस वाक्यको सुर असुर दोनोंने ही जान लिया। वे कहने लगे-हम उस आत्माको जानना चाहते है जिसके जानने पर सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त हो जाते है।' ऐसा विचारकर देवताओंका राजा इन्द्र और असुरोंका राजा विरोचन दोनों प्रजापतिके पास आये। उन्होंने बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य वास किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा– तुम यहा क्यों रह रहे हो? उन्होने कहा—आत्माको जाननेकी इच्छासे हम यहां रह रहे है।

उनसे प्रजापतिने कहा—यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखाई देता है, वह आत्मा है, वह अमृत है अभय है, ब्रह्म है। यह उत्तर सुनकर दोनो चले गये। उनमेसे विरोचन असुरोंके पास पहुँचा और उन्हे आत्मविद्या बतलाई—इस लोकमे यह शरीर ही आत्मा है यही पूजनीय और सेवनीय है। शरीरकी पूजा करनेवाला इस लोक परलोक दोनोंको प्राप्त करता है।

किन्तु इन्द्रने सोचा यदि शरीर ही आत्मा है तो अमरत्व कहाँ रहा? अतः वह पुनः आकर बत्तीस वर्ष तक प्रजापतिके पास रहा। तब प्रजापतिने कहा—'यह जो स्वप्नमे पूजित होता हुआ विचरता है यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है।' इस उत्तरसे सन्तुष्ट होकर इन्द्र लौटा। किन्तु मार्गमे उसने पुनः विचार किया कि यद्यपि स्वप्न शरीर इस

शरीरके दोषसे दूषित नहीं होता फिर भी वह सुख दुःखसे सर्वथा अछूता तो नहीं है। यह सोचकर इन्द्र पुनः लौटा और बत्तीस वर्ष तक प्रजापतिके पास रहा। तब प्रजापतिने कहा—'जिस अवस्थामे यह सोया हुआ दर्शनवृत्तिसे रहित और सम्यक् रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है, वह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है।'

इस उत्तरको सुनकर इन्द्र चल दिया। किन्तु मार्गमें उसने विचार किया—'सुप्तावस्थामें तो इसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि यह मै हूं। उस समय तो मानों यह विनष्ट हो जाता है। अतः वह पुनः लौटकर प्रजापतिके पास आया और पांच वर्ष तक रहा। तब प्रजापतिने कहा—यह शरीर मृत्युसे ग्रस्त है, वह उस अमत अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय अप्रियसे ग्रस्त है।''' जो यह अनुभव करता है कि मैं सूंघू, वह आत्मा है। उसके गन्ध ग्रहणके लिये नासिका है। जो ऐसा अनुभव करता है कि मै बोलूँ, वह आत्मा है, इत्यादि।

उपनिषदोंसे दिये गये उक्त संवादोंसे यह स्पष्ट है कि उपनिषत्कालमे वैदिक ऋषियोंमे आत्मतत्त्वको जाननेकी प्रबल जिज्ञासा थी। उन्हे यह अनुभव हो चुका था कि वैदिक ज्ञान आत्मज्ञानके सामने हीन है। वैदिक क्रियाकाण्डसे जो स्वर्ग मिलता है वह स्थायी नहीं है उसमे अमृतत्व और अभयत्व नहीं है, आत्मतत्त्वको जान लेनेसे ही अमृतत्व और अभयत्व प्राप्त हो सकता है अत इन्द्र और नारद तक उसके ज्ञानके लिये लालायित थे। और ऋषि लोग परस्परमें मिलते थे तो उसीकी चर्चा करते थे। जैसे ब्राह्मणकालमे यज्ञोंकी तूती बोलती थी वैसे ही उपनिषद्कालमें उसका स्थान आत्मविद्याने ले लिया था।

और ऋषिलोग उसको जाननेके लिये क्षत्रियोंका शिष्यत्व तक स्वीकार करते थे।

आत्मविद्याके स्वामी क्षत्रिय

प्राचीनकालसे ही क्षत्रिय जाति बौद्धिक जीवन और साहित्यिक कार्योंसे सम्बद्ध रहती आई है। इस तथ्यका समर्थन न केवल उपनिषदोंसे ही होता है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करते है।

कौषीतकी ब्राह्मणमें (२६-५) प्रतर्दन नामक एक राजा यज्ञके विषयमे पुरोहितोसे वार्तालाप करता हुआ देखा जाता है।

शतपथ ब्रा० मे विदेहके राजा जनकका बारम्बार उल्लेख आता है, जिसने अपने ज्ञानसे सब ऋषियोको हतप्रभ कर दिया था। राजा जनकने श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्यसे पूछा कि आप अग्निहोत्र कैसे करते है? किन्तु उनमेसे किसीने भी सन्तोष जनक उत्तर नहीं दिया। यद्यपि याज्ञवल्क्यको सौ गौ पारितोषिकके रूपमे मिलीं, क्योंकि उसने अग्निहोत्रके विषयमे बड़ी गहराईसे विचार किया था किन्तु अग्निहोत्रका यथार्थ आशय वह नहीं बता सके।

राजाके चले जानेपर ऋषि लोग आपसमे कहने लगे कि यह क्षत्रिय तो अपने सम्भाषणके द्वारा वास्तवमे हमे हरा गया। अब हमे शास्त्रार्थके लिये उसे ललकारना चाहिये। किन्तु याज्ञवल्क्यने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और कहा—हम ब्राह्मण है, और वह केवल एक क्षत्रिय है। यदि हम जीत गये तो हम कैसे कहेंगे कि हम एक क्षत्रियसे जीत गये। किन्तु यदि उसने हमे हरा दिया तो लोग कहेगे कि एक क्षत्रियने ब्राह्मणोंको हरा दिया।

दोनों ऋषि उसकी बात मान गये। किन्तु याज्ञवल्क्य जनकके पास गया और उससे ज्ञान दानकी प्रार्थना की। (हि० इं० लि० (विन्ट०) जि० १, पृ० २२७–८)।

उपनिषदोंमे बारम्बार यह कहा गया है कि राजा अथवा क्षत्रियोंके पास सर्वोच्च विद्या थी और ब्राह्मण उसे प्राप्त करनेके लिये उनके पास जाते थे।

छा० उप० (५–३) मे एक संवाद इस प्रकार है--आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चाल देशके लोगोंकी सभामे आया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने पूछा—कुमार! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है? उसने कहा—हाँ भगवन्।

क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे जानेपर प्रजा कहाँ जाती है?

नहीं, भगवन्!

क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमे कैसे आती है?

नहीं, भगवन्!

देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गोंका पारस्परिक वियोग स्थान तुझे मालूम है?

नहीं, भगवन्!

तुझे मालूम है कि यह पितृलोक भरता क्यो नहीं है?

नहीं भगवन्!

इत्यादि सभी प्रश्नोका उत्तर नकारमें सुनकर प्रवाहणने श्वेतकेतुसे कहा—'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गई है' ऐसा क्यों कहता था? जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कहता है?

तब श्वेतकेतु त्रस्त होकर अपने पिताके पास आया और उससे बोला—आपने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है। उस क्षत्रियने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे। किन्तु मैं उनमेसे एकका भी उत्तर नहीं दे सका।

पिताने कहा—तुमने जो प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेसे मैं एक का भी उत्तर नहीं जानता।

तब वह गौतम गोत्रीय ऋषि राजा प्रवाहणके स्थान पर आया। राजाने उससे कहा—भगवन् गौतम! आप मनुष्य सम्बन्धी धनका वर मांग लीजिये। उसने कहा—राजन्! यह मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहे। आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात प्रश्न रूपसे पूछी थी, वही मुझे बतलाइये। तब राजा संकटमें पड़ गया। 'चिर काल तक यहाँ रहो, ऐसी आज्ञा देकर राजाने ऋषिसे कहा—'पूर्व कालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें इस विद्याके द्वारा क्षत्रियोंका ही अनुशासन होता रहा है।'

अन्तमे राजाने उसे विद्याका दान दिया। वह विद्या थी पुनर्जन्मका सिद्धान्त। छा० उ० का उक्त संवाद स्पष्ट रूपसे इस तथ्यको प्रमाणित करता है कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त क्षत्रियो से उद्भूत हुआ है और ब्राह्मण धर्मने उन्हींसे उसे लिया है। (हि० इ० लि० (विन्ट०) जि० १, पृ० २३१)।

इसी प्रकार उपनिषदोंके अन्य संवादोंसे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदोंका मुख्य सिद्धान्त आत्मविद्या भी अब्राह्मण क्षेत्र

१. यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥ —छा० उ० ५-३ ।

में ही प्रकट हुई थी। छा० उप० (५-११) में लिखा है— उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्र होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?

उन्होने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय करके वे उसके पास गये। उसने सोचा कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे, किन्तु मैं इन्हें पूरी तरहसे नही बतला सकूँगा। अतः मै इन्हे दूसरा उपदेष्टा बतलाऊँ।'

यह सोचकर उसने इनसे कहा—इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह जानता है। आओ, हम उसके पास चलें।

अपने पास आये हुए उन ऋषियोका राजाने सत्कार किया और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उनसे कहा—मैं यज्ञ करनेवाला हूँ, मै एक एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा उतना ही आपको भी दूँगा। अतः आप लोग यही ठहरे।

वे बोले—जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये कि वह अपने उसी प्रयोजनको कहे। इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते है। उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये।

वह उनसे बोला—मै प्रातःकाल आप लोगोको इसका उत्तर दूँगा। तब दूसरे दिन पूर्वाह्णमे वे हाथोमें समिधा लेकर राजाके

पास गये। राजाने उनका उपनयन न करके ही उन्हें आत्मविद्याका उपदेश दिया।

इस संवादका वर्णन शत० ब्रा० (१०-६-१) में भी पाया जाता है। इस तरहके संवादोंसे यह स्पष्ट है कि जब ब्राह्मणवर्ग अपने यज्ञोंके कर्मकाण्डमें उलझा हुआ था, दूसरे क्षेत्र उस गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानमें संलग्न थे, जिसका वर्णन उपनिषदोंमें है।

इस दूसरे क्षेत्रसे ही, जो कि मूलतः पुरोहित वर्गसे सम्बद्ध नहीं था, विचरणशील परिव्राजक, श्रमण आदि सन्यास मार्ग अग्रसर हुए। ये लोग सांसारिक सुखोंके प्रति ही उदासीन नहीं थे किन्तु यज्ञों और वैदिक क्रियाकाण्डसे भी दूर थे।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ब्राह्मणोंने दार्शनिक विचारोंमें कोई भाग नहीं लिया। क्योंकि क्षत्रिय आदि उच्च वर्णके लोग ब्राह्मणोंके पास पढ़ते थे अतः उनमें परस्पर विचारों का आदान-प्रदान अवश्य होता था। साथ ही ब्राह्मणोंमें एक अपनी कट्टरता तथा ब्राह्मणत्वको सुरक्षित रखते हुए विरोधी विचारोंको भी अपने अनुकूल बना लेनेकी एक अपूर्व चतुराई है और उसी चतुराईके कारण वेदविरोधी अध्यात्मविद्याको उन्होंने इस खूबीसे अपनाया है कि मानों उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान उन्हींकी देन हैं।

डा० दास गुप्ताने अपने भारतीय दर्शनके इतिहास (जि० १, पृ० ३३) मे लिखा है कि आम तौरसे क्षत्रियोंमें दार्शनिक अन्वेषणकी उत्सुकता वर्तमान थी और उपनिषदोंके सिद्धान्तोंके निर्माणमें अवश्य ही उनका मुख्य प्रभाव रहा है।

तथ्य यह है कि प्राचीन उपनिषदोंकी साहित्यिक रचना ब्राह्मण

क्षेत्रमे हुई है और केवल इसीलिये उन्हें ब्राह्मणोंका कह सकते हैं। किन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं लेना चाहिये कि उपनिषदोंके सब विचार अथवा सबसे अधिक सारभूत विचार प्रथमवार ब्राह्मण क्षेत्रमे उद्भूत हुए थे। आपस्तम्बीय धर्मसूत्र (२, २-४-२५) तकमे ब्राह्मणके लिये अनुज्ञा है कि आपत्ति-कालमे वह क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरुसे भी पढ़ सकता है। (हि० इं० लि० (विन्ट०) जि० १, पृ० २३२ की टिप्पणीमे)।

इस प्रकार क्षत्रिय वर्ग दार्शनिक चर्चाओमे खूब रस लेते थे। वे ज्ञानके मात्र रक्षणकर्ता ही नहीं थे किन्तु स्वयं ज्ञानी थे और ब्राह्मण तक उनके शिष्य थे। (वै० ए० पृ० ४३०)

डा० दास गुप्ता ने और भी (हि० इं० फि०, जि० १, पृ० ३१) लिखा है—'यहाँ यह निर्देश करना अनुचित न होगा कि उपनिषदोंमें बारंबार आनेवाले संवादोंसे, जिनमे कहा गया है कि उच्च ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मण क्षत्रियोंके पास जाते थे, तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंके साधारण सिद्धान्तोंके साथ उपनिषदोंकी शिक्षाका मेल न होनेसे और पाली ग्रन्थोंमे वर्णित जनसाधारणमें दार्शनिक सिद्धान्तोंके अस्तित्वकी सूचनासे यह अनुमान करना शक्य है कि साधारणतया क्षत्रियोंमे गम्भीर दार्शनिक अन्वेषण की प्रवृत्ति थी, जिसने उपनिषदोंके सिद्धान्तोंके निर्माणमे प्रमुख प्रभाव डाला। अतः यह संभव है कि यद्यपि उपनिषद ब्राह्मणोंके साथ सम्बद्ध है किन्तु उनकी उपज अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तोंकी उन्नतिका परिणाम नहीं है, अ-ब्राह्मण विचारोंने अवश्य ही या तो उपनिषद सिद्धान्तोंका प्रारम्भ किया है अथवा उनकी उपज और निर्माणमें फलित सहायता प्रदान की है, यद्यपि ब्राह्मणोंके हाथोंसे ही वे शिखर पर पहुँचे हैं।'

स्व० रमेशचन्द दत्तने भी वही विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"जब कि ब्राह्मण लोग क्रिया संस्कारोंको बढ़ाये जाते थे.... तो विचारवान सच्चे लोग यह सोचते थे कि क्या धर्म केवल इन्हीं क्रिया संस्कारो और विधियोंको सिखलाता है, ... उन्होंने आत्माके उद्देश और ईश्वरके विषयमे खोज की, ये नये तथा कृतोद्यम विचार ऐसे वीरोचित पुष्ट और दृढ़ थे कि ब्राह्मण लोगोने, जो कि अपनेको ही बुद्धिमान समझते थे, अन्तको हार मानी और वे क्षत्रियोंके पास उनको समझनेके लिये आये। उपनिषदोंमे वे ही दृढ़ और पुष्ट विचार है।" (प्रा०भा० सं० इ०, भा० ,, पृ० ११०–१११)।

दार्शनिक विचारों के विकास में सहायक दो अवैदिक तत्त्व

ऋग्वेदसे उपनिषदो तककी स्थिति का अनुशीलन करने से प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक कालमे वैदिक आर्य सिन्धु घाटीमे बसते थे। किन्तु वहाँ वे अकेले ही नहीं थे, उनके बीचमे और चारो ओर तथा उत्तर भारतके मैदानोमे अनेक जातियां बसती थीं जिनके साथ उनका युद्ध होता रहता था और जिन्हे वे दास और दस्यु कहते थे। उनके साथ आर्योंका विरोध केवल स्वाभाविक नहीं था, किन्तु आवश्यक भी था। क्योकि उनके और आर्योंके बीच में धार्मिक भेद था। ऋग्वेदके उल्लेखोके अनुसार वे यज्ञ नहीं करते थे, क्रियाकर्मसे शून्य थे, वैदिक देवताओसे घृणा करते थे, और ऐसा व्रत पालते थे जिनसे आर्य अपरिचित थे। आर्योंने युद्ध

में उन्हें जीतकर उनके बहुतसे आदमियोंको दास बना लिया था। ये दो जातियां—एक आर्य और एक तथोक्त दास दस्यु जिन्हें द्रविड़ माना जाता है—भारतकी नृवंश विद्याके दो मूल तत्त्व हैं। उन दोनोंने परस्परमे एक दूसरे पर अपना जो प्रभाव डाला, उस पारस्परिक प्रभावके फलस्वरूप भारतकी सभ्यता और धर्मका विकास हुआ।

भारतकी धार्मिक क्रान्तिके अध्ययनमें जो विद्वान लोग अपना सारा ध्यान आर्य जातिकी ओर ही लगा देते हैं और भारतके समस्त इतिहासमे द्राविड़ोंने जो बड़ा भाग लिया है उसकी उपेक्षा कर देते हैं वे महत्त्वके तथ्यो तक पहुचनेसे रह जाते हैं। (रि० लि० इ० पृ० ४–५)।

वैदिक आर्योंका विश्वास था कि यज्ञ देवताओंको प्रभावित करते और उनसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेमे समर्थ हैं। अत प्रत्येक प्रमुख आर्य पुरोहितोंसे सहायता प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहता था और पुरोहित उनके लिये देवताओंसे जो समृद्धि और विजय प्राप्त करता था उसके लिये वे उसे प्रचुर दक्षिणा देते थे। इसलिये पुरोहितोका बडा प्रभाव और आदर-सन्मान था और उनके अनेक वंश थे। ऋग्वेदकी ऋचाएं सात समूहोंमे विभाजित हैं। ये सात समूह सात पुरोहित वंशो की, जिन्हे मंत्र द्रष्टा होनेसे ऋषि कहा जाता है, देन है।

परन्तु ऋग्वेदके धर्ममे न संन्यास है, न आत्मसंयम है, न वैराग्य है न दर्शन है और न मन्दिर है, क्योंकि यज्ञ तो यज्ञकर्ताके घर के पास ही किसी मैदानमे वेदी बनाकर किये जाते थे।

सारांश यह है कि वैदिक सभ्यता क्रियाकाण्डी सभ्यता थी। वैदिक आर्योके धार्मिक जीवनका सबसे प्रमुख अंग यज्ञोमे सोम-

पान था। और वैदिक ग्रन्थ इस विधिसे घनिष्टरूपसे सम्बद्ध हैं। यद्यपि सैद्धान्तिक और दार्शनिक विचारोंके तत्त्वका वैदिक ग्रन्थोंमे सर्वथा अभाव नहीं है, किन्तु विद्वानोंके मतानुसार दार्शनिक विचारोंके विकासके लिये क्रियाकाण्डवाद उत्तम पड़ौस तो नहीं है। आदर्शवादी विचारोंके विकासके लिये एकाग्रता और चिन्तन आवश्यक है और इनके लिये यज्ञ उचित स्थान नहीं है। (हि० फि० ई० वे०, पृ० ३२)।

इसी तरह साकाररूपमे देवताकी उपासना परमात्मविषयक उच्च विचारोंकी ओर ले जाती है। ऐसी उपासना वहीं हो सकती है जहां कोई देवताका दृश्य प्रतीक होता है या साक्षात् मूर्ति होती है। यज्ञकी पद्धति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो स्थायी स्थानका रूप ले सके, क्योंकि यज्ञ तो यथावसर तत्काल निर्मित मण्डपमे किये जाते थे और यज्ञ समाप्त होनेके साथ ही मण्डप समाप्त हो जाता था। किन्तु एक मन्दिर निर्माण करके और उसमे देवता को स्थापित करके पूजन करना एक स्थायी वस्तु है। यज्ञमे तो यज्ञके कर्ता पुरोहित लोग ही उस अदृश्य शक्तिका अनुभवन कर सकते थे—दूसरे लोग तो केवल अग्नि और उसमे दी जानेवाली आहुतियोंको देख सकते थे, उसमे क्रियात्मक भाग नहीं ले सकते थे। अतः मन्दिरपूजाके साथ साकारता, सामाजिकता और सततता सम्बद्ध है इसलिये सैद्धान्तिक विचारोंके विकासके लिये मन्दिर ही उचित स्थान हो सकता है। यह मन्दिर प्रारम्भमें शहरी सभ्यतासे सम्बद्ध नहीं थे, किन्तु इनका सम्बन्ध जंगलोंसे था (हि० फि० ई० वे० पृ० ३३)।

अतः विद्वानोंका मत है कि वैदिक सभ्यतामे उत्तरकालमे जो शहरोंके स्थानमे वनोका और यज्ञोके स्थानमे मन्दिर पूजाका प्रचलन हुआ, यह अ-वैदिक संस्कृतिका प्रभाव है, क्योंकि ये

दोनो तथ्य मूलतः अवैदिक है। और इन दोनोंका दर्शनशास्त्रकी अभ्युन्नति पर बड़ा प्रभाव है (हि० रि० ई० वे०, पृ० ३३)।

डा० भण्डारकरने लिखा है—

'भारत सदासे विदेशियोके आक्रमणके लिये मुक्त रहा है और उनके भारतमे वस जानेसे यहां जातियोका सम्मिश्रण होता आया है। इन जातियोके अपने देवता होते थे। आर्योके हाथमें भारतका अधिकार आनेसे पूर्व उनमेसे कुछ जातियां लिग द्वारा अपने देवताओंकी उपासना करती थीं। और लिंग पूजाका इतना अवश्य ही चलन रहा होगा कि उसे आर्योने स्वीकार कर लिया और अपने वैदिक देवता इद्रके साथ उसका एकीकरण कर दिया। अन्य जातियां अन्य देवोको पूजती थी उन्हे भी आर्योने अपने देवताओमे सम्मिलित कर लिया। उनकी प्रशंसामें पुराण रचे गये। ...... जैन और बौद्ध धर्मकी स्थापना उन मनुष्योने की थी जो परमात्मा माने जाते थे। अतः उनके स्मारकोंकी पूजा तथा उनकी मूर्तियोका आदर करनेकी इच्छा होना स्वाभाविक है। यह पूजा प्रचलित हो गई और समस्त भारतमे फैल गई। अत राम, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मी और शिव पार्वतीकी मूर्तियां तैयारकी गई और पूजाके लिये सार्वजनिक स्थानोंमे स्थापित की गईं। (क० व० भा०, जि० ४, पृ० ४११)।

इसी तरह बनोंका भारतीय विचारोके विकासमे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अरण्यवासी ऋषियोंके आश्रम दार्शनिक विचारोके केन्द्र थे। किन्तु उनकी चर्चा उपनिषद्कालमे ही श्रवण गोचर होती है। उपनिषद्से पूर्व रचे गये वेदोमे उन अरण्यवासियोका कोई

हाथ नहीं है। ऋग्वेदके संकलयिता ऋषि इन अरण्यवासी ऋषियोंसे सर्वथा भिन्न थे। वे अरण्य (वन) मे नहीं रहते थे। किन्तु नगरो और गावोंमे रहते थे। और इस लिये अरण्यवासी ऋषियोंकी तरह वे संसारसे उदासीन नहीं थे। वेद-मन्त्रोके द्रष्टा होनेसे उन्हे ऋषि कहा जाता था। ब्राह्मण सभ्यताके निर्माणमे उन्हीका हाथ था—अरण्यवासी ऋषियोंका हाथ नही था।

इसी तरह वैदिक देवता भी अरण्यवासी नहीं थे। वे सवारियों पर बैठते थे जिन्हें घोड़े खींचते थे। हां, अवैदिक देवता अवश्य अरण्यवासी थे, जो मूलतः द्रविड़ थे, किन्तु पीछेसे हिन्दू देवताओंमे भी सम्मिलित कर लिये गये।

हम पूर्वमे लिख आये हैं कि वैदिक सभ्यता क्रियाकाण्डी सभ्यता थी। यज्ञ उसका प्रधानकर्म था, और यज्ञ यज्ञकर्ताके द्वारा निर्मित गृह मण्डपोंमे हुआ करते थे। ये यज्ञ दार्शनिक विचारोंके स्थान नहीं थे। यज्ञोंमे मंत्र पाठ, आहुति और दक्षिणा का ही साम्राज्य था। इसी कारणसे वे और उनके व्याख्या ग्रन्थ ब्राह्मणोमे अरण्योंकी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। जब यज्ञोंकी वेदध्वनिमे मन्दता आती है तो अरण्यकोंसे अरण्योंकी ध्वनि सुनाई देने लगती है। या यह भी कह सकते है कि अरण्यकी ध्वनि सुनाई पड़नेके बादसे वेद ध्वनि मन्द और मन्दतर होती जाती है।

ऋग्वेद सिन्धुघाटीकी रचना है जब कि आरण्यक और प्राचीन उपनिषद गंगाघाटीमे रचे गये। अतः गंगाकी घाटीमे अवश्य ही ऐसे अरण्य थे जहां संसारसे विरक्त ऋषि लोग आत्मविद्याकी आराधना किया करते थे।

किन्तु वैदिक साहित्यमे 'अरण्य' शब्दके जो अर्थ पाये जाते हैं उनसे पता चलता है कि अरण्योंके प्रति वैदिक ऋषियोंकी प्रारम्भमे कैसी मनोवृत्ति थी। ऋग्वेदमें गांवके बाहरकी बिना जुती हुई जमीनके अर्थमे अरण्य शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु 'अरण्यानी' शब्दका प्रयोग जंगलके अर्थमे किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (५-३-३५) मे लिखा है कि अरण्यमे चोर बसते हैं। वृहदा० उप० (५-११) में लिखा है कि मुर्देको अरण्यमे ले जाते हैं। छा० उ० (८-५-३) मे लिखा है कि अरण्यमे तपस्वीजन निवास करते हैं (वै०इ० में अरण्य शब्द)।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि ब्राह्मण साहित्यमे तपका वर्णन है। इसमें विद्वानोका ऐसा मत है कि जब वैदिक आर्य पूरबकी ओर बढ़े अर्थात् सिन्धु घाटीसे गंगा घाटीकी ओर गये तो यज्ञ पीछे रह गये और यज्ञका स्थान तप ने ले लिया (कै० हि०)।

वैसे ऋग्वेद (मं० १०, सूक्त १९०) मे तपसे विश्वकी उत्पत्ति बतलाई है। और यह सूक्त अघमर्षण ऋषिका बतलाया जाता है। समस्त ब्राह्मण स्मृतियोंमे इस सूक्तको शोधक सूक्तोंमें बतलाया है। अघमर्षणके उक्त सूक्तसे पहले दसवें मण्डलमें ही १२९ नम्बरका सूक्त है जिसे प्रजापति परमेष्ठीका सूक्त कहा जाता है, इस सूक्तमे भी सृष्टिकी उत्पत्तिकी ही चर्चा है। इन दोनों सूक्तोका साधारणतया एक ही पक्ष है कि दोनोके रचयिता ऋषि इस दृश्य संसारकी उत्पत्ति तपसे बतलाते हैं। (हि० प्री० ई० पि० पृ० ८)

इस तरह यद्यपि ऋग्वेदमें तपका निर्देश आता है किन्तु तपका वर्णन ब्राह्मण साहित्यसे पहलेके वैदिक साहित्यमे नहीं

मिलता। शत० ब्रा० (६,-२-१-१३) लिखा है—आकाश वायु पर, वायु पृथ्वीपर, पृथ्वी जलपर, जल सत्यपर, सत्य यज्ञपर और यज्ञ तपपर स्थित है। यहां तपको यज्ञ और सत्यसे भी उच्च बतलाया है। किन्तु इस कालके वैदिक साहित्यमे तपकी विविध विधियोंका वर्णन नही मिलता। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ही मुनि, परिव्राजक, तापस और श्रमणोंका निर्देश पाया जाता है।

अत: तप और अरण्योंके प्रति ब्राह्मणकाल तक वैदिक आर्योंकी आस्था नहीं थी और न उनके प्रति विशेष आकर्षण ही था, क्योंकि इन दोनोंका सम्बन्ध उनकी संस्कृतिसे नहीं था।

पुनर्जन्म

शंकरके अद्वैतवाद तथा बौद्धदर्शनको छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन इस विषयमे साधारणतया एकमत है कि आत्मा एक नित्य तथा अमूर्तिक पदार्थ है। फलत: वे आत्माओंको अमर मानते हैं। किन्तु वैदिक आर्योंका विश्वास इससे सर्वथा भिन्न था। उनका विश्वास था कि मृत्युके पश्चात् भी प्राणीका जीवन लगभग उसी रूपमे चालू रहता है जिस रूपमे वह पृथिवी पर जीवित अवस्थामे था। अन्तर इतना है कि मृत्युके बाद उसकी स्थिति केवल छाया रूप है और शरीररूप होते हुए भी वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। मृत्युके पश्चात् का वह सूक्ष्म शरीर ही वैदिक आर्योंका आत्मा था। इससे भिन्न कोई आत्मा नामकी वस्तु नहीं थी।

वैदिक आर्योंका आत्मविषयक उक्त विश्वास हिन्दुओंमें आज भी पितरोंके रूपमे प्रचलित है, जिनके उद्देश्यसे वे श्राद्धकर्म करते है।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा प्राचीनतम उपनिषदोंमे आत्मविषयक जो विचार मिलते हैं वे उक्त वैदिक विश्वाससे बहुत अधिक उन्नत हैं। उनमें आत्माको प्राणोंसे निर्मित बतलाया है। वे पाँच हैं—प्राण, वचन, चक्षु, श्रोत्र और मन। ये पाचों मिलकर यथोक्त आत्मारूप हो जाते हैं।

उपनिषदोंमें आया हुआ वार्तालाप उक्त स्थिति पर पूरा प्रकाश डालता है। बृहदारण्यकके तीसरे अध्यायमें विदेहराज जनककी सभामें हुए एक विवादका वर्णन है जिसमे याज्ञवल्क्यने कुरु और पाञ्चालके ब्राह्मणोंके प्रश्नोंका उत्तर दिया था। याज्ञवल्क्यका एक विपक्षी जारत्कारव आर्तभाग था। जारत्कारवने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है तो उससे उसके प्राण निकलते है या नहीं? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया- 'नहीं, वे उसीमे एकत्र हो जाते हैं।

उसने फिर पूछा—'याज्ञवल्क्य जब यह मनुष्य मरता है, कौन उसे नहीं छोड़ता? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—नाम, नाम अनन्त है, विश्वमें देव अनन्त है, उसीके द्वारा वह अनन्त लोकको जीतता है।

उसने फिर पूछा—याज्ञवल्क्य! जब इस मृत व्यक्तिकी वाणी अग्निमे, श्वास वायुमे, चक्षु सूर्यमे, मन चन्द्रमे, श्रोत्र दिशामे, शरीर पृथिवीमे, आत्मा आकाशमे, रोम औषधियोंमे, केश वनस्पति मे, रुधिर और वीर्य जलमे लीन हो जाता है तब पुरुष कहाँ रहा?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—हे सौम्य! हाथ मिलाओ, हमें इस प्रश्नकी चर्चा सबके सामने नहीं करनी चाहिये। हम दोनो ही इसे जानें। तब वे दोनों अलग जाकर विचार करने लगे। उन्होने

जो कुछ कहा और जिसकी प्रशंसा की, वह है 'कर्म' पुण्यकर्मसे पुण्य होता है और पापकर्मसे पाप होता है।

इस वार्तालापमे स्पष्ट है कि दोनो व्यक्ति पॉच प्राणोके मेलसे जीवन मानते थे और उनके सामने नित्य अमर व्यक्तित्वका विचार नही आया था। किन्तु इससे यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि उस समय आत्माके अमरत्ववाला सिद्धान्त स्थापित नहीं हुआ था, या आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वमें विश्वास करनेवाले लोग थे ही नही। किन्तु तब तक यह विचार वैदिक ऋषियोंके मस्तिष्कमे प्रविष्ट नही हुआ था।

यह हम पहले लिख आये हैं कि उपनिषदोमे पुनर्जन्म तथा कर्मसिद्धान्तका दर्शन मिलता है। छा० उ० (५-१०) मे लिखा है—प्रथम आत्मा चन्द्रमामे जाता है, जिसे पुनः शरीर धारण करना होता है वह वहॉसे आ जाता है। फिर वह वर्षाके रूपमे पृथ्वीमे जाता है और अन्नरूप हो जाता है जो उस अन्नको खाता है वह उसको नवीन जन्म देकर उसका पिता हो जाता है।

यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि पुनर्जन्मके प्रचलित सिद्धान्वसे उक्त सिद्धान्त कितना भिन्न है। अस्तु,

इन दो नवीन सिद्धान्तोंके प्रवेशके पश्चात् वैदिक धर्मकी रूप रेखामे बहुत परिवर्तन हुआ। वैदिक यज्ञ और देवताओंका प्रभुत्व जाता रहा। और भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा भौतिक जीवनके चिरकाल तक बने रहनेकी कामना रखने वालोंमे भी अमरत्व प्राप्तिकी जिज्ञासा जाग उठी, क्योंकि पुनजन्मके इस चक्रसे देव, दानव, पशु, मनुष्य और वनस्पति कोई भी बचा हुआ नहीं था—सबका मृत्युके बाद जन्म लेना आवश्यक

था। और कोई भी दैवी[१] शक्ति ऐसी नहीं थी जो इससे उन्हें बचा सके। फिर बुरे कर्मोंका फल बुरा और अच्छे कर्मोंका फल अच्छा मिलता था। इससे नैतिकताके प्रसारको बल मिला। पहले तो वैदिक आर्योंका यह विश्वास था कि देवता और पितर अमर हैं। हम भी क्रियाकाण्डके द्वारा अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेके पश्चात् अमरत्व प्राप्त करना सुलभ नहीं रहा। उसके लिये व्यक्तिगत नैतिक जीवन को सुधारना आवश्यक था।

संन्यास

किन्तु प्रारम्भ मे हम यह बात नहीं देखते; क्योंकि वैदिक ऋषि लोग गम्भीर नैतिक नहीं थे। उनकी ऋचाओं में पापको मानने वाले मनुष्यकी टोनमें भाविजीवनके लिये कोई चेतावनी नहीं है, और हो भी क्यों, जब वे पुनर्जन्मवादी नहीं थे। इसीसे प्रारम्भमे वैदिक आर्य मांसभोजी थे। वह जो खाते थे वह देवता को भेट करते थे। अतः वैदिक आर्योंके प्रचलित भोजनकी सूची यज्ञकी बलिसूचीके आधारसे संकलितकी जा सकती है। पुनर्जन्मके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेनेके बाद ही उनमे अहिंसा का सिद्धान्त रूपसे प्रवेश हुआ जान पड़ता है। (वै० इं० जि० २, पृ० १४५)

इसी तरह चार आश्रमोंकी व्यवस्था भी पीछेसे आई है। ब्राह्मणको ब्रह्मचारी और गृहस्थके रूपमें जीवन बितानेके

१—सब देवोंसे ऊचे और समस्त सृष्टिके सचालक ईश्वर की कल्पना उन लोगोंके मस्तिष्क की उपज नहीं है, जिन्होंने पुनर्जन्मके सिद्धान्तको जन्म दिया। (रि० लि० ई० पृ० ३५)

बाद सन्यासी हो जाना चाहिए, यह नियम वैदिक साहित्यमें नहीं मिलता। पौराणिक परम्पराके अनुसार राज्य त्यागकर बनमें चले जानेकी प्रथा क्षत्रियों मे प्रचलित थी। ग्रीक लेखकोंके लेखों से भी इसका समर्थन होता है (वै० इं० 'ब्राह्मण' शब्द)।

गौतम धर्म सूत्र (८-८) में एक प्राचीन आचार्यका मत दिया है कि वेदोंको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। वेदमे उसीका प्रत्यक्ष विधान है इतर आश्रमोका नहीं। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंमे ब्रह्मचर्याश्रमका, विशेषतः उपनयनका विधान आया है। किन्तु चार आश्रमोका उल्लेख छा० उप० मे है। अतः विद्वानो का मत है कि वानप्रस्थ और सन्यास को वैदिक आर्योंने अवैदिक लोगोंकी संस्कृतिसे लिया है। (हि०ध०स०, पृ० १२७)

आप बाल्मीकि रामायणको देखें – इसमे किसी भी संन्यासी के दर्शन नहीं होते। हॉ, वानप्रस्थ सर्वत्र दृष्टिगोचर होते है।

लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें 'सन्यास और कर्मयोग' नामक प्रकरणमे इस बातका जोरदार समर्थन किया है कि वैदिक धर्ममें संन्यास मार्ग विहित नहीं था। वह लिखते हैं—'वेदसंहिता और ब्राह्मणोंमें संन्यास आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है। उलटा जैमिनिने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि ग्रहस्थाश्रममे रहनेसे ही मोक्ष मिलता है (देखो वेदान्तसूत्र ३. ४. १७–२०) और उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्डके इस प्राचीन मार्गको गौण माननेका आरम्भ उपनिषदोंमे ही पहले पहल देखा जाता है। यद्यपि उपनिषद् वैदिक हैं, तथापि उनके विषय प्रतिपादनसे प्रकट होता है कि वे संहिता और ब्राह्मणोंके पीछेके है, इसके मानी यह नहीं, कि इसके पहले परमेश्वरका ज्ञान हुआ ही नहीं

था। हां, उपनिषत्कालमें[१] ही यह मत पहले पहल अमलमें अवश्य आने लगा कि मोक्ष पानेके लिये ज्ञानके पश्चात् वैराग्यसे कर्मसंन्यास करना चाहिये। और इसके पश्चात् संहिता एवं ब्राह्मणोमें वर्णित कर्मकाण्डको गौणत्व आ गया। इसके पहले कर्म ही प्रधान माना जाता था। उपनिषत्कालमे वैराग्ययुक्त ज्ञान अर्थात् संन्यासकी इस प्रकार बढ़ती होने लगने पर, यज्ञ याग प्रभृति कर्मोंकी ओर या चातुर्वर्ण्य धर्मकी ओर भी ज्ञानी पुरुष योंही दुर्लक्ष करने लगे और तभीसे यह समझ मन्द होने लगी कि लोकसंग्रह करना हमारा कर्तव्य है। स्मृतिप्रणेताओंने, अपने अपने ग्रन्थोंमे यह कहकर कि गृहस्थाश्रममें यज्ञ याग आदि-श्रौत या चातुर्वर्ण्यके स्मार्त कर्म करना ही चाहिये, गृहस्थाश्रमकी बड़ाई गाई है सही, परन्तु स्मृतिकारोंके मतमें भी अन्तमें वैराग्य या संन्यास आश्रम ही श्रेष्ठ माना गया है, इस लिये उपनिषदोंके ज्ञान प्रभावसे कर्मकाण्डको जो गौणता प्राप्त हो गई थी, उसको हटानेका सामर्थ्य स्मृतिकारोंकी आश्रम व्यवस्थामे नहीं रह सकता था। ऐसी अवस्थामे ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डमेसे किसी को गौण न कहकर भक्तिके साथ इन दोनोंका मेल कर देनेके लिये गीताकी प्रवृत्ति हुई है। (गी० र० पृ० ३४४)

१—तै० उ० (२-१-१) मे लिखा है—ब्रह्मज्ञानमें मोक्ष प्राप्त होता है। श्वे० उ० (३-८) मे लिखा है—मोक्ष प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं। बृह० उ० (४-२२ और ३-५-१) में लिखा है प्राचीन ज्ञानी पुरुषोंको पुत्र आदिकी इच्छा न थी और यह समझ कर कि जब सब लोक ही हमारा है तब हमे सन्तान किस लिये चाहिये ? वे सन्तान संपति और स्वर्ग की चाहमे निवृत्त होकर भिक्षाटन करते घूमते थे। (गी० र०, पृ० ३१२-१३)

उक्त कथनसे भी स्पष्ट है कि वैदिक धर्ममे संन्यासमार्गका प्रवेश उपनिषत्कालसे हुआ।

यद्यपि बहुत प्राचीन कालसे वैदिक आर्योंमें ब्रह्मचारी और गृहस्थोके अस्तित्वके चिह्न मिलते है और वेदोंमें यति और मुनियोका भी निर्देश है किन्तु पं० हरदत्त शर्माके मन्तव्यानुसार श्वेताश्वतर उपनिषद्से पहले, जिसमे 'अत्याश्रमिन्' शब्द आया है—आश्रम परिपाटीकी स्थापना नहीं हुई थी। प्राचीन उपनिषदोंमें केवल ब्रह्मचारी गृहस्थ और यति या मुनि इन तीन आश्रमोंके प्रमाण मिलते हैं। छान्दो० उप० (८-१५-१) के अनुसार गृहस्थ दशामे भी ब्रह्मलोकको प्राप्त किया जा सकता है।

प्राचीन उपनिषदोंमे वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमोंमे कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यद्यपि संन्यासके प्रति कोई विरोधी भाव तो नही दर्शाया गया है किन्तु गृहस्थ जीवनको ही आदर्श-जीवन माना है। शतपथ ब्रा० (१३, ४-१-१) में लिखा है--'एतद् वै जरामर्यं सत्रं यद् अग्निहोत्रम्' अर्थात 'जब तक जिओ अग्निहोत्र करो।

तैत्ति० उप० (१-११-१) मे लिखा है—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'। अर्थात् सन्तानकी परम्पराको मत तोड़ो।

ईशावा० उ० मे लिखा है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'। अर्थात् एक मनुष्यको अपने जीवन भर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। यास्क ने अपने

---

१. पूना ओरियन्टल सिरीज न० ६४ मे प० हरदत्त शर्माका एक विद्वत्ता पूर्ण निबन्ध 'ब्राह्मण संन्यासके इतिहास' पर प्रकाशित हुआ है। उन्हींकी खोजोंके फलस्वरूप उक्त उद्धरण प्राप्त हो सके हैं।—ले०

निरुक्त (१४-९) में लिखा है कि कर्म छोड़नेवाले तपस्वियों और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंको एक ही देवयान गति प्राप्त होती है ।

अब धर्मसूत्रोंको लीजिये । बौधायन और आपस्तम्बमें स्पष्ट कहा है कि गृहस्थाश्रम ही मुख्य है और उसीसे अमृतत्व मिलता है । बौधायन धर्मसूत्रमे (२-६-११-३३, ३४) कहा है कि जन्मसे ही ब्राह्मण अपनी पीठ पर तीन ऋण लाता है । इन ऋणोंको चुकानेके लिये यज्ञ याग आदि पूर्वक गृहस्थाश्रमका पालन करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकको पहुँचता है और ब्रह्मचर्य या संन्यासकी प्रशंसा करनेवाले धूलमें मिल जाते हैं । आपस्तम्ब सूत्र (९-२४-८) में भी ऐसा ही कथन है । आपस्तम्ब सूत्र इस बातका समर्थक नहीं है कि कोई एक बार गृहस्थाश्रममे प्रवेश करके उसे छोड़कर अन्य आश्रममे प्रवेश करे । इसका यह मतलब नहीं है कि इन दोनों धर्मसूत्रोंमें संन्यास आश्रमका वर्णन नहीं है, किन्तु उसका वर्णन करके भी गृहस्थाश्रमको ही विशेष महत्व दिया गया है ।

यही बात हम स्मृतियोंमें देखते हैं । मनुस्मृतिके छठे अध्यायमे कहा है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमोंसे चढ़ता चढ़ता कर्मत्यागरूप चौथा आश्रम स्वीकार करे । परन्तु संन्यास आश्रमका निरूपण समाप्त होने पर मनु ने प्रथम यह प्रस्तावना की कि 'यह यतियोंका अर्थात् सन्यासियोंका धर्म बतलाया अब वेदसंन्यासियोंका कर्मयोग कहते है । और फिर यह कहा है कि अन्य आश्रमोंकी अपेक्षा गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है । आगे बारहवे अध्यायमे निष्काम गार्हस्थ्यवृत्तिको ही वैदिक कर्मयोग नाम देकर कहा है कि यह मार्ग भी चतुर्थ

आश्रमके समान ही मोक्षप्रद है। इसी तरह याज्ञवल्क्यस्मृतिके तीसरे अध्यायमे यतिधर्मका निरूपण करनेके पश्चात् 'अथवा' पदका प्रयोग करके लिखा है कि ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थ भी (बिना संन्यास ग्रहण किये) मुक्ति पाता है।

महाभारतमे जब युधिष्ठिर महायुद्धके पश्चात् संन्यास लेना चाहते है तो भीमने उस समय संन्यासके विरुद्ध जो युक्तियाँ दी है वे द्रष्टव्य हैं। भीम कहता है—शास्त्रमे लिखा है कि जब मनुष्य संकटमे हो या बूढ़ा हो गया हो, या शत्रुओंसे त्रस्त हो तो उसे संन्यास ले लेना चाहिये। अतः बुद्धिमान् मनुष्य संसारका त्याग नहीं करते और दृष्टिसम्पन्न मनुष्य इसे नियमका उल्लंघन मानते है। भाग्यहीन और नास्तिक लोगो ने ही संन्यास चलाया है। आदि।

इन सब उद्धरणोसे प्रकट है कि वैदिक धर्मने संन्यासको हृदयसे नहीं अपनाया। और इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि वह मूलतः वैदिक धर्मका अंग नहीं था, किन्तु उन लोगोका था जो वैदिक आर्योंके क्रियाकाण्डी जीवनमे भिन्न मार्गावलम्बी थे और जिन्हे वैदिक मार्गानुयायी नास्तिक कहते थे।

आत्मा, पुनर्जन्म, अरण्य, संन्यास, तप, और मुक्ति, ये सारे तत्त्व परस्परमे सम्बद्ध हैं। आत्मविद्याका एक छोर पुनर्जन्म है तो दूसरा छोर मुक्ति है, और संन्यास लेकर अरण्य मे तप करना पुनर्जन्मसे मुक्तिका उपाय है। ये सब तत्त्व वैदिकेतर संस्कृतिसे वैदिक संस्कृतिमे प्रविष्ट हुए है। तभी तो विद्वानोका कहना है कि 'अवैदिक तत्त्वोका प्रभाव केवल देशमें विचारोके विकासके लिये एक नये प्रकारके हृदयसे परिचयमे ही

लक्षित नहीं होता, किन्तु सत्य तक पहुँचनेके उपायोंके परिवर्तनमें भी लक्षित होता है।' (हि० रि० ई० वे० पृ० ३२)

उक्त सभी तत्त्व सिन्धुघाटीसे गंगाघाटीमें प्रविष्ट होनेके बादसे ही परिलक्षित होते हैं। इसीसे प्रो० बरुआने अपने बुद्धपूर्व भारतीय दर्शनके इतिहासमे वैदिक कालको, वैदिक काल, वैदिक पश्चात् काल और न्यू वैदिक काल—इन तीन कालोंमें विभाजित करके ऋग्वेद कालको वैदिक काल कहा है और उसके पश्चात्से वैदिक पश्चात् कालका आरम्भ माना है।

यद्यपि ऋग्वेदके दसवें मण्डलमे कुछ दार्शनिक विचारोंका आभास है, किन्तु उसमे चार वर्णोंका निर्देश आदि कुछ ऐसी बातें भी पाई जाती है, जिनके कारण उस मण्डलको बादकी रचना माना जाता है। तथा यद्यपि ऋग्वेदकी रचना सिन्धुघाटी में हुई तथापि उसका दसवाँ मण्डल यमुनाकी घाटीमे रचा गया, ऐसा विद्वानोंका मत है। (रि० लि० इं०, पृ० १५, कै० हि० जि० १, पृ० ९३)।

इसी दसवें मण्डलमे प्रजापति परमेष्ठी, हिरण्यगर्भ और वातरशन (नग्न) मुनियोंका उल्लेख है, जिनकी चर्चा हम आगेके प्रकरणमे करेंगे। प्रो० बरुआने वैदिक पश्चात् काल और न्यू वैदिक कालके बीचमे याज्ञवल्क्यको सीमाचिन्ह माना है। अर्थात् याज्ञवल्क्यके साथ वैदिक पश्चात्कालका अन्त और न्यू वैदिक कालका आरम्भ होता है। शतप० ब्रा० मे श्वेत केतुको याज्ञवल्क्यका समकालीन बतलाया है। प्रो० बरुआके मतानुसार (हि० प्रो० इं० फि० पृ० १९१) भारतीय धर्मोके इतिहासमें इस कालको श्रमण ब्राह्मणकाल संज्ञा दी जा सकती है। वैदिक-पश्चात्कालके विचारकोंमें याज्ञवल्क्य ही प्रथम विचारक है जिन्होने

श्रमणोंकी ओर लक्ष्य दिया। श्रमणोंके सिवाय तापसोंका भी उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है। इस कालमे विभिन्न विचारक संस्थाएँ थी, जिन्हे स्थूल रूपसे श्रमणों और ब्राह्मणों तथा तापसों और परिव्राजकोंमें विभाजित किया जा सकता है।

श्रमण परम्परा

भारतवर्षके धार्मिक इतिहासमें हमे दो विभिन्न परम्पराओंके दर्शन होते हैं। उनमें एक परम्परा ब्राह्मणोंकी है और दूसरी परम्परा श्रमणोंकी है। भारतवर्षका क्रमबद्ध इतिहास बुद्ध और महावीरके कालसे आरम्भ होता है। उस कालसे लेकर इन दोनो परम्पराओंका पृथक्त्व बराबर लक्षित होता है।

[1]सिकन्दरके समकालीन यूनानी लेखकों ने साधुओंकी दो श्रेणियोंका निर्देश किया है—एक श्रमण और एक ब्राह्मण। अशोकके शिलालेखोंमे श्रमणों और ब्राह्मणोंका पृथक् पृथक् निर्देश है। पतञ्जलिने अपने महाभाष्य (सू० २-४-१२) में श्रमण और ब्राह्मणमे शाश्वतिक विरोध बतलाया है।

श्वे० जैन आगमोंमे श्रमण पाँच प्रकारके बतलाये है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक और आजीवक। जैन साधु निर्ग्रन्थ श्रमण, बौद्ध साधु शाक्य श्रमण, जटाधारी बनवासी तापस, लाल वस्त्रधारी साधु गैरुक और गोशालकके अनुयायी साधु आजीवक कहे जाते है। (अभि० रा०, 'श्रमण' शब्द)।

बाल्मीकि रामायणमे (सर्ग १८ पृ० २८) ब्राह्मण, श्रमण और तापसोंका पृथक् पृथक् उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि तापस लोग ब्राह्मणोंसे भिन्न थे। श्रमणोंकी तरह ही तापस और परिव्राजक भी प्राचीन है।

---

१. इ० पा०, पृ० ३८३।

श्वे० जै० आगमोंमें आठ प्रकारके ब्राह्मण परिव्राजक और आठ प्रकारके क्षत्रिय परिव्राजक बतलाये हैं। (अभि० रा०, 'परिव्राजक' शब्द)। अगुंत्तर (४-३५) में भी परिव्राजकोंके दो भेद किये हैं ब्राह्मण और एक अन्नतिथिय (अब्राह्मण)। साधुओंमे ब्राह्मण और क्षत्रियका यह भेद उल्लेखनीय है। और यह ब्राह्मण और क्षत्रियके उस पारस्परिक भेदको बतलाता है जो न केवल वर्णगत था किन्तु विचारगत और उद्धत्वगत भी था।

महावीर और बुद्ध दोनोके अनुयायी साधु श्रमण कहे जाते थे और महावीर तथा बुद्ध दोनों प्रव्रज्या ग्रहण करनेके पश्चात् महाश्रमण कहलाये थे। ये दोनों क्षत्रिय थे। दोनो वेद और ब्राह्मण परम्पराके विरोधी थे। किन्तु वैदिक संस्कृतिमें जो तत्त्व पीछेसे प्रविष्ट हुए—आत्मविद्या, पुनर्जन्म, तप, मुक्ति आदि, उन सबको दोनों मानते थे। यद्यपि बुद्ध आत्म तत्त्वके पक्षपाती नहीं थे किन्तु महावीर तो क्षत्रियोंकी आत्मविद्याके मर्मज्ञ ही नहीं किन्तु सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। उन्हे वह ज्ञान अपने पूर्वज क्षत्रिय पार्श्वनाथकी परम्परासे प्राप्त हुआ था।

यहाँ श्रमणोंकी प्राचीनताके सम्बन्धमे थोड़ा सा प्रकाश डालना उचित होगा।

बृह० उप० (४-३-२२) मे तापसके साथ श्रमण शब्द भी आता है। आचार्य शंकर ने श्रमणका अर्थ परिव्राजक और तापसका अर्थ वानप्रस्थ किया है। तैत्ति० आर० मे भी यह शब्द जिस वाक्यमें आया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वाक्य इस प्रकार है—'वात रशना ह वा ऋषय श्रमणा, ऊर्ध्वमन्थिनो बभुवुः। (२-७)। वातरशन (नग्न) ऋषि श्रमण थे। सायणने 'ऊर्ध्व-

मान्थेनः' का अर्थ ऊर्ध्व रेता किया है। अतः श्रमण नग्न और पवित्र होते थे यह इस वाक्यका अर्थ है।

ऋग्वेद (१०-१३६-२) मे भी मुनियोके विशेषण रूपसे 'वातरशना' शब्द आया है। यहां मुनियोंको नग्न या पीले और मैले वस्त्रधारी बतलाया है। यद्यपि तैति० आर० के अनुसार 'वातरशन' शब्दका अर्थ नग्न होता है किन्तु सायण ने इसका अर्थ 'वातरशनस्य पुत्राः' किया है। यथा—

'वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनयोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतयः पिशगाः पिशगानिः कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कल रूपाणि वासांसि बसते आच्छादयन्ति।"

किन्तु सायणके इस अर्थको किसी भी प्राच्यविद्याविशारदने मान्य नहीं किया है सबने इसका अर्थ नग्न[१]ही लिया है। विक्रम की नौवीं शतीके जैनाचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवको वातरशन बतल कर उसका अर्थ नग्न ही किया है। यथा—

'दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः'।

ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि वृहदा० उप० और तैत्ति० आर० के समयमें श्रमण वर्तमान थे, और वे नग्न तथा उर्ध्वरेता होते थे। यद्यपि तै० आ० मे वातरशना शब्दका प्रयोग इस रूपमें किया गया है कि वह व्यक्ति वाचक संज्ञा सा प्रतीत होता है किन्तु 'वात है रशन-वेष्टन जिनका' यह व्युत्पत्ति ही इस शब्दका आधार जान पड़ती है। अतः ये नग्न मुनि ऋग्वेदकालमें भी मौजूद थे।

१—वै० इ० म वातरशन शब्द,

अथर्ववेद (२-५-३) में एक कथा इन्द्रके द्वारा यतियोंका बध किये जानेकी आई है। यह कथा एतरे० ब्रा० (७-२८) और पञ्चविंश ब्राह्मण (१३-४-७, ८-१-४) में भी आई है। सायण ने उसके भाष्यमे उन यतियोंके बारेमें लिखा है—

यतिर्न—यतयो नाम नियमशीला आसुर्या प्रजाः . ....यद्वात्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचारशून्याः परिव्राजका विवक्षिताः। (अर्थव०)

'यति माने व्रत नियमका पालन करनेवाले असुर लोग। अथवा यहां यति शब्दसे वेदान्तके विचारसे शून्य परिव्राजक लेना चाहिये'।

पञ्च० ब्रा० की व्याख्यामे सायणने एक स्थान पर यतिका अर्थ 'यजन विरोधीजना.' किया है और दूसरी जगह 'वेद विरुद्ध नियमोपेता.' किया है। अथात् जिन यतियोंको इन्द्रने मारा, वे सब यज्ञ यागादिक विरोधी और वेदविरुद्ध व्रत-नियमादिका पालन करने वाले थे।

ऋग्वेदके वातरशन[१] मुनि, जिन्हे तै०आ० मे श्रमण बतलाया है, और इन्द्रके द्वारा मारे गये यति एक[२] ही प्रतीत होते है। और इसलिये वेदविरुद्ध नियमादिका पालने करने वाले तथा यज्ञविरोधी नग्न श्रमणोंकी परम्परा का अस्तित्व ऋग्वेद काल तक जाता है।

इसके सिवा 'आश्रम' शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रो०

१—श्री मद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमे ऋषभदेवका वर्णन करते हुए भी श्रमणोंको 'वातरशन' कहा है। यथा—'वातरशनानां श्रमणानामृषीणाम्।' २—हि० ब्रा० एसे०, पृ० १६।

विण्टरनीट्स ने जो प्रकाश डाला है वह भी इस पर विशेष प्रकाश डालता है। वह[१] कहते है—

'जिस 'श्रम' धातु से 'श्रमण' शब्द बना है उसीसे 'आश्रम' शब्द भी निष्पन्न हुआ है। अतः प्रारम्भमें 'आश्रम' शब्द शायद श्रमणोके धार्मिक कृत्य का सूचक था। उसीके कारण यह शब्द धार्मिक कृत्यके स्थानका भी सूचक हुआ।'

अतः 'आश्रम' शब्दका सम्बन्ध भी मूलत. श्रमणोंसे ही जान पड़ता है। और इससे श्रमण परम्परा एक प्रभावशाली प्राचीन परम्परा प्रमाणित होती है। भ० महावीरका सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कहा जाता था क्योंकि उनके अनुयायी साधु बाह्य और अन्तरंग ग्रन्थ (परिग्रह) से रहित होते थे। इससे यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ परम्परा साधु परम्परा थी और निर्ग्रन्थ धर्म साधुओंका धर्म था। अतः महावीरके अनुयायी साधु जो परिव्राजक, संन्यासी, तपस्वी आदि न कहलाकर श्रमण ही कहलाये, इसमें अवश्य ही कुछ विशिष्ट कारण होना चाहिये— और वह विशिष्ट कारण यही हो सकता है कि श्रमण परम्परा अपना कुछ वैशिष्ट्य रखती थी—जो वैशिष्ट्य केवल तत्कालीन नही था, किन्तु परम्परागत था, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें जो श्रमणों और तापसोंका प्रथम बार उल्लेख मिलता है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण कालमें तापसों और श्रमणोंकी सस्था प्रकाशमें आई, या ब्राह्मणलोग इनके परिचयमें आये, न कि तापस और श्रमण सम्प्रदायका जन्म हुआ।

प्रायः सभी विदेशी लेखकोंने वैदिक साहित्यमें पीछेसे प्रविष्ट

१—हि० ग्रा० एसे०, पृ० १४।

हुए संन्यासमार्गको निराशावाद कहा है। किन्हीका कहना है कि पुनर्जन्मके सिद्धान्तने निराशावादको जन्म दिया (कै०हि०पृ०१४४)। और किन्हीका कहना है कि जब आर्यलोग गंगाकी घाटीमें आकर बसे तो पूरबकी गर्मी उनसे न सही गई फलतः इस निराशावादी संन्यासाश्रमका जन्म हुआ।

जो पुनर्जन्मके सिद्धान्तको तथोक्त निराशावादका जनक मानते है वही यह भी लिखते हैं कि–'इस सिद्धान्तकी असाधारण सफलता बतलाती है कि यह सिद्धान्त भारतीय जनताकी आत्मा के साथ एकलय था और उसका जो संभाव्य परिणाम हो सकता था वही हुआ, ब्राह्मण कालके अन्त तक आर्य प्रभाव मुरझा गया और बुद्धिवादी वर्गोंका यथार्थ भारतीय चरित्र निश्चित रूपसे साकार हो गया (कै० हि०, जि० १, पृ० १४४)।

उक्त शब्दोसे ही स्पष्ट है कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त भारतीयोंके लिए कोई नया नहीं था—वह तो उनकी आत्माके साथ सम्बद्ध था, उसके प्रकाशमे आते ही आर्यप्रभाव जाता रहा और भारतीय आत्माका यथार्थ रूप चमक उठा। अत. जिसे विदेशी विद्वान भारतीय आत्माके यथार्थ रूपको न पहचान सकने के कारण निराशावाद कहते है, वास्तवमे वह निराशावाद ही भारतकी सच्ची आत्मा रहा है।

जिनका कहना है कि गंगाघाटीकी असह्य गर्मीने इस तथोक्त निराशावादको जन्म दिया, वे उनमेसे हैं जो समस्त भारतीय आचार-विचारोंका मूल वैदिक साहित्यको ही मानते है। किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। यह हम लिख आये है।

दूसरे, वैदिक कालमे ही हम मुनियोंसे मिलते है, जो ब्राह्मणों से भिन्न थे। तथा नग्न रहते थे। वै० इं० (मुनिशब्द) मे ठीक

ही लिखा है कि वैदिक ग्रन्थोंमे मुनियोंका विशेष निर्देश न होनेसे यह परिणाम निकालना कि वैदिक कालमें मुनि विरल थे, ठीक नहीं है, किन्तु सम्भवतया ब्राह्मण उन्हे नहीं मानते थे क्योंकि दोनोंके आदर्श भिन्न थे। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि प्राचीन और अर्वाचीन मुनिमे मौलिक भेद था। किन्तु इतना अवश्य है प्राचीन मुनि उतना सन्त नहीं था।

इन्हीं मुनियोंमे ऐसे भ· मुनि थे जिन्हे वैदिक क्रियाकाण्डमे आस्था नहीं थी। ये मुनि क्या करते थे, यह तो स्पष्ट नहीं होता, किन्तु अवश्य ही वे सासारिक जीवनके प्रति उदासीन थे — उनका नग्न रहना ही इस बातका सूचक है। ये मुनि ही श्रमण परम्पराके पूर्वज हो सकते है।

अत तथोक्त निराशावादी धर्म गंगाघाटीकी गर्मीकी उपज नहीं है, किन्तु भारतकी आत्मामे अनुस्यूत पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी तरह ही परम्परागत है। अतः ब्राह्मणोंकी तरह श्रमणोंकी परम्परा भी प्राचीन प्रतीत होती है। इसी श्रमण परम्पराके आद्यप्रवर्तकके रूपमे ऋषभदेवकी मान्यता है। डा॰आर॰जी॰ भण्डारकरने लिखा है—'प्राचीन कालसे ही भारतीय समाजमे ऐसे व्यक्ति मौजूद थे, जो श्रमण कहे जाते थे। ये ध्यानमे मग्न रहते थे और कभी-कभी मुक्तिका उपदेश देते थे, जो प्रचलित धर्मके अनुरूप नहीं होता था। (क० व० भां जि० १ पृ० १०)।

वैदिक साहित्यके अनुशीलनके पश्चात् अब हम दूसरे साधन प्राचीन अवशेषोंकी ओर आते हैं।

———

प्राग् ऐतिहासिक कालीन अवशेष

भारतवर्षका इतिहास भारतमे आर्योंके आगमनसे प्रारम्भ होता आया है। और भारतकी सभ्यता, धर्म और ज्ञान-विज्ञानकी उन्नतिका श्रेय भी आर्योंको ही दिया जाता रहा है। आर्योंके आगमनसे पूर्व भारतमे जो जातियॉ बसती थीं वे जंगली थी, यही हम बचपनसे पढ़ते आये हैं। किन्तु इस चित्रका दूसरा पहलु भी है, जिसकी ओर कुछ विद्वान अन्वेषकोंका ध्यान आकृष्ट हुआ था और जिसका उल्लेख डा० कीथने अपनी पुस्तक 'दी रिलीजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद एण्ड उपनिषदाज़ मे किया है। वह लिखते है (पृ० ९–१०) एक दूसरी कल्पना अभी ही की गई है कि ऋग्वेद मे जिस धर्मका उल्लेख है वह आर्योंका नहीं है, किन्तु भारतके आदिवासियोंका, अनुमानतः द्रविड़ोंका है, जो स्पष्ट रूपसे भारतके प्राचीन निवासियोमे सबसे प्रमुख है'। इतना लिखकर डा०कीथ पुनः लिखते हैं—"इस मान्यताके साथ मि० हल्लके इस दृष्टिकोणको भी सम्बद्ध किया जा सकता है कि 'सुमेरियन लोग मूलतः द्रविड़ थे। उन्होने सिन्धुकी घाटीमें अपनी सभ्यताको विकसित किया और तब अर्ध भ्रमणशील सेमिट लोगोको उससे परिचित कराया—उन्हे लिखनेकी कला, नगर-निवास और पाषाणके मकान बनाना सिखलाया। जिन आर्योंने भारत पर आक्रमण किया उन्हे भी द्रविड़ोंने सुसभ्य बनाया।' किन्तु मि०हल्लके इस दृष्टिकोणके सम्बन्धमे प्राणलेवा कठिनाई यह है कि एक भी प्रमाण ऐसा उपलब्ध नही है, जिसके द्वारा इसे कभी भी सत्य बनाया जा सके। यदि सुमेरियन मूलतः द्रविड़ थे और सिन्धुघाटीमें उच्च सभ्यताके स्वामी थे तो यह बात उल्लेखनीय है कि भारतमें इस उच्चसभ्यताका कोई चिन्ह

नहीं मिलता। क्योंकि जहां तक हम जानते हैं भारतने सेमिट लोगोंसे ईस्वी पूर्व आठसौसे पहले लेखनकला नहीं सीखी थी। और ऋग्वेदकालके बहुत बादमें उसने पाषाणके मकान बनाना और नगरोंमें रहना प्रारम्भ किया था। सुमेरियन लोगोंके द्वारा सिन्धु घाटीमें जिन पत्थरके मकानोंके बनानेका अनुमान किया जाता है, उनका चिन्ह भी नहीं मिलता। और ऋग्वेदका जो सबसे अर्वाचीनकाल माना जाता है उससे भी बहुत सी शताब्दियां बीतने पर हमें द्रविड़ सभ्यताके ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें दर्शन होते हैं। अत. ऋग्वेदकी सभ्यताको द्रविड़ोंकी मानना केवल कल्पना मात्र है।"

ऋग्वैदिक सभ्यतामें द्रविड़ोंके प्रभावको कोरी कल्पना कहकर उड़ा देनेवालोंमें डा० कीथ जैसे अनेक विद्वान थे, क्योंकि उस समय तक, जैसा डा० कीथने लिखा है, भारतमें आर्योंके आगमनसे पूर्वकी किसी उच्च द्रविड़ सभ्यताके विस्तारका कोई चिन्ह लक्षित नहीं हुआ था और सर्वत्र आर्योंका जादू छाया हुआ था। किन्तु यह जादू बीसवीं शतीकी नई खोजोंके फल स्वरूप 'छू मन्तर' हो गया।

अब यह बात मान ली गई है कि आर्योंके भारत प्रवेशके समयसे बहुत सी शताब्दियां पूर्व सिन्धु घाटीमें एक आश्चर्यजनक आर्यपूर्व सभ्यता वर्तमान थी और वह प्रसिद्ध वैदिककालीन सभ्यतासे उन्नतर थी। पंजाबके माण्टुगुमरी जिलेमें रावीके तटपर स्थित 'हरप्पा' नामक स्थानसे समय-समयपर पृथ्वीसे निकलने वाली सीलोंने, जिनपर अपरिचित लिपि अंकित थी, विद्वानोंके सम्मुख एक समस्या खड़ी कर दी थी, जिसके कारण इन सीलोंको लेकर एक ओर अनेक कल्पनाएँ उठती थी

तो दूसरी ओर अनेक सन्देह उत्पन्न होते थे। किन्तु अन्तमें प्राचीनकालके भूले हुए आश्चर्यके द्वार खोल डाले गये।

सिन्धु घाटी सभ्यता

५९२१ मे स्व० डा० बनर्जी सिन्धप्रान्तके लरकाना जिलेमे सिन्धुके तट पर स्थित मोहेञ्जोदड़ोमें बौद्ध अवशेषोकी खोजमें व्यस्त थे। वहाँसे कुछ उसी तरहकी सीलें प्राप्त हुईं जैसी हरप्पासे प्राप्त हुई थीं। इस खोजके महत्त्वको जानकर बौद्ध विहारसे पूरबकी ओर खुदाई की गई और वहाँसे ऐसे महत्त्वके अवशेष प्राप्त हुए जो बौद्ध अवशेषो से दो या तीन हजार वर्ष पूर्व-के थे। इन खोजोके फलस्वरूप यह स्थिर हुआ कि मोहेञ्जोदडो और हरप्पामे आर्यपूर्व कालीन नगर विद्यमान थे और वहा से प्राप्त अवशेष एक ही आर्यपूर्वकालीन सभ्यतासे सम्बद्ध है। जिसका काल ईसासे चार हजार वर्ष पूर्व है। तथा भारतमे आर्यों-का प्रवेश ईस्वी पूर्व दो हजार वर्ष तक नहीं हुआ। और उनको सभ्यताका सिन्धुघाटीमे फैली हुई सभ्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं था, जो स्पष्ट रूपसे द्रविड़ोकी अथवा आदिद्रविड़ोकी सभ्यता थी, जिनके उत्तराधिकारी दक्षिण भारतमें निवास करते है। (प्रीहि० इं, भू० पृ० ८)।

सिन्धुघाटीके ये प्राचीन निवासी कृषक और व्यापारी थे। और उनकी उच्च सामाजिक व्यवस्था उनके द्वारा सुनियोजित और अच्छी रीतिसे निर्मित नगरोसे लक्षित होती है। मोहेञ्जोदडोमें पास-पास चारों ओर मार्ग बने हुए थे – इमारते पक्की ईंटोसे बनाई जाती थीं। मकानोंमें द्वार, खिड़कियां, पक्के फर्श और नालियाँ होती थीं। तथा स्नानागर, आदि अन्य सुविधाएं भी रहती थीं। अनेक प्रकारके बर्तन बनाये जाते थे। ताम्बा टीन

और सीसेका उपयोग होता था। सोने-चांदी और हाथी दांत आदिके जेवर बनते थे। पत्थरका उपयोग इतनी स्वतंत्रतासे किया जाता था कि प्राचीन वास्तुशास्त्रवेत्ता सिन्धुघाटीके प्राचीन निवासियोंको पत्थर और धातुकालके बीचके परिवर्तनकालका मानते हैं। घरेलु जानवरोंमें हाथी, ऊट, भेड़, सुअर, कुत्ता, भैंसा, और ककुद (पीठ पर उठा हुआ भागवाले मवेशी) थे। जौ, गेहूं और कपासकी खेती होती थी। कातना और बुनना उन्नत दशा-में था।

इस प्रकार द्रविड़ लोगोंकी अपनी एक पृथक् सभ्यता थी। वे शवोंको पाषाणकी बनी कब्रोंमें रख देते थे। शवों अथवा उनकी अस्थियोंसे युक्त मिट्टीके पात्र मेसोपोटामिया, बेबीलोनिया, परसिया, बलुचिस्तान, सिन्ध और दक्षिण भारतमें मिले हैं। जब उन द्रविड़ोका सम्पर्क वैदिक आर्योंसे हुआ, जो अपने मुर्दोंको जलाते थे तो द्रविड़ोंने भी अपने मुर्दोंको जलाना शुरु कर दिया, किन्तु मिट्टीके पात्रमें कुछ अस्थियोंको रखकर भूमिमें गाढ़नेकी अपनी प्राचीन प्रथाको जारी रखा।

क्या द्रविड़ लोग मुर्दोंको इस लिये पृथ्वीमें गाढ़ देते थे कि लौटने पर आत्माको पुनः वही शरीर मिल सके? क्या यही पुनर्जन्मका सिद्धान्त है?

किन्तु मोहेञ्जदड़ो या हरप्पासे एक भी ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं हुई, जिसे स्पष्ट रूपसे धार्मिक महत्त्व दिया जा सके। वहाँ ऐसी कोई इमारत नहीं मिली जिसे स्पष्ट रूपसे मन्दिर कहा जा सके। आज तक इस सम्बन्धमें जो कुछ विश्लेषण किया गया है वह केवल अनुमान और कल्पनाके आधारपर ही किया गया है।

मिट्टीकी बनी आकृतियों और मूर्तियोंसे यह पता चलता है कि दुर्गा और शिवलिंगको पूजनेकी प्रथा द्रविड़ोंमें प्रचलित थी। और इस तरह शिवपूजा बहुत प्राचीन मानी जाती है।

योग सम्प्रदाय वेदोंसे भी प्राचीन है। मोहेंजोदड़ो निवासी योगकी प्रणालियोंसे भी परिचित थे। योगशास्त्रोंके अनुसार योगके लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक है—आसन, मस्तक ग्रीवा और धड़का सीधा रहना तथा अर्ध निष्मीलित नेत्र जो नासिका के। अग्रभाग पर स्थिर हों। श्री रामप्रसाद चन्दाके अनुसार मोहेंजोदड़ोंसे प्राप्त पत्थरकी मूर्ति जिसे मि० मैके पुजारीकी मूर्ति बतलाते हैं, वह योगी की मूर्ति है।

सिन्धु घाटीके वासी मनुष्योंका धर्म क्या था? इस विषयमे विचार करते हुए श्री रामप्रसाद चन्दाने लिखा था—"सिन्धवासी मनुष्योंके धर्मके विषयमें सूचना प्राप्त करनेका प्रमुख उपाय मोहें-जो-दड़ो और हरप्पासे प्राप्त मोहरों (seals) का वृहत् संग्रह ह। उन मोहरों पर अंकित गूढ़ाक्षरोंको अभी तक स्पष्ट नहीं किया जा सका है और इसीसे उनका भाषान्तर भी नही हो सका है। इससे हमें केवल उनके अकार-प्रकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उन मोहरोंपर पशुओंके चित्र अंकित हैं। किन्तु इस परसे यह अनुमान करना कि सिन्धु घाटीके मनुष्योंका धर्म पशुपूजा था, या उनके देवता पशुरूप थे, बड़ा गलत होगा। जैसा कि भरहुत और साँचीके स्तूपोंका निर्माण करानेवाले बौद्ध साधुओंका धर्म वृक्षों और सर्पोंकी पूजा अनुमान कर लेना गलत है। भरहुत और साँचीके स्तूपोंका निर्माण करानेवालोंके धर्मकी रूढ़ उन बुद्धों अथवा मानवोंकी पूजा थी, जिन्होंने ध्यान, समाधि अथवा योगके द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। इसमे तो कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि सिन्धु घाटीका धर्म भी इतना ही

अभ्युन्नत था। किन्तु यह बतलानेके लिये पर्याप्त प्रमाण है कि उसने भी ठीक उसी मार्ग पर चलना आरम्भ किया था।'

इतना स्पष्ट करके श्री चन्दा आगे लिखते है—'वैदिक विधि विधानको छोड़कर योग शेष समस्त ऐतिहासिक भारतीय धर्मोंका मूल है। समस्त भारतीय सम्प्रदाय मानते हैं कि योगकी साधना के लिए आसन सर्वथा आवश्यक है। श्वेताश्वर उपनिषद् (२-८) के अनुसार छाती, सिर और गर्दनको एक सीधमें रखना योगका मूल है। भगवद्गीतामें (६-१३) इसमें इतना और जोड़ा गया है कि दृष्टिको इधर उधर न घुमाकर नाकके अग्रभाग पर रखना चाहिये। पाली और संस्कृतके बौद्ध ग्रन्थोमें लिखा है कि बुद्ध स्वयं ध्यान करते थे और दूसरोको भी पर्यङ्कासनसे ध्यान करनेका उपदेश देते थे। कालिदासने कुमारसम्भवमें (३, ४५-४७) शिवके पर्यङ्कासनसे बैठने आदिका वर्णन किया है। पतञ्जलिने योगदर्शन (२-४६) में लिखा है कि शरीरकी स्थिति सीधी और सरल होनी चाहिये। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ आदि पुराण (पर्व २१) में ध्यानका वर्णन करते हुए दृष्टिके विषयमें लिखा है कि आंख न तो एक दम खुली हुई हो और न एक दम बन्द हों। ...... तथा लिखा है कि कायोत्सर्ग और पर्यङ्क ये दो सुखासन है, इनके सिवाय शेष सब विषम आसन है। पर्यङ्कासनकी जैन परिभाषा तो बौद्धों और ब्राह्मणोंसे मिलती हुई है किन्तु कायोत्सर्ग आसन जैन है। आ० पु० के १८वे पर्वमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवके ध्यानका वर्णन इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है।'

भारतीय धर्मोंमें योगकी स्थितिका निर्देशकरके आगे पुनः श्रीचन्दा पुनः लिखते हैं—'मोहें-जो-दड़ोसे प्राप्त लाल पाषाणकी मूर्ति, जिसे पुजारीकी मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगीकी मूर्ति प्रतीत होती है। और वह मुझे इस

निष्कर्ष पर पहुँचनेके लिये प्रेरित करती है कि सिन्धुघाटीमे उस समय योगाभ्यास होता था और योगीकी मुद्रामें मूर्तियां पुजी जाती थी। मोहे जा-दड़ो और हरप्पासे प्राप्त मोहरें जिनपर मनुष्यरूपमे देवोकी आकृति अंकित है, मेरे इस निष्कर्षको प्रमाणित करती हैं।'

'सिन्धुघाटीसे प्राप्त मोहरों पर बैठी अवस्थामें अंकित देवताओंकी मूर्तियां हो योगकी मुद्रामे नही हैं किन्तु खड़ी अवस्थामें अंकित मूर्तियाॅ भी योगकी कायोत्सर्ग मुद्राको बतलाती हैं, जिसका निर्देश ऊपर किया गया है। मथुरा म्युजियममें दूसरी शतीकी, कार्योत्सगमे स्थित एक वृपभदेव जिनकी मूर्ति है। इस मूर्तिकी शैलीसे सिन्धुसे प्राप्त मोहरो पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियोंकी शैली बिल्कुल मिलती है। ... . मिश्र देशमें प्राचीन वंशोके समयकी मूर्ति निर्माणकलामें भी दोनो ओर हाथ लटकाकर खड़ी हुई छोटी मूर्तियाॅ मिलती हैं। यद्यपि ये मूर्तियां भी उसी शैलीकी हैं किन्तु सिन्धु-मोहरों पर अंकित खड़ी आकृतियोमे और कायोत्सर्गमे स्थित जिनकी मूर्तियोंमे जो विशेषताएं हैं, उनका उन मूर्तियोंमें अभाव है।''

'ऋषभ या वृषभका अर्थ होता है बैल, और ऋषभ देव तीर्थङ्करका चिन्ह बैल है। मोहर नं० ३ से ५ तकके ऊपर अंकित देव मूर्तियोके साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभका पूर्वरूप हो सकता है। शैवधर्म और जैनधर्म जैसे दार्शनिक धर्मोंके प्रारम्भको पीछे ठेल कर ताम्रयुगीन कालमे ले जाना किन्हींका अवश्य ही एक साहस पूर्ण कल्पना प्रतीत होगा। किन्तु जब एक व्यक्ति ऐतिहासिक और प्राग् ऐतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यताके बीचमें एक अगम्य झाड़ी झंखाड़ होनेकी उससे भी साहसपूर्ण कल्पना करनेके लिये तैयार है तो यह अनुमान कि सिन्धु मोहरों पर

अंकित बैठी हुई और खड़ी हुई देव मूर्तियोंकी शैलीमें घनिष्ट सादृश्य उस सुदूर कालमे योगके प्रसारको सूचित करता है, एक कामचलाऊ कल्पनाके रूपमे मानलेनेके योग्य है। और आध्यात्मिक विचार सरणी पर पहुँचे बिना योगाभ्यास करना संभव नहीं है।" (मार्डर्न रिव्यु जून १९३२ मे श्री चन्दा के लेख से)

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी 'हिन्दू सभ्यता' नामक पुस्तकमे श्री चन्दाके उक्त मतको मान्यता देते हुए लिखा है—'उन्होने (श्री चन्दाने) ६ अन्य मुहरों पर खड़ी हुई मूर्तियोंकी ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शलकृति मोहेंजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासनमे खड़े हुए देवताओंको सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियोंकी तपश्चर्यामे विशेष रूपसे मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालयमे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभ देवताकी मूर्तिमे। ऋषभका अर्थ है बैल, जो आदिनाथका लक्षण है। मुहर संख्या F. G. H. फलक दो पर अंकित देवमूर्तिमे एक बैल ही बना है, संभव है यह ऋषभका ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्मकी तरह जैनधर्मका मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धुसभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यताके बीचकी खोई हुई कड़ीका भी एक उभय-साधारण सांस्कृतिक परम्पराके रूपमे कुछ उद्धार हो जाता है।' (हि० स० २३-२४)

यह पहले लिख आये है कि सिन्धु घाटीकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे भिन्न थी। वैसे ही जैसे श्रमण परम्परा ब्राह्मण परम्परासे भिन्न है। ब्राह्मण परम्परा मूलतः ब्राह्मणोंकी परम्परा है और श्रमण परम्परा श्रमणोंकी योगियोंकी परम्परा है; क्योंकि जैन और बौद्ध साधु श्रमण कहे जाते थे और वे एक

तरहके योगी होते थे। ब्राह्मण परम्परामें तो योगका प्रवेश बहुत बादमे हुआ है।

दोनो सभ्यताओंमे भेद होते हुए भी ऋग्वैदिककालीन आर्य सिन्धु सभ्यतासे परिचित थे ऐसा मत डा० रा० मुकर्जीका है। उनका कहना है कि 'ऋग्वेदकी सामग्रीके सम्यक् पर्यालोचनसे यह ज्ञात होगा कि उसमे जो अनार्य लोगोंके और उनकी सभ्यताके उद्धरण हैं, वे सिन्धुके निवासी जनोंपर लागू हो सकते है। .. . अनार्यों अथवा भारतीय आदिम निवासियोके बारेमे ऋग्वेदमे भी बहुत सी सामग्री है। आर्येतरोंको उसमे दास, दस्यु या असुर कहा गया है।...... इसमें अनार्यसभ्यताओकी कुछ सार्थक विशेषताओका उल्लेख है जो सिन्धु सभ्यताकी सूचक और उसके सदृश हैं। उदाहरणके लिए आर्येतर लोगोको अपरिचित भाषामे बोलनेवाला (मृध्रवाक्), वैदिक कर्मोसे रहित (अकर्मन्) वैदिक देवोंके न माननेवाला (अदेवयु), श्रद्धा और धार्मिक विश्वाससे रहित (अब्रह्मन्), यज्ञोंसे शून्य (अयज्वन्), एवं व्रतोंसे रहित (अव्रत) कहा गया है वे केवल अपने नियमोंका पालन करनेवाले (अपव्रत) थे। इन नकारात्मक संकेतोंके अतिरिक्त एक निश्चयात्मक सूचना अनार्योंके विषयमें यह भी दी गई है कि वे लिंगपूजक थे (शिश्नदेवाः, ऋ० ७।२१।५; १०।९९।३।)।' (हि० स० पृ० ३२-३)। ऋग्वेदके उक्त निषेधात्मक विशेषण जो अनार्योंके लिए प्रयुक्त हुए है—वे सब यही बतलाते है कि अनार्यलोग वैदिक सभ्यताके अनुयायी नही थे।

शिश्न देवाः

ऋग्वेदके दो सूक्तोमे 'शिश्नदेवाः' शब्द आया है। इसमें से प्रथममे (७–२१–५) इन्द्रदेवसे प्रार्थनाकी गई है कि शिश्नदेव

हमारे यज्ञमे विघ्न न डालें। दूसरेमे (१०-९९-३) इन्द्रके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसने शिश्नदेवोको चालाकीसे मारकर शतद्वारो वाले दुर्गकी निधि पर कब्जा कर लिया। इससे स्पष्ट है कि शिश्नदेव वैदिक नहीं थे।

प्रायः सभी विद्वानोंने 'शिश्नदेवा.' का अर्थ शिश्नको देवता माननेवाले अर्थात् लिंगपूजक किया है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी होता है—शिश्नयुत देवताको माननेवाले, अर्थात् जो नंगे देवताओंको पूजते है। सिन्धुघाटीसे प्राप्त मूर्तियोके प्रकाशमे यही अर्थ ठीक प्रमाणित होता है। मोहेजोदड़ोसे प्राप्त योगीकी मूर्ति तो नग्न है ही, किन्तु जिसे शिवकी मूर्ति माना जाता है उसमे भी लिंग अंकित है। इस मूर्तिमें तीन देवताओको एकत्रित करनेका प्रयत्न किया गया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि मोहे-जोदड़ोके निवासियोमे लिंग सहित शिवजीको पूजनेकी प्रथा[1] थी।

उक्त शिवमूर्तिके सम्बन्धमें श्रीसतीशचन्द्र कालाने लिखा है—'सरजान मार्शलको इस मुद्रामें शिवमें लिंग नहीं दीख पड़ा। किन्तु ध्यानसे देखनेसे पता चलता है कि आकृतिके साथ उर्ध्व-लिंग भी है। संस्कृत साहित्यकी अनेक पुस्तकोमें लिखा है कि शिवमूर्तियोमें ऊर्ध्वलिंगका होना आवश्यक है। ऊर्ध्वलिंग सहित शिवजीकी अनेक मूर्तियां भारतके पूर्वीभाग विहार, उड़ीसा, तथा बंगालमे मिलती हैं। लिंग सहित शिव जीको पूजने की प्रथा शायद मोहेंजोदड़ो निवासियोको ज्ञात थी' (मा० तथा सि०, पृ० ११४)।

मोहेञ्जोदड़ोसे प्राप्त सील नं० ३ से ५ तकमें कायोत्सर्गमें अंकित आकृतियां भी, जिन्हें श्री चन्दा ऋषभका पूर्वरूप

---

१ इण्डियन कल्चर, अप्रैल १९३६, पृ० ७६७।

कहते हैं और जिनका 'पोज' मथुरा म्यूजियममे स्थित ऋषभदेव की मूर्तिसे, जो दूसरी शती की है, मिलता है, नग्न हैं। पुरुष आकृतिकी मूर्तियां प्रायः नग्न हैं और आजानुबाहु हैं, जो कायोत्सर्ग मुद्रा का एक रूप है।

भारत सरकार के पुरातत्व विभागके संयुक्त निर्देशक श्री टी० एन० रामचन्द्रनने हड़प्पासे प्राप्त दो मूर्तियोंके सम्बन्ध में लिखा[1] है—'हड़प्पाकी उपरोक्त दो मूर्तिकाओंने तो प्राचीन भारतीय कला सम्बन्धी आधुनिक मान्यताओंमें बड़ी क्रान्ति ला दी है। ये दोनो मूर्तिकाएं जो ऊंचाई में ४ इंचसे भी कम हैं, सिर हाथ पाद विहीन पुरुषाकार कवन्ध हैं। ... ये दोनों मूर्तिकाएं २४०० से २००० ईसा पूर्व की आंकी गई हैं। इनमेंसे एक मूर्ति चपल नर्तकका प्रतीक है। नर्तनकारी प्रतिमाके शिर, बाहु और जननेन्द्रिय पृथक बनाकर कबन्ध मे बनाये हुए रन्ध्रो में जोड़े हुए थे। .. . दूसरी प्रतिमा अकृत्रिम यथाजात नग्न मुद्रावाले एक सुदृढ़ काय युवा की मूर्ति है। जिसके स्नायु पुट्ठे बड़ी देख-रेख विवेक और दक्षता के साथ, जो मोहेञ्जोदड़ो की उत्कीर्ण मोहरोंकी एक स्मरणीय विशेषता है, निर्माण हुए है। नर्तनकारी प्रतिमा इतनी सजीव और नवीन है कि यह मोहेञ्जोदड़ो कालीन मूर्तिकाओके निर्जीव विधि विधानोंसे नितान्त अछूती है। यह भी नग्न मुद्राधारी मालूम होती है। इससे इस सुझाव को समर्थन मिलता है कि यह उत्तर कालीन नटराज अर्थात् नाचते शिवका प्राचीन प्रतिरूप है। .... (प्रथम नग्नमूर्ति) हड़प्पाकी मूर्तिकाके उपरोक्त गुणविशिष्ट मुद्रामे होने के कारण यदि हम उसे जैन तीर्थङ्कर अथवा ख्यातिप्राप्त तपो

१ अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ६, पृ० १५७।

महिमा युक्त जैन सन्तकी प्रतिमा कहे तो इसमें कुछ भी असत्य न होगा। यद्यपि इसके निर्माणकाल २४००–२००० ईसा पूर्वके प्रति कुछ पुरातत्त्वज्ञों द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है परन्तु इसकी स्थापत्य शलीमे कोई भी ऐसी बात नही है जो इसे मोहेञ्जोदड़ोकी मृण्मय मूर्तिकाओं एवं वहाँकी उत्कीर्ण मोहरों पर अंकित बिम्बोंसे पृथक् कर सके।'

इस प्रकार मोहेञ्जोदड़ोकी तरह हड़प्पासे प्राप्त मूर्तियाँ भी नग्न है जिनमेसे एक शिवकी मूर्ति मानी गई है और दूसरीको श्री रामचन्द्रन् जैसे पुरातत्त्वविद् ऋषभ तीर्थङ्करकी मूर्ति मानते है। उन्होने भी अपने इस लेखमे 'शिश्नदेवाः' का अर्थ नंगे देवता किया है। उन्होने लिखा है—'जब हम ऋग्वेदके काल की ओर देखते हैं तो हमे पता लगता है कि ऋग्वेद दो सूक्तोंमे 'शिश्न' शब्द द्वारा नग्न देवताओंकी ओर सकेत करता है। इन सूक्तों मे शिश्न देवो से अर्थात् नग्नदेवोसे यज्ञोकी सुरक्षाके लिये इन्द्रका आह्वान किया गया है।'

इस तरह सिन्धु सभ्यतासे प्राप्त नग्न मूर्तियोके प्रकाशमें ऋग्वेदके शिश्नदेवाःका अर्थ शिश्नयुत देव अर्थात् नंगे देव करना ही उचित जान पड़ता है। जो उनके उपासक थे वे भी उससे लिए जा सकते है। यह अर्थ लिंग पूजकोंमे और लिंगयुत नग्न देवोंके पूजकोमे समानरूपसे घटित हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अपने चिन्ह लिंग पूजाको लिए हुए शिव निश्चय ही अन-आर्य देवता है। बादमे आर्योंके द्वारा उसे अपने देवताओंमें सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु लिंग पूजाका प्रचलन आर्योंमें बहुत कालके बाद हुआ है क्योकि पतञ्जलिने अपने भाष्यमे पूजाके लिये शिवकी

प्रतिकृतिका निर्देश किया है, शिवलिंगका नहीं। तथा ह्युन्त्सांग के यात्राविवरणमें महादेवकी मूर्तिका तो वर्णन मिलता है, किन्तु लिंग पूजाका वर्णन नहीं मिलता। डा०भण्डारकरने लिखा है कि Wema-kadppise के समयमें भी लिंग पूजा अज्ञात थी ऐसा लगता है, क्योंकि उसके सिक्केके दूसरी ओर शिवकी मानव-मूर्ति अंकित है जिसके हाथमें त्रिशूल है तथा बैलका चिन्ह बना है। (शै०वै०, पृ० १६४)।

ऋषभ और शिव

मोहेञ्जोदड़ोसे प्राप्त नग्न योगीकी मूर्तिको श्रीरामप्रसाद चन्दाने संभावना रूपमें ऋषभदेवकी मूर्ति बतलाया था और इधर हड़प्पासे प्राप्त नग्न कबन्धको श्रीरामचन्द्रनने ऋषभदेवकी मूर्ति बतलाया है। दोनों स्थानोंसे शिवकी भी प्रतिकृतियाँ मिली है। और उसपर डा० राधाकुमुद मुकर्जी जैसे विद्वान्ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि यदि उक्त मूर्तियां ऋषभका ही पूर्वरूप है तो शैवधर्मकी तरह जैन धर्मका मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यताके बीचकी खोई हुई कड़ीका भी एक उभय साधारण सांस्कृतिक परम्पराके रूपमें कुछ उद्धार हो जाता है।'

डा० मुकर्जीके 'उभय साधारण सांस्कृतिक परम्परा' शब्द बड़े महत्त्वके है। 'उभय' शब्दसे यदि हम जैन धर्मके प्रवर्तक ऋषभ और शैव धर्मके आधार शिवको ले तो हमें उन दोनोंके बीचमें एक साधारण सांस्कृतिक परम्पराका रूप दृष्टिगोचर होता है और उसपरसे हमें यह कल्पना होती है कि दोनोंका मूल एक तो नहीं है? अथवा एक ही मूल पुरुष दो परम्पराओंमें दो

रूप लेकर तो अवतरित नहीं हुआ है, क्योंकि दोनोंके कुछ रूपोंमें हम आंशिक समता पाते हैं। इधर ऋषभ देवका चिन्ह बैल है, जो मोहेञ्जोदड़ोसे प्राप्त सील नं० ३ से ५ तक पर अङ्कित तथा कायोत्सर्ग मुद्रामे स्थित आकृतियोंके साथ भी बना हुआ है। उधर शिवका चिन्ह भी बैल है। इधर ऋषभ देवका निर्वाण कैलाससे माना जाता है उधर शिवको कैलासवासी माना जाता है।

डा० भण्डारकर शिवके साथ उमाके योगको उत्तरकालीन बतलाते है। उमाका नाम केन उपनिषद्मे आया है और उसे हैमवती – हिमवन्की पुत्री बतलाया है, किन्तु शिव या रुद्रकी पत्नी नहीं बतलाया है।

इस सम्बन्धमे विशेष प्रकाश डालनेके लिये हमे वेदोकी ओर जाना होगा। क्योंकि डा० राधाकृष्णन[1] जैसे मनीषीने भी यह स्वीकार किया है कि वेदोंमे ऋषभ देव आदि जैन तीर्थङ्करोंके नाम आये है।

ऋग्वेद (२–३३–१५) मे रुद्रसूक्तमें एक ऋचा है—

'एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी ।'

हे वृषभ! ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हो।

और भी एक मंत्र है—

अनर्वाणं वृषभं मंद्र जिह्वं वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः ।

आगे चलकर वैदिक रुद्र देवताने शिवका रूप ले लिया और वे पशुपति[2] कहलाये यह बात सर्वविश्रुत है। किन्तु ताण्ड्य और शतपथ ब्राह्मणमे ऋषभको पशुपति कहा है। यथा –

---

१. हि० इ० फि० जि० १,

२. चीनी यात्री हुएन्त्सांगने (ई० ७वीं शतीके मध्यमे) अपने

ऋषभो वा पशुनामधिपति (तां० ब्रा० १४-२-५)

ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः (शत० ब्रा० ५, २-५-१७)

'पशु' शब्द का अर्थ शत० ब्रा० (६-२-१-२) में इस प्रकार किया है –(अग्नि) एतान् पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम्। यदपश्यत्तस्मादेते पशवः।

अर्थात् अग्निने (प्रजापतिने) पुरुष, अश्व, गौ, भेड़, बकरी इन पॉच पशुओको देखा। (संस्कृतमे 'देखना' अर्थवाली दृश् धातुके स्थानमे 'पश्य' आदेश होता है) अतः क्योकि इनको देखा, इसलिये ये पशु कहलाये।

ब्राह्मणग्रन्थोंमे पशु शब्दके अर्थ इस प्रकार पाये जाते है—

श्रीर्वै पशवः। (तां० ब्रा०, १३-२-२)

पशवो यशः। (शत० ब्रा० १, ८-१-३८)

शान्तिः पशवः। (तां० ४-५-१८)

पशवो वै राय। (शत० ब्रा० ३, ३-१-८)

आत्मा वै पशुः (कौत्स्य ब्रा० १२-७)

अर्थात् श्री, यश, शान्ति, धन, आत्मा आदि अनेक अर्थोंमें पशु शब्दका व्यवहार वैदिक साहित्यमे हुआ है। अतः पशुपति शब्दका अर्थ हुआ—प्रजा, श्री, यश, धन आत्मा आदिका स्वामी। और ऋषभ पशुपति है।

यात्रा विवरणमे पाशुपतोंका निर्देश किया है। वह लिखता है कि कुछ स्थानोंमे महेश्वर के मन्दिर हैं जहाँ पाशुपत लोग पूजा करते हैं। बनारसमें उसने दस हजारके लगभग अनुयायी पाये जो महेश्वरको पूजते थे, अपने शरीरपर भभूत रमाते थे, नगे रहते थे, अपने बालोंको बॉधे रहते थे। (वै० शै०, पृ० १६७)।

इसी तरह महा भारत अनुशासन पर्वमें महादेवके नामोमे शिवके साथ ऋषभ नाम भी गिनाया है। यथा—

ऋषभत्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः। अ० १४,श्लो० १८।

व्रात्य

वैदिक वाङ्‌मयकी एक कठिन पहेली 'व्रात्य' भी रहा है। ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंमें (१-१६३-८, ९-१४-२ आदि) व्रात्य शब्द आया है। अतः स्पष्ट है कि 'व्रात्य' बहुत प्राचीन है। यजुर्वेद तथा तैत्ति० ब्रा० (३, ४-५-१) मे व्रात्यका नाम नरमेध की बलि सूचीमे आया है। अर्थात् नरमेधमें जिन मनुष्योका बलिदान किया जाता था उनमे व्रात्य भी थे। महाभारतमे (५-३५-४६) व्रात्योंको महापातकियोंमे गिनाया है। किन्तु अथर्ववेदमे व्रात्यका वर्णन बहुत ही प्रभावक है। अथर्वके १५वें काण्डका पहला सूक्त है—

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत्।

अर्थात्—'व्रात्य ने अपने पर्यटनमे प्रजापतिको शिक्षा और प्रेरणा दी। एक व्रात्यका प्रजापतिको शिक्षा देना अवश्य ही एक आश्चर्यजनक बात है। अत सायणने इसकी व्याख्यामे लिखा है—

'कंचिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरै ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।'

अर्थात्—यहाँ किसी विद्वानोंमे उत्तम महाधिकारी, पुण्यशील विश्वपूज्य व्रात्यको लक्ष्य करके उक्त कथन किया है, जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते थे।

अथर्ववेदका वह विद्वानोंमें उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य व्रात्य कौन है, यह आज भी अन्धकारमें है। जो व्रात्य प्रजापतिको शिक्षा दे सकता है वह अवश्य ही उक्त विषयोंका अधिकारी होनेके योग्य है। किन्तु जिस व्रात्यको वैदिक साहित्यमे संस्कारहीन, और पतित तक बतलाया गया है उसके सम्बन्धमे अथर्ववेदका उक्त कथन अवश्य ही अपनी कुछ विशेषता रखता है। इसीलिये भाष्यकार सायणको 'कंचित्' शब्द का प्रयोग करना पड़ा है क्योंकि सब व्रात्य तो इस योग्य हो नहीं सकते थे। उक्त विशेषणोमे केवल एक विशेषण ही ऐसा जो व्रात्योंके सम्बन्धमें वैदिक दृष्टिकोणका सूचक है। वह है—'कर्मपरै ब्राह्मणैर्विद्विष्ट'[1]—कर्मकाण्डी ब्राह्मण जिससे विद्वेष करते हैं।'

अथर्ववेदके १५वें काण्डके सम्बन्धमे जर्मनीके डा० हावरने लिखा है।—'ध्यानपूर्वक विवेचनके बाद मुझे स्पष्टतया विदित हो गया कि यह प्रबन्ध प्राचीन भारतके ब्राह्मणेतर आर्यधर्मको माननेवाले व्रात्योंके उस वृहत् वाङ्मयका कीमती अवशेष है जो प्रायः लुप्त हो चुका है।''

डा० हावरने व्रात्योंके सम्बन्ध में लिखा है—'अपनी पुस्तक 'देर व्रात्य' मे मैने बताया है कि 'व्रात्य' शब्द व्रातसे व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है व्रत पुण्यकार्यमे दीक्षित मनुष्य या मनुष्योका समुदाय। यह ब्राह्मणोके दीक्षितका ठीक प्रतिवाचक है, ब्राह्मणोंके यहाँ ब्राह्मणको सर्वोत्तम दीक्षित कहा गया है। इसी कारण मत परिवर्तनके बाद जब व्रात्योंने ब्राह्मण धर्म स्वीकार किया तो वे लोग ब्राह्मण वर्गमे लिये गये। व्रात्य लोग असलमें

---

१. भा० अनु०, पृ० १३।

उस विधर्मी सम्प्रदायके पूज्य व्यक्ति थे जिसका प्रधान देवता रुद्र था। शुरूमें ये लोग अद्भुत वेशवाली टोलियोमे घूमनेवाले धर्म-गुरू और जादूगर थे, जिनकी कई श्रेणियां थी और अपना एक अलग ही पवित्र ज्ञान था, और बाद मे एकाकी योगी, सिद्ध, जो अपने गुप्त ज्ञान और पवित्र अनुष्ठानोका खजाना लिये देशमे घूमते फिरते।"

डा० हावरने व्रात्योको रुद्रका अनुयायी बतलाया है। वियना ओरियन्टल जर्नल (जि० २५, पृ० ३५५-३६८) मे पॉल चारपेन्टर (Paul Carpentier) ने भी व्रात्योंको आधुनिक शैवोका पूर्वज तथा अथर्ववेदके उक्त व्रात्यको रुद्र शिव बतलाया था, किन्तु ए० बी० कीथने (ज० ए० ए० सो० १९२१) बड़ी ही योग्यतासे उनकी मान्यताका निराकरण कर दिया। मि० चारपेन्टर के मतका निराकरण करते हुए मि० कीथने लिखा है—अथर्व-काण्ड १५से[1] भी इस बातका समर्थन नहीं होता कि व्रात्य रुद्र शिव

---

१. अथर्ववेद काण्ड १५के पहले सूक्तमे व्रात्याका वर्णन इस प्रकार आरम्भ होता है—

१—व्रात्य घूम रहा था, उसने प्रजापतिको प्रेरित किया।

२—उसने प्रजापति रूपमे सुवर्णको अपनेमे देखा। उसे जना।

३—वह एक हो गया, वह माथेका ललाम हो गया। वह महत् हुआ, वह ज्येष्ठ हुआ, ब्रह्म हुआ, सृजनेवाली गर्मी तप) हुआ और इस प्रकार प्रकट हुआ।

४—वह उद्दीप्त हो उठा, वह महान हो गया, महादेव बन गया।

५—वह देवताओके ईश्वरत्वको लांघ गया, ईशान हो गया।

(भा० अनु० पृ० १४)

था। इसमें सन्देह नहीं कि अथर्ववेद काण्ड १५ का वर्णन व्रात्यसे सम्बद्ध है। किन्तु उसमें मुझे यह कहीं नहीं मिला कि व्रात्य रुद्र शिव है। अथर्वका उक्त अंश ब्राह्मण शैलीमें है और वह बादका रचा हुआ प्रतीत होता है। उसमे व्रात्यकी प्रशंसा है, किन्तु अथर्वमे इस प्रकारके धार्मिक सिद्धान्तोका पाया जाना साधारण बात है, और वे बतलाते हैं कि 'व्रात्य' के पीछे एक महान देवका रूप अन्तर्निहित है। अथर्व इतना ही बतलाता है कि व्रात्य महा-देव और ईशान हो गया, किन्तु १५-५-१ मे भाव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, ईशान और रुद्रको उसका सेवक बतलाया है। यह सब उसकी लौकिक सामर्थ्यको बतलाते हैं किन्तु उसके मूल स्वरूपको प्रमाणित नहीं करते।'

अथर्व० का० १५, के दूसरे सूक्तमें एक वाक्यांश इस प्रकार है—'सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्' इस वाक्यमे सुवर्णके स्थानमे 'हिरण्य गर्भ' बदलकर शेष सम्पूर्ण वाक्य लगभग इसी रूप में व्रात्य अनुश्रुतिसे सम्बद्ध श्वेता० उप० (३-४-२) मे इस प्रकार दुहराया है—'यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।'

यहाँ 'हिरण्य गर्भ' शब्द उल्लेखनीय है। इसके सम्बन्धमें हम आगे लिखेंगे। यहाँ यह शङ्का होती है कि क्या हिरण्य-गर्भका व्रात्यके साथ सम्बन्ध है। यदि है जैसा कि लगता है तो फिर यह व्रात्य हिरण्यगर्भ कौन व्यक्ति था—जैन शास्त्रोंमे तो ऋषभ देवको हिरण्यगर्भ कहा है और उनके शरीरका वर्ण सुवर्णके समान बतलाया है। अथर्व (१९-४२-४) में भी ऋषभ देवके सम्बन्धमें एक मंत्र आया है।

ब्राह्मण ग्रन्थोंमे ऐसे निर्देश नहीं मिलते जिनके आधारपर

व्रात्योंकी जन्मभूमिका निश्चय किया जा सके। तथापि अथर्ववेदमें मागधोंका व्रात्योंके साथ निकट सम्बन्ध बतलाया है। अतः व्रात्यों-को मगधका वासी माना जाता है। तथा वैदिक साहित्यके उल्लेखोंके अनुसार व्रात्य लोग न तो ब्राह्मणोंके क्रिया काण्डको मानते थे, न खेती और व्यापार करते थे। अतः न वे ब्राह्मण थे और न वैश्य। किन्तु योद्धा थे—धनुषवाण रखते थे।

मनुस्मृति (अ० १०) मे लिच्छवियोंको व्रात्य बतलाया है। सातवीं-छठी शताब्दी ईस्वीपूर्वमें विदेहके पड़ोसमें वैशाली गणतंत्र था—जो लिच्छवियोंका था। इनके गणका नाम वृजि या वज्जिगण था। ये लिच्छवि लोग क्षत्रिय थे और मगध देशके निकट बसते थे। अन्तिम जैन तीर्थङ्कर भगवान महावीरकी माता लिच्छवि गणतंत्रके प्रमुख जैन राजा चेटककी पुत्री थी। बुद्धने लिच्छवियों और उनके वज्जिगणकी बड़ी प्रशंसा की है। महापरिनिब्बाण सुत्तसे पता चलता है कि उन वज्जियोंके अपने चैत्य थे और अपने अर्हत् थे। उन अर्हतों और चैत्योंके अनुयायी व्रात्य कहलाते थे। (भा० इ० रू०, पृ० ३४९ का पाद टिप्पण)।

इस तरह व्रात्योंको मगधका वासी और लिच्छवियोंका व्रात्य बतलानेसे तो व्रात्य लोग क्षत्रिय और जैनों के पूर्वज प्रतीत होते हैं।

श्री का० प्र० जायसवालने (मार्डर्न रिव्यु १९२९, पृ० ४९९) लिखा है—'लिच्छवि पाटलीपुत्रके 'अपोजिट' मुजफ्फरपुर जिलेमें राज्य करते थे। वे व्रात्य अर्थात् अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतंत्र राज्यके स्वामी थे। उनके अपने पूजा स्थान थे, उनकी अवैदिक पूजाविधि थी, उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्मके आश्रदाता थे। उनमे महावीर का जन्म हुआ। मनुने उन्हें पतित बतलाया है।'

व्रात्योंकी ओर सबसे प्रथम जिस विदेशी विद्वान्का ध्यान आकृष्ट हुआ वह थे श्री वेबर। वेबरका मत था कि व्रात्य बौद्ध धर्म जैसे किसी अब्राह्मण धर्मके अनुयायी थे। किन्तु वैदिक साहित्य और बौद्ध धर्मके उद्गम कालके बीचमें सुदीर्घ कालका अन्तराल होनेसे व्रात्योंका सम्बन्ध बौद्धधर्मके साथ नहीं माना जा सकता था। तथा उस समय तक जैनधर्मके स्वतंत्र अस्तित्वमें ही कतिपय विद्वानोंको सन्देह था जिनमें स्वयं वेबर भी थे। अतः वेबरकी उक्त मान्यताको प्रश्रय नहीं मिला। किन्तु आज जैनधर्मका न केवल स्वतंत्र अस्तित्व ही प्रमाणित हो चुका है किन्तु बौद्ध-धर्मसे प्राचीन भी मान लिया गया है और इस तरह भारतके ऐतिहासिक कालके आरम्भ तक उसका अस्तित्व जाता है। तथा मोहेंजोदड़ोसे प्राप्त सीलोंपर अंकित कायोत्सर्गमें स्थित नग्न आकृति यदि ऋषभ देवकी प्रमाणित होती है तब तो जैनधर्मकी प्राचीनता सिन्धु सभ्यता तक चली जाती है। उक्त स्थितिमें वेबरका मत ही सत्यके अधिक निकट प्रतीत होता है क्योंकि बौद्धधर्म जैसा अब्राह्मण धर्म जैनधर्म ही हो सकता है। और अथर्व का० १५ के प्रथम सूक्तके भाष्यमें सायणके द्वारा व्रात्यके लिये प्रयुक्त 'कर्मपरैः ब्राह्मणैर्विद्विष्ट'—कर्मकाण्डी ब्राह्मण जिससे द्वेष करते हैं, विशेषण भी जैनधर्मके पुरस्कर्ता और अनुयायी के लिये सुसंगत बैठता है। अस्तु,

'व्रात्य' शब्द व्रत या व्रातसे बना है। जैन धर्ममें व्रतोंका जो महत्व है वह आज भी किसी ब्राह्मणेतर धर्ममें नहीं है। तथा व्रात्यका अर्थ घुमक्कड़ होता है। अर्थात् जो एक जगह स्थिर होकर न रहता हो। 'वज्जि' शब्द भी व्रज या 'वर्ज्' धातुसे बना प्रतीत होता है। व्रजका अर्थ चलना है और 'वर्ज्' का अर्थ है

त्यागना। अतः व्रात और व्रज का अर्थ समान है तथा व्रत और वर्जका अर्थ समान् है। व्रतका मतलब ही त्याग है जो वर्जका भी मतलब है। तथा व्रातका मतलब है घुमक्कड़ और व्रजका चलना। व्रजसे ही 'परिव्राजक' शब्द बना, जो साधुके अर्थमें व्यवहृत हुआ।

डा० हावरने[1] लिखा है – 'अथर्व० का० १५, सूक्त १०–१३ मे लौकिक व्रात्यको अतिथिके रूपमे देशमें घूमते हुए तथा राजन्यों और जन साधारणके घरोंमें जाते हुए दिखलाया गया है। तुलनासे यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरनेवाला साधु ही है जो पूर्वकालमें पुरोहित या जादूगर होता और बादमें सिद्ध, जो अपने साथ अलौकिक बातोंका गुप्त ज्ञान लाता और अपना स्वागत करनेवालोंको आसीस देता। ऋग्वेद और अन्य धर्मोंसे तुलना करनेपर मालूम पड़ता है कि यह आर्यावर्त और यूरोप (?) की उभयनिष्ठ संस्था थी, और प्राचीन भारतमे व्रात्य लोग उसके ब्राह्मणेतर प्रतिनिधि थे। वह जहाँ जाता उसकी आवभगत बड़ी श्रद्धा भक्तिसे होती। और व्रात्य देवताकी तरह, जिसका कि वह प्रतिनिधि है (१३-८-९) उसका स्वागत किया जाता। इस आतिथ्यका बड़ा माहात्म्य है। यदि वह किसी घरमें एक रात ठहरे तो गृही पृथ्वीके सब पुण्य लोकोंको पा जाता है। दूसरे दिन ठहरे तो अन्तरीक्षके, तीसरे दिन द्यु के, चौथे दिन पुण्यके पुण्य लोकोंको तथा पाँचवें दिन अपरिमित पुण्य लोकोंको। ...... १२ वें सूक्तके आरम्भमें पता चलता है कि अतिथि अब घूमते धर्मगुरु और जादूगरके रूपमें पहले व्रात्यों

---

१. भा० अनु०, पृ० १९।

वाली सजधज और मण्डलीके साथ नहीं आता। अब तो यह 'एवं विद्वान् व्रात्यः' है जिसके ज्ञानने अब पुराने कर्मकाण्डकी जगह ले ली है। प्राचीन भारतमें एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसपर यह बात घट सकती है। वह है पारिव्राजक योगी या संन्यासी। योगियो-संन्यासियोंका सबसे पुराना नमूना व्रात्य है।'

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि व्रात्य भ्रमणशील साधु थे। अतः प्राचीन व्रात्य लोग यदि उत्तर कालमे 'वज्जि' कहे जाने लगे हो तो कोई आश्चर्य नही है।

ऊपर लिखा है कि व्रात्य शब्द व्रत या व्रातसे बना है। अथर्व का० १५ के सूक्त २-७ में विश्वपुरुष व्रात्यके भ्रमण और कर्म-काण्डका वर्णन है। उनमे प्रधान महाव्रत है जैनोंमे आज भी साधुओंके व्रतोमें महाव्रत ही प्रधान हैं।

उक्त काण्डके पहले सूक्तमे आदि देवको व्रात्य कहा है। तथा तीसरे सूक्तमे विश्व व्रात्य पूरे एक वर्ष सीधा खड़ा रहता है। जैनोंमे ऋषभ देवको आदिदेव कहा जाता है क्योंकि वह प्रथम तीर्थङ्कर थे। तथा प्रव्रज्या ग्रहण करनेके पश्चात् छै मास तक वे कायोत्सर्ग रूपमे सीधे खड़े रहे थे और छै मास तक आहारके लिये भटकते फिरे थे। इस तरह एक वर्ष उन्हें एक तरहसे खड़ा ही रहना पड़ा था। हम नहीं कह सकते कि इस सबमे कितना तथ्य है, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं, कि अथर्ववेदका १५वां काण्ड आज भी वैदिकवाङ्मयकी सबसे कठिन पहेली बना हुआ है। और व्रात्योकी स्थितिका नये सिरेसे अध्ययन होनेकी आवश्यकता है।

हिरण्यगर्भ और ऋषभदेव

ऋग्वेद मं० १०, सू० १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है —

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

इसमें बतलाया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वह प्राणीमात्रके एक स्वामी थे। उन्होंने आकाश सहित पृथ्वीका धारण किया। हम हविके द्वारा किस देवकी आराधना करें।

सायणने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—

'हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूत· प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। तथा च तैत्तिरीयकं—प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपाय (तै० स० ५-५-१-२)। यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत् मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः साकाशात् समजायत।·······सर्वस्य जगतः परीश्वर आसीत् ·······।'

तैत्तिरीय संहिता में हिरण्यगर्भका अर्थ प्रजापति किया है। अतः आचार्य सायण उसीके अनुसार हिरण्यगर्भकी व्युत्पत्ति करते हैं—'हिरण्यमय अण्डेका गर्भभूत' अथवा जिसके उदरमें हिरण्यमय अण्डा गर्भकी तरह रहता है। वह हिरण्यगर्भ प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पहले सृष्टिरचनाके इच्छुक परमात्मासे उत्पन्न हुआ।'

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सायण पन्द्रहवीं विक्रमशतीके विद्वान् हैं, उस समय तक प्रजापति ब्रह्मा बन चुके थे और सृष्टि रचनाकी पौराणिक प्रक्रिया प्रचलित हो चुकी थी।

अतः ऋग्वेदका यह हिरण्यगर्भ वास्तवमें कौन है यह अभी तक भी स्पष्ट नहीं हो सका है। मि० वालिस (wallis) का कहना है कि हिरण्यगर्भ शब्द लाक्षणिक है, यह विश्वकी महान् शक्तिको सूचित करता है जिससे सब उत्पन्न हुए। यह एक विचार है जो उत्तरकालीन ब्रह्माकी कल्पनाके अतिनिकट है (हि० ग्री० इं०, पृ० ३५)।

विक्रमकी नौवीं शतीके जैनाचार्य जिनसेनने—जिन्होंने ऋषभ देवका विस्तृत चरित 'महापुराण' लिखा है, ऋषभ देवको हिरण्य-गर्भ[1] कहा है। जैन मान्यताके अनुसार जब ऋषभदेव गर्भमें आये तो आकाशसे स्वर्णकी वर्षा हुई। इसीसे वे 'हिरण्यगर्भ' कहलाये।

योग के जनक हिरण्यगर्भ

जैन महापुराण तथा श्रीमद्भागवत् के अनुसार ऋषभ देव बड़े भारी योगी थे। जैन पुराण तो उन्हे ही योग मार्गका आद्य प्रवर्तक बतलाते हैं। उन्होंने ही सर्व प्रथम राज्यको त्यागकर बनका मार्ग लिया था। मोहेंजोदड़ोसे प्राप्तमूर्ति भी, जिसके ऋषभ देवका पूर्वरूप होने की संभावना की जाती है—योगकी मुद्रा में है।

---

१. सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥पर्व १२,९५॥
"गब्भट्ठिअस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकंचणा पडिया।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो।"
(पउम० ३, ६८)

उधर महाभारत शान्ति०, अ० ३४९ में हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता बतलाया है। यथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् हिरण्यगर्भ योगमार्गके प्रवर्तक हैं अन्य कोई उनसे पुरातन नहीं हैं। तो क्या ऋषभदेव और हिरण्यगर्भ कहीं एक ही व्यक्ति तो नहीं है, इधर जैन शास्त्र ऋषभदेवका काल बहुत प्राचीन बतलाते हैं तो उधर ऋग्वेद 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' लिखकर हिरण्यगर्भकी प्राचीनताको सूचित करता है। 'हिरण्यगर्भः' शब्द लाक्षणिक होते हुए भी किसी व्यक्ति का सूचक है यह बात ऋग्वेदके 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' पदसे व्यक्त होती है।

हिन्दू पुराणों में ऋषभदेव

नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में आती है। मार्कण्डेय पु० अ० ५०, कूर्म पु०अ०४१ अग्नि पु०अ०१०, वायु पुराण अ० ३३, गरुण पु० अ० १, ब्रह्माण्ड पु०अ० १४, वाराह पु० अ० ७४, लिंग पुराण अ० ४७, विष्णु पु० २, अ० १, और स्कन्द पु० कुमारखण्ड अ० ३७, में ऋषभदेवका वर्णन आया है। इन सभीमे ऋषभको नाभि और मरु देवीका पुत्र बतलाया है। ऋषभसे सौ पुत्र उत्पन्न हुये। उनमेंसे बड़े पुत्र भरतको राज्य देकर ऋषभने प्रव्रज्या ग्रहण करली। इस भरतसे ही इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा। यथा—

नाभिस्त्वजनयत पुत्रं मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।

उक्त श्लोक थोड़ेसे शब्द भेदके साथ प्रायः उक्त सभी पुराणोंमें पाये जाते हैं। प्राय. सभी हिन्दू पुराण इस विषयमें एकमत हैं कि ऋषभ पुत्र भरतके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा, न कि दुष्यन्त पुत्र भरतके नामसे। हिन्दू पुराणोंका यह ऐकमत्य निस्सन्देह उल्लेखनीय है।

श्रीमद्भागवतमें तो ऋषभावतारका पूरा वर्णन है और उन्हींके उपदेशसे जैनधर्मकी उत्पत्ति भी बतलाई है। डा० आर· जी० भण्डारकर[1] के मतानुसार '२५० ई० के लगभग पुराणोंका पुनर्निमाण होना आरम्भ हुआ और गुप्तकाल तक यह क्रम जारी रहा। इस कालमें समय-समयपर नये पुराण भी रचे गये।'

इस तरह उपलब्ध पुराण प्रायः गुप्तकालकी कृतियाँ हैं और उनमे वर्णित प्राग् ऐतिहासिक कालीन घटनाओंको तथ्यके रूपमें स्वीकार कर सकना यद्यपि संभव नहीं है, फिर भी भारतके अनेक प्राचीन वंशों और अनुश्रुतियोंका संरक्षण उन्हींके कारण हो सका है और भारतीय इतिहासकी त्रुटित शृङ्खलाओंको जोड़नेमें भी पुराणोंका साहाय्य कम नहीं रहा है। इसलिये पुराणोमें चर्चित विषयोको कोरी गप्प कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। उनमें भी आंशिक तथ्योंकी संभावना है। अतः अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि ऋषभदेव, उनके माता पिता तथा

---

1 A peep into early Indian history, (भण्डारकर लेख संग्रह जिल्द १, पृ० ५६)

पुत्रोंके सम्बन्धमें एक ऐसी अनुश्रुति चली आती थी जिसे लेकर हिन्दू और जैन पुराणकारों तकमें प्रायः मतभेद नहीं था।

यह कहा जा सकता है कि हिन्दू पुराणोंमे वर्णित ऋषभदेवके वर्णनको ही पुराणकारोंने अपना लिया। किन्तु विचार करनेपर यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता। यह पहले लिख आये हैं कि ऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होनेकी मान्यता ईस्वी सन् से भी पूर्वमें प्रवर्तित थी, इतना ही नहीं, ऋषभदेवकी मूर्तिकी पूजा जैन लोग करते थे यह बात खारवेलके शिलालेख तथा मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे प्रमाणित हो चुकी है। तथा हिन्दू पुराणोंसे भी पूर्वके जैन ग्रन्थोंमें ऋषभदेवका चरित वर्णित है।

इसके सिवाय श्रीभागवतमे ऋषभदेवका वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि वातरशन (नग्न) श्रमणोंके धर्मका उपदश करनेके लिये उनका जन्म हुआ। यथा—

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवाववतार ॥ २० ॥ स्क० ५, अ० ३।

उक्त नग्न श्रमणोंके धर्मसे स्पष्ट ही जैन धर्मका अभिप्राय है क्योंकि आगे भागवत्कारने ऋषभदेवके उपदेशसे ही आर्हत धर्म (जैन धर्मका पुराना नाम) की उत्पत्ति बतलाई है। उसमे लिखा है—

'भगवान ऋषभके आचरणोंका वृत्तान्त सुनकर कोंक, बेंक, कुटक देशोंका अर्हत् नाम राजा भी वैसे ही आचरण करने लगेगा और वह मति मन्द भवितव्यतासे मोहित होकर कलि

युगमें जब अधर्मकी उन्नति होगी, उस समय निर्भय सनातन धर्मके मार्गको त्यागकर अपनी बुद्धिसे पाखण्डमय कुमार्ग चलावेगा। इस अधर्म प्रवर्तक राजाके पीछे कलियुगके मन्दबुद्धि मनुष्यगण ईश्वरकी मायामें मोहित होकर अपने अपने शौच आचारको त्यागकर देवतोंका तिरस्कार करेंगे एवं स्नान न करना, आचमन न करना, अशौच रहना, केशलोच करना आदि विपरीत व्रतोंको अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार ग्रहण करेंगे। जिसमें अधर्म बहुत होता है ऐसे कलियुगमें इस प्रकारके लोग नष्टबुद्धि होकर प्रायः सर्वदा वेद, ब्राह्मण यज्ञ और हरिभक्तोंको दूषित कर हँसेंगे। वे लोग अन्यपरम्परा सदृश वेदविधिवहिष्कृत उक्त प्रकारकी मनमानी प्रवृत्ति करके अपने कर्मोंसे घोर नरकमें गिरेंगे। हे राजन्! भगवानका यह ऋषभावतार एक प्रकारसे उक्त अनर्थका कारण होनेपर भी रजोगुणमे आसक्त व्यक्तियोंको मोक्षमार्ग सिखलानेके लिये परम आवश्यक था। (भागवत भाषा, स्क० ५, अ० ६)

उक्त सब वर्णन जैनोंको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। हाँ, अर्हन् नामके राजाकी कल्पना मन गढन्त है, अर्हत् जीवन्मुक्त दशाका नाम है। उस अवस्थामे पहुंचनेपर ही तीर्थङ्कर धर्मोपदेश करते हैं। शायद भ्रमसे उसीको राजा मान लिया है।

उक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि जैन धर्म और उसके अनुयायिओंके प्रति भागवत्कारका अभिप्राय यद्यपि रोषपूर्ण है तथापि ऋषभदेवके प्रति ऐसी बात नहीं है। उनके लिये तो उन्होंने अत्यन्त आदर ही व्यक्त किया है और लिखा है—'जन्महीन ऋषभदेव जीका अनुकरण करना तो दूर रहा, अनुकरण करनेका मनोरथ भी कोई अन्य योगी नहीं कर सकता; क्योंकि

जिस योगबल (सिद्धियों) को ऋषभजीने असार समझकर नहीं गृहण किया और-और योगी लोग उसीके पानेकी अनेक चेष्टाएँ करते है ॥ हे राजन् ! ऋषभदेव जी लोक, वेद, देवता, ब्राह्मण, गौ आदि सब पूजनीयोके पूजनीय परम गुरु हैं ॥ (स्क० ५, अ० ६)

ऋषभदेव जीमे इतनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करनेका एक ही कारण हो सकता है कि उन्हे विष्णुके अवतारोमें माना गया है। किन्तु विष्णुके दस अवतारोमें ऋषभदेवकी गणना नहीं है जब कि बुद्ध की गणना है। हॉ, चौबीस अवतारोमे ऋषभदेवको अवश्य स्थान दिया है।

विष्णुके अवतार

पुराणोंके अवलोकनसे विष्णुके अवतारोंमें भी एकरूपता दृष्टिगोचर नही होती। विभिन्न ग्रन्थकारोने विभिन्न प्रकारसे उनका उल्लेख किया है। महाभारत शान्तिपर्वके नारायणीय भागमे छै अवतार गिनाये हैं—वराह, नरसिह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। कुछ अन्तर देकर इसीके बाद अवतारोकी संख्या दस बतलाई है, उसमे हस, कूर्म और मत्स्यको उक्त छै अवतारोंके आदिमे रखा है और अन्तमें कल्किको रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब अवतारोकी संख्या दस निश्चित हो गई तो अन्तिम अंश उसमे जोड़ दिया गया, ऐसा आर० भण्डारकरका अभिप्राय है (वै० शै०, पृ० ४६)

हरिवंशमें उक्त छै अवतारोका ही निर्देश है। वायु पुराणमें दो स्थलोंमे अवतारोंका निर्देश किया है। अ० ९७ मे उनकी संख्या

बारह बतलाई है और अ० ६८ मे दस अवतार ही बतलाये हैं। जिनमे छै तो पूर्वोक्त है उनमे चार नाम और जोड़े गये है—दत्तात्रेय, एकका नाम न देकर केवल पांचवाँ लिखा है, वेदव्यास और कल्कि। वराह पुराणमें दस अवतार बतलाये हैं उक्त छै तथा मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि। बादमे ये ही दस अवतार माने गये। अग्नि पुराणमे भी ये ही दस अवतार बतलाये है।

भागवत पुरमे तीन स्थलोंमें अवतारोंका निर्देश किया है—प्रथम स्कन्धके तीसरे अध्यायमे उनकी संख्या बाईस है, दूसरे स्कन्धके सातवे अध्यायमें उनकी संख्या २३ है और स्कन्ध ११ के चौथे अध्यायमें १६ अवतार बतलाये हैं।

बाईस अवतारोका क्रम इस प्रकार गिनाया है—प्रथम सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार अवतार लेकर अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन किया। दूसरी बार पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये वाराह अवतार लिया। तीसरी बार नारद अवतार लिया। चौथी बार नरनारायण अवतार लिया। पाँचवीं बार कपिल अवतार लेकर आसुरिको सांख्य शास्त्रका उपदेश दिया। छठी बार दत्तात्रेय होकर आत्मविद्याका उपदेश दिया। सातवीं बार यज्ञ नामसे अवतार लिया। आठवीं बार नाभि राजाकी मरुदेवी नामक स्त्रीमे ऋषभ अवतार लिया और सब आश्रम जिसको नमस्कार करते हैं ऐसे परमहंस धर्मका उपदेश किया। नौवीं बार राजा पृथुके रूपसे अवतार लिया। दसवीं बार मत्स्यावतार लेकर पृथ्वीकी रक्षाकी। ११ वीं बार कच्छप अवतार लिया। १२ वां धन्व-तरि अवतार लिया। तेरहवाँ मोहिनी रूप धारण करके देवतोको अमृत पिलाया। १४ वां नृसिंह अवतार, १५ वा वामन अवतार, १६ वां परशुराम, १७ वां व्यास, १८ राम, १९ और बीसवां

कृष्ण बलदेव। फिर कलियुगके आरम्भमे जिनसुत बुद्ध होगे, फिर कलियुगके अन्तमे कल्कि होगे।

इस प्रकार अवतारोकी सबसे अधिक सख्या भागवत पुराणमे है। इसमे उक्त प्रसिद्ध दस अवतारोमेसे वराह अवतारका दूसरा, मत्स्यावतारका दसवॉ, कच्छपका ग्यारहवॉ, नृसिहका चौदहवा, वामनका १५ वा, परशुरामका १६ वा, रामका १८ वा और कृष्णका १९ वा तथा बुद्ध और कल्किका २१ वा और बाईसवा नम्बर हैं। इन बाईस अवतारोमें दो तीन अवतार ऐसे भी है, जो वेद विरोधी धर्मके प्रवर्तक माने जाते हैं। उनमे सबसे पहला और क्रमानुसार पॉचवा अवतार कपिलका है जिसने साख्य-शास्त्रका उपदेश दिया। और आठवा ऋषभदेवका है, जिन्हे जैन धर्ममें आद्यतीर्थङ्कर माना गया है तथा २१ वा अवतार बुद्धका है जिन्होने बौद्धधर्मकी स्थापना की। किन्तु कृष्णको छोड़कर— क्योकि वह तो स्वय विष्णु थे, प्राय अन्य सब अवतारोमे ऋषभावतारके प्रति विशिष्ट आदर प्रदर्शित किया गया है और उन्हे योगी बतलाया है। किन्तु विष्णुका अवतार बतलाते हुए उन्हे यज्ञ और ब्राह्मणोकी कृपाका ही फल बतलाया है। ऋषभावतारका वर्णन करते हुए लिखा है—

भागवतमें ऋषभ चरित

शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! अग्नीध्रके पुत्र नाभिने सन्तानकी कामनासे मेरुदेवी नाम अपनी पुत्रहीन रानी सहित एकाग्र चित्तसे यज्ञके अनुष्ठान द्वारा भगवान यज्ञ पुरुषकी आराधना की। यद्यपि भगवान् विष्णुको कोई सहजमे नहीं पा सकता। किन्तु भगवान् तो भक्तवत्सल हैं। अत एव जब नाभिके यज्ञमे

'प्रवर्ग्य' कर्मोंका अनुष्ठान होने लगा तब अपने भक्त नाभिकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये भक्त परवश एवं स्वतंत्र भगवान् विष्णुजी प्रकट हुए। ऋत्विज, सदस्य और यजमान सभी उस मूर्तिको देखकर आनन्दसे उठ खड़े हुए और सम्मान पूर्वक सिर झुकाकर पूजन करके कहने लगे (इसके आगे विष्णुकी प्रशंसा है)—भगवन् यह राजर्षि नाभि पुत्रको ही परमार्थ मानकर आपसे आपके ही समान गुण शीलवाला पुत्र माँगते हैं॥ भरत खण्डके स्वामी राजा नाभि जिनके चरणोंमें प्रणाम करते हैं उन ऋत्विज ऋषियो ने इस प्रकार स्तुति करके भगवानके चरणोमे प्रणाम किया। तब भगवान् बोले—'हे ऋषिगण! तुम्हारे वाक्य कभी निष्फल नहीं हो सकते। किन्तु तुमने हमसे जो वर मांगा है वह बड़ा ही दुर्लभ है। राजा नाभिके मेरे ही समान स्वभाव और गुणवाला पुत्र उत्पन्न हो, यही तो तुम्हारी प्रार्थना है? यह तो बहुत ही दुर्लभ है। मेरे समान तो कोई नहीं है, मैं अद्वितीय हूँ, मै ही अपने सदृश हूँ। अस्तु, कुछ भी हो, ब्राह्मणो-का वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता, क्योकि द्विजोमे देवतुल्य पूजनीय विद्वान् ब्राह्मण मेरा ही मुख है॥ अच्छा है, मैं ही अपनी अशंकलासे नाभिके यहाँ जन्म लूँगा; क्योंकि मुझको मेरे समान कोई दूसरा नहीं देख पड़ता।' यह कह कर भगवान अन्तर्धान हो गये। तब परमहंस, तपस्वी, ज्ञानी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोगोंको धर्म दिखानेके लिये नाभि राजाके अन्तःपुरमें उनकी रानी मेरुदेवीके गर्भसे भगवान्ने सत्त्वमूर्ति ऋषभदेव जीके रूपसे जन्म लिया (भा० पु०, स्क० ५, अ० ३)।

उक्त विवरणसे स्पष्ट है कि ऋषभदेव जीकी उत्पत्तिको भी यज्ञ और ब्राह्मणोंकी कृपाका फल तथा विष्णुका प्रसाद बतलानेके साथ-साथ विष्णुको सर्वोपरि देवता ठहराना ही उक्त कथनका

लक्ष्य है। भागवतमें कपिलको भी विष्णुका अवतार माना है। किन्तु चूंकि कपिलके पिता ऋषि थे, अतः उन्हें नाभिकी तरह यज्ञ करके ब्राह्मणोंके द्वारा विष्णुसे सिफारिश नहीं करानी पड़ी। उन्होंने अपनी पत्नीसे कह दिया कि तेरे गर्भसे भगवान अवतार लेंगे। बस, भगवानको अवतार लेना पड़ा। ब्राह्मणका वचन झूठा कैसे हो सकता है ?

कपिल ऋषि और ऋषभदेवके मुखसे जो उपदेश कराया गया है उसमे भेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि कपिल सांख्य शास्त्रके उपदेष्टा थे और ऋषभदेव परमहंस (जैन) धर्मके फिर भी जहाँ तक भगवद्भक्तिकी बात है, दोनोंके द्वारा उसका समर्थन ही नहीं, प्ररूपण भी कराया गया है। किन्तु ऋषभदेवकी अपेक्षा कपिलके द्वारा भक्तिका प्ररूपण विशेष जोरदार है और ऐसा होना उचित ही है क्योंकि कपिलके सांख्य दर्शनको गीतामे स्थान प्राप्त है।

परन्तु ब्राह्मणोंकी प्रशंसा ऋषभदेवके मुखसे भी खूब कराई गई है। लिखा है— इस प्रकार ब्राह्मणोंको सर्वपूज्य जानकर उनका योग्य सम्मान तो करना ही, किन्तु स्थावर और जंगम—दोनों प्रकारके प्राणियोंको मेरे रहनेका स्थान जानकर किसीसे बैर न करना, किसीका जी न दुखाना, हर एक समय उनका आदर करना और शुभ चिन्तक रहना, यही मेरी सबसे बढ़कर पूजा है।'

इस वाक्यमे ब्राह्मण पूजाके साथ वासुदेव भक्ति और अहिंसा धर्मकी खिचड़ी पकाई गई है। जैनधर्ममे त्रस और स्थावर जीवोंकी मन, वचन कामसे रक्षा करनेका विधान है।

अन्तमें ऋषभदेव जी कर्मोंसे निवृत्त महामुनियोंको भक्ति-

ज्ञान-वैराग्यमय परमहंस धर्मकी शिक्षा देनेके लिए शरीरके सिवा सब त्यागकर नंगे, बाल खुले हुए, ब्रह्मावर्तसे चल देते हैं। राहमें कोई टोकता है तो मौन रहते हैं। लोग उन्हें सताते हैं पर वह उससे विचलित नहीं होते। मैं और मेरेके अभिमानसे दूर है। परमरूपवान् होते हुए भी अवधूतकी तरह एकाकी विचरण करते हैं। देहभरमें धूल भरी है असंस्कारके कारण बाल उलझ गये है।

"इस प्रकार भगवान ऋषभजीने योगियोंके करने योग्य आचरण दिखलानेके लिये ही अनेक योगचर्याओंका आचरण किया, क्योंकि वह स्वयं भगवान् मोक्षके स्वामी एवं परममहन् थे। उनको बिना चाहे आकाशमें उड़ना, मनके समान सर्वत्र गति, अन्तर्धान, परकायप्रवेश और दूरदर्शन आदि सिद्धियाँ प्राप्त थी किन्तु उनको उनकी कुछ भी चाह नहीं थी॥ इस तरह भगवान् ऋषभदेव लोकपाल शिरोमणि होकर भी सब ऐश्वर्योंको तृणतुल्य त्यागकर अकेले अवधूतोकी भाँति आचरण धारणकर विचारने लगे। देखनेसे वह एक सिड़ी जान पड़ते थे, सिवा ज्ञानियोंके मूढ़जन उनके प्रभाव और ऐश्वर्यका अनुभव नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे जीवन्मुक्त थे तो भी योगियोंको किस प्रकार शरीरका त्याग करना चाहिये, इसकी शिक्षा देनेके लिये उन्होंने अपना स्थूल शरीर त्यागनेकी इच्छा की। जैसे कुम्भकारका चाक घुमाकर छोड़ देनेपर भी थोड़ीदेर तक आप ही आप घूमा करता है वैसे ही लिङ्ग शरीर त्याग देनेपर भी योग मायाकी वासना द्वारा भगवान ऋषभका स्थूल शरीर संस्कारवश भ्रमण करता हुआ कोंक, बेंक, कुटक, और दक्षिण कर्नाटक देशोंमें यदृच्छा पूर्वक प्राप्त हुआ। वहां कुटकाचलके उपवनमें, सीड़ियोंकी तरह बड़ी-

बड़ी जटा छिटकाये नंगे धडंगे ऋषभदेव जी विचरने लगे। सब बनमें अकस्मात् वायुके वेगसे बॉस हिलने लगे। परस्पर बॉसों के रगडनेसे दावानल प्रकट हुआ, देखते-देखते क्षणभरमें वह दावानल सब वनमें फैल गया। उसी अग्निमें ऋषभदेव जीका स्थूल शरीर भस्म हो गया। (भा० पु० स्क० ५, अ० ५-६)।

इस तरह भागवतकारने भी भगवान ऋषभदेवको योगी बतलाया है। यों तो कृष्णको भी योगी माना जाता है किन्तु कृष्णका योग 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अनुसार कर्मयोग था और भगवान ऋषभदेवका योग कर्म संन्यासरूप था। जैन धर्ममें कर्मसंन्यासरूप योगकी ही साधनाकी जाती है। ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थङ्कर योगी थे। मौर्यकालसे लेकर आजतककी सभी जैन मूर्तियॉ योगीके रूपमें ही प्राप्त हुई है।

योगकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। वैदिक आर्य उससे अपरिचित थे। किन्तु सिन्धु घाटी सभ्यता योगसे अछूती नहीं थी, यह वहॉसे प्राप्त योगीकी मूर्तिसे, जिसे रामप्रसाद चन्दाने ऋषभदेवकी मूर्ति होनेकी संभावना व्यक्तकी थी—स्पष्ट है।

अतः श्रीमद्भागवत आदि हिन्दू पुराणोंसे भी ऋषभदेवका पूर्व पुरुष होना तथा योगी होना प्रमाणित होता है और उन्हे ही जैन धर्मका प्रस्थापक भी बतलाया गया है। एक बात और भी उल्लेखनीय है।

श्रीमद्भागवत (स्क० ५, अ० ४) मे ऋषभदेव जीके सौ पुत्र बतलाये हैं। उनमे भरत सबसे बड़े थे। उन्हींके नामसे इस खण्डका नाम भारतवर्ष पड़ा। भारतके सिवा कुशावर्त, इलावर्त

विदर्भ, कोंकर, द्रविड़ आदि नामक पुत्र भी ऋषभदेवके थे। ये सब भारत वर्षके विविध प्रदेशोंके भी नाम रहे हैं। इनमे द्रविण नाम उल्लेखनीय है। जो बतलाता है कि ऋषभदेवजी द्रविड़ोंके भी पूर्वज थे। सिन्धु सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी और वह योगकी प्रक्रियासे परिचित थी जिसकी साधना ऋषभदेवने की थी।

श्री चि०वि० वैद्यने भागवतके रचयिताको द्रविड़ देशका अधिवासी बतलाया है। (हि०इं०लि० (विन्टर०) भा० १, पृ०५५६ का टिप्पण नं०३)। और द्रविड़ देशमे रामानुजाचार्यके समय तक जैन धर्मका बड़ा प्राबल्य था। संभव है इसीसे भागवतकारने ऋषभ देवको द्रविड़ देशमे ले जाकर वहींपर जैन धर्मकी उत्पत्ति होनेका निर्देश किया हो। किन्तु उनके इस निर्देशसे भी इतना स्पष्ट है कि ऋषभ देवके जैन धर्मका आद्य प्रवर्तक होनेकी मान्यतामें सर्वत्र एक रूपता थी और ऋषभदेव एक योगीके रूपमे ही माने जाते थे। तथा जनसाधारणकी उनके प्रति गहरी आस्था थी। यदि ऐसा न होता तो ऋषभदेवको विष्णुके अवतारोंमे इतना आदरणीय स्थान प्राप्त न हुआ होता।

विष्णु और अवतारवाद

यहाँ विष्णु और उसके अवतारवादके संबन्धमें प्रकाश डालना उचित होगा।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन वैदिक कालमें भी विष्णु एक महान् देवता था। किन्तु कोई भी उसे एक मात्र देवता अथवा सर्वोच्च देवता नहीं मानता था। ऋग्वेदसे प्रगट है कि इन्द्रके

सामने विष्णु एक हीन देवता है। इन्द्र उसे आज्ञा देता है। ऋग् (१-२२-१९) में विष्णुको इन्द्रका योग्य सखा अवश्य लिखा है।

किन्तु उत्तर कालीन वैदिक साहित्यमें विष्णुकी स्थिति पहलेसे अधिक प्रमुख हो जाती है। शतपथ ब्राह्मणमें विष्णुके तीन पैरसे ब्रह्मांडको आक्रांत करनेकी कथा विस्तारसे दी गयी है। उसमें विष्णुको यज्ञ पुरुष बतलाया है। उसके चौदहवें काण्डमें देवोंमें विवाद होनेकी एक कथा दी है, जिसमें विष्णुकी विजय हुई। तबसे विष्णु सब देवोंमें उत्तम कहे जाने लगे।

इस तरह ब्राह्मणकालमें विष्णुने प्रमुख स्थान प्राप्त किया। किन्तु फिर भी उसकी यह स्थिति सर्वदा निर्बाध नहीं थी। क्योंकि एतरेय ब्राह्मण (१-३०) में उसे 'देवानां द्वारपः' देवताओंका द्वारपाल लिखा है। फिर भी ब्राह्मणकालमें विष्णुको जो प्राधान्य मिला वह आगे बढ़ता ही गया और बढ़ते-बढ़ते महाभारतकालमें वह सर्वशक्ति सम्पन्न देवताके रूपमें पूजा जाने लगा। विष्णुके नामपर प्रचलित साम्प्रदायिक नाम 'वैष्णव' भी प्रथमबार महाभारत' में ही मिलता है किन्तु 'परम वैष्णव' उपाधिका प्रचलन ईसाकी पाँचवीं शतीके लगभग हुआ। (अर्ली हि० वैष्ण०, पृ० १८)।

महाभारतके भीष्म पर्व और शान्ति पर्वमें भागवत, सात्वत, एकान्तिक या पञ्चरात्र धर्मका उल्लेख मिलता है। महाभारतके अनुसार नारद ने इस धर्मको स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था।

१--अष्टादश पुराणाना श्रवणात् यत्फलं भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥

नारायण नाम प्रथम बार शतपथ ब्राह्मणमें पाया जाता है। किन्तु उसका विष्णुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यकमें विष्णुके साथ नारायणको सम्बद्ध कर दिया गया है। शिलालेखोंसे पता चलता है कि ईस्वी सनके प्रारम्भसे बहुत पूर्व भागवतधर्म या भक्ति सम्प्रदाय मौजूद था तथा भागवत लोग वासुदेवके भक्त थे। (अर्ली हि० वैष्ण०, पृ० २८-२३)।

किन्तु किसी संहिता, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषद् में विष्णुका वासुदेव नाम नहीं मिलता। (अर्ली हि० वैष्ण०, पृ० ३२)

हां, भगवद्गीतामें 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' लिखकर वासुदेवको वृष्णिकुलसे सम्बन्धित बतलाया है। महाभारतमें मथुराके यादव, अथवा वृष्णि अथवा सात्वत वंशके कृष्णको वासुदेव कहा है। अनेक विद्वानोंका मत है कि कृष्ण वासुदेव मानव प्राणी नहीं था, किन्तु एक लौकिक देवता था, उसकी संस्कृतिको विष्णुके सिर लादकर वैष्णव धर्मको जन्म दिया गया। उदाहरणके लिये बर्थने 'भारतीय धर्म' नामक अपनी पुस्तकमें लिखा है कि 'महाभारतमें विष्णुका स्थान सर्वोच्च है जो कि वैदिक साहित्यमें नहीं है। किन्तु महाभारतसे विष्णुके साथ ही एक और नायक प्रकट होता है जिसे अवतार माना गया है, वह है मानवीय ईश्वर कृष्ण। वह व्यक्ति वेदोंके लिए एकदम अपरिचित है। यह निस्सन्देह एक लौकिक देवता है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विष्णुकी प्रधानता प्राप्ति और कृष्णके साथ उसकी एकरूपताके मध्यमें अवश्य ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या कृष्णको विष्णुके साथ इसलिये मिलाया गया कि विष्णुको सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो चुका था अथवा ब्राह्मणीय देवता विष्णुकी

प्रधानता विष्णुको लोकप्रसिद्ध कृष्णके साथ मिलनेका नतीजा है। इन दोनों विकल्पोंमेंसे मुझे दूसरा विकल्प ही अत्यधिक संभव प्रतीत होता है। हम देख चुके है कि वेदोंमें विष्णुकी प्रधानता प्रकट नहीं होती। और महाभारतमें वह हमे विशेष प्राचीन प्रतीत नहीं होती।' (रि० इं० पृ० १६६–६७)

छा० उपनिषद् (३-१७-६) मे घोर आङ्गिरसके शिष्य देवकीपुत्र कृष्णका उल्लेख आता है। मैक्समूलर महाभारत और पुराणोके देवकीपुत्र कृष्ण और उपनिषद्के देवकीपुत्र कृष्णको एक नहीं मानते। तथा मैक्डानल और कीथको उनकी एकतामें सन्देह है। उपनिषद्के कृष्णके विषयमे उन्होने वैदिक इन्डेक्समें लिखा है—'परम्परा तथा ग्रियर्सन गार्बे जैसे कतिपय आधुनिक विद्वान् उसे महाभारतका नायक कृष्ण मानते है जो बादमें देवताके रूपमें पूजा जाने लगा। उनके मतानुसार कृष्ण क्षत्रिय था और नैतिक धर्मोका उपदेष्टा तथा ब्राह्मण धर्मका विरोधी था। यह बात एकदम सन्देहास्पद है। उचित तो यह प्रतीत होता है या तो नामोकी समानता आकस्मिक है, या उपनिषद्का उल्लेख। बर्थने दोनों कृष्णोंको तो एक माना है किन्तु उपनिषदमे कृष्णके उल्लेखको एकदम पौराणिक माना है। (रि० इ० पृ० १६८)।

डा० कीथका कहना है कि 'महाभारतका कृष्ण केवल एक मामूली धर्मोपदेष्टा नहीं है। वहां जब वह उपदेश देता है तो वह अपनेको परमेश्वरके रूपमें प्रकट करता है और हम इस तथ्यकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि उसका वह दैवीरूप समस्त महाभारतमें स्पष्ट रूपमें अंकित है। वहाँ उसे एक जगह 'गोपीजन वल्लभ' लिखा है। यह विशेषण एक अनुमानित क्षत्रिय उपदेष्टाके लिए कुछ विचित्र सा लगता है। किन्तु ग्वाल जीवन बिताने वाले कृष्ण

जैसे परमेश्वरके लिये उचित है। इसके सिवाय एक और तथ्यकी उपेक्षा करना असंभव है। उपनिषदके जिस वाक्यमें कृष्णका निर्देश है उसमे अन्य गुणोके साथ सत्य बोलना भी सम्मिलित है। किन्तु उससे महाभारतके कृष्णके कार्यों और क्रियात्मक उपदेशोमें बहुत अन्तर प्रतीत होता है।' (ज० रा० ए० सो० १९१५, पृ० ५४८-५०)।

अन्तमें डा० कीथने लिखा है—'हमे यह मान लेना चाहिए कि इस विषयके निर्णयके लिये हमें जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे पर्याप्त नहीं है। उनपर हम उस कृष्णका महल खड़ा नहीं कर सकते जिसने केवल मनुष्यके रूपमे भागवत धर्मकी स्थापना की। महाभारत का कृष्ण परमेश्वर है और उपनिषद का कृष्ण मनुष्य हैं। और दोनोकी एक रूपताके आधार स्पष्ट नहीं है।'

छा० उ० मे घोर आङ्गिरस ऋषिके शिष्यके रूपमे देवकी पुत्र कृष्णका उल्लेख आया है। वहाँ यह नहीं बतलाया कि कृष्णने स्वयं किसी धर्मका उपदेश दिया। उससे तो केवल इतना ही प्रकट होता है कि कृष्ण एक गुरुके सम्पर्कमें आये और उनसे उन्हाने कुछ सिद्धान्तोंकी शिक्षा ली। किन्तु गीतामे जो उपदेश दिया गया है उसे कृष्णका कहा जाता है और चूंकि गीता उपनिषदों के बादमे रची गयी है अतः गीताके मूल सिद्धान्त कृष्णके द्वारा उपदिष्ट हुए ऐसा माना जाता है।

सारांश यह है कि महाभारतके कृष्ण मानव है या देव, यह निश्चित नहीं है। कुछका मत है कि कृष्ण मनुष्य था पीछे उसे देवताका रूप दिया गया, कुछ का कहना है कि वह प्रारम्भसे ही देवता रहा है। किन्तु इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शती में कृष्णकी मान्यता देवताके रूपमें होती थी, क्योकि पाणिनिने

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४-३-९८) सूत्रमें वासुदेवकी भक्ति करने वालेके अर्थमें वुन् प्रत्ययका विधान किया है। मेगास्थनीज़ने लिखा है कि मथुरामें कृष्णकी पूजा होती है। महानारायण उपनिषद् (ई० पूर्व ३री शती अनुमानित) में विष्णुको वासुदेव कहा है, जो बतलाता है कि कृष्ण विष्णु बन चुके थे। अन्तमें उक्त पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें वासुदेवको परमेश्वर कहा है।

इस विषयमें डा० भण्डारकर का अपना एक जुदा मत है। वह वासुदेव और कृष्णमें भेद मानते हैं। उनका मत है कि वासुदेव सात्वत् जातिके मनुष्य थे जो ई० पूर्व छठी शतीमें हुए। उन्होंने अपनी जातिवालोंको एकेश्वर वादका उपदेश दिया। बाद को उनके अनुयायी लोगोंने उन्हें देवताका रूप देकर पूजना शुरू कर दिया। बादको उन्हें नारायण, फिर विष्णु और फिर मथुराका कृष्ण गोपाल बना दिया। इसी सम्प्रदायसे गीताका जन्म हुआ। ग्रियर्सन, विन्टर नीट्स् और गार्बेने इस मतको माना किन्तु हापकिन्स और कीथने नहीं माना।

डा. राय चौधरीने अपने वैष्णव सम्प्रदायके प्राचीन इतिहास में इसपर विस्तारसे विचार किया है। वह घोर आङ्गिरसके शिष्य देवकी पुत्र कृष्णको भागवत धर्मका सस्थापक मानते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषयमें वे निस्सन्देह नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'यदि कृष्ण केवल एक क्षत्रिय राजा थे और यदि भागवत धर्मके आधारभूत सिद्धान्त उनके द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं किन्तु किसी अज्ञात व्यक्तिके द्वारा उपदिष्ट हैं तो हमें यह मानना पड़ता है कि प्राचीन भागवत अपने धर्म गुरुका नाम भूल गये। (अर्ली हि० वैष्ण, पृ० ६१)। अस्तु, भागवत धर्मके संस्थापक कृष्ण हैं या नहीं, इस विवादको छोड़

कर हम पुनः इस प्रश्नकी ओर आते हैं कि कृष्ण वासुदेवका विष्णुके साथ एकीकरण कब हुआ और क्यों हुआ ? इस संबन्धमें हम राय चौधरीकी खोजका उद्धृत करना उचित समझते हैं। उन्होने लिखा है—"कृष्ण वासुदेवका नारायण विष्णुके साथ प्रथम बार एकीकरण कब हुआ, इसका निर्णय कर सकना शक्य नहीं है।.. ....यह बतलानेके लिये भी कि प्राचीन भागवत धर्ममें विष्णुका प्रमुख स्थान था कोई साक्षात् प्रमाण नहीं है। पाञ्चालके एक मित्र सिक्केपर चार हाथ वाले विष्णुकी मूर्ति अंकित है। किन्तु यह बतलानेका कोई साधन नहीं है कि जिस राजाने वह सिक्का चलाया वह भागवत-वासुदेव संकर्षण सभ्यताका अनुयायी था। विष्णु पूजा ब्राह्मण सभ्यताके प्रतिद्वन्दोके रूपमे चली आयी हो सकती है। वासुदेवका नारायण विष्णुके साथ एकीकरणका स्पष्ट निर्देश तैत्तिरीय आरण्यकमे मिलता है किन्तु तैत्ति० आ० का समय निश्चत नहीं है। उसके जिस अन्तिम भागमें वासुदेवका नाम आया है वह भाग निश्चय ही उत्तर कालीन है। डा० मित्रके अनुसार यह ईस्वी सन् के आरम्भकी उपज है। किन्तु यतः आपस्तब सूत्रके द्वारा उसका अस्तित्व पूर्वानुमानित है। अतः हमारा झुकाव डा० कीथके इस मतकी ओर है कि तैत्ति० आर० सम्भवतया ईस्वी पूर्व तीसरी शतीका है। ईस्वी पूर्व तीसरी शतीके ब्राह्मण ग्रन्थमें नारायण विष्णुके नामसे वासुदेवका पाया जाना अर्थ पूर्ण है। क्या यह सम्राट् अशोकका क्रियाशील आन्दोलन था जिसने भागवतोको अपना मित्र बनानेके उद्देश्यसे वासुदेवको नारायण विष्णुके साथ सम्बद्ध करनेके लिये वैदिक पुरोहितोको प्रेरित किया ? महाभारतमे ऐसे चिन्ह पाये जाते है जो बतलाते

हैं कि बड़ी कठिनाईके साथ कट्टर ब्राह्मणोको कृष्ण वासुदेवको स्वयं परमेश्वर नारायण माननेके लिए तैयार किया जा सका। गीता मे (७-१९;९-११) कृष्ण खेदके साथ कहते है कि ऐसा मनुष्य मिलना बड़ा कठिन है जो कहे-वासुदेव सब कुछ है। जब मै मानवरूपमे था मूर्ख मेरा तिरस्कार करते थे।' सभापर्व (म० भा०) मे हमे उस कालकी स्मृतियां दृष्टि गोचर होती है जब कृष्णके परमेश्वर होनेके दावेका खुले रूपसे खण्डन किया जाता था क्योकि कृष्ण ब्राह्मण नही थे। म० मा० (१-१९७-३३) मे वासुदेव केवल नारायणके उत्तराधिकारी हैं। दूसरी जगह (१-२२८-२०) उन्हे नारायण बतलाया है। किन्तु यह नारायण एक ऋषि है, परमात्मा नही है। किन्तु महाभारतके पूर्ण होनेपर कृष्णको नारायण विष्णु सबने मानलिया।' (अर्ली हि०, वैष्ण, १०७-१०८)

डा० राय चौधरी ने एक प्रश्न उठाया है कि ईसा पूर्व शताब्दियोंमे ब्राह्मणोके द्वारा जो नारायण विष्णुके साथ वासुदेवका एकीकरण किया गया उसे क्या भागवतोने स्वीकार किया या जैसे बौद्धोंने बुद्धको विष्णुका अवतार माने जाने पर भी उसे स्वीकार नहीं किया वैसे ही भागवतोने भी उसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रश्नके समाधानके रूपमे उन्होंने लिखा है कि ईसा-पूर्व दूसरी शतीके भागवत शिलालेखमे नारायण विष्णुका नाम न पाया जाना उल्लेखनीय है। जिन्होने अपने भक्तोके द्वारा आतिथ्य पाया वह वासुदेव और संकर्षण थे, विष्णु नारायण नहीं। अत ईसा पूर्व दूसरी शतीके उस शिलालेखसे नारायण-पूजा और वासुदेव-संकर्षणकी संस्कृतिके बीचमे कोई सम्बन्ध प्रमाणित नही होता। गीतामे, जिसे वैष्णव धर्मकी प्राचीनतम पुस्तक माना जाता है, वासुदेव कहते है 'मैं आदित्योंमे विष्णु

हूँ।' किन्तु उसी तरह वह यह भी कहते है कि मै रुद्रोंमें शंकर हूँ। उपलब्ध गीतामे वासुदेवको कहीं भी नारायण नहीं कहा। (अर्ली हि० वैष्ण० पृ० १०६-११०)।

डा० भण्डारकरने लिखा है कि विष्णु नारायणकी पूजा पहलेसे प्रचलित थी। पीछे भगवद्गीताके वासुदेवका विष्णु और नारायणके साथ एकीकरण किया गया और इस तरह आधुनिक वैष्णव धर्मका उदय हुआ। (क० व० भ०, जि० १, पृ० ४११)

अन्वेषकोंके उक्त विचारोंके फल स्वरूप जो तथ्य प्रकाशमे आते हैं वे इस प्रकार है—

१—भागवतधर्म, जो बादको विष्णुके नामपर वैष्णव धर्म कहलाया, वासुदेव कृष्णके द्वारा उपदिष्ट हुआ, किन्तु इसमें भी अभी ऐकमत्य नहीं है।

२—कृष्ण वासुदेवका नारायण विष्णुके साथ एकीकरण ईस्वीपूर्व तीसरी शतीमे ब्राह्मणोंके द्वारा किया गया जो सम्भवतया सम्राट् अशोककी प्रतिक्रियाका परिणाम था।

३—किन्तु इस एकीकरणको ईस्वी पूर्व तक भागवतोंने नही माना।

४—भागवत धर्म प्रारम्भमें ब्राह्मण धर्मका प्रतिद्वन्द्वी था।

महाभारत और गीता

यहाँ भागवतधर्मके सम्बन्धसे भगवत्गीता और महाभारत के सम्बन्धमें भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि

भगवद्गीताको भागवत धर्मका आद्य ग्रन्थ माना जाता है और वह महाभारतके अन्तर्गत है।

महाभारतको पांचवां वेद माना जाता है और चारो वेदोंका संकलन करनेवाले वेद व्यासको उसका रचयिता माना जाता है। महाभारतके अनुसार वेदव्यास महाभारतके नायकोंके न केवल समकालीन थे किन्तु उनके निकट सम्बन्धी भी थे।

किन्तु समस्त वैदिक साहित्यमें महाभारतका कोई निर्देश नहीं है, महाभारतके युद्धके सम्बन्धमे भी वेद एक दम मूक हैं। हां, ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कुरुक्षेत्रका नाम प्राय आता है और यजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्यमें कुरुपञ्चाल और कुरुपञ्चालोंका निर्देश बहुतायतसे आता है। किन्तु समस्त वेदोंमें पाण्डु और पाण्डवोंका कोई निर्देश नहीं है। हां आश्वलायन गृह्य सूत्रमे भारत और महाभारत नाम आया है। पाणिनिने युधिष्ठिर, भीम, विदुर महाभारत नामोंकी व्युत्पत्ति आदि दी है और महाभाष्यकार पतञ्जलिने सर्वप्रथम कौरवों और पाण्डवोंके युद्धका निर्देश किया है।

इन तथा अन्य प्रमाणोंके आधारपर यह माना जाता है कि ईसा पूर्व चतुर्थ शतीमें भारत या महाभारत जैसी कोई कृति अवश्य मौजूद थी। और ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतीसे लेकर ईस्वी सनकी चतुर्थ शती तक महाभारतका क्रमश. परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा और गुप्तोंके राज्य कालमे उसे वर्तमान रूप मिला, कारण उसमे अनेक स्थानोपर हूणोंका निर्देश है। वही संकलन आज हमारे सामने वर्तमान है। यद्यपि बादकी शताब्दियोंमें भी उसमे छोटे मोटे परिवर्तन और परिवर्धन होते रहे है। अतः महाभारतका कोई एक नियत रचना काल नहीं है

किन्तु उसके प्रत्येक भाग का अपना अपना रचना काल उसकी स्थिति देखकर निर्णित करना होगा (हि०इं०लि०, विन्टर०भा० ४, पृ० ४७४-४७५) ।

आदि पर्वके प्रथम अध्यायमें व्यास कहते हैं—

> अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च ।
> अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥८१॥

अर्थात् महाभारतके मूल श्लोक आठ हजार आठ सौ थे। उन थोड़ेसे श्लोकोंसे ही महाभारत एक लाख श्लोकोंका बन गया। इसमें मूल श्लोक कौनसे है और प्रक्षिप्त कौनसे हैं यह खोज निकालना अशक्य है।

पुरातत्त्वविदोंका मत है कि प्राचीन भारतका साहित्यिक कृतित्व बहुत कुछ ब्राह्मण वर्गके हाथोंमें रहा है। उन्होंने अथर्व वेदके प्राचीन लोक प्रचलित गीतोंका ब्राह्मणी करण किया[1] और उपनिषदोंके दर्शनको, जो निश्चय ही उनके लिये एक दम अपरिचित और विरोधी जैसा था अपने बुद्धि चातुर्यसे किस प्रकार मिश्रित किया, यह तात्त्विकोंसे छिपा नहीं है। यही बात महाभारतके सम्बन्धमें भी जाननी चाहिये। जो वीर गाथा मूलमें विशुद्ध सार्वलौकिक थी, उसे उन्होंने धीरे-धीरे अपने रूपमें परिवर्तित कर लिया। इसीसे महाभारतमें देवी देवताओंकी ऐसी कहानियाँ पाई जाती है जो मूलतः ब्राह्मण है। तथा प्रबोधक भागोंमें ब्राह्मण दर्शन, ब्राह्मण आचार और ब्राह्मण धर्मका विशेष दर्शन मिलता है। उन्होंने लोक सम्मत आख्यानको अपने सिद्धान्तोंके प्रचारका माध्यम बनाया और उसके द्वारा

१—हि० इ० लि० (विन्टर०), भा० १, पृ० १२२ और २३१ ।

अपना बल और प्रभाव बढ़ाया। उन्होने उस प्राचीन आख्यानमें अगणित कथाएँ सम्मिलित करदीं जिनमे ब्राह्मणोंके पूर्वज ऋषियोंके आश्चर्य जनक वृतान्त' वर्णित हैं। उनमे बतलाया है

१—उदाहरणके लिये एक कथा यहां दी जाती है—

श्वेतकि नामके राजाको यज्ञ करनेकी बड़ी धुन सवार हुई। ऋत्विज धुएँसे ऊबकर यज्ञ छोड़ भाग गये। उनकी अनुमतिसे दूसरे ऋत्विज लाकर यज्ञ समाप्त किया गया। अनन्तर श्वेतकिने सौ वर्षोंमें समाप्त होनेवाला यज्ञ करनेका विचार किया। वह ब्राह्मणोंके पैर पड़ा, उन्हे दान दिया, पर श्वेतकिके यज्ञोंके लिये कोई ब्राह्मण तैयार न हुआ। उन्होने क्रुद्ध होकर कहा—हम थक गये हैं तुम रुद्रको ही बुलाकर उससे अपना यज्ञ करवाओ। तब उस राजाने कैलासपर जाकर उग्र तप किया। उसमे शिवजीने प्रसन्न होकर वर मांगनेके लिये कहा—श्वेतकिने वर मागा—तुम ही मेरे यज्ञोंके ऋत्विज बनो। पर महादेव तैयार नहीं हुए। उन्होंने श्वेतकिसे बारह वर्ष पर्यन्त निरन्तर घृतधारासे अग्निपूजा करनेके लिये कहा। श्वेतकिके ऐसा करनेपर महादेव प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—मेरा ही अवतार दुर्वासा ऋषि अब तुम्हारे यज्ञोंका ऋत्विज बनेगा। तदनुसार श्वेतकिने यज्ञकी तैयारी की। महादेवने दुर्वासाको भेजा। बहुत बड़ा यज्ञ हुआ। उससे अग्निको विकार हो गया। उसने ब्रह्माके पास जाकर उसका इलाज पूछा। ब्रह्माने कहा—बारह वर्ष घृताहुति खानेके कारण तुम्हे यह रोग हुआ है और खाण्डव वनके सारे प्राणियोंकी चर्बी खानेसे तुम्हारा यह रोग अच्छा हो जायगा। अग्नि खाण्डव वन जलाना आरम्भ करताथा और इन्द्र उसे बुझा देता था। ऐसा सात बार हुआ। तब अग्नि क्रुद्ध होकर ब्रह्माके पास गया। ब्रह्माने उसे कृष्णार्जुनके पास भेजा। अग्नि ब्राह्मण वेशमें कृष्णार्जुनसे मिला और अपनी तृप्तिके लिये उनसे कुछ मांगा। उन्होंने पूछा—कौन-सा

कि यज्ञों और संन्यासके प्रभावसे उन ऋषियोने देवताओं तक पर प्रभुत्व प्राप्त किया और जब वे अप्रसन्न हुए तो उनके शाप से राजाओंका तो कहना ही क्या, देवताओंका स्वामी इन्द्र भी कम्पित हो उठा। (हि इ० लि० (विन्टर०) भा० १, पृ० ३१८-३१६)

महाभारतमें विष्णुका इतना प्राधान्य है कि उसे देखकरके ऐसा लगता है कि यह विष्णु पूजाके उद्देशसे लिखी गयी कोई धार्मिक पुस्तक है। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु और शिवकी पूजाको लक्ष्यमे रखकर प्राचीन ब्राह्मण कथाओंको परिवर्तन भी किया गया है। ये परिवर्तन ध्यान देने पर स्पष्ट रूपसे लक्ष्यमें आ जाते है। यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि महाभारतमें शिव सम्बन्धी कथाएँ भी हैं। अस्तु,

गीताके सम्बन्धमें भी विद्वानोका प्रायः यही मत है कि महाभारतकी तरह गीता भी हमे अपने मूल रूपमे नहीं मिली, इसमें भी कालक्रमसे परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए है। कुछ विद्वानोका विचार है कि गीता मूलमे बहु देवतावादी (Pantheistic) थी पीछेसे विष्णुके अनुयायिओने उसे एकेश्वरवादमे परिवर्तित कर

अन्न चाहिये ? उसने कहा—मुझे अन्न न चाहिये, पर यह खाण्डव वन खानेको चाहिये। इन्द्र उसकी रक्षा करता है इससे मैं उसे खा नहीं सकता। मेरे सुलगते ही पानी बरसा देता है। कृष्णार्जुनने बड़ी तैयारी करके खाण्डव वनको जलाना आरम्भ किया। उस समय खाण्डव वनके प्राणियोंकी कैसी स्थिति हुई, इसका भयानक वर्णन २२८ वें अध्यायसे आया हैं। ऐसे संकटके समयमें वनकेप्राणी इन्द्रकी शरणमें गये। इन्द्रने एकदम पानी बरसाया। अर्जुनने वर्षाको रोकनेके लिये बाणोंसे आकाशको आच्छादित कर दिया।

दिया। किन्तु यह संभव प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनेक विरोधोंके रहते हुए भी गीताका अन्तः वातावरण शुद्ध एकेश्वरवादी है (Thiestic)। गीताका ईश्वर एक व्यक्ति है जो मानव रूपसे अपने भक्तोंकी भक्ति चाहता है।

मूल भारत ग्रन्थमे भगवद्गीताके अस्तित्वको लेकर अधिकांश खोजी विद्वानोंको सन्देह है। डा० विन्टर नीट्सका कहना है कि यह कल्पना करना कठिन है कि कोई पौराणिक आख्यानका रचयिता कवि युद्ध भूमिमे अपने वीरनायकोंके बीचमे ७५० श्लोकोंके द्वारा दार्शनिक विचार विनिमय करायेगा। यह संभव है कि कविने मूलमे अर्जुन और सारथि कृष्णके बीचमे थोडीसी बातचीत कराई हो और आगे चलकर उसीको आजका रूप मिल गया हो। (विन्ट० हि० इ० लि० भा० १, पृ० ४३७) भगवद्गीताको भागवतोंका मूल ग्रन्थ माना जाता है। इसमे साख्य मतकी भूमिकापर निष्काम कर्मके साथ भक्ति मार्गकी शिक्षा दी गई है।

डा० रा० गो० भण्डारकर गीताको ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी के बादकी नहीं मानते (वै० शै० पृ० १३)। अन्य भी कुछ विद्वानों का ऐसा ही मत है। (हि० इ० लि० (विन्टर०) भा० १, पृ० ४३८ पा० टि०)

ईसाकी सातवीं शतीके विद्वान् बाण कविको महाभारतके अंश रूपमे गीता ज्ञात थी। तथा उपनिषद् वेदान्त सूत्र और गीता यह त्रयी शंकराचार्यके दर्शनकी आधार है। अतः इस बातकी बहुत कुछ संभावना है कि ईस्वी सनकी आरम्भिक शताब्दियोंमे गीताको वर्तमान रूप प्राप्त हुआ हो।

गीताके अवलोकनसे मालूम होता है कि कुरु क्षेत्रके मैदानमे जब कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ आमने सामने डट गई तब

अर्जुनके मनमें यह प्रश्न उठा कि अपने ही सम्बन्धियोंको कैसे मारा जाये और वह गाण्डीव डालकर बैठ गया। तब कृष्णने उसे उपदेश देकर युद्धके लिये प्रवृत्त किया। अत युद्धसे विरत अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करना ही गीताका उद्देश्य है।

युद्धके मैदानमे बन्धु बान्धवोंके विनाश तथा युद्धके दुष्परिणामोंसे भीत क्षत्रिय पुत्र अर्जुनके युद्धसे विरत होनेकी घटनाको यदि एक रूपक मान लिया जाये तो कहना होगा कि हत्याके भयसे भीत क्षत्रिय पुत्रोंको स्वकर्ममें निरत करनेके लिये ही गीताकी सृष्टि हुई है। जरा आरम्भमे अर्जुनका कथन पढ़ जाइये। वह कहता है—'हे कृष्ण! युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्र हुए इन स्वजनोंको देखकर मेरे गात्र शिथिल हो रहे है, मुख सूख रहा है, शरीर कांपता है, गाण्डीव हाथसे गिरा जाता है, मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता' (गी० अ० १, श्लो० २८-३०)। ये सब कायरताके चिन्ह है।

आगे अर्जुन कहता है—हे जनार्दन! इन कौरवोंको मारकर हमारा कौन सा प्रिय होगा। यद्यपि ये आततायी है तौ भी इनको मारनेसे हमको पाप ही लगेगा। (मनुने ऐसे आततायियोंको तत्काल जानसे मार डालनेका विधान करते हुए कहा है कि इसमें कोइ पाप नहीं है मनु० ८-३५०)। इसके बाद अर्जुनने युद्धसे होनेवाले कुलक्षयके अनेक दुष्परिणाम बतलाते हुए कहा—यदि मैं निःशस्त्र होकर प्रतिकार करना छोड़ दूं और शस्त्रधारी कौरव मेरा वध करदें तो मेरा अधिक कल्याण होगा (गी० अ० १ श्लो० ४६)।

यह न भूलना चाहिये कि महाभारतका युद्ध न केवल एक ही राष्ट्र और एक ही धर्मके लोगोके बीचमे हुआ था। किन्तु एक

ही कुटुम्बके बीच ही हुआ था और गुरुवध, मित्रवध और कुल क्षयके भयसे अर्जुन भीत हो उठा था। तब दयाविष्ट आँखोमे आंसू भरे अर्जुनसे श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन! यह अनार्य लोगोके द्वारा आचरणीय, अस्वर्ग्य (स्वर्गसे विमुख करने वाला) और आकीर्तिकर (अपयश फैलाने वाला) यह कश्मल तेरे कहाँसे आ गया। ऐसी कायरता ठीक नहीं। इत्यादि। यह निश्चित है कि जैन धर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर और बौद्ध धर्मके संस्थापक बुद्धके पश्चात् ही महाभारत और गीता रचे गये हैं। ये दोनों क्षत्रिय थे और दोनोंने सांसारिक सुखोंसे विरक्त होकर संन्यास मार्गको ग्रहण किया था। वैदिक धर्ममे सन्यासका कोई स्थान नहीं था, वह तो केवल क्रियाकाण्डी था।

उपनिषदोंके तत्त्व ज्ञानको अपनानेके साथ ही वैदिक धर्ममे भी संन्यासका प्रवेश हुआ। किन्तु यद्यपि अद्वैत ब्रह्मज्ञानके साथ साथ संन्यास धर्मका प्रतिपादन उपनिषदोंमे किया गया तो भी इन दोनोका नित्य सम्बन्ध वहाँ नहीं बतलाया। अतः यह आवश्यक नहीं था कि अद्वैत वेदान्तको स्वीकार करनेपर संन्यास मार्गको भी अवश्य स्वीकार करना ही चाहिए। उपनिषदोंसे यही व्यक्त होता है। राज्य त्यागकर संन्यास मार्गको अपनानेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही क्षत्रियोंमे प्रचलित रही है। अतः क्षत्रिय अपना कर्तव्य कर्म छोड़कर संन्यास मार्गको न अपनाये उन्हें इसीसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी, गीताके द्वारा गीताकारको यही बतलाना अभीष्ट जान पड़ता है।

लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें लिखा है—'जब महाभारतके युद्धमे होनेवाले कुलक्षय और ज्ञातिक्षयका प्रत्यक्ष दृश्य पहले पहल आंखोंके सामने उपस्थित हुआ तब अर्जुन

अपने छात्र धर्मको त्यागकर संन्यासको स्वीकार करनेके लिये तैयार हो गया था। और उस समय उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये श्री कृष्णने वेदान्त शास्त्रके आधारपर यह प्रतिपादन किया कि कर्म योग ही अधिक श्रेयस्कर है। कर्म योगमे बुद्धि ही की प्रधानता रहती है। इसलिये ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे अथवा परमेश्वर की भक्तिसे अपनी बुद्धिको साम्यावस्थामें रखकर उस बुद्धिके द्वारा स्वधर्मानुसार सब कर्म करते रहनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, मोक्ष पानेके लिये इसके सिवा अन्य किसी बातकी आवश्यकता नही है। इस प्रकार उपदेश करके भगवानने अर्जुनको युद्ध करनेमे प्रवृत्त कर दिया। गीताका यही यथार्थ तात्पर्य है (गी० र० पृ० ५०८)।

अन्यस्थलपर उन्होने लिखा है—"साम्प्रदायिक टीकाकारोंने कर्मयोगको गौण ठहराकर गीताके जो अनेक प्रकारके तात्पर्य बतलाये है वे यथार्थ नहीं हैं। किन्तु उपनिषदोंमें वर्णित अद्वैत वेदान्तका भक्तिके साथ मेलकर उसके द्वारा बड़े बड़े कर्मवीरोंके चरित्रोंका रहस्य या उनके जीवनक्रमकी उपपत्ति बतलाना ही गीताका सच्चा तात्पर्य है। मीमांसकोंके अनुसार केवल श्रौत स्मार्त कर्मोंको सदैव करते रहना भलेही शास्त्रोक्त हो, तौ भी ज्ञान-रहित केवल तांत्रिक क्रियासे बुद्धिमाने मनुष्यका समाधान नहीं होता, और यदि उपनिषदोंमे वर्णित धर्मको देखें तो वह केवल ज्ञानमय होनेके कारण अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंके लिये अत्यन्त कष्ट साध्य है। इसके सिवा एक बात और भी है कि उपनिषदोंका संन्यासमार्ग लोकसंग्रहका बाधक भी है (गी० र० पृ० ४७०)।

गीताकी उपलब्ध टीकाओंमे सबसे प्राचीन टीका शंकराचार्य की है, उन्होंने तथा अन्य भी टीकाकारोंमें संन्यास मार्गका प्रति

पादन किया है। उनका मत है कि कभी न कभी संन्यास आश्रम को स्वीकार कर समस्त सांसारिक कर्मोंको छोड़े बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। और भगवान श्री कृष्णके मतमें भी संन्यास मार्ग ही श्रेष्ठ है। किन्तु श्री तिलकका मत इसके विरुद्ध है। वे लिखते हैं—'यह मत वैदिक धर्ममें पहले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्य-वादियों द्वारा प्रचलित किया गया कि दुःखमय तथा निस्सार संसारसे निवृत्त हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके पूर्व का धर्म प्रवृत्ति प्रधान अर्थात् कर्मकाण्डात्मक ही था। परन्तु यदि वैदिक धर्मको छोड़ अन्य धर्मोंका विचार किया जाये तो यह मालूम होगा कि उनमेंसे बहुतोंने आरम्भसे ही संन्यास मार्गको स्वीकार कर लिया था। उदाहरणार्थ जैन और बौद्धधर्म पहले ही से निवृत्ति प्रधान है (गी० र० पृ० ४९२)। जैन और बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोंने कापिल सांख्यके मतको स्वीकार कर इस मतका विशेष प्रचार किया कि संसारको त्याग कर संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता।... यद्यपि श्री शंकराचार्यने जैन और बौद्धों का खण्डन किया है तथापि जैन और बौद्धोंने जिस संन्यास धर्म का विशेष प्रचार किया था उसे ही श्रौत स्मार्त संन्यास कहकर आचार्यने कायम रखा और उन्होंने गीताका इत्यर्थ भी ऐसा निकाला कि वही संन्यास धर्म गीताका प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु वास्तवमें गीता स्मार्त मार्गका ग्रन्थ नहीं, यद्यपि सांख्य या संन्यास मार्गसे ही गीताका आरम्भ हुआ है तो भी आगे सिद्धांत पक्षसे प्रवृत्तिप्रधान भागवत धर्म ही उसमें प्रतिपादित है। (गी० र० पृ० ३४२)।

सारांश यह है कि लोकमान्य तिलक गीताको कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्ति मार्गका ग्रन्थ मानते हैं, तथा शंकराचार्य आदि

टीकाकारोंने जो अपनी टीकाओंमें गीतामें संन्यास मार्गका प्रतिपादन किया उसे निवृत्तिमार्गी जैन धर्म और बौद्ध धर्मका प्रभाव मानते हैं। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं गीताके निर्माणका मूल उद्देश्य क्षत्रियको अपने क्षत्रिय कर्म युद्धसे विरत न करके युद्धमें प्रवृत्त करना है। ऐसा ग्रन्थ मूलमें निवृत्तिमार्गी नहीं हो सकता। हाँ उसमें जो निवृत्ति मार्गकी चर्चा आई है वह सामयिक प्रभाव हो सकता है। क्षत्रियोंमे अर्थात गीता रचना जिस कालमे हुई उस समय निवृत्तिमार्गका प्रभाव होना चाहिये। जिसे कम करनेके उद्देश्यसे ही गीताकी रचनाकी गई जान पड़ती है।

गीताके अनुयायिओंकी ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है कि उपनिषदोंका दोहन करके स्वयं गोपाल नन्दन श्री कृष्णने गीताकी रचना की है। किन्तु प्राचीन उपनिषदोंमें मान्य छा० उ० मे देवकी पुत्र कृष्णका निर्देश आता है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदोंकी रचना श्री कृष्णके बाद की है। अतः उपनिषदोंका दोहन करके गीताको रचनेका श्रेय श्री कृष्णको तो नहीं दिया जा सकता। किन्तु गीताके अवलोकनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसकी रचना उपनिषदोंके आधारपर ही किसी ने की है। यह पहले लिख आये है कि उपनिषदों[1] का रुख वेदोंके प्रति

---

१ मुण्डकोपनिषदमे (१–२–१०) कहा है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

'इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है, यह माननेवाले मूढ़ लोग स्वर्गमें पुण्यका उपयोग करके फिर नीचेके मनुष्य लोकमे आते हैं।' ईशावास्य (६–१२) और कठ उपनिषदों (२–५) में भी इसी ढगकी निन्दा की गई है।

आस्था पूर्ण नहीं है। गीतामें भी यही बात लक्षित होती है। गीता (अ० २, श्लो० ४२-४६) में लिखा है—हे पार्थ ! वेदोंके वाक्योंमें भूले हुए यह कहने वाले मूढ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ाकर कहा करते हैं कि अनेक प्रकारके यागादिकसे पुनर्जन्म रूप फल मिलता है और भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है स्वर्गके पीछे पड़े हुए ये काम्य बुद्धि वाले लोग-उल्लिखित कथन की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जानेसे भोग और ऐश्वर्यमें गर्क रहते हैं। इस कारण उनकी व्यवसायात्मक बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं रहती। हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्यकी बातोंसे भरे पड़े हैं। इस लिए तू त्रिगुणोंसे अतीत, नित्य सत्वस्थ और सुख दुःख आदि द्वन्दोंसे अलिप्त हो, योग क्षेम आदि स्वार्थोंमें न पड़कर आत्मनिष्ठ हो। चारों ओर पानीकी बाढ़ आजानेपर कुएँका जितना प्रयोजन रह जाता है उतना ही प्रयोजन ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को कर्म काण्ड रूप वेदका रहता है।''

इस तरह वेदकी निन्दा करके भी आगे तीसरे अध्यायमें अन्न यज्ञ करनेका विधान किया गया है। लिखा है—परन्तु जो (यज्ञ न करके) केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं। प्राणी मात्रकी उत्पत्ति अन्नसे होती है, अन्न पर्जन्य-मेघसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है और यज्ञकी उत्पत्ति कर्मसे होती है। (अ० ३, श्लो० १३-१४)।

किन्तु आगे (गी०, अ० ४ श्लो० ३३) पुनः लिखा है—द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। इस तरह वैदिक यज्ञोंके प्रति गीताका भाव उपनिषदोंके अनुरूप होते हुए भी गीतामें ज्ञान यज्ञके साथ यज्ञको भी विधेय बतलाया है। अध्यात्मक ज्ञानका तो गीतामें संग्रह है ही। फिर भी उपनिषदोंसे गीता

मे अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। गीतामे कपिलके सांख्य शास्त्रको महत्व दिया गया है, जब कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदोंमे सांख्य प्रक्रियाका नाम भी नही देख पड़ता। हा, कठ आदि उपनिषदोमे अव्यक्त महान् इत्यादि सांख्य शब्द अवश्य देखनेमें आते है। किन्तु गीतामे सांख्यके सिद्धान्त ज्योंके त्यो नहीं लिये गये हैं। त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमे सांख्यके जो सिद्धान्त है वे गीताको भी मान्य हैं, किन्तु प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र नहीं हैं वे दोनो एक ही परब्रह्मके रूप है। इस तरह गीतामे उपनिषदोके अद्वैत मतके साथ द्वैती सांख्योंके सृष्टिउत्पत्तिक्रमका मेल पाया जाता है।

किन्तु उपनिषदोकी अपेक्षा गीताकी महत्त्वपूर्ण विशेषता तो व्यक्तोपासना या भक्ति मार्ग है, क्योंकि व्यक्त मानव देहधारी ईश्वरकी उपासना प्राचीन उपनिषदोंमे नहीं देख पड़ती। लोकमान्य तिलकने लिखा है—"उपनिषत्कार इस तत्त्वसे सहमत है कि अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्मका आकलन होना कठिन है, इसलिये मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकोंकी उपासना करनी चाहिये। परन्तु उपासनाके लिये प्राचीन उपनिषदोंमे जिन प्रतीकोंका वर्णन किया गया है उनमे मनुष्य देहधारी परमेश्वरके स्वरूपका प्रतीक नहीं बतलाया गया है"। (गी० र०, पृ० ५२८)

किन्तु उपषिदोमे वर्णित वेदान्तकी दृष्टिसे वासुदेव भक्तिका मण्डन करना ही गीताके प्रतिपादनका एक विशेष भाग है। इसके लिये गीताका नौवॉ अध्याय दृष्टव्य है। इसमे भगवान कहते हैं हे अर्जुन! अब मै तुझे गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान बतलाता हूँ, जिसके जान लेनेसे तू पापसे मुक्त होगा।... . इस पर

श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते, वे मृत्यु युक्त संसारके मार्गमे भटकते रहते हैं ॥......मै सब भूतोंका महान् ईश्वर हूं किन्तु मूढ़ लोग मेरे स्वरूपको नहीं जानते। वे मुझे मानव तनुधारी समझकर मेरी अवहेलना करते हैं ॥ ११ ॥ .. ऋतु मैं ही हूं, यज्ञ मैं ही हूँ स्वधा अर्थात् श्राद्धमे पितरोंको अर्पण किया हुआ अन्न मै हूँ, औषध मै हूँ, मंत्र मै हूँ, घृत अग्नि और आहुति मै ही हूँ ॥ १६ ॥ इस जगतका पिता माता धाता पितामह मै हूं, जो कुछ पवित्र या जो कुछ श्रेय है वह और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मै हूँ ॥ १७ ॥ सबकी गति, सबका पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान, और अव्यय बीज मै हूं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन! मैं उष्णता देता हूं, मै पानीको रोकता और बरसाता हूं, अमृत और मृत्यु, सत् और असत् भी मै हूँ ॥ १९ ॥ जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और सामवेदोंके कर्म करने वाले, सोमपान करनेवाले, निष्पाप पुरुष यज्ञसे मेरी पूजा करके स्वर्गलोककी इच्छा करते है, व पुण्यसे इन्द्रलोकमे पहुंचकर स्वर्गमे देवताओंके दिव्य भोग भोगते हैं ॥ २० ॥ और उस विशाल स्वर्गलोकका उपभोग करके पुण्यका क्षय हो जानेपर मनुष्य लोकमे आते है। इस प्रकार त्रयीधर्मके पालनेवाले और काम्य उपभोगकी इच्छा करनेवालोंको आवागमन प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ जो अनन्य निष्ठ लोग मेरा चिन्तनकर मुझे भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषोंका योग क्षेम मै करता हूं ॥ २२ ॥ हे कौन्तेय! जो भी अन्य देवताओंके भक्त लोग श्रद्धायुक्त होकर भजन करते है वे भी विधिपूर्वक न होनेपर भी मेरा ही भजन करते है ॥ २३ ॥ क्योंकि सब यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी मै हूँ। किन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते। इसलिये वे गिर जाया करते है ॥ २४ ॥ ......जो मुझे भक्तिसे पत्र, पुष्प,

फल अथवा जल अर्पण करता है, मैं उस प्रयतात्माकी भक्ति भेंटको ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥ हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, होम हवन करता है, जो दान करता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर ॥ २७ ॥ इस प्रकार करनेसे कर्मोके शुभ-अशुभ फलरूप बन्धनोसे तू मुक्त रहेगा और संन्यास करनेके इस योगसे मुक्तात्मा होकर मुक्त हो जायेगा तथा मुक्तमे मिल जायगा ॥ २८ ॥ मै सबको एक-सा हूं । न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न कोई प्रिय । जो भक्तिसे मेरा भजन करते है वे मुझमें है और मैं भी उनमे हूं ॥ २९ ॥ बड़ा दुराचारी ही क्यो न हो, यदि वह मुझे अनन्य भावसे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये क्योंकि उसकी बुद्धि ठीक रहती है ॥ ३० ॥ वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और सदा शान्ति पाता है । हे कौन्तेय ! तू खूब समझ ले, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥ क्योंकि हे पार्थ ! मेरा आश्रय पाकर स्त्रियाँ, वैश्य, और शूद्र जो पापयोनि हों वे भी परम गति पाते है ॥ ३२ ॥ फिर मेरे भक्त ब्राह्मणो और राजर्षियों-क्षत्रियोकी तो बात ही क्या है ॥ ३३ ॥

इस अध्यायसे जो बातें प्रकाशमे आती है वे इस प्रकार हैं—

१ प्रथम तो भगवानने (जो साम्प्रदायिक मान्यतानुसार श्री कृष्ण स्वयं हैं) इस अध्यायमे वर्णित अपने स्वरूपको अत्यन्त गोप्य बतलाया है । यदि थोड़ी देरके लिये यह मान लिया जाये कि इस अध्यायमे वर्णित बातें स्वयं श्रीकृष्णने कही हैं तो कहना होगा कि अपनी भगवत्ताके रहस्यका प्रथम उद्घाटन स्वयं उन्होंने ही किया, अन्य लोग तो उन्हे मनुष्य मानकर उनकी अवहेलना ही करते थे । ऐसी स्थितिमे जबकि अन्य लोग उन्हें

मानवमात्र मानते थे—अपनी भगवत्ताके रहस्यको अत्यन्त गुह्य बताना उचित भी था, नहीं तो अर्जुन सोचता कि श्रीकृष्ण महाराज तो आज 'दूनकी हांक' रहे हैं। और यदि श्रीकृष्णने अपनेको सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान न बतलाया होता तो अर्जुनका तथोक्त व्यामोह शायद ही दूर होता, क्योंकि गीताके अध्ययनसे प्रकट होता है कि अर्जुनको श्रीकृष्णकी सर्वशक्ति-मत्ताने ही विशेष प्रभावित किया।

मानवतनधारी क्षत्रिय व्यक्तिकी ऐसी सर्वशक्तिमत्ताका वर्णन गीताके पूर्वके वैदिक साहित्यमें तो है ही नहीं, जैन बौद्ध आदि जिन धर्मोंको भौतिक और स्वर्गीय देवताओंके स्थानमें मानवकी प्रतिष्ठा करनेका श्रेय प्राप्त है, उनमें भी महावीर बुद्ध आदि मानवीय परमेश्वरोंकी शक्तिमत्ताका ऐसा रूप नहीं पाया जाता।

गीताका मानवतनधारी क्षत्रिय श्रीकृष्ण क्या नहीं है, वह स्वयं वेद है, जगतका कर्ता हर्ता है, पुण्य पापसे मोचन करनेवाला है, सर्व यज्ञोंका भोक्ता है, और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पत्र पुष्पसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसके लिये यज्ञ जैसा बहुव्यय साध्य प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है। दुराचारी पातकी भी उसकी भक्तिसे पार हो जाते हैं, वैदिक युगमें जिन वैश्य, स्त्री और शूद्रोंको वेद श्रवण करनेका भी अधिकार नहीं था, वे भी कृष्ण भक्तिसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं। प्राचीन वैदिक धर्मसे गीताके इस धर्ममें कितना अन्तर है? क्योंकि वैदिक धर्मका प्राचीन स्वरूप न तो भक्ति प्रधान, न तो ज्ञान प्रधान और न योग प्रधान ही था किन्तु वह यज्ञमय था।

वैदिक आख्यानके अनुसार प्राचीनकालमें विश्वामित्र नामके

एक क्षत्रिय राजाने राज्यासनका परित्याग करके ब्रह्मर्षित्व प्राप्त करनेके लिये बनवास स्वीकार किया था। इसके पूर्व परशुराम और सहस्राजुनके समयसे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमे एक लम्बा और मर्मभेदी झगड़ा होता चला आता था और दोनोंमे से प्रत्येक समूह दूसरेके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये प्रयत्न-शील था। किन्तु उसके बाद जब नियममे सुधार हुआ तो ब्राह्मणोने विश्वामित्रको ब्रह्मर्षियोंमे तथा सर्वोच्च वैदिक ऋषियोंमे सम्मिलित कर लिया तथा उन्हें सप्तर्षियोंमें स्थान दिया और विश्वामित्रने अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये जिस गायत्री मंत्रका निर्माण तथा प्रयोग किया था उसे समस्त वैदिक मंत्रोंमे शक्तिशाली और वैदिक शिक्षणका सारभूत मान लिया गया।

उक्त आख्यानसे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके बीचमें प्रभुत्वको लेकर कितने ही सुदीर्घ काल तक झगड़ा चला और ब्राह्मणोंने एक क्षत्रिय राजाको ब्रह्मर्षि पद देना स्वीकार नहीं किया। किन्तु अन्तमे उन्हे अपनी हठको छोड़ना पड़ा। सम्भ-वतया उक्त घटनाके बादसे ही ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको प्रभुत्व देना स्वीकार किया। उपनिषदों और प्राचीन जैन तथा बौद्ध साहित्यसे पता चलता है कि क्षत्रियोंमे कितना बौद्धिक स्वातंत्र्य था और उन्होंने ज्ञानके क्षेत्रमे भी उच्च स्थान प्राप्त किया था। उपनिषदोंकी आत्मविद्या तो उन्हींकी देन है। किन्तु उत्तर कालमे क्षत्रिय अपनी उस स्थितिको कायम नहीं रख सके और ब्राह्मणोंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यद्यपि यह प्रभुत्वस्थापन क्षत्रिय श्रीकृष्णकी ओटमे ही किया गया। किन्तु उन्होंने उसे विष्णुका पूर्ण अवतार मानकर और उसे ही वेद तथा यज्ञ कहकर विस्मृत तथा उपेक्षित वैदिक यज्ञोंको भी विष्णुके रूपमे पुनरुज्जीवित

करनेका प्रयत्न किया, और इस तरह जो लोग जैन और बौद्ध धर्मके प्रचारसे प्रभावित होकर उधर आकृष्ट होते थे उन्हें अपनेमें ही रोक रखनेका प्रयत्न किया गया।

गीताके मुख्य प्रतिपाद्य वासुदेव भक्तिके मूलमें उपनिषदोंसे मेल न खानेवाली जो बातें पाई जाती हैं, यदि जैन और बौद्ध धर्मोके मूल आधारोंके साथ उनकी तुलना करके देखा जाये तो भागवत धर्मकी स्थापनामें उक्त धर्मोंका प्रभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक है।

जैन धर्मके सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय थे और नरतनधारी थे। बौद्ध धर्मके संस्थापक बुद्ध भी क्षत्रिय और मानव थे। वैदिक धर्ममें भौतिक और स्वर्गीय देवताओंको जो स्थान प्राप्त था वही स्थान जैन धर्ममें मानव तीर्थङ्करको और बौद्ध धर्ममें बुद्धको प्राप्त था। जैनतीर्थङ्कर और बुद्ध दोनोंने राज्यासनका मोह त्यागकर संन्यास धारण किया और पूर्ण ज्ञान लाभ करके अपने-अपने धर्मका उपदेश दिया। उनका उपदेश सबके लिये था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, सभी उसे न केवल सुननेके अधिकारी थे, किन्तु आचरण करनेके भी अधिकारी थे। तीर्थङ्कर और बुद्धको अपने जीवनकालमें ही राजघरानों, ब्राह्मणों तथा जनसाधारणके द्वारा वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जैसी देवताओंको प्राप्त थी। दोनोंने यह उद्घोषित किया कि मानव, मानव रहकर भी देवत्व प्राप्त कर सकता है और उसका मार्ग है, अहिंसा। इस त्याग तपस्या और सुलभ उपदेशने सभीको आकृष्ट किया। वैदिक धर्ममें ये सब बातें नहीं थीं, वहाँ तो एक वर्ग विशेषका प्रभुत्व था। अतः इन धर्मोके बढ़ते हुए प्रभुत्वको रोकनेके लिये एक ऐसे धर्मकी आवश्यकता थी जिसमें उक्त सब बातोंके साथ अपनी कुछ

विशेषता भी सुरक्षित हो। उसी आवश्यकताका आविष्कार गीतोक्त भागवत धर्म है।

उसमे क्षत्रिय श्रीकृष्णको भगवानका अवतार मानकर मानवतनधारी ईश्वरकी सृष्टिकी गई। और उन्हे ऐसा प्रभुत्व दिया गया जो किसी तीर्थङ्कर या बुद्धको तीनो कालोमे भी प्राप्य नहीं। गीताके श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। महावीर और बुद्धकी तरह राज्य सुख छोड़कर प्रव्रज्या धारण करके भगवान बननेके लिये कुछ प्रयत्न करनेकी उन्हे आवश्यकता नही। तीर्थङ्कर और बुद्धने पूर्ण ज्ञान लाभ करके उपदेश दिया। किन्तु भगवान तो सदासे ही पूर्णज्ञानी हैं अतः उन्होंने बिना ही उसके उपदेश दिया। मगर वह उपदेश जनसाधारणको न देकर अपने भक्त अर्जुनको दिया और वह भी युद्धस्थलमे किया। यह इस धर्मकी अपनी विशेषता है, क्योंकि एक तो वैदिक धर्ममे संन्यास मार्गका आदर नहीं था, दूसरे जो क्षत्रिय अपने क्षत्रियबन्धु महावीर और बुद्धके त्याग मार्गसे आकृष्ट होकर उसे अपनाते थे उन्हे रोकना भी था। तीसरे, भक्तपर भगवानकी कृपाका प्रदर्शन भी करना था, चौथे सबके लिये धर्मको सुलभ रखनेके साथ ही साथ वैदिक संस्कारोमे पली गोप्यताका भी संरक्षण करना था।

हमारा उक्त कथन कोरी कल्पना नहीं है किन्तु भारतके इतिहासज्ञों और दार्शनिकोंका भी यही मत है। दीवान बहादुर कृष्ण स्वामी आयंगरने लिखा है—"उस समय एक ऐसे धर्मकी आवश्यकता थी जो ब्राह्मण धर्मके पुनर्निर्माण कालमें बौद्ध धर्मके विरुद्ध जनताको प्रभावित कर सकता। उसके लिये एक मानव देवता और उसकी पूजाविधिकी आवश्यकता थी।'—ऐशियंट इं०, पृ० ५२८)। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ओझाजीने लिखा है—'बौद्ध और जैन धर्मके प्रचारसे वैदिक धर्मको बहुत हानि पहुँची।

इतना ही नहीं, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पड़ा और वह नये साँचेमें ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनोंसे मिलती धर्म सम्बन्धी बहुत-सी नई बातोंने प्रवेश किया।' (राज० इति०, प्र० भा पृ० १०-११)

डाक्टर राधाकृष्णनने लिखा है—'जब जनता की आध्यात्मिक चेतना उपनिषदोंके कमजोर विचारसे या वेदोंके दिखावटी देवताओंसे तथा जैनो और बौद्धोके नैतिक सिद्धान्तोंके संदिग्ध आदर्शवादसे सन्तुष्ट नहीं हो सकी, तो पुनर्निमाणने एक धर्मको जन्म दिया, जो उतना नियमबद्ध नहीं था तथा उपनिषदोंके धर्मसे अधिक सन्तोषप्रद था। उसने एक संदिग्ध और शुष्क ईश्वरके बदलेमें एक जीवित मानवीय परमात्मा दिया। भगवद्-गीता, जिसमें कृष्ण विष्णुके अवतार तथा उपनिषदोंके परब्रह्म माने गये है, पंचरात्र सम्प्रदाय और श्वेताश्वर तथा अर्वाचीन उपनिषदोंका शैवधर्म इसी क्रान्तिके फल है। (इं० फि०, जि० १, पृ० २७१-२७६)।

सर राधाकृष्णनने गीता धर्मकी उत्पत्तिका कारण धार्मिक असन्तोष बतलाया है, जो उचित ही है। किन्तु उपनिषदोंके विचार और वेदोंके दिखावटी देवताओंके साथ जो जैन धर्म और बौद्ध धर्मको भी सम्मिलित कर लिया है वह उचित नहीं है, क्योंकि इन दोनो धर्मोंसे तो वैदिक धर्मानुयायिओंका सन्तोष हो ही नहीं सकता था। इन्हींकी प्रतिक्रियाके फल स्वरूप तो उन्हे एक संदिग्ध और शुष्क ईश्वरके बदलेमें जीवित मानवीय परमात्मा मिल सका है। अतः जैन और बौद्ध धर्मके बढ़ते हुए प्रभावको नष्ट करनेके लिए उत्तर कालमें शंकराचार्यने जो मार्ग अपनाया, वही मार्ग पूर्वकालमें गीताके रचयिताने भी अपनाया।

संन्यास मार्गकी प्रबलताका कारण बतलाते हुए लोक-

मान्य तिलकने लिखा है–'सन्यास मार्गकी प्रबलताका कारण यदि शंकराचार्यका स्मार्त सम्प्रदाय ही होता तो आधुनिक भागवत सम्प्रदायके रामानुजाचार्य अपने गीता भाष्यमे शंकराचार्यकी ही नाईं कर्म योगको गौण नही मानते। परन्तु जो कर्मयोग एकबार तेजीसे जारी था वह, जबकि भागवत सम्प्रदायमे भी निवृत्ति प्रधान भक्तिसे पीछे हटा दिया गया है तब तो यही कहना पड़ता है कि उसके विछुड़ जानेके लिए कुछ ऐसे कारण अवश्य उपस्थित हुए होंगे जो सभी सम्प्रदायोको अथवा सारे देशको एक ही समान लागू हो सके। हमारे मतानुसार इनमेंसे पहला और प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मोंका उदय तथा प्रचार है, क्योंकि इन्हीं दोनो धर्मोने चारो वर्णोके लिए संन्यास मार्गका दरवाजा खोल दिया था और इसलिए क्षत्रिय वर्गमें भी संन्यास धर्मका विशेष उत्कर्ष होने लगा था।......शालिवाहन शकके लगभग छः सात सौ वर्ष पहले जैन और बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोका जन्म हुआ था और शंकराचार्यका जन्म शालिवाहन शकके ६०० वर्ष अनन्तर हुआ। इस बीचमें बौद्ध यतियोके संघोंका अपूर्व वैभव सब लोग अपनी आंखोके सामने देख रहे थे। इसलिए यति धर्मके विषयमे उनलोगोमे एक प्रकारकी चाह तथा आदरबुद्धि शंकराचार्यके जन्मके पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी। शंकराचार्यने यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मोंका खण्डन किया है तथापि यति धर्मके बारेमें लोगोंमें जो आदर बुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी उसका उन्होने नाश नहीं किया, किन्तु उसीको वैदिकरूप दे दिया और बौद्ध धर्मके बदले वैदिक धर्मकी संस्थापना करनेके लिए उन्होने बहुत से प्रयत्नशील संन्यासी तैयार किये।.. .. इन वैदिक संन्यासियो के संघको देख उस समय अनेक लोगोंके मनमे शंका होने लगी थी कि शांकर मतमें और बौद्ध मतमें क्या अंतर है? प्रतीत होता

है कि प्राय इसी शंकाको दूर करनेके लिए छान्दोग्योपनिषदके भाष्यमे आचार्यने लिखा है कि 'बौद्ध यतिधर्म और सांख्य यति धर्म दोनो वेदवाह्य तथा खोटे है। एवं हमारा संन्यास धर्म वेदके आधारसे प्रवृत्त किया गया है इसलिए यही सच्चा है"। (गी० र०, पृ० ५००-५०१)

अतः जैसे शंकराचायने जैन और बौद्ध यतियोंके प्रति जनता का आदर भाव देखकर उन धर्मोंको पदच्युत करनेके लिये वेदांत धर्ममे भी संन्यास मार्गको अपनाया और उसे वेदके आधारसे प्रवृत्त हुआ बतलाया, जब कि वेद संहिता और ब्राह्मणोमे यज्ञ यागादि कर्मप्रधान धर्मका प्रतिपादन है, वैसे ही गीताके रचयिता ने भी जैन और बौद्ध धर्मोंमे मानव रूप देवत्वकी प्रतिष्ठा और जनताके प्रति उनका आदर भाव तथा वैदिक देवताओंकी अप्रतिष्ठा देखकर एक मानव रूपधारी परमेश्वरकी सृष्टि करना उचित समझा। गीताकी रचनासे पूर्व यमुनाके तटपर वासुदेवकी भक्ति प्रचलित थी यह पाणिनीके उल्लेखसे स्पष्ट ही है। अतः उसे ही उत्तरकालमे विष्णुका रूप देकर उक्त आवश्यकता की पूर्ति कर दी गई। और चूंकि हिंसाप्रधान वैदिक यज्ञोके प्रति जनताकी अत्यन्त वितृष्णा हो चुकी थी और उनको पुनरुज्जीवित करना शक्य नहीं था, अतः श्री कृष्णको ही वेद और यज्ञ रूप बतलाकर द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानमय यज्ञको श्रेष्ठ बतलाया।

अवतारवाद

अवतारवादके सिद्धान्तको स्पष्ट रूपसे अवतरित करनेका श्रेय भी गीताको ही है। गीतामे कहा है—'जब धर्मकी हानि और अधर्मका उत्थान होता है, तब मै जन्म लेता हूँ॥ तथा साधुओंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंके निग्रहके लिए एवं धर्मकी स्थापनाके लिए

मैं प्रत्येक युगमें अवतार लेता हूँ, यही अवतारवाद है। इसके सम्बन्धमें श्री ए० बार्थ (रि० इ०, पृ० १६९-१७०) ने लिखा है—'यथार्थमें अवतारोंकी मालामें गूंथे गये देवताओं, जो वैदिक धर्मके देवताओंकी तरह केवल भावात्मक नहीं है किन्तु ठोस द्रव्य है, उच्च व्यक्तित्वसम्पन्न है, अधिक क्या मानव है, पूजनेकी प्रवृत्ति चलाकर ब्राह्मणोंने पुरानी समस्याको नई शैलीमें हल कर लिया।' मि० बार्थ के अनुसार अवतारवादका जन्म जनतामें फैले हुए असन्तोषका परिणाम था। वैदिक देवता जहाँ प्राकृतिक व्यक्तियोंके रूप थे वहाँ भावात्मक भी थे उपनिषदोंका ब्रह्मवाद तो शुद्ध भावात्मक था। भावात्मक वस्तुसे जन साधारणका परितोष नहीं होता। उसे कुछ ठोस वस्तु भी चाहिये जो मूर्त रूप भी हो। जिसकी मूर्त बनाकर पूजा वगैरह की जा सके। इतनी विशेषताओंके साथ यदि वह मानवरूप भी हो तो कहना ही क्या है?

असलमें श्री कृष्णको परमेश्वर मानना और अवतारवादका सिद्धान्त ये दो अलग अलग तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार करनेपर ही क्षत्रिय श्री कृष्णको परमेश्वर-का अवतार माना जा सकता है। फिर जब यह कहा गया कि मैं प्रत्येक युगमें अवतार लेता हूँ, तब तो श्री कृष्णके सिवाय अन्य अवतारोंको मानना भी आवश्यक था।

अधिकांश विद्वानोंका मत है कि ईसासे तीन सौ वर्ष पूर्व वासुदेव कृष्ण विष्णुके अवतार माने जाने लगे थे। और उनके अवतारकी बात चलनेके बाद बाकी अवतार भी विष्णुके ही अवतार माने जाने लगे। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें अवतारवादकी भावना पाई जाती है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि प्रजापतिने मत्स्य कूर्म और वराहका अवतार लिया था, किन्तु विष्णुके अव-

तारकी गन्ध भी नहीं है। सम्भवतया उक्त भावनाको ही लेकर अवतारवादके सिद्धान्तको अवतरित किया गया।

चूंकि अवतारवादके सिद्धान्तका अवतार एक समस्याको हल करनेके लिये हुआ था और उस समस्याको हल करनेके दो उपाय थे—एक उच्चव्यक्तित्व सम्पन्न मानवको परमेश्वरके रूपमें प्रतिष्ठा, दूसरे, अन्य धर्मोंमें पूजित होनेवाले महापुरुषों अथवा विशिष्ट व्यक्तियोंको भी उसी एक अपने परमात्माका अंश मानकर अपने अवतारोंकी मालामें गूंथना, जिससे उधर आकृष्ट होनेवाले स्त्री-पुरुष उन व्यक्तियोंको भी उसी एक विष्णुका अंशावतार मानकर विष्णुके पूर्णावतारकी ओर ही आकृष्ट हो तथा उनकी दृष्टिमें पूर्णावतारी श्रीकृष्णकी तुलनामें उन विशिष्ट व्यक्तियोंकी प्रतिष्ठा कम हो जाये। आजके समन्वयवादी व्यक्तियोंकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि सब धर्मोंके महापुरुषोंका समन्वय करनेके लिये ऐसा किया गया, क्योंकि गीताके नौवें अध्यायमें कहा गया है कि जो भी अन्य देवताओंके भक्त लोग श्रद्धायुक्त होकर भजन करते हैं वे भी मेरा ही भजन करते हैं। किन्तु उस समन्वयमें भी वही दृष्टि कार्य करती है। उसीके फलस्वरूप जैनोंके ऋषभ देव, सांख्योंके कपिल और बौद्धोंके बुद्धको विष्णुके अवतारोंमें स्थान दिया गया।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जैन धर्ममें २४ तीर्थङ्कर और बौद्ध धर्ममें २५ बुद्ध माने गये हैं। बुद्धके निर्वाणके पश्चात्से ही बौद्ध २५ बुद्धोंको मानते आये हैं। इसी तरह जैनोंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी मान्यता भी अति प्राचीन है और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें इस विषयमें ऐकमत्य है। किन्तु हिन्दू अवतारोंकी संख्यामें क्रमिक विकास हुआ है।

सबसे अधिक अवतार संख्या २२-२३ श्रीमद्भागवतमे मिलती है। उसका रचनाकाल ईस्वी सातवीं शती है। अत हिन्दू अवतारोंकी संख्या पर भी जैन-बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है।

जैन पुराणोंमें श्री कृष्ण

जिस तरह हिन्दू पुराणोमे ऋषभ देवका उल्लेख है उसी तरह जैन पुराणोंमें श्री कृष्णका न केवल उल्लेख है किन्तु विस्तृत चरित भी वर्णित है और उसके वर्णनका मुख्य कारण यह है कि जैन अनुश्रुतिके अनुसार श्री कृष्ण २२ वें जैन तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथके चचेरे भाई थे। तथा जैन धर्मके ६३ शलाका पुरुषोमे से थे। इसीसे जैन पुराणोमे श्री कृष्णके प्रति प्रायः वैसा ही आदर भाव व्यक्त किया गया है जैसा श्रीमद्भागवतमे किया गया है। किन्तु उन्हें मानव रूपमे परमात्मा नहीं माना।

नेमिनाथ और श्रीकृष्ण, दोनोका जन्म यदुकुलमे हुआ था। उनके प्रपितामहका नाम शूर था और पितामहका नाम था अन्धकवृष्णी। शूरने मथुराके निकट सौरिपुर नामक नगरकी स्थापना की थी। सौरिपुर नरेश अन्धकवृष्णिके दस पुत्र थे। उनमेसे बड़े पुत्रका नाम समुद्र विजय था। अन्धकवृष्णिने अपने बड़े पुत्र समुद्र विजयको राज्य देकर जिनदीक्षा धारण कर ली। उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम वसुदेव था। वह अपने बड़े भाई समुद्र विजयके अनुशासनमे रहता था और अनेक कलाओंमें पारङ्गत था। गायन और वादनकलामे वह इतना निपुण था कि जब वह गाता था तो उसके मनोहर स्वर और रूपसे आकृष्ट होकर नगरकी नारियाँ अपना-अपना काम छोड़कर उसके चारों ओर एकत्र हो जाती थी।

एक बार प्रमुख नागरिकोंने राजा समुद्र विजयसे इस बातकी शिकायत की और समुद्र विजयने वसुदेवको महलसे निकलनेकी मनाई कर दी। एक दिन अवसर पाकर वसुदेव महलसे निकल गया, और देश-देशान्तरोंमें घूमता हुआ एक बार एक युद्धमें सम्मिलित हुआ वहाँसे समुद्र विजय उसे लौटा लाये। लौटनेपर वसुदेवका परिचय कंससे हुआ। कंस उग्रसेनका पुत्र था। देवज्ञोंके द्वारा कंसको अमंगल सूचक बतलाने पर उग्रसेनने उसका जन्म होते ही परित्याग कर दिया था और एक वणिक्ने उसका पालन किया था।

एकबार जरासंधने समुद्रविजयको अपने एक शत्रुपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी। समुद्र विजयने कंसके साथ वसुदेवकी अधीनतामें एक सेना भेजी। कंसने शत्रुको पकड़कर वसुदेवके सामने उपस्थित किया। वसुदेव उसे जरासन्धके पास ले गया। जरासन्धने प्रसन्न होकर मथुराका राज्य तथा अपनी पुत्री वसुदेवको देना चाही। किन्तु वसुदेवने अस्वीकार करते हुए कंसको उस पारितोषिकका अधिकारी बतलाया। और जरासंधने कंसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके उसे मथुराका राज्य दे दिया।

भागवत सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें उक्त घटनाओंका संकेत नहीं है। किन्तु इन घटनाओंके वर्णनमें सत्यकी कुछ ऐसी छाप है जो विद्वानों को यह विश्वास दिलानेके लिये प्रेरित करती है कि जैन लोग उक्त घटनाओंकी जानकारीके सम्बन्धमें कोई स्वतंत्र जरिया रखते थे, और यह बात जिनसेनकृत हरिवंश पुराणकी उत्थानिकासे प्रमाणित होती है। जिनसेनने अपने हरिवंश

---

१ देखो भाण्डा० इ० पत्रि० जि० २३, पृ० १२०।

पुराणकी उत्थानिकामे लिखा है कि मैंने अपना यह हरिवंश चरित पूर्वाचार्योंके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके आधारसे लिखा है। अतः यह आक्षेप, कि जैनोंने अपने पुराण हिन्दू पुराणोंके आधारपर घड़े है, अवश्य ही भ्रम पूर्ण, और निराधार है। बल्कि कतिपय ऐतिहासिक तथ्योंके सम्बन्धमें हिन्दू पुराणोकी अपेक्षा जैन पुराण अधिक विश्वसनीय और विशेष सूचक हैं।' (भां०, इ० पत्रिका, जि० २१, पृ० १२०)।

२२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ

जैन पुराणोंके अनुसार सौरिपुरमे समुद्रविजयके अरिष्टनेमि नामका एक पुत्र हुआ। उससे प्रथम समुद्रविजयके लघुभ्राता वसुदेवके वासुदेव श्रीकृष्णका जन्म हो चुका था। जरासन्धके आक्रमणके भयसे यादवगण शौरिपुर छोड़कर द्वारकामे जा बसे। उसके पश्चात् युवा होनेपर श्रीकृष्णने जरासन्धका वध किया और दिग्विजय करके अर्धचक्रित्व पद प्राप्त किया। इधर नेमिनाथ भी युवा हो चले।

एक दिन राजसभामे सब यादव उपस्थित थे। एक सिंहासन पर श्रीकृष्ण और नेमिनाथ भी विराजमान थे। सभामें वीरताकी चर्चा चल पड़ी और तब सब अपने अपने बलका प्रदर्शन करने लगे। नेमिनाथने भी अपने बलका प्रदर्शन किया, जिससे श्रीकृष्ण-के चित्तपे नेमिनाथकी ओरसे शंका उत्पन्न हो गई। तबतक नेमिनाथ अविवाहित थे और कोई भी कन्या उनका मन आकृष्ट नही कर सकी थी।

एकबार वसंत ऋतुमें सब यादवगण बन बिहारके लिये गये। अपनी पत्नियोंके साथ श्रीकृष्ण भी इस आनन्दोत्सवमें

सम्मिलित हुए और वे नेमिनाथको भी साथ ले गये। श्रीकृष्णकी रानियोंने अपने पतिका संकेत पाकर अपने देवर नेमिनाथको घेर लिया। वनक्रीडाके पश्चात् जलक्रीड़ा आरम्भ हुई। जलक्रीडाके अन्तमें नेमिनाथने अपने गीले वस्त्र उतारकर श्रीकृष्णकी रानी जाम्बवन्तीसे धोनेके लिये कहा। इस पर जाम्बवन्ती बिगड़कर बोली, मेरे पति श्रीकृष्ण इतने पराक्रम शाली और वीर हैं, वे भी मुझे ऐसी आज्ञा नहीं देते।

अपनी भावजके इस तानेसे क्षुब्ध होकर कुमार नेमिनाथने श्रीकृष्णके पाञ्चजन्य शंखको फूंका। उसकी ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण भी विस्मयसे अभिभूत हो गये, और नेमिनाथसे इसका कारण पूछा। तब उन्हे ज्ञात हुआ कि जाम्बवन्तीके तानेसे क्षुब्ध होकर कुमारने ऐसा किया है। इस घटनाके पश्चात् ही श्रीकृष्णने कुमार नेमिनाथके पाणिग्रहण करानेका विचार किया। और भोजवशकी कन्या राजीमतीके साथ विवाह होना तय किया। विवाहकी तैयारियां हो रही थी। तभी एकदिन नेमि सजधजकर अनेक राजकुमारोंके साथ वनक्रीड़ाके लिये गये। वहाँ एक स्थान पर बहुतसे पशुओंको बधा हुआ देख कर उन्होने सारथिसे पूछा कि ये पशु किस लिये बन्द है। सारथिने कहा—आपके विवाहमें सम्मिलित हुए मासभोजी नरेशोंके लिये।

इस दु खद संवादने नेमिनाथके मनको द्रवित कर दिया और वे मोक्ष लक्ष्मीके वरणके लिए लालायित हो उठे। समीप स्थित उर्जयन्त (गिरिनगर) पर्वतपर जाकर उन्होंने प्रव्रज्या धारण करली। और कैवल्य पद प्राप्त करके मुक्तिका मार्ग बतलाने लगे। बहुतसे मनुष्य उनके अनुयायी और शिष्य बन गये।

एक दिन वसुदेव बलभद्र और कृष्णके साथ भगवान

नेमिनाथकी वन्दनाके लिए गये और उनको नमस्कार करके समवसरणमे बैठ गये। उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् बलदेवने भगवानसे प्रश्न किया—नाथ ! यह हमारी नगरी द्वारिकापुरी क्या इसी प्रकार सुरक्षित रहेगी या समुद्रमें डूब जायेगी ? कृष्णके जीवनका अन्त कैसे होगा ? मेरी इससे गहरी ममता है।

भगवान् बोले—आजसे बारहवे वर्षमे मद्यपानके निमित्तसे द्वीपायन मुनिके क्रोधसे द्वारिकापुरीका विनाश होगा। और वनमें सोते हुए श्री कृष्णका अन्त जरत् राजकुमारके निमित्तसे होगा।

भगवानकी इस वाणीको सुनकर जरत्कुमार बहुत दुखी हुआ और कुटुम्बका परित्याग करके ऐसे देशको चल दिया जहां श्री कृष्णसे उसका समागम ही न हो सकता हो। और श्री कृष्ण ने समस्त द्वारिका पुरीमे मद्यपानपर प्रतिबन्ध लगानेकी घोषणा कर दी तथा समस्त मद्य और मद्यपात्र एक पर्वतकी गुफाके पास स्थित कुण्डमे फिकवा दिये।

बारहवे वर्षको बीता जानकर द्वीपायन मुनि द्वारिका नगरी के बाहर स्थित पर्वतपर आकर ठहरे और तपमे निमग्न होगये। उधर कुछ यादव कुमार वनमें क्रीड़ा करनेके लिये आये। उन्होने प्याससे पीड़ित होकर कुण्डमे फेंकी हुई पुरानी मदिराका पान कर लिया। मदिराने अपना प्रभाव दिखलाया। वे यादव कुमार मदोन्मत्त होकर नाचने गाने लगे। अचानक उनकी दृष्टि द्वीपायन मुनिपर जा पडी। 'यही द्वीपायन हमारी द्वारिकाको नष्ट करेगा। इसे हमे मार डालना चाहिये।' यह सोचकर वे उन्मत्त यादव कुमार उसे पत्थरोंसे मारने लगे। पत्थरोंकी चोटसे आहत होनेपर द्वीपायनका क्रोध भड़क उठा, भ्रुकुटियॉ तन गई, वह दांतोसे ओष्ठ काटने लगा।

यह देखते ही यादव कुमारोंका नशा उतर गया और वे भाग कर द्वारिकामें आये। किसीने जाकर बल्देव और श्री कृष्णसे यह समाचार कहा। दोनों भाई द्वारिकाका विनाशकाल आया जान दौड़े दौड़े द्वीपायनकी शरणमें आये और क्षमा माँगने लगे। रोषसे क्षुब्ध द्वीपायनने केवल दो अंगुलियोंके द्वारा यह सूचित किया कि तुम दोनों शेष बचोगे। उसके पश्चात् द्वारिका भस्म हो गई। बल्देव और श्रीकृष्णने लोगोंके आर्तनादसे पीड़ित होकर समुद्रके पानीसे आगको बुझानेकी चेष्टा की। किन्तु जलने तेलका ही काम किया।

द्वारिका भस्मसे शेष बचे दोनों भाई अत्यन्त व्यथित चित्तसे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये। मार्गमें थककर श्री कृष्ण एक वृक्षके नीचे लेट गये और बलदेव पानी लेनेके लिए चले गये।

श्री कृष्णका समस्त शरीर पीताम्बरसे आच्छादित था और बांये घुटनेपर दक्षिण पैर रखा हुआ था। उस वनमें शिकारके लिये आये हुए जरत्कुमारकी दृष्टि उसपर पड़ी। सोते हुए श्री कृष्णको उसने हरिण समझकर अपना बाण चला दिया। बाण श्री कृष्णके पैरमें लगा। बाणसे पीड़ित श्री कृष्णने जिस दिशासे बाण आया था, उस दिशाको लक्ष्यकर ऊँचे स्वरसे कहा—जिस अकारण वैरीने मेरा पैर छेदा है वह अपना नाम और कुल बतलाये, क्योंकि अज्ञात नाम-कुलवाले मनुष्यको रणमें न मारनेकी मेरी प्रतिज्ञा है।

यह सुनकर जरत्कुमार ने कहा-मैं वसुदेवका पुत्र और श्रीकृष्णका भ्राता हूँ। अपने निमित्तसे श्री कृष्णकी मृत्यु जानकर बारह वर्ष से इसी वनमें भ्रमण करता रहा हूँ। आजसे पूर्व मैंने किसी मनुष्यको इस वनमें नहीं देखा, आप कौन हैं?

यह सुनते ही श्री कृष्णने बड़े प्रेमसे पुकारा और जरत्कुमार भी धनुषबाण फेंककर श्री कृष्णके चरणोंमें विलाप करने लगा। श्री कृष्णने उसे समझाते हुए कहा—बलदेव पानी लेनेके लिए गये हैं। उनके लौटनेके पूर्व ही तुम यहाँ से चले जाओ। अन्यथा वह तुम्हें जीवित न छोड़ेंगे।

जरत्कुमारके जाते ही श्री कृष्णने तीव्र वेदनासे पीड़ित होकर प्राण त्याग किया।

श्रीकृष्ण और नेमिनाथका यह संक्षिप्त वृत्तान्त दोनोंके जीवन-क्रम तथा मार्गपर प्रकाश डालनेके लिए पर्याप्त है। नेमिनाथ निवृत्तिमार्गी थे और श्री कृष्ण प्रवृत्तिमार्गी। नेमिनाथ अपने विवाहके निमित्तसे होनेवाली पशु हिंसाके कारण न केवल विवाह से ही विरक्त हुए, किन्तु संसारसे ही विरक्त होगये। किन्तु श्री कृष्ण अन्त तक प्रवृत्तिशील रहे–समस्त यादवोंका विनाश होनेपर भी उन्होंने निवृत्ति मार्गको नहीं अपनाया। अतः यदि उन्हें भागवत धर्मका संस्थापक माना जाता है तो स्पष्ट ही भागवत धर्म प्रवृत्तिमार्गी है।

डा० कीथ (ज० रा० ए० सो० १९१५, पृ० ८४२-८४३) तथा मैकनिकल (इं० थीज्म, पृ० ६३) ने श्री कृष्ण पूजाका प्रभाव जैन धर्मपर बतलाया है। डा० कीथका कहना है कि महावीरके जन्मकी कथा श्री कृष्णके जन्मकी कथासे ली गई है। इस संबन्धमें हम भगवान महावीरके सम्बन्धमें लिखते समय प्रकाश डालेंगे। जहाँ तक भक्तिवादका संबन्ध है, हमे यह स्वीकार करनेमें संकोच नहीं है कि श्री कृष्णकी भक्तिका प्रभाव जैन धर्मपर भी पड़ा है और उससे जैन धर्मका भक्तिप्रवाह विकृत और विरूप हुआ है।

नेमिनाथकी ऐतिहासिकता

हम पहले लिख आये हैं कि छा० उप० मे देवकीपुत्र श्रीकृष्णका निर्देश है, जो घोर आंगिरसके शिष्य थे। आङ्गिरस ऋषिने देवकी पुत्र श्रीकृष्णको कुछ नैतिक तत्त्वोका उपदेश दिया जिनमें अहिसा भी है। उपनिषदोंको ही सब धर्मोंका मूलाधार मानने वालोंका कहना है कि यहींसे जैनोने अहिसा तत्त्वको ग्रहण किया। (अर्ली हि० वैष्ण०, पृ० १२३)।

श्री धर्मानन्द कौशाम्बीने (भा० सं० अ०, पृ० ३८)—'घोर आंगिरसके नेमिनाथ होनेकी संभावना व्यक्त की है क्योंकि जैन ग्रन्थकारोंके अनुसार श्रीकृष्णके गुरू नेमिनाथ तीर्थङ्कर थे। श्रीकौशाम्बी जीकी उक्त संभावनामे कोई तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि घोर आंगिरस और नेमिनाथके एक व्यक्ति होनेका सूक्ष्मसा भी आभास नहीं मिलता। किन्तु छा० उ० के उल्लेखसे इतना व्यक्त होता है कि श्रीकृष्णको किसीने अहिंसाका उपदेश दिया था। जैनोंके अनुसार वह व्यक्ति नेमिनाथ था जिसने पशुहिसाके पीछे न केवल विवाह ही नहीं किया, अपि तु संसार को ही छोड़ दिया।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० राय चौधरीने अपने 'वैष्णव धर्मके प्राचीन इतिहासमे नेमिनाथको श्रीकृष्णका चचेरा भाई लिखा है किन्तु उन्होंने इससे अधिक जैन ग्रन्थोमे वर्णित नेमिनाथके जीवन वृत्तान्तका कोई उपयोग नही किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने उक्त ग्रन्थमे डा० राय चौधरीने श्रीकृष्णके ऐतिहासिक व्यक्ति होनेके सम्बन्धमे उपलब्ध प्रमाणोका संकलन किया है। अतः उनकी दृष्टि विशेषरूपसे उसी ओर रही है।

कतिपय विदेशी विद्वानोंने डा० राय चौधरीके मतसे प्रभावित होकर श्रीकृष्ण वासुदेवको ऐतिहासिक व्यक्ति माना है, किन्तु नेमिनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति माननेकी ओर उनका कोई झुकाव नहीं है।

पी० सी० दीवान ने अपने लेखमें (भां० इं० पत्रिका, जि० २३, पृ० १२०) इसके दो कारण बतलाये है—प्रथम, जैन ग्रन्थोंके अनुसार नेमिनाथ और पार्श्वनाथके बीचमें ८४००० वर्षका अन्तर है। दूसरे, हिन्दू पुराणोंमें इस बातका निर्देश नहीं है कि वसुदेवके समुद्रविजय नामक बड़े भाई थे और उनके अरिष्टनेमि नामका कोई पुत्र था। प्रथम कारणके सम्बन्धमें श्री दीवानका कहना है कि 'हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञानके लिये यह सम्भव नहीं है कि जैन ग्रन्थ-कारोंके द्वारा एक तीर्थङ्करसे दूसरे तीर्थङ्करके बीचमें सुदीर्घकालका अन्तराल कहनेमें उनका क्या अभिप्राय है इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु केवल इसी कारणसे जैन ग्रन्थोंमें वर्णित अरिष्ट-नेमिके जीवन वृत्तान्त को, जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थोंके आधार पर लिखा गया है, दृष्टिसे ओझल कर देना युक्तियुक्त नहीं है।

दूसरे कारणका स्पष्टीकरण सरल है। भागवत सम्प्रदायके ग्रन्थकारोंने अपने परम्परागत ज्ञानका उतना ही उपयोग किया जितना श्रीकृष्णको परमात्मा सिद्ध करनेके लिये आवश्यक था। जैन ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित है जैसा कि ऊपर दिखाया है, जो भागवत साहित्यके वर्णनमें नहीं मिलते।

इसके सिवा अथर्ववेदके माण्डूक्य, प्रश्न और मुण्डक उप-निषदोंमें अरिष्टनेमिका नाम आया है।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४९ मे विष्णुसहस्र नाममे दो स्थानोपर 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' पद आया है। यथा—

'अशोक स्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥५०॥'
'कालनेमि नहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥८२॥'

इन दोनोमे जो अन्तिम चरण है वह ध्यान देने योग्य है। विक्रम सम्वत्की १९ वी शतीके आरम्भमे जयपुरमे पं टोडरमल नामके एक जैन विद्वान हो गये है। उन्होने अपने मोक्षमार्ग प्रकाश नामक ग्रन्थमे नीचेके श्लोकार्द्धको उद्धृत किया है। उसमे 'जिनेश्वर' पाठ पाया जाता है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें श्रीकृष्णको 'शौरि' लिखा है। आगरा जिलेमे बटेश्वरके पास शौरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थोके अनुसार प्रारम्भमे यहीं यादवोकी राजधानी थी। जरासन्धके भयसे यादव लोग यहींसे भागकर द्वारिकापुरीमे जा बसे थे। यहीं पर नेमिनाथका जन्म हुआ था। इसलिये उन्हे 'शौरि' भी कहा है और वे जिनेश्वर तो थे ही। हिन्दु पुराणोमे शौरिपुरके साथ यादवोका कोई सम्बन्ध मेरे देखनेमे नहीं आया। अत. महाभारतमे श्रीकृष्णको 'शौरि' लिखना विचारणीय है।

महाभारतके किसी संस्करणसे मैंने एक श्लोकका संग्रह किया था, वह श्लोक निम्न प्रकार है—

रेवताद्रौ जिनो नेमियुगादिर्विमलाचले
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

प्रभास पुराणमे यह श्लोक मिलता है। इसमे गिरिनार पर्वतपर नेमि जिनका उल्लेख किया है और उन्हे मोक्षमार्गका कारण बतलाया है।

स्कन्द पुराणके प्रभास खण्डमें कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम् ।
तेनैव तपसाकृष्ट शिवः प्रत्यक्षतां गतः ॥
पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिदिगम्बरः ।
नेमिनाथः शिवोऽथैव नाम चक्रेऽस्य वामनः ॥
कलिकाले महाघोरे, सर्वपापप्रणाशकः ।
दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ॥

अर्थात्—अपने जन्मके पिछले भागमें वामनने तप किया। उस तपके प्रभावसे शिवने वामनको दर्शन दिये। वे शिव श्यामवर्ण, नग्न दिगम्बर और पद्मासनसे स्थित थे। वामनने उनका नाम नेमिनाथ रक्खा। यह नेमिनाथ इस घोर कलिकालमे सब पापोका नाश करनेवाला है। उनके दर्शन और स्पर्शनसे करोड़ों यज्ञोंका फल होता है।

जैन नेमिनाथको कृष्णवर्ण मानते है और उनकी मूर्ति भी अन्य जैन मूर्तियोके अनुसार दिगम्बर और पद्मासन रूपमे स्थित होती है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि नेमिनाथकी श्यामवर्ण पद्मासनरूप जैन मूर्तिको शिवकी संज्ञा दे दी गई है। क्योंकि शिवका यह रूप नही है। इसीसे कलिकाल मे उसे सर्व पापोंका नाशक माना है।

विद्वानोसे यह बात अज्ञात नहीं है कि कलिकालके बहानेसे ब्राह्मणोंको अनेक पुरानी वैदिक रीतियोंको त्यागना पड़ा है और अनेक नये तत्त्वोको स्वीकार करना पड़ा है। जान पड़ता है नेमिनाथकी मूर्तिकी शिवके रूपमे उपासना भी उसीका फल है। आज भी बद्रीनाथमें जैन मूर्ति बद्री विशालके रूपमे पूजी जाती है। ब्राह्मण धर्मकी यही तो विशेपता है। वह अन्य धर्मके

तत्त्वोंको अपनेमें इस ढंगसे पचाता आया है कि कालान्तरमें वे तत्त्व उसके ऐसे अभिन्न अंग बन गये कि मानो वे उसीके मूल तत्त्व है और जिस धर्मके वे मूल तत्त्व थे, उस धर्मने उन तत्त्वोंको ब्राह्मण धर्मसे लिया है। वैदिक कालसे लेकर पौराणिक काल तकके साहित्यका बारीकीसे अन्वेषण करनेसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणके लिये उपनिषदोंके तत्त्वज्ञानको ही ले लें। वह वैदिक आर्योंकी देन नहीं है। किन्तु उसे उन्होंने इस तरहसे अपनाया मानो वह वेदका ही एक अंग है। इसी तरह उपनिषदोंके पश्चात् महाभारत और पुराणोंका संवर्द्धन करके उन्हें इस रूपमें ग्रथित किया कि जिस समय जिसको प्रभावशाली पाया उसको अपना ही अंग बना लिया और इस तरह उस ओर आकृष्ट होनेवाली जनताको उधर जानेसे रोक लिया। इतना ही नहीं, यदि अपने साहित्यमें दूसरे धर्मोके अनुकूल कोई बात दिखाई दी तो उसका सम्मार्जन कर दिया। यथा—जिनेश्वरको जनेश्वर और जिनको जन कर दिया। या उस अंशको प्रक्षिप्त करार देकर नये संस्करणमेंसे निकाल दिया, इत्यादि।

ऐसी परिस्थितिमें वास्तविक प्राचीन स्थितिका दिग्दर्शन करा सकना शक्य नहीं है। फिर भी उपलब्ध वैदिक साहित्यके सिवाय जब कोई अन्य अवलम्बन न हो तो उसीको आधार बनाकर चलना ही पड़ता है। क्योंकि उपलब्ध जैन साहित्य वैदिक साहित्य जितना प्राचीन नहीं है यह स्पष्ट है। और बौद्ध साहित्य जैन साहित्यका समकालीन ही है। अतः गत्यन्तरका अभाव होनेसे वैदिक साहित्यको ही लेकर खोज बीन करना पड़ता है और उस खोज बीनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन धर्म जिन मूल तत्त्वोंको अपनाये हुए है, वे मूल तत्त्व ऋग्वेदसे

भी प्राचीन है और सिन्धुघाटी सभ्यता तक उनकी परम्परा जाती है।

द्रविड़ सभ्यता और जैन धर्म

हम पिछले पृष्ठोंमें लिख आये हैं कि ऋग्वैदिक कालसे ही भारतमें दो विभिन्न विचार धाराएँ प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। एक धारा है वैदिक संस्कृतिकी और दूसरी धारा है वेद विरोधी, जिसे विद्वानो[1] ने द्रविड़ विचारधारा या द्रविड़ संस्कृति माना है। प्राचीन द्रविड़ बड़े सुसंस्कृत और सभ्य थे। और उनकी अपनी सभ्यता थी। सिन्धुघाटीसे पूरबकी ओर बढ़नेके पश्चात् धीरे-धीरे वैदिक धर्मने जो हिन्दू धर्मका रूप ले लिया उसका एक प्रमुख कारण वैदिक आर्यों पर द्रविड़ विचार धाराका प्रभाव भी था।

द्रविड़ लोग आर्योंके देवताओं और पुरोहितोंको पसन्द नहीं करते थे। इसीसे ऋग्वेदमें उन्हे दास, दस्यु और असुर बतलाया है। जब ब्राह्मणोंने देखा कि वे लोग लड़भिड़कर भी वशमे नहीं आते तो अन्तमे उन्होने द्रविड़ोंके कुछ देवताओको मान लिया। इससे उन्हे द्रविड़ोकी सहानुभूति मिली और वे धीरे-धीरे वैदिक आर्योंके परिवर्तित धर्मकी सीमामें आने लगे।

अपनी सभ्यताके सर्वोच्च उन्नत कालमे उन द्रविड़ोका क्या धर्म था, यह तथ्य आज भी अन्धकारमे है। किन्तु सिन्धुघाटीसे प्राप्त अवशेषोंके प्रकाशमे वैदिक आर्योंके देवताओंके साथ आधुनिक हिन्दू देवताओकी तुलना करके यह मान लिया गया है कि शिव और दुर्गा द्रविड़ देवता है। तथा प्राचीन द्रविड़ लोग योगकी प्रक्रियासे भी परिचित थे।

१—प्रीहि० इ०, पृ० १२। हि० फि० ई० वे०, जि० १, पृ० १।

प्राचीन द्रविड़ों और वैदिक आर्योंके धर्मका मिश्रण होनेपर द्रविड़ देवताओंकी पूजा आर्य और द्रविड़ दोनो करने लगे। किन्तु दोनोकी पूजाविधिमे भेद था। इस मिश्रणके फलस्वरूप अनार्य जादूगर और द्रविड़ पुजेरी ब्राह्मणोंमे सम्मिलित हो गये और धीरे-धीरे अनार्य जातियाँ भी अपने आर्य होनेका दावा करने लगी। तथा द्रविड़ लोग एक तरहसे यह भूल ही गये कि वे भारतमे आये हुए वैदिक आर्योंसे बहुत अधिक प्राचीन सभ्यताके उत्तराधिकारी होनेका दावा कर सकते हैं और उनके पूर्वज आर्य देवताओंको नहीं पूजते थे। (प्रीहि० इ० पृ० ३२-३८)।

ये द्रविड़ लोग वैदिक आर्योंसे भिन्न थे इस लिये उन्हें अन-आर्य कहा गया है। किन्तु ज्यों-ज्यों भारतमे वैदिक आर्योंका प्रभाव बढ़ता गया त्यों त्यों 'आर्य' शब्द श्रेष्ठताका वाचक बनता गया और अनार्य' शब्द म्लेच्छ का। फलतः प्रत्येक श्रेष्ठत्वा-भिमानी अपनेको आर्य और अपने विरोधीको अनार्य या म्लेच्छ कहने लगा। जैन साहित्यमे ब्राह्मणोंको साक्षर म्लेच्छ कहा है और हिन्दू पुराणोंमे जैन धर्मको दैत्यदानवोंका धर्म कहा है।

पद्मपुराणके प्रथम सृष्टि खण्डमे जैनधर्मकी उत्पत्ति कथा इस प्रकार दी है—एक स्थान पर दैत्य तप करते थे। वहाँ दिगम्बर योगीका भेष धारण करके माया मोह पहुंचा और बोला—दैत्यों! तुम यह तप किस लिये करते हो? दानवोंने कहा—परलोकमे सुख प्राप्तिके लिये। तब माया मोह बोला—यदि मुक्ति चाहते हो तो आर्हत धर्मको धारण करो। यह मुक्तिका द्वार है। मायामोहके समझानेपर दैत्योंने वैदिक धर्म छोड़कर आर्हत धर्म धारण किया।

विष्णु पुराण अध्याय १७-१८ में भी लगभग ऐसी ही कथा है, जो इस प्रकार है—एक बार देवो और असुरोंमें युद्ध हुआ। देव हार गये और असुर जीत गये। हारे हुए देव विष्णु भगवानकी शरणमे पहुंचे और प्रार्थना करने लगे कि महाराज! कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे हम असुरों पर विजय प्राप्त कर सकें। देवोंकी प्रार्थना सुनकर विष्णु भगवानने अपने शरीरसे एक मायामोह नामका पुरुष उत्पन्न किया और देवनाओंसे कहा—यह मायामोह अपनी मायासे उन दैत्योंको मोहितकर वेद मार्गसे भ्रष्ट कर देगा। तब वे दैत्यगण आपके द्वारा मारे जा सकेंगे।

तब वे हदेवगण उस मायामोको लेकर उस स्थानपर गये जहाँ असुर लोग तप करते थे। उस मायामोहने नर्मदाके किनारे तपस्या करते हुए उन महा असुरोंको देखकर दिगम्बर साधुका भेष धारण किया। वह शरीरसे नग्न था उसका सिर मुड़ा हुआ था, और हाथमें मयूरके पंखोकी पीछी थी। वह उन दैत्योसे मीठी बाणीमे बोला—तुम लोग यह तप ऐहिक फलकी इच्छासे करते हो या परलोक सम्बन्धी फलकी इच्छा से? तब असुर बोले—हम परलोकके सुखकी इच्छासे तप करते हैं आप हमसे क्या चाहते है? मायामोह बोला—मुक्ति चाहते हो तो मेरा कहना मानो। तुम आर्हत धर्म धारण करो, यही मुक्तिका खुला द्वार है। इस धर्मसे बढ़कर मुक्ति देनेवाला कोई दूसरा धर्म नहीं है। इस प्रकार उस मायामोहके समझानेपर वे दैत्य वेदमार्गसे भ्रष्ट हो गये और आर्हत धर्मको धारण करनेसे आर्हत (जैन) कहलाये।

इसी प्रकारकी कथा शिवपुराण द्वितीय रुद्र हिसंता, खण्ड ५, अध्याय ४-५ में भी है।

यद्यपि ये कथाएँ जैन धर्मको असुरों-दैत्यों दानवोंका धर्म कहकर बदनाम करनेके लिये ही रची गई है। तथापि यदि इनमें कुछ तथ्यांश मान लिया जाये तो कहना होगा कि ऋग्वेदमें जिन अपने विरोधियोको दास दस्यु असुर आदि शब्दोंसे पुकारा गया है, उनमें उस वेदविरोधी धर्मके अनुयायी भी हो सकते हैं जो आज जैनधर्म कहलाता है।

अतः आधुनिक जैन धर्मका पूर्वरूप उन जातियोंमेंसे किसी एकका धर्म हो सकता है, जो सिन्धुघाटी सभ्यताके कालमें वर्तमान थी. और उसीके पूर्वपुरुष योगी ऋषभदेव थे। किन्तु उस समय जैन धर्म किस नामसे उल्लिखित होता था यह अन्धकारमें है, क्योंकि महावीरके समयमें जैन साधुओंका सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कहलाता था। उसके बाद उनका धर्म आर्हत धर्म कहा जाने लगा और फिर जैन धर्म कहा जाने लगा। इससे नाम भेद होना ही सभव है।

एक बात और भी द्रष्टव्य है। जैन शास्त्रोंमें ऋषभदेवको इक्ष्वाकु[१] वंशीके साथ ही पुरुवंश नायक लिखा है। ऋग्वेदके अनुसार भी इक्ष्वाकु पुरुराजाओंकी ही एक श्रेणी थी। ऋग्० (१-१०८-८) में अनु, द्रुह्यु, तुर्वश और यदुके साथ पुरुका भी निर्देश है। तथा ऋक् (७-८-४) मे पुरुओंको जीतनेके उपलक्षमें भरतोंके अग्निहोत्र करनेका निर्देश है।

ऋग्वेद तथा उसके पश्चात्के साहित्यमें भरतोंका विशेष महत्व बतलाया है। एक ऋचामें भरतोंको पुरुओंका शत्रु

१—पुरु और इक्ष्वाकुके सम्बन्धमें पहले पृ० १५ पर लिख आये हैं।

बतलाया है। शतपथ ब्रा० (६-८-४) में पुरुओंको असुर राक्षस बतलाया है। इससे पुरुओंके प्रति वैदिक दृष्टिकोणका संकेत मिलता है। किन्तु पुरुलोग आर्य प्रतीत होते हैं क्योंकि ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओंमें मूलनिवासियों पर पुरुओंकी विजयका निर्देश है।

असलमें आर्योंमें भी अनेक भेद थे। सभी आर्य वैदिक नहीं थे। इससे आर्योंमें भी परस्परमें युद्ध होते थे। उदाहरणके लिये, सर जार्ज ग्रियर्सनका मत है कि ब्राह्मणधर्मके पक्षपाती कुरुओंसे ब्राह्मण धर्म-विरोधी पञ्चाल आर्योंने पहले प्रवेश किया। ब्राह्मण विरोधी पार्टी योद्धा लोगोंकी थी, उन्होंने पुरोहित पार्टीको हराया। (कै० हि० पृ० २७५)। अतः यह संभव है कि पुरुलोग अवैदिक ऋषभदेवके उपासक रहे हों। इसीसे वैदिक आर्योंका उनके प्रति शत्रुभाव रहा हो।

ऋग्वेदमें पुरुओंको सरस्वतीके तटपर बतलाया है। पुरु-राजाओंकी असाधारण लम्बी सूचीसे पुरुजातिका महत्त्व स्पष्ट है। इक्ष्वाकु परम्परा मूलतः पुरुराजाओंकी एक परम्परा थी। उत्तर इक्ष्वाकुओंका सम्बन्ध अयोध्यासे था। जैन शास्त्रोंमें अयोध्याको ही ऋषभदेवकी जन्मपुरी बतलाया है। उधर सांख्यायन श्रौत सूत्रमें हिरण्यगर्भकी उपाधि 'कौसल्य' बतलाई है। अयोध्याको कोसलदेस कहते थे। अतः कौसल्यका मतलब होता है कोसलका जन्मा हुआ या कोसलका राजा। यह हम पहले लिख आये हैं कि जैन शास्त्रोंमें ऋषभदेवको हिरण्यगर्भ भी कहा है और उनका जन्म अयोध्या नगरीमें बतलाया है। अतः यदि हिरण्यगर्भ ऋषभदेव थे तो उनका अयोध्या नगरीके होनेका भी समर्थन होता ही है। किन्तु यह सब अभी अन्वेषणीय है। अतः अभी यह निश्चयपूर्वक कह सकना शक्य नहीं

है कि जैनधर्म मूलमे आर्योका धर्म था या द्रविड़ो का, और ऋषभदेव केवल आर्योंके पूर्वज थे या द्रविड़ो के भी ? किन्तु इतना निश्चित है कि द्रविड़ संस्कृति या द्रविड़ धर्मके सिद्धान्तोसे जैन धर्मके सिद्धान्त बहुत मिलते जुलते हुए है। (प्रीहि० इं०, पृ० १२०)।

सुप्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है—

'यह कहना सत्य नहीं है कि हिन्दू सभ्यताके सभी उदात्त एवं उच्च उपादान आर्योकी देन थे। तथा जो निकृष्ट और हीन उपादान थे वे अनार्य मानसकी उच्छृङ्खलताके द्योतक थे। आर्य चित्तके कुछ दृष्टिकोणोके मूर्तरूप ब्राह्मण और क्षत्रियकी विचार तथा संगठन करनेकी योग्यताको स्वीकार कर लेने पर भी, कितनी ही नई सामग्री तथा नूतन विचार धारा यह सूचित करती है कि भारतीय सभ्यताका निर्माण केवल आर्योंने ही नहीं किया, बल्कि अनार्योका भी इसमे बड़ा भारी हिस्सा था। उन्होंने इसकी मूल प्रतिष्ठाभूमि तैयार की थी। देशके कई भागोमे उनकी ऐहिक सभ्यता आर्यों की अपेक्षा कितनी ही आगे बढ़ी हुई थी। नगरवासी अनार्यकी तुलनामे आर्य तो अटनशील बर्बर मात्र प्रतीत होता था। धीरे-धीरे अब यह बात स्पष्टतर होती जा रही है कि भारतीय सभ्यताके निर्माणमे अनार्योंका भाग विशेष रूपसे गुरुतर रहा। भारतीय प्राचीन इतिहास एवं दन्त-कथाओमे निहित धार्मिक तथा सांस्कृतिक रीति-परिपाटी केवल अनार्योंसे आई हुई वस्तुका आर्य भाषामे रूपान्तर मात्र है, क्योकि आर्योकी ओरसे उनकी भाषा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन बन गई थी, यद्यपि वह भी अनार्य उपादानोसे बहुत कुछ मिश्रित होकर पूर्ण विशुद्ध न रह सकी। संक्षेपमे कर्म तथा

'परलोकके सिद्धान्त, योगसाधना, शिव देवी तथा विष्णुके[1] रूपमें परमात्माको मानना, वैदिक हवन पद्धतिके समक्ष नई पूजा रीतिका हिन्दुओंमें आना आदि, तथा अन्य भी बहुतसी वस्तुओंका हिन्दूधर्म और विचारमें आना, वास्तवमें अनार्योंकी देन है। बहुत सी पौराणिक तथा महाकाव्योंमें आई हुई कथाएँ, उपाख्यान, और अर्द्ध ऐतिहासिक विवरण भी आर्योंसे पहलेके है। (आ० हि०, पृ० ३५-३६)।'

जैन धर्ममें प्रारम्भ से ही कर्म, परलोक सिद्धान्त तथा योग साधनाका प्राधान्य रहा है और ये ही उसकी विचारधाराके मूलाधार है।

वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थमें प्रो० श्री नीलकण्ठ शास्त्रीका एक लेख 'जैन धर्मका आदि देश' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है। यहां हमउसका आरम्भिक अंश उधृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है—

'जैन धर्म भी बौद्ध धर्मकी तरह वैदिक कालके आर्योंकी यज्ञ यागादिमय संस्कृतिकी प्रतिक्रिया मात्र था' कतिपय इतिहासकारों

१—सिन्धुघाटी सभ्यताके प्रकाशमें आनेसे पूर्व यह विवेचन करनेकी प्रथा सी थी कि इन्द्र, अग्नि, वरुण और मित्रके स्थानमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवको अपनाकर वैदिक धर्म ब्रह्मा धर्मके रूपमें क्रमसे विकसित होकर प्रकाशमें आया। किन्तु प्रभावशाली खोजोंके फलस्वरूप स्वीकृत वर्तमान मत यह है कि यह प्रवृत्ति एक मिश्रित संस्कृतिकी उपज है, तथा भारतमें हुए धार्मिक परिवर्तन मुख्य रूपसे आर्यों और द्रविड़ों तथा उनकी विभिन्न संस्कृतियोंके संयोगकी देन है; क्योंकि प्राचीन द्रविड़ बहुत ही सुसभ्य और सुसंस्कृत थे। (प्री० हि० इं०, भू० पृ० ६)।

के इस मतिको यों ही सत्य मान लेना चलता व्यवहार सा हो गया है। विशेषकर कितने ही जैन धर्मको तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ के पहले प्रचलित माननेमें भी आनाकानी करते हैं, अर्थात् वे लगभग नौवीं शती ईसा पूर्वतक ही जैन धर्मका अस्तित्व मानना चाहते है। प्राचीनतम युगमें मगध यज्ञ यागादिमय वैदिक मतके क्षेत्रसे बाहर था। तथा इसी मगधको इस कालमे जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की जन्म भूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। फलतः कितने ही विद्वान् कल्पना करते है कि इन धर्मों के प्रवर्तक आर्य नहीं थे। दूसरी मान्यता यह है कि वैदिक आर्य के बहुत पहले आर्योंकी एक धारा भारतमे आई थी और आर्यों पूरे भारतम व्याप्त हो गये थे। उसके बाद उसी वंशके यज्ञ यागादि संस्कृति वाले लोग भारतमे आये, तथा प्राचीन वैदिक आर्योंको मगधकी ओर खदेड़कर स्वयं उसके स्थानपर बस गये। आर्योंके इस द्वितीय आगमनके बाद ही सम्भवतः मगधसे जैन धर्म का पुनः रचा आरम्भ हुआ तथा वहींपर बुद्ध धर्मका प्रादुर्भाव हुआ।'

'३००२-५०० ईसा पूर्वमें ली फली 'सिन्धु कछार सभ्यता के भग्नावशेषोंमें दिगम्बर मत, योग, वृषभपूजा तथा अन्य प्रतीक मिले है जिनके प्रचलनका श्रेय आर्यो अर्थात् वैदिक आर्योके पूर्ववर्ती समाजको दिया जाता है। आर्यपूर्व संस्कृतिके शुभाकाक्षियोंकी कमी नहीं है, यही कारण है कि ऐसे लोगोमे से अनेक लोग वैदिक आर्योंके पहलेकी इस महान् संस्कृतिको दृढ़ता पूर्वक द्रविड़ संस्कृति कहते है। मैने अपने 'मूल भारतीय धर्म' शीर्षक निबन्धमे सिद्ध कर दिया है कि तथोक्त अवैदिक लक्षण (यज्ञ यागादि) का प्रादुर्भाव अथर्ववेदकी संस्कृतिसे हुआ है। तथा मातृदेवियो वृषभ, नाग, याग, आदिकी पूजाके बहु संख्यक

निदर्शनोंसे तीनों वेद भरे पड़े हैं। फलतः 'सिंधु कछार संस्कृति पूर्व वैदिक युगके बादकी ऐसी संस्कृति है जिसमें तांत्रिक प्रक्रियायें पर्याप्त मात्रामें घुल मिल गई थीं। प्राचीन साहित्य जैन तीर्थङ्करों तथा बुद्धोंको असंदिग्ध रूपसे क्षत्रिय तथा आर्य कहता है। फलतः जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मकी प्रसूतिको अनार्योंमें बताना सर्वथा असम्भव है।'

'अतएव जैन धर्मके मूल स्रोतको आर्य संस्कृतिको किसी प्राचीनतर अवस्थामें खोजना चाहिये, जैसा कि बौद्ध धर्मके लिये किया जाता है। अपने पूर्वोल्लिखित निबंधमें मैं सिद्ध कर चुका हूं कि समस्त भारतीय साधन सामग्री यह सिद्ध करती है कि जम्बू द्वीपका भारत खण्ड ही आर्योंका आदि देश था। हमारी पौराणिक मान्यताका भारतवर्ष आधुनिक भौगोलिक सीमाओंसे बद्ध न था, अपितु उसके आयाम विस्तारमें पामीर पर्वत माला तथा हिन्दूकुश भी सम्मिलित था अर्थात् ४० अक्षांश तक विस्तृत था। प्राचीनतम जैन तथा वैदिक मतोंके ज्योतिष ग्रन्थों और पुराणोंमें भारतके उक्त विस्तारका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है।'

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि हमने जो आर्योंके भारतमें आगमनकी चर्चाकी है वह भारतकी वर्तमान सीमाको लेकर की है। जैन शास्त्रोंमें जो भारत वर्षका विस्तार बतलाया है उसमें तो आजका पूरा भूखण्ड समा जाता है। अस्तु

उपसंहार

इस तरह प्राग् ऐतिहासिक कालीन उपलब्ध साधनोंके द्वारा तत्कालीन स्थितिका पर्यन्वेषण करनेसे जो प्रकाश पड़ता है यद्यपि

वह किसी निष्कर्षपर पहुंचनेके लिये अपर्याप्त है, तथापि उससे जैन धर्मके प्राग् ऐतिहासिक अस्तित्वके संबन्धमे कुछ झलक अवश्य प्राप्त होती है और उसपरसे कम से कम इतना तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जैन धर्म किसी ब्राह्मण विरोधी भावनाका परिणाम नहीं है। किन्तु उसका उद्‌गम एक ऐसी विचार धाराका परिणाम है जो ब्राह्मण क्षेत्रसे बाहर स्वतंत्र रूपसे प्रवाहित होती आती थी। डा० जेकोबीने भी लिखा है—'इस सबसे यह संभाव्य होता है कि ब्राह्मणभिन्न तपस्वीवर्ग प्राचीन कालमे भी ब्राह्मण तपस्वियोंसे एक भिन्न और विशिष्ट वर्गके रूप मे माना जाता था।... .. ...अतः अवश्य ही बौद्ध धर्म और जैन धर्मको ऐसे धर्म मानना चाहिये जो ब्राह्मण धर्मसे बाहर वृद्धिगत हुए थे। तथा उनका निर्माण किसी तात्कालिक सुधारका परिणाम नही था। किन्तु सुदीर्घकालसे प्रचलित धार्मिक आन्दोलनके द्वारा उसका निर्माण हुआ था।' (से॰ बु॰ ई०, २२, प्रस्ता०, पृ० ३२)।

श्री रमेश चन्द्रदत्त उक्त विचार धाराका उद्‌गम ईसा पूर्व ग्यारहवीं शतीमे बतलाते है। उन्होंने लिखा है—'उत्सुक और विचारक हिन्दू ब्राह्मण साहित्यके थकाने वाले क्रिया काण्डसे आगे बढ़कर आत्मा और परमात्माके रहस्यकी खोज करते थे।'

इस विषयमे पहले लिखा जा चुका है। आत्मा और परमात्माके रहस्यके अन्वेषकोंकी देन ही उपनिषदोंका तत्त्व ज्ञान है। इस ज्ञानके धनी क्षत्रिय थे। क्षत्रियोंसे ही ब्राह्मणोंने आत्मविद्याका ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान ऋषभ देव भी क्षत्रिय थे और वे योगी तथा परमहंस थे। अतः यदि आत्मविद्याके वे ही पुरस्कर्ता रहे हों तो जैन धर्मका उद्‌गम भी उनसे ही होना संभव है।

किन्तु ऋषभदेवका ऐतिहासिक अस्तित्व भारतके प्राग् ऐतिहासिक कालकी गम्भीर कन्दरामें छिपा है। अतः स्वर्गीय याकोबीका अनुसरण करते हुए हमें भी यही कहना पड़ता है कि जैन धर्मके प्राग् ऐतिहासिक विकासके सम्बन्धमें कुछ झलक प्राप्त करके ही हमें संतोष करना पड़ता है क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथसे पहलेका सब इतिवृत्त गम्भीर कोहरेसे आच्छन्न है।'

३—ऐतिहासिक युगमें

काशी, कोसल और विदेह

अब हम ऐतिहासिक युगमें प्रवेश करेंगे। हमारा यह युग ईसा पूर्व नौवीं शताब्दीके मध्यसे आरम्भ होता है। उसी समय काशी के राजा अश्वसेनके घर जैन धर्मके तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथने जन्म लिया था।

अंग, मगध, काशी, कोसल और विदेहमें ब्राह्मण सभ्यता का प्रवेश बहुत काल पश्चात् हुआ था। शत० ब्रा० (१-४-१) में लिखा है कि—'सरस्वती नदीसे अग्निने पूरबकी ओर प्रयाण किया। उसके पीछे विदेव माधव और गौतम राहु गण थे। सबको जलाते और मार्गकी नदियोंको सुखाते हुए वह अग्नि सदानीराके तटपर पहुंची। उसे वह नहीं जला सकी। तब माधव विदेघने अग्निसे पूछा—मैं कहां रहूँ'। उसने उत्तर दिया—तेरा निवास इस नदीके पूरब हो। अब तक भी यह नदी कोसलों और विदेहोंकी सीमा है।'

उक्त कथनमें वैदिक आर्योंके सरस्वती नदीके तटसे सदानीराके तटतक धीरे धीरे बढ़नेका वृत्तान्त निहित है। सदानीरा, जो आज कल गण्डक नदी कही जाती है, दोनों राज्योंकी सीमा थी। उसके पश्चिममें कोसल था और पूरबमें विदेह था। सदानीरा कोसलको विदेहसे पृथक करती थी। बहुत समय तक यह नदी आर्योंके संसारकी सीमा मानी जाती थी। इसके आगे ब्राह्मण लोग यथेच्छ नहीं आते जाते थे।

वैदिक साहित्यमें कोसलके किसी नगरका नाम नहीं आता। शतपथ ब्रा० के अनुसार कोसलमें ब्राह्मण सभ्यताका प्रसार कुरु पञ्चालके पश्चात् तथा विदेहसे पहले हुआ। रामायण तथा हिन्दू पुराणोंके अनुसार कोसलका राजवंश इक्ष्वाकु नामके राजासे चला था। इसी वंशकी शाखाओंने विशाला या वैशाली, मिथिला और कुशीनारामें राज्य किया।

कोसलकी तरह विदेहका निर्देश भी प्राचीन वैदिक साहित्य मे नहीं है। दोनोंका प्रथम निर्देश शतपथ ब्राह्मण (१, ४-१-१०) में मिलता है। उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि कोसल और विदेह परस्पर मित्र थे तथा उनमें और कुरु पञ्चालोंमें मत भेद होनेके साथ ही साथ शत्रुता भी थी। विद्वानोंका मत है कि विदेह राज जनक उपनिषदोंके दर्शनका प्रमुख संरक्षक था। उसके समयमें ही विदेहको प्राधान्य मिला।

शतपथ ब्रा० (१, १-६-२१) में लिखा है कि राजा जनक की भेट प्रथम बार कुछ ब्राह्मणोंसे हुई। उसने उनसे पूछा—आप अग्नि होत्र कैसे करते है ? अन्य ब्राह्मणोंमे से तो किसीका उत्तर ठीक नहीं था। याज्ञवल्क्यका उत्तर यद्यपि पूर्ण ठीक नहीं था

तथापि यथार्थताके विशेष निकट था। जनक यह बात उन ब्राह्मणोंसे कहकर तथा रथमें बैठकर चला गया। ब्राह्मणोंने इसे अपना अपमान समझा। तब याज्ञवल्क्यने जाकर शंका निवारण की। तबसे जनक ब्राह्मण होगया।

इससे प्रकट होता है कि शत० ब्रा० के काल तक वैदिक आर्य विदेह तक ही बढ़ सके थे। दक्षिण बिहार तथा बंगालमें ब्राह्मण धर्मका प्रसार ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दीके मध्य तक हो सका था। इस तरह पूर्वीय भारतमें अपनी संस्कृतिको फैलानेमें वैदिक आर्योंको एक हजार वर्ष लगे। यद्यपि वह प्रवेश निश्चय ही उतना विस्तृत नहीं था (भा० इं० पत्रिका जि० १२, पृ० ११३)।

कोसल और विदेहके साथ काशीको प्राधान्य भी उत्तर वैदिक कालमें मिला। अथर्ववेदमें प्रथम बार काशीका निर्देश मिलता है। काशीका कोशल और विदेहके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। काशीके एक राजा धृतराष्ट्रको शतानीक सहस्राजित ने हराया था। वह अश्वमेध यज्ञ करना चाहता था किन्तु शतानीकने उसे हरा दिया। फलस्वरूप काशीवासियोंने यज्ञ करना ही छोड़ दिया। (पो० हि० एं० इं०, पृ० ६२)।

काशीराज ब्रह्मदत्त

बौद्ध महागोविन्द सुत्तन्तमें भी काशीके राजा धतरट्ठका निर्देश है, जो शतपथ० का धृतराष्ट्र ही प्रतीत होता है। उसे महा गोविन्द में भरतराज कहा है। डा० राय चौधुरीने लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि काशीके भरतवंशका स्थान राजाओंके एक नये वंशने ले लिया, जिनका वंश नाम ब्रह्मदत्त था। श्री

हारीत कृष्ण देवने यह सुझाव दिया था कि ब्रह्मदत्त वंशनाम है, किसी राजा विशेषका नाम नहीं है। और डा० डी० आर० भण्डारकर ने भी इस सुझावको मान लिया था। क्योंकि मत्स्य' पुराण तथा वायु पुराणमें एक वंशका निर्देश है। जिसमें ब्रह्मदत्त नामके सौ व्यक्ति थे। महाभारत (२-८-२३) में भी सौ ब्रह्मदत्तोंका निर्देश है। बौद्ध जातक 'दुम्मेध' में राजा तथा उसके पुत्रका नाम ब्रह्मदत्त बतलाया है गंगमाला जातकमें स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मदत्त एक वंश परम्परागत उपाधि थी। एक प्रत्येक बुद्धने बनारसके राजा उदयको ब्रह्मदत्त कहकर पुकारा था। (पो० हि० ऐ० इं०, पृ० ६३)।

ब्रह्मदत्त विदेह के थे

डा० राय चौधरीने लिखा है कि अनेक बौद्ध जातकोंसे यह प्रकट होता है कि ब्रह्मदत्त मूलतः विदेहके थे। उदाहरणके लिये, मातिपोसक जातकमें काशीके राजा ब्रह्मदत्तके विषयमें लिखा है—

'मुत्तोम्हि कासीराजेन विदेहेन यसस्सिना' ति।

यहाँ काशीराजको 'विदेह' बतलाया है। इसी तरह सम्बुल जातकमें काशीराज ब्रह्मदत्तके पुत्र युवराज सोट्ठीसेनको 'विदेह पुत्त' कहा है। (पो० हि० एं० इं० पृ० ६४)।

उपनिषदोंके कतिपय उल्लेखोंके आधार पर डा० राय चौधुरीका विश्वास है कि विदेह राज्यको उलटनेमें काशीके लोगोंका हाथ था, क्योंकि जनकके समयमें काशीराज अजात

१–'शत वै ब्रह्मदत्ताना वीराणा कुरवः शतःभ्

शत्रु विदेहराज जनककी ख्यातिसे चिढ़ता था। वृहदा० उप० (३-८-२) में गार्गी याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न करनेकी अनुज्ञा लेते हुए कहती है—

'यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्य धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थाम् ।'

'याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेहका रहनेवाला कोई उग्रपुत्र प्रत्यञ्चाहीन धनुपपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो फलवाले बाण हाथमे लेकर खड़ा होता है उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ।'

जनकके उत्तराधिकारी लिच्छवि

पाली टीका परमत्थ जोतिका (जि० १, पृ० १५८-६५) में लिखा है कि विदेहके जनक वंशका स्थान उन लिच्छवियोंने लिया, जिनका राज्य विदेहका सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था, तथा जो वज्जिगणके सबसे प्रमुख भागीदार थे। ये लिच्छवि काशीकी एक रानीके वंशज थे।

इस उल्लेखसे यह प्रकट होता है कि सम्भवतया काशीके राजवंशकी एक शाखाने विदेहमे अपना राज्य स्थापित किया। (पो० हि० एं० इं०, पृ० ७२)

इतिहासके जानकार इस बातसे सुपरिचित है, जैसा कि हम आगे लिखेंगे, कि विदेहके लिच्छवि वंशको जैन धर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरको जन्म देनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था और काशीकी वाराणसी नगरीमें तेईसवें तीर्थङ्कर

पार्श्वनाथका जन्म हुआ था। अतः इन दोनो राज्योमे राजनैतिकके साथ धार्मिक सम्बन्ध भी होना संभव प्रतीत होता है।

लिच्छवि गणतंत्रकी स्थापनाका समय

वैदिक कालका निर्धारण करते हुए स्व० डा० रा० दा० बनर्जी ने अपनी 'प्रीहिस्टोरिक इण्डिया' नामक पुस्तक (पृ० ४४) में लिखा है—

'पुराणोंके अनुसार कुरुवंशी राजा परीक्षित मगधके राजा महापद्मसे १०५० वर्ष पूर्व जन्मा था। वायु पुराणके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणसे ४० वर्ष पूर्व महापद्मने राज्य करना प्रारम्भ किया था। अतः यदि चन्द्रगुप्तका राज्याभिषेक ३२२ ई० मे माना जाये तो परीक्षितका राज्याभिषेक ई० पूर्व १४२२ मे मानना होगा। पुरुषोंकी साक्षीके अनुसार ईसाकी ५ वीं शतीके मध्यमे भारतमें यह माना जाता था कि परीक्षित ईस्वी पूर्व १५ वीं शतीके अन्तमें मौजूद था। ...वैदिक साहित्यमें कृष्ण, पाण्डव और कौरवोका निर्देश नहीं है किन्तु परीक्षितका है। अतः परीक्षित कल्पित व्यक्ति नहीं है, वास्तविक है। इस परीक्षितको सर्पने डसा था। इसीसे उसके पुत्र जनमेजयने नाग यज्ञ किया था।

डा० राय चौधुरीने (पो० हि० एं० इं०, पृ० ४३) लिखा है—कि विदेहराज जनक और जनमेजयमें पाँच या छै पीढ़ियोका अन्तर था। अत जनमेजयके १५० या १८० वर्ष पश्चात् और परीक्षितसे दो शती पश्चात् जनकका होना संभव है। अतः यदि पौराणिक परम्पराके अनुसार हम परीक्षितको ईस्वी पूर्व चौदहवीं

शतीमे रखते हैं तो हमे जनकको अवश्यही ईस्वी पूर्व १२ वीं शतीमे रखना होगा। और यदि आश्वलायन और गौतम बुद्धके साथ गुणाख्य सांख्यायनकी एककालिकताको स्वीकार किया जाये तो हमें परीक्षितको ईस्वी पूर्व नौवीं शतीमें तथा जनकको ईस्वी पूर्व सातवी शतीमे रखना होगा।'

यह पहले लिखा है कि विदेहके राज्यासनको बदलनेमें काशीका प्रमुख हाथ था और 'परमत्थ जोतिका' के अनुसार जनक राजवंशके पश्चात् विदेहमे लिच्छवियोंका राज्य हुआ, जो काशीकी एक रानीकी सन्तान थे।

लिच्छवि राज्यकी स्थापनाका समय अज्ञात है। किन्तु इतना सुनिश्चित है कि ईस्वी पूर्व छठी शतीमे भगवान महावीर और गौतम बुद्धके समयमे विदेहमे लिच्छवि गणतंत्र सुदृढ़ रूपसे स्थापित हो चुका था। बुद्धने स्वयं लिच्छवियोंके सम्बन्धमे कहा था— 'जिन्होंने तावत्तिस देवता न देखे हो वे लिच्छवियोंको देख लें। लिच्छवियोका संघ तावतिंश देवताओका संघ है'' ......।

अतः ईस्वीपूर्व छठी शतीमे विदेहका लिच्छवि गणतंत्र एक बहुत ही शक्तिशाली राज्य था और काशी और कोशल उसके प्रभुत्वको मानते थे। उस गणतंत्रका प्रमुख चेटक था जिसकी सबसे बड़ी पुत्री त्रिशला भगवान महावीरकी जननी थी। तथा सबसे छोटी पुत्री चेलना मगधराज बिम्बसार श्रेणिककी पटरानी तथा अजात शत्रु (कुणिक) की जननी थी।

अजात शत्रुने ही वैशालीके प्रमुख अपने नाना चेटक पर आक्रमण करके उसे अपने राज्यमें मिला लिया था। (पो०हि०एं० इं०, पृ०१७४) और इस तरह सम्भवतया लिच्छवियोंका गणतंत्र समाप्त हो गया।

उक्त घटनाओंको देखते हुए यह मानना पड़ता है कि चेटक सुदीर्घकाल तक लिच्छवि गणतंत्रका प्रमुख रहा, किन्तु उससे पूर्व उसका प्रभुत्व कौन था यह अज्ञात वै। श्वे० आगमोंमें महावीरकी जननी त्रिसलाको चेटककी भगिनी बतलाया है, किन्तु उसके पिताका नाम नहीं दिया। इससे भी स्पष्ट है कि चेटकके पिताका नाम ज्ञात नहीं था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लिच्छवि गणतंत्रका प्रभुत्व होनेसे चेटक अपना विशिष्ट स्थान रखता था, किन्तु उसके पिताको यह सौभाग्य प्राप्त न रहा हो, क्योंकि गणतंत्रमें राजतंत्रकी तरह राज्यासन वंशपरम्परागत नहीं होता।

किन्तु चेटकके पूर्व लिच्छवि गणतंत्रका प्रधान कौन था, यह भी अज्ञात है और चेटकसे पूर्व उक्त गणतंत्र स्थापित हो चुका था या नहीं, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

प्रचलित मान्यताके अनुसार भगवान महावीरका निर्वाण ५२७ ई० पूर्वमें हुआ और उनकी आयु उस समय लगभग ७२ वर्षकी थी। अतः उनका ई० पूर्व ५९९ मे जन्म हुआ। अतः ई० पूर्व ६०० मे लिच्छवि गणतंत्र अवश्य ही वर्तमान था, क्योंकि श्वे० आगमोंमे महावीरको वैसालिय—वैशालीका तथा उनकी माताको 'विदेहदत्ता' बतलाया है और महावीरके पिता सिद्धार्थ वैशालीके निकटथ कुण्डग्रामके अधिपति (सामन्त) थे। उनके साथ चेटकने अपनी भगिनी त्रिशलाका विवाह किया था।

संभव है ईस्वी पूर्व सातवीं शतीके लगभग या उससे कुछ पूर्व लिच्छवियोंने जो काशीकी किसी रानीकी सन्तान थे, विदेह

मे जनकोंके राजवंशको हटाकर लिच्छवि गणतंत्रकी स्थापना की हो।

जैन शास्त्रोंके अनुसार भगवान महावीरके जन्मसे ७७८ वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथका जन्म काशी नगरीमें हुआ था। यतः महावीर भगवानका जन्म ईस्वी पूर्व ५९९ में हुआ था अतः *भगवान पार्श्वनाथका जन्म ईस्वी पूर्व ८७७ मे हुआ था।* उनकी आयु सौ वर्षकी थी। तीस वर्षकी अवस्थामे उन्होंने प्रव्रज्या धारण की और ईस्वी पूर्व ७७७ मे विहार प्रदेशमें स्थित सम्मेद शिखर (पारसनाथ हिल) से निर्वाण लाभ किया।

डा० राय चौधुरीने (पो० हि० एं० इं०, पृ० १२४) लिखा है कि कुम्भकार जातकके उल्लेखानुसार उत्तर पाञ्चालका राजा दुम्मुख, कलिंगका राजा करण्डु, गन्धारका राजा नग्गजि (नग्नजित) और विदेहका राजा नमि ये सब समकालीन थे। जैन उत्तराध्ययन सूत्रमें इन सबको जैन धर्मका अनुयायी कहा है। चूंकि पार्श्वनाथको इतिहासज्ञ जैन धर्मका संस्थापक मानते है इसलिये डा० राय चौधुरीने इन राजाओंको ७७७ ई० पूर्वसे ५४३ ई० पूर्व तकके समयमे रखा है। यद्यपि उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि उत्तराध्ययनके कथनपर निःशंक विश्वास नहीं किया जा सकता, तथापि उन्होने यह स्वीकार किया है कि ये सभी राजा भगवान महावीरके पूर्ववर्ती थे, क्योंकि इनमेसे कुछ का निर्देश एतरेय ब्रा० (७–३४) तथा शतपथ० (८, १–४–१०) मे भी पाया जाता है।

राजा नमिका पुत्र कलार जनक विदेहके जनकवंशका अन्तिम राजा था, मज्झिम निकायके मखादेव जातकसे यह प्रकट होता है। डा० राय चौधुरी (पो० हि० एं० इं०, पृ० ७१)

का कथन है कि 'महाभारत (१२-३०२-७) का कलार जनक और मखा देव जातकका कलार जनक एक ही व्यक्ति हैं।' कलार जनकके पश्चात् ही विदेहमें वज्जी गणतंत्र स्थापित हुआ होगा। अतः कलार जनकका पिता नमि अवश्य ही भगवान् महावीरका पूर्ववर्ती हुआ। चूंकि उत्तराध्ययनके अनुसार वह जैन था और भगवान महावीरसे पहले जैन धर्मका उपदेश भगवान पार्श्वनाथने किया था, अतः राजा नमि अवश्य ही ईस्वी पूर्व ७५७ के लग भग या उसके पश्चात् होना चाहिये। उसके पश्चात् उसका पुत्र कलार जनक विदेहके राज्यासनपर बैठा। अत ईस्वी पूर्व सातवीं शतीके लग भग ही विदेहमे लिच्छिवियोने उसे हटा कर लिच्छवि गणतंत्रकी स्थापना की होगी।

पार्श्वनाथका वंश और माता पिता

दि० जैन[1] साहित्यके अनुसार पार्श्वनाथ उग्रवंशी थे। किन्तु श्वेताम्बर[2] साहित्यके अनुसार इक्ष्वाकु वंशी थे। जैन मान्यताके अनुसार ऋषभ देवने वंशोकी स्थापना की थी। वह स्वयं इक्ष्वाकु वंशी थे तथा उनके द्वारा स्थापित वंशोमे एक उग्र वंश भी था। इससे उग्रवंश भी इक्ष्वाकु वंशकी ही एक शाखा होना संभव है।

सूत्रकृताङ्गमें उग्रो, भोगों, ऐक्ष्वाको और कौरवोको ज्ञातृवंशी और लिच्छवियोंसे सम्बद्ध बतलाया है। इससे भी काशीके उग्र

१—श्वेताम्बर उल्लेखोंके अनुसार भगिनी।

२-ति० प०, अ० ४, गा० ५५०। २-अभि० रा० मे तित्थयर शब्द, पृ० २२६५।

वंश तथा विदेहके लिच्छवि और ज्ञातृवंशियोंके पारस्परिक सम्बंध का समर्थन होता है (पो० हि० एं० इ० पृ० ९९)।

पीछे वृहदा० उप० से गार्गी और याज्ञवलक्यके संवादका एक अंश उध्धृत कर आये हैं। उसमे गार्गीने काशी और विदेहवासीको उग्रपुत्र कहा है—'काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्रः'। यहां 'उग्रपुत्र' अवश्य ही अपना विशेष अर्थ रखता है। उक्त उल्लेखोंके प्रकाशमें उग्र पुत्रका अर्थ उग्रवंशी होना संभव प्रतीत होता है। और चूंकि काशी और विदेहके अधिवासी दोनोको उग्रपुत्र कहा है। अतः काशीके उग्रो और विदेहके लिच्छवियोकी एकताका भी इससे समर्थन होता है।

कलकत्ता विश्व विद्यालयमे डा० दे० रा० भण्डारकरने ईस्वी पूर्व ६५०–३२५ तकके भारतीय इतिहासपर कुछ भाषण दिये थे। उनमें उन्होने बतलाया था कि बौद्ध जातकोमे ब्रह्मदत्तके सिवाय वाराणसीके छै राजा और बतलाये हैं—उग्ग सेन, धनंजय, महासीलव, संयम, विस्ससेन और उदय भद्द। संभव है उग्रसेन या उग्रसेनसे ही काशीमे उग्रवंशी राज्यकी स्थापना हुई हो। विष्णु पुराण और वायु पुराणमे ब्रह्मदत्तके उत्तराधिकारी योगसेन, विश्वकसेन, और झल्लाट बतलाये हैं। डा० भण्डारकर ने पुराणोंके विश्वकसेन और जातकोके विस्ससेनको तथा पुराणोंके उदकसेन और जातकोके उदयभद्दको एक ठहराया था।

जैन साहित्यमे पार्श्वनाथके पिताका नाम अश्वसेन या अस्स सेण बतलाया है। यह नाम न तो हिन्दू पुराणोमे मिलता है और न जातकोमे मिलता है। किन्तु गत शताब्दीमें रची गई पार्श्वनाथ पूजनमें पार्श्वनाथके पिताका नाम विस्ससेन दिया है। यथा—'तहां विस्ससेन नरेन्द्र उदार'। हम नहीं कह सकते कि कविके इस

उल्लेख का क्या आधार है। फिर भी जातकोंके विस्ससेण और पुराणोंके विश्वकसेनके साथ उसकी एकरूपता संभव है।

प्रव्रज्या और उपसर्ग

काशीराजके पुत्र क्षत्रिय पार्श्वनाथने तीस वर्षकी अवस्थामें जिन दीक्षा धारण की और तपस्यामे लीन होगये। उनके इस विरागका कारण एक घटना थी। एक दिन वह गंगाके तटपर विचरते थे। वहां कुछ साधु पंचाग्नि तप तपते थे। अग्निमें जलती हुई एक लकडीमें पार्श्वनाथने एक नाग युगलको पीड़ित देखा। उनका दयालु चित्त जहां उसके कष्टको अनुभव कर द्रवित हुआ वहां इस अज्ञान मूलक तपको देखकर खेद खिन्न भी हुआ। उन्होंने तुरन्त उस मृतप्राय नाग युगलको बचानेकी चेष्टा की और जीवन रक्षा अशक्य जानकर उसे धर्मोपदेश दिया। उसके प्रभाव से वह नाग युगल धरणेन्द्र और पद्मावतीके नामसे नाग जाति के देवताओं का अधिपति हुआ। और पार्श्वनाथने जिन दीक्षा धारण करली।

एक बार निर्ग्रन्थ पार्श्वनाथ विचरते विचरते अहिच्छत्र (बरेली जिलेमे रामनगरके पास) पहुँचे और तपस्यामे लीन हो गये। उनके पूर्वजन्मका बैरी एक व्यन्तर देव उधरसे जाता था। उसने अपने बैरीको ध्यानस्थ देखकर घोर उपसर्ग किया। उस समय देवरूपधारी उस नागदम्पतीने आकर पार्श्वनाथकी रक्षा की। उसने सर्पका रूप धारण करके अपना विशाल फण पार्श्वनाथके ऊपर फैला दिया। उसीकी स्मृतिमें पार्श्वनाथकी मूर्तियों पर सर्पका फण बना होता है, और वही पार्श्वनाथका विशिष्ट चिन्ह माना जाता है।

आजके विज्ञान युगके पुरातत्त्वज्ञ¹ और इतिहासज्ञ पार्श्वनाथके जीवनकी उक्त घटनाको एक पौराणिक रूपकके रूपमें ही ग्रहण करते हैं। अतः उक्त घटनासे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पार्श्वनाथके वंशका नागजातिके साथ सौहार्द पूर्ण सम्बन्ध था। पार्श्वनाथने नागोंको विपत्तिसे बचाया इसलिये नागोंने भी समय पर उनकी रक्षा की।

महाभारतके आदि पर्वमे जो नागयज्ञकी कथा है उससे सूचित होता है कि वैदिक आर्य नागोंके बैरी थे। नाग जाति असुरोंकी ही एक शाखा थी। और वह असुर जातिकी रीढ़की हड्डीके तुल्य थी। उसके पतनके साथ ही असुरोंका भी पतन हो गया। नागपुर आदि नगर आज भी उसकी स्मृति दिलाते हैं। महाभारतके आदि पर्वमें ही यह भी उल्लेख मिलता है कि नागोंका राजा तक्षक नग्न श्रमण हो गया था।

जब नाग लोग गंगाकी घाटीमे बसते थे तो एक नाग राजा के साथ वाराणसीकी राजकुमारीका विवाह हुआ था (ग्लि० पो० हि, पृ० ६५)। अतः वाराणसीके राजघरानेके साथ नागोंका कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था। और गंगा की घाटीमे ही (अहिक्षेत्र) तप करते हुए पार्श्वनाथकी उपसर्गसे रक्षा नागोंके अधिपतिने की थी।

समकालीन धार्मिक स्थिति

पहले लिख आये हैं कि शतपथ ब्राह्मणके कालतक काशी, कोशल और विदेह ब्राह्मण संस्कृतिके प्रभावमें आ चुके थे।

१—नागोंने जैन तीर्थङ्करकी संकटसे रक्षाकी और नाग तीर्थङ्करके मित्र थे, ऐसा जैन कथाओंसे मालूम होता हो'—हि० ध० स०, पृ० १३५।

किन्तु उनका पूर्ण ब्राह्मणीकरण नहीं हुआ था (शत० ब्रा०१,४-१-१०)। और यह भी लिख आये है कि डा० भण्डारकरके मतानुसार दक्षिणी विहार और बंगालमे ब्राह्मणधर्मका प्रसार ईस्वी सन् की तीसरी शतीके मध्य तक हो सका था और इस तरह पूर्वीय भारतमें अपनी संस्कृतिको फैलानेमें वैदिक आर्योंको एक हजार वर्ष लगे थे। इसका यह मतलब हुआ कि ईस्वी पूर्व ७५० से ईस्वी २५० तकके कालमें ब्राह्मण धर्मका प्रसार पूर्वीय भारतमे हो सका। और इसीके प्रारम्भके लगभग शतपथ ब्राह्मणकी रचना हुई थी। वृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग माना जाता है। इसीसे आधुनिक विद्वान् उसका रचनाकाल आठवीं-शताब्दी ईस्वी पूर्व मानते है। इसी उपनिषद्से गार्गी याज्ञवल्क्यके संवादका एक उद्धरण भी पहले दिया है जिसमे काशी और विदेहका निर्देश है। अतः शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदा० उ० अवश्य ही पार्श्वनाथके समयसे पूर्वके नहीं है। इन्हींमे हम प्रथम बार तापसो और श्रमणोंसे मिलते है। (वृ० उ०, ४-३--२)। किन्तु उनका नाममात्र ही मिलता है। याज्ञवल्क्य जनकसे आत्माका स्वरूप बतलाते हुए कहते है कि इस सुषुप्तावस्थामे श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं।

तपका महत्व भी हम ब्राह्मणकालमे ही पाते है। शतपथ ब्राह्मणमे तपसे विश्वकी उत्पत्ति बतलाई है। प्रतिदिन अग्नि होत्र करना एक प्रधान कर्म था। इसकी उत्पत्तिकी कथा इस प्रकार बतलाई है—प्रारम्भमें प्रजापति एकाकी था। उसकी अनेक होनेकी इच्छा हुई। उसने तपस्या की। उसके मुखसे अग्नि उत्पन्न हुई। चूंकि सब देवताओमे अग्नि प्रथम उत्पन्न हुई इसीसे उसे अग्नि कहते हैं उसका यथार्थनाम 'अग्रि' है। मुखसे उत्पन्न

होनेके कारण अग्निका भक्षक होना स्वाभाविक था किन्तु उस समय पृथ्वीपर कुछ भी नहीं था। अतः प्रजापतिको चिन्ता हुई। तब उसने अपनी वाणीकी आहुति देकर अपनी रक्षा की। जब वह मरा तो अग्निपर रक्खा गया अग्निने केवल उसके शरीरको ही जलाया अतः प्रत्येक व्यक्तिको अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।' इसी तरह तपसे विश्वकी उत्पत्ति बतलाई है।

उक्त कथामें अग्निहोत्रके असम्बद्ध विवरणके साथ आध्यात्मिक विचारोंकी खिचड़ी पकाई गई है। कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थोमे कुछ स्थलोंमें पुनर्जन्मका निर्देश मिलता है, जो इस बातका सूचक है कि ब्राह्मणकालमें वैदिक आर्य पुनर्जन्मके सिद्धान्तसे परिचित हो चले थे। किन्तु वे अपने वंश परम्परागत अग्निहोत्रको कैसे छोड़ सकते थे अतः उसका उपयोग भी उन्होंने अग्नि होत्रके प्रचारके लिए ही किया। यदि नया जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अग्नि होत्र करो।

पहले लिख आये हैं कि वैदिक आर्य यज्ञोंके बड़े प्रेमी थे। उनका सारा जीवन ही यज्ञमय था। और उनके यज्ञका उद्देश्य सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति एवं वृद्धि था। वेदोंमें यज्ञका प्रतिपादन था। उनकी यही शिक्षा थी कि अगर हर तरह से सुखी और सम्पन्न रहना चाहते हो तो देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये यज्ञ करो। वेदोंके मंत्रयुगके बाद ब्राह्मणोंका युग आया। यज्ञोंकी विधियोंका निर्धारण करना ब्राह्मण ग्रन्थोंका काम था। यद्यपि ब्राह्मणकालमें पुरोहितोंकी शक्ति खूब बढ़ी किन्तु वैदिकधर्मकी अवनति भी ब्राह्मण कालसे ही आरम्भ हुई। यद्यपि ब्राह्मणोंमे मरणोत्तर जीवनका निर्देश मिलता है किन्तु पुनर्जन्म और कर्म-

फलवादका प्रत्यक्ष विवरण नहीं मिलता। यह विवरण हमें उपनिषदोंमें मिलता है।

बृहदा०उप०से याज्ञवल्क्य और जरत्कारव आर्तभागके सम्वादका विवरण पीछे दिया जा चुका है। आर्तभाग याज्ञवल्क्यसे कहता है—'याज्ञवल्क्य! जब इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है, प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथ्वीमें, हृदयाकाश, भूताकाशमें रोम औषधियोंमें, और केश वनस्पतियोंमें, तथा रक्त और वीर्य जलमें स्थापित हो जाते हैं तब यह पुरुष कहाँ रहता है?' याज्ञवल्क्य तुरत ही आर्तभागका हाथ पकड़कर यह कहते हुए एकान्तमें चले जाते हैं कि यह प्रश्न जन समुदायमें करनेके योग्य नहीं है। एकान्तमें वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि कर्म ही सब कुछ है। पुण्यकर्मसे पुरुष पुण्यवान होता है और पाप कर्मसे पापी होता है।'

उस युगमें आत्मा और ब्रह्मकी जिज्ञासा पुरोहित वर्गमें कितनी बलवती थी यह पीछे उपनिषदोंके कुछ उपाख्यानोंके द्वारा बतलाया गया है। इसी युगके आरम्भमें काशीमें पार्श्वनाथने जन्म लेकर भोगका मार्ग छोड़ योगका मार्ग अपनाया था। उस समय वैदिक आर्य भी तपके महत्त्वको मानने लगे थे। किन्तु अपने प्रधान कर्म अग्निहोत्रको छोड़नेमें वे असमर्थ थे। अतः उन्होंने तप और अग्निको संयुक्त करके पञ्चाग्नि तपको अंगीकार कर लिया था। ऐसे तापसियोंसे ही पार्श्वनाथकी भेंट गंगाके तटपर हुई थी।

पार्श्वनाथका चातुर्याम

पार्श्वनाथ श्रमण परम्पराके अनुयायी थे। वैदिक साहित्यमें सर्वप्रथम हम बृहदारण्यक उप० में इन श्रमणोंका निर्देश पाते हैं।

वाल्मीकि रामायणमें भी श्रमणोंका निर्देश है। जैन साहित्यमें पाँच प्रकारके श्रमण बतलाये हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गौरुक और आजीवक। जैन साधुओंको निर्ग्रन्थ श्रमण कहते है। महावीरका निर्देश बौद्ध त्रिपिटिकोंमे निगंठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञात्रपुत्र) रूपसे मिलता है। त्रिपिटकोमे निर्ग्रन्थका उल्लेख बहुधा आया है। उस परसे डा० याकोवीने यह प्रमाणित किया था कि बुद्धसे पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वर्तमान था। अंगुत्तर निकायमे वप्प नामक शाक्यको निर्ग्रन्थका श्रावक बतलाया है। इस निकायकी अट्ठकथामे लिखा है कि वह वप्प बुद्धका चाचा होता था। इसका मतलब यह हुआ कि गौतम बुद्धके जन्मसे पहले अथवा उनकी बाल्यावस्थामे निर्ग्रन्थका धर्म शाक्य देशमे फैला हुआ था। महाबीर स्वामी तो बुद्धके समकालीन थे। अतः उन्होंने तो उस समय तक निर्ग्रन्थ धर्मका प्रचार नहीं किया था। अतः उनसे पूर्व भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बर्तमान था ऐसा मानना ही उचित है। आगे इस सम्बन्धमे विस्तारसे प्रकाश डाला जायेगा।

महाबीरके पूर्ववर्ती इस निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके नेता भगवान पार्श्वनाथ थे। आधुनिक इतिहासज्ञोंके अनुसार वही निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। पार्श्वनाथके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायका क्या रूप था और उन्होंने किस धर्मका उपदेश दिया था, इन बातोंकी पूरी जानकारी कर सकना शक्य नहीं है क्योंकि उनके समयका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी जैन और बौद्ध उल्लेखोंसे इतना अवश्य प्रकट होता है कि पार्श्वनाथने 'चतुर्याम' धर्मका उपदेश दिया था। चतुर्याम इस प्रकार थे—सर्व प्रकारके प्राणघातका त्याग, सब प्रकारके असत्य वचनका त्याग, सर्व प्रकारके अदत्तादान (बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण) का त्याग

और सब प्रकारकी परिग्रहका त्याग। इनको 'याम' कहा है। 'यम' का अर्थ है दमन करना। चार प्रकारसे आत्म दमनका नाम चातुर्याम था।

इन चार यामोका उद्‌गम वेदों या उपनिषदोसे नहीं हुआ। किन्तु वेदोके पूर्वसे ही इस देशमे रहनेवाले तपस्वी ऋषि मुनियोके तपोधर्मसे इनका उद्‌गम हुआ है। (पा० चा०, पृ० १५)।

छा० उप० लिखा है कि देवकीपुत्र श्रीकृष्णको आंगिरस-ऋषिने आत्मयज्ञका व्याख्यान किया था और तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचनको उसकी दक्षिणा बतलाया था। यह आंगिरस ऋषि कौन थे, कब हुए, यह अज्ञात है। जैन ग्रन्थोके अनुसार श्रीकृष्णके गुरु तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ थे। श्री कौशाम्बी जीने उसी आधारसे नेमिनाथक आंगिरस ऋषि होनेकी संभावना व्यक्त की थी, किन्तु इस संभावनाके लिये प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि छान्दोग्य उपनिषद् के समय[2] अहिंसा सत्य, तप, आदि की ध्वनि वैदिक क्षेत्रमे भी

१—'सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ वहिद्धादाणाओ वेरमण।' ... (स्था०, सू० २६६)।

२—वृहदा रण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय और कौषीतकी ये चार उपनिषद सब उपनिषदोंमें प्राचीन माने जाते हैं। सब प्राचीन उपनिषद भी एक समय के नहीं हैं, विभिन्न कालोंमें उनकी रचना हुई है। उनमें जो परस्पर विरोधी अनेक बातें मिलती हैं। उनका एक कारण यह भी है। साधारणतया प्राचीन उपनिषदोंको बुद्ध पूर्वका माना जाता

गूंजने लगी थी। किन्तु आंगिरसको उसका मूल प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। घोर आंगिरसके सम्बन्धसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे भी ऋषि थे जो जीवनमें अहिंसा सत्य आदिके व्यवहारको प्रश्रय देते थे। किन्तु चातुर्यामरूप धर्मके संस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। उन्होंने अपने इस धर्मका प्रचार सर्व साधारणमें किया और मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाके भेदसे चतुर्विध संघकी स्थापना की। हम आगे बतलायेंगे कि भगवान महावीरके समयमें पार्श्वनाथके अनुयायी मुनि और गृहस्थ वर्तमान थे।

पार्श्वनाथके चातुर्याम धर्म तथा उनके प्रचारके सम्बन्धमें श्री कौशाम्बीजीने लिखा है—"पार्श्वनाथने इन यामोंको सार्वजनिक करनेका प्रयत्न किया। उन तथा उनके शिष्योंने लोगोंसे मिलनेवाली भिक्षापर निर्वाह करके सामान्य लोगोंमें इन यामोंकी शिक्षा देनेकी शुरुआत की। और उसका यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मणोंके यज्ञयाग लोगोंको अप्रिय होने लगे। महावीर स्वामी, बुद्ध तथा अन्य श्रमणोंने इस दया धर्मके प्रचारको चालू रखा। और इस कारण ब्राह्मणोंकी श्रमणोंपर विशेषतया जैनो और बौद्धोंपर वक्र दृष्टि हो गई। वास्तवमें

है। प्रो० मोक्षमूलरने लिखा है कि समस्त वैदिक साहित्य बौद्ध धर्मके (ई० पूर्व ५००) के लगभग) पूर्वका है। बहुतसे विद्वानों का कहना है कि प्राचीनतम उपनिषदोंको ईस्वी पूर्व ६०० से पूर्व नहीं रखा जा सकता। डा० विन्टर नीट्स् ने उन्हें ईस्वी पूर्व ७५०-५०० के मध्यमें रखा है। अतः यह प्रायः निश्चित है कि उपनिषद भगवान पार्श्वनाथसे पूर्वके नहीं है। उनके कालसे ही उनका प्रणयन प्रारम्भ हुआ था।

केवल ब्राह्मणोंका विरोध करनेके लिये पार्श्वनाथने इस चतुर्याम धर्मकी स्थापना नहीं की थी। मनुष्य-मनुष्यके बीचमें वैमनस्य नष्ट होकर समाजमें सुख शान्ति लाना इस धर्मका ध्येय था। किन्तु पार्श्वनाथने ऋषि-मुनियोंके पाससे अहिंसा ली। उसका क्षेत्र मनुष्य जातिके लिये ही संकुचित करना उनके लिये शक्य न था। जानबूझकर प्राणीकी हत्या करना अनुचित है ऐसा पार्श्वनाथने प्रतिपादन किया। और उस समयकी परिस्थितिमें सामान्य जनताको यह अहिंसा प्यारी लगी; क्योंकि राजा तथा सम्पन्न ब्राह्मण जनतासे खेतीके जानवरोंको जबरदस्ती छीनकर यज्ञभागोंमें उसका बध कर देते थे।' (पा० चा०, पृ० १५-१६)।

आगे भगवान पार्श्वनाथके द्वारा संस्थापित चतुर्याम धर्मके आधार पर ही भगवान महावीरने पञ्च महाव्रतरूप निर्ग्रन्थ मार्गकी तथा बुद्धदेवने अष्टांग मार्ग की स्थापना की।

किन्हीं विद्वानोका ऐसा मत है कि पार्श्वनाथने केवल आचार रूप धर्मकी ही स्थापनाकी थी, दार्शनिक क्षेत्रमें उनकी कोई देन नहीं है। संभवतया उनके इस मतका आधार तत्सम्बन्धी प्रमाणोका अभाव ही है, क्योंकि पार्श्वनाथका आत्मा, निर्वाण आदिको लेकर क्या मत था इसके जाननेका कोई साधन हमारे पास नहीं है। किन्तु पार्श्वनाथके समयकी स्थिति तथा भगवान महावीरके द्वारा प्रवर्तित जैन दर्शनके तत्त्वोका पर्यवेक्षण करनेसे उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

पार्श्वनाथका समय बड़ी उथल-पुथलका समय था। वह ब्राह्मण युगके अन्त और औपनिषद् अथवा वेदान्त युगके आरम्भ का समय था। जहाँ उस समय शतपथ ब्राह्मण जैसे

ब्राह्मण ग्रन्थका प्रणयन हुआ वहाँ वृहदारण्यकोपनिषद्के द्वारा उपनिषदोंकी रचनाका सूत्रपात्र हुआ। ऐसे उथल-पुथलके समयमें बिना किसी दार्शनिक भित्तिके केवल चतुर्यामरूपी स्तम्भोंके आधारपर धर्मका प्रसाद नहीं खड़ा किया जा सकता। अहिंसा और सर्वस्व त्यागको अपनाकर निर्ग्रन्थ बननेका कोई लक्ष्य तो होना ही चाहिये। आग जलाकर तपस्या करनेको बुरा समझकर भी तपस्याका मार्ग अंगीकार करनेवालेके सामने आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्षकी कोई न कोई रूप रेखा अवश्य रही होगी। यह हम पहले लिख आये हैं कि पुनर्जन्मका विचार उस आर्येतर संस्कृतिकी देन है जो ऋग्वेदसे भी प्राचीन है। अतः श्रमण परम्पराके एक प्रमुख स्तम्भका उक्त तत्त्वोंके सम्बन्धमे कोई विचार प्रदर्शित न करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

दूसरे, विद्वानोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि बुद्ध आत्मा निर्वाण आदि प्रश्नोंको अव्याकृत कहकर टाल देते थे। दीर्घनिकायके पासादिक सुत्तमें बुद्धने इस बातका उत्तर दिया है कि आत्मा आदिके झगड़ेमे वह क्यों नही पड़े। उन्होंने चुन्दसे कहा—'चुन्द' अन्य सम्प्रदायोंके परिव्राजक यदि पूछें कि इस विषयमें श्रमण गौतमने क्यो कुछ नहीं कहा? तो उन्हे ऐसा कहना चाहिये—आवुसो! न तो यह अर्थोपयोगी है, न धर्मोपयोगी इत्यादि। किन्तु भगवान महावीरने इस प्रकारके किसी भी प्रश्नको अव्याकृत कहकर नहीं टाला। इससे यद्यपि महावीरकी बहुदर्शिता और बहुज्ञतापर प्रकाश पड़ता है तथापि ऐसा भी आभास होता है कि आचार विषयक मन्तव्योंकी तरह कतिपय दार्शनिक मन्तव्य भी भगवान् महावीरको उत्तराधिकारके रूपमें परम्परासे प्राप्त हुए थे।

प्राचीन जैन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी चर्चा आगे की जायेगी। उनमे अंग और पूर्व नामक सिद्धान्त ग्रन्थ भी थे, जो नष्ट हो गये। पूर्वोंके विषयमे ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि वे भगवान् महावीरसे पहलेके थे इसीसे उन्हें पूर्व कहते थे। उन पूर्वोंसे ही अंगोंके विकासके भी उल्लेख मिलते हैं। इस परसे डा० याकोबी का मत है कि महावीरके पूर्ववर्ती निर्ग्रन्थोके वही धार्मिक ग्रन्थ थे।

त्रिपिटकसे यह प्रकट है कि भगवान बुद्ध आचारविषयक नियमोंमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते रहते थे। किन्तु जैनसाहित्यमे भगवान महावीरके सम्बन्धमें इस प्रकारका संकेत तक नही मिलता। इससे यह प्रकट होता है कि बुद्धने अपना पन्थ स्थापित किया था जब कि महावीर उस निर्ग्रन्थ मार्गके एक प्रवर्तक थे जो पार्श्वनाथके समयसे चला आता था। अतः निर्ग्रन्थ मार्गकी निश्चित आचार परम्परा तथा विचार परम्परा का कुछ अंश उन्हे अवश्य ही पूर्वागत प्राप्त होना चाहिये। अतः भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित जैन दर्शनके सिद्धान्त केवल महावीरकी ही देन नहीं है उनमें भगवान पार्श्वनाथकी भी देन है, किन्तु उस देनका विभागीकरण करना शक्य नहीं है। तथापि जैन दर्शनकी प्राचीनताको स्पष्ट करनेके लिये डा० याकोबीके एक लेखके आधार पर यहाँ संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनका स्थान

हम पहले लिख आये है कि प्रोफेसर ड्यूसन (Deussen) ने उपनिषदोको चार समूहोमे विभाजित किया है। प्रथम

समूहमे पाँच उपनिषद् आये हैं—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी। दूसरे समूहमें कठक, ईश, श्वेताश्वर, मुण्डक और महानारायण आते हैं। और तीसरे समूहमें प्रश्न, मैत्रायणी, और माण्डूक्य आते हैं। यह हम पहले भी लिख आये हैं।

श्वेताश्वर उ० मे गुण (१-३), प्रधान (१-१०) शब्द तथा सांख्यके अन्य प्रमुख विचार मिलते हैं। उक्त द्वितीय तथा तृतीय समूहके उपनिषदोंमे भी सांख्यके कतिपय मौलिक विचार पाये जाते हैं। अतः डा० याकोबीका मत है कि उपनिषदोंके प्रथम और द्वितीय समूहके मध्यमें सांख्य दर्शनका उदय हुआ है। चूंकि योगदर्शनका निकट सम्बन्ध भी सांख्यके साथ है इसलिये योगदर्शनका उदय भी उसी समय होना चाहिये। उत्तर कालीन कतिपय उपनिषदोमें, जिनमे सांख्य सिद्धान्त पाये जाते हैं योगका नाम भी आता है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वहाँ योग से मतलब योग दर्शन लिया है या योगाभ्यास ?

उस युगमे जो मौलिक परिवर्तन हुआ, सांख्य-योगका उदय केवल उसका एक चिन्ह मात्र है, वास्तविक कारण नहीं है। इसका वास्तविक कारण तो आत्माओंके अमरत्वमें विश्वास था, जो उस समय सर्वत्र फैला हुआ था। क्योंकि यह ऐसा सिद्धान्त था जिसे मृत्युके पश्चात् होनेवाले विनाशसे भीत जनताके बहुभागका समर्थन मिलना निश्चित था।

आत्माओके अमरत्वके सिद्धान्तने ही तर्क भूमिमें आकर जड़ तत्त्वकी भिन्नताको प्रदर्शित किया, जिसका प्राचीन उपनिषदोंमें अभाव है। ये दोनों सिद्धान्त प्रारम्भसे ही जैन और सांख्य

योग जैसे प्राचीनतम दर्शनोंके मुख्य भाग हैं। वैशेषिक और न्यायदर्शनका उदय तो बहुत बादमे हुआ है और इन दोनोंने भी उक्त दोनों सिद्धान्तोको अपनेमें स्थान दिया है।

बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें वेदान्त दर्शनको निबद्ध किया है। यद्यपि यह कहा जाता है कि उन्होंने उपनिषदोकी शिक्षाको ही व्यवस्थित रूप दिया है, किन्तु ब्रह्मसूत्रमे भी जीवको अनादि और अविनाशी माना है। शंकराचार्यने अपने भाष्यमे भले ही इसके विरुद्ध प्रतिपादन किया है। इसके लिये कलकत्ताके श्री अभयकुमार गुहका 'ब्रह्मसूत्रमे जीवात्मा' शीर्षक निबन्ध पठनीय है।

कठ और श्वेताश्वर उपनिषदोमे ब्रह्मसे आत्माओंका पृथक् अस्तित्व माना है, यद्यपि दूसरी ओर उनमे दोनोके ऐक्यका भी समर्थन मिलता है। किन्तु ब्रह्मसूत्र तो उन उपनिषदोसे भी एक कदम आगे बढ़ गया है। अस्तु,

इस तरह स्वतंत्र आत्माओंकी अमरतामे विश्वास ही विचारोको नया रूप प्रदान करनेमे मुख्य कारण हुआ है। उसीने वैदिक युगका अन्त किया है। उसीके साथ पुनर्जन्म और कर्मका सिद्धान्त सम्बद्ध है जिनके विषयमे पहले लिख है। अस्तु,

पहले लिख आये हैं कि जैन और सांख्य योग प्राचीनतम दर्शन हैं जो वैदिक युगके अन्तके साथ ही सम्मुख आते हैं। ये ऊपर बतलाये गये सिद्धान्तोंके, खासकर अमर आत्माओका बहुत्व और जड़के पृथकत्वके समर्थक है। यद्यपि इन्होंने इन विचारोको अपने-अपने स्वतंत्र ढगसे विकसित किया है, फिर भी दोनोमें कहीं-कहीं सादृश्यसा प्रतीत होता है।

यहाँ हम विस्तारमें न जाकर संक्षेपमे दो एक मुद्दोंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे।

जैन और सांख्य-योग इस विषयमे एक मत है कि जड़ (Maller) स्थायी है। किन्तु उसकी अवस्थाएं अनिश्चित है। सांख्य मतके अनुसार एक प्रधान ही नानारूप होता है, किन्तु जैन धर्मके अनुसार केवल पुद्गल द्रव्य नाना अवस्थाओंमे परिवर्तित होता है—आकाश आदि द्रव्य परिवर्तनशील होते हुए भी अखण्ड और अविनाशी रहते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जबसे जड़ और चेतनका भेद विचारकोंके अनुभवमें आया तभीसे जड़के विषयमें उक्त मान्यता प्रचलित है। किन्तु उत्तरकालमे उक्त मूल सिद्धान्तमें परिवर्तन होना दृष्टि गोचर होता है। यह परिवर्तन है चार अथवा पांच भूतोंका एक दूसरेसे एकदम भिन्न और स्वतंत्र अस्तित्व माना जाना। यह मत चार्वाकोंका था। चार्वाक सांख्य योगसे अर्वाचीन है। न्याय-वैशेषिकने भी इसी मतको अपनाकर अपने ढगसे विकसित किया। जैन और सांख्ययोगने इस मतका एक मतसे विरोध किया है, जो इस बातका सूचक है कि भूतवादी मत अर्वाचीन होना चाहिये।

जैन पुद्गलको परमाणु रूपमे मानते है, किन्तु सांख्य प्रधान या प्रकृतिको व्यापक मानता है। जैनोके अनुसार परमाणुओंके मेलसे जीव, धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाश द्रव्यके सिवाय शेष सब वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु सांख्य मतके अनुसार प्रधानमे सत्त्व रज और तम नामके तीन गुण है और इन्हींके मेलसे एक प्रधानसे महान् अहंकार आदि पांच तन्मात्रा पर्यन्त तत्त्वोकी उद्भूति

होती है। और उन पाँच तन्मात्राओंसे पांचभूत बनते हैं। अतः मूल सांख्यमत परमाणुवादको नहीं मानता था। किन्तु सांख्य-योग दर्शनके कुछ ग्रन्थकार परमाणु वादको मानते थे ऐसा लगता है।

सांख्य कारिकाकी टीकामें गौड़पादने बिना विरोध किये परमाणुवादका कई जगह निर्देश किया है। योगसूत्र (१-४०) में भी उसे स्वीकार किया है। उसके भाष्य (१-४०,४३,४४,३-५२, ४-१४ वगैरहमें) तथा वाचस्पति मिश्रकी टीका (१-४४) में भी परमाणुओंका अस्तित्व स्वीकार किया है।

इन उल्लेखोंसे प्रमाणित होता है कि परमाणुवाद सिद्धान्त इतना अधिक लोकसम्मत था कि उत्तरकालमें सांख्ययोगने भी उसे स्वीकार कर लिया। अब आत्मतत्त्वको लीजिये—

आत्मतत्त्वके विषयमें जैन और सांख्ययोग कतिपय मूल बातोंमें सहमत हैं। आत्माएँ सनातन और अविनाशी हैं, चेतन हैं, किन्तु जड़कर्मोंके कारण, जो अनादि है, उनका चैतन्य तिरोहित है। मुक्ति होनेपर कर्मोंका अन्त हो जाता है।

किन्तु आत्माके आकारके विषयमें जैनोंका अपना एक पृथक मत है जो किसी भी दर्शनमें स्वीकार नहीं किया गया। जैन मानते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपने शरीरके बराबर आकारवाला होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलके सांख्य इस विषयमें कोई स्पष्ट मत नहीं रखते थे। क्योंकि योग भाष्य (१-३६) में पञ्चशिखका मत उध्धृत किया है जिसमें आत्माको अणुमात्र बतलाया है। जबकि ईश्वरकृष्ण तथा पश्चात्‌के सभी ग्रन्थकारोंने आत्माको व्यापक लिखा है।

आत्माके कर्मबन्धन और कर्मोंसे छुटकारेको लेकर भी सांख्ययोग और जैनमे बहुत भेद है।

इसके सिवाय जैन दर्शन मानता है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पतिमे भी जीव है और उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। सारांश यह है कि जड़ और आत्माको लेकर जैनदर्शन और सांख्य-योगमे इतना सुनिश्चित अन्तर है कि उसे देखते हुए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जैनोंने सांख्ययोगसे या सांख्ययोगने जैनोसे कुछ लिया है।

फिर भी साख्य और जैन दर्शनकी आत्मविषत्रक कतिपय बातोमे समानता देखकर जेकोबीका ऐसा अनुमान है कि ये दोनों दर्शन लगभग एक ही कालमे उदित हुए है।

कौटिल्यके अनुसार उसके समयमे (३०० ई० पूर्व) सांख्य-योग और लोकायत ये ही ब्राह्मण दर्शन वर्तमान थे। अतः अवश्य ही ये कौटिल्यकालसे प्राचीन हुए कहलाये।

अब हम भगवान पार्श्वनाथके ऐतिहासिक व्यक्ति होनेके सम्बन्धमे कुछ प्रमाण उपस्थित करेंगे।

भगवान पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता

न केवल जैन साहित्यसे किन्तु बौद्ध साहित्यसे भी पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। उसके सम्बन्धमे सर्वप्रथम एक बात उल्लेखनीय है। और उसे हम अपनी ओरसे न लिखकर डा० याकोबीके ही शब्दोंको लेकर लिखना उचित समझते हैं।

बौद्ध साहित्यके उल्लेखोंके आधारपर बुद्धसे पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदायका अस्तित्व प्रमाणित करते हुए स्व० डा० याकोबीने लिखा है—

'यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एकसा प्राचीन होते, जैसा कि बुद्ध और महावीरकी समकालीनता तथा दोनोंको दोनों सम्प्रदायोंका संस्थापक माननेसे अनुमान किया जाता है, तो हमें यह आशा करनी चाहिये थी कि दोनोंने अपने-अपने साहित्यमें अपने प्रतिद्वन्दीका अवश्य ही निर्देश किया होगा। किन्तु बात ऐसी नहीं है. बौद्धोंने अपने साहित्यमें यहाँ तक कि पिटकोंमें भी निर्ग्रन्थोंका बहुतायतसे निर्देश किया है किन्तु प्राचीन जैन सूत्रोंमें मुझे बौद्धोंका किञ्चित् भी निर्देश नहीं मिला। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदायको एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ अपने प्रतिद्वन्दियोंकी उपेक्षा तक कर सकते थे। अत. उत्तरकालमें दोनों सम्प्रदायोंके जैसे पारस्परिक सम्बन्ध रहे उसके यह बिल्कुल विपरीत है। और यतः यह दोनों सम्प्रदायोंके समकालमें स्थापित होनेके हमारे अनुमानके भी विरुद्ध है अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि बुद्धके समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकोंका भी जान पड़ता है क्योंकि हम उनमें इसके विपरीत कोई उल्लेख नहीं पाते। (इं० एंटि०, जि० ९, पृ० १६०)।

मज्झिम निकायके महासिहनाद सुत्त (पृ० ४८-५०) में बुद्धने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवनका वर्णन करते हुए तपके वे चार प्रकार बतलाये हैं जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया था। वे चार तप है—तपस्विता, रुक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विताका अर्थ है नंगे रहना, हाथमें ही

भिक्षा भोजन करना, केश दाढ़ीके बालोंको उखाड़ना, कंटकाकीर्ण स्थल पर शयन करना। रूक्षताका अर्थ है—शरीर पर मैल धारण करना या स्नान न करना। अपने मैलको न अपने हाथसे परिमार्जित करना और न दूसरेसे परिमार्जित कराना। जुगुप्साका अर्थ है—जलकी बूंद तक पर दया करना। और प्रविविक्तताका अर्थ है—वनोंमे अकेले रहना।

ये चारो तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदायमें आचरित होते थे। भगवान महावीरने स्वय इनका पालन किया था तथा अपने निर्ग्रन्थोंके लिये भी इनका विधान किया था। किन्तु बुद्धके दीक्षा लेनेके समय महावीरके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायका प्रवर्तन नहीं हुआ था। अत. अवश्य ही वह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीरके पूर्वज भगवान पार्श्वनाथका था, जिसके उक्त चार तपोको बुद्धने धारण किया था, किन्तु पीछे उनका परित्याग कर दिया था। म० नि० के उक्त सुत्तके कथनसे यह स्पष्ट है।

दि० जैनाचार्य श्री देवसेनने वि० सं० ९९० मे पूर्वाचार्य प्रतिपादित गाथाओंका संकलन करते हुए दर्शनसार नामके एक ग्रन्थ रचा था जिसमें अनेक मतोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है। उसमे बौद्धमतकी उत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि—'पार्श्वनाथ' भगवानके तीर्थमे सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहितास्रव मुनिका शिष्य बुद्ध कीर्ति मुनि हुआ जो महाश्रुत—बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। मछलियोका आहार करनेसे वह धारण की

१—'सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्ती मुणी ॥ ६ ॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपव्वज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ ७ ॥

गई प्रव्रज्यासे भ्रष्ट हो गया और उसने रक्ताम्बर धारण करके एकान्त मतकी प्रवृत्ति की।

यहाँ बुद्ध कीर्ति बुद्धदेवके लिये ही आया है क्योंकि आगे गाथा ४० मे उसके मतका प्रदर्शन करते हुए कहा है कि पाप अन्य करता है और फल अन्य भोगता है। यह बौद्ध मतके क्षणिकवादका ही निरूपण है।

बुद्धको कठोर तपश्चर्यामें कुछ सार प्रतीत नहीं हुआ। इससे उन्होने उसे छोड दिया। यह भी उनके जीवन वृत्तमे मिलता है। बौद्ध वाङ्मयके प्रकाण्ड पण्डित और बुद्ध जीवनके विशिष्ट अन्वेषक श्री कौशाम्बीने लिखा है कि—'निर्ग्रन्थोके श्रावक वप्प शाक्यके उल्लेखसे प्रकट है कि निर्ग्रन्थोंका चतुर्याम धर्म शाक्यदेश तक प्रचलित था। परन्तु उस देशमे निर्ग्रन्थोंके आश्रम होनेका उल्लेख नहीं मिलता। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण ... ...शाक्य देश पर्यन्त जाकर अपने धर्मका उपदेश करते थे। शाक्योंमे अलार कालामके श्रावक अधिक थे क्योंकि उसका आश्रम कपिलवस्तु नगर तक मे था। गौतम बोधिसत्वने आलारके समाधिमार्गका अभ्यास किया था। और गृहत्याग करने पर तो प्रथम वह आलारके ही आश्रममे गये थे। और उन्होंने उसके योगमार्गका अभ्यास किया था। आलारने उन्हे समाधिके सात चरण सिखाये। उसके पश्चात् गौतम उद्रक रामपुत्रके पास गये और उससे समाधिका आठवाँ चरण सीखा। परन्तु उससे उनका समाधान नहीं हुआ क्योंकि उस समाधिसे मनुष्यके बीचकी कलह नहीं मिट सकती थी। तब बोधिसत्त्व उद्रक रामपुत्रका आश्रम छोड़कर राजगृह आये। वहाँ के श्रमण सम्प्रदायोंमे उन्हे निर्ग्रन्थोंका चातुर्याम संवर विशेष पसन्द आया, क्योंकि

बुद्धके द्वारा खोजे गये आर्य अष्टांगिक मार्गका समावेश चतुर्यामर्में हो जाता है।' (पा० चा०, पृ० २४)।

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ये बुद्धका आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

श्री कौशाम्बीने आगे लिखा है कि इनके अवलोकनसे यह स्पष्ट है कि बुद्धने पार्श्वनाथके चार यामोंको पूर्ण रूपसे स्वीकार कर लिया था। उन यामोंमें उन्होंने अलार कालामकी समाधि और स्वयं खोजकर निकाली गई चार आर्य सत्य रूप प्रज्ञाको जोड दिया। तथा उन यामोंको तपश्चर्या और आत्मवादसे मुक्त कर दिया, क्योंकि लगातार वर्षों तक तपस्या करने पर उन्हे लगा कि देह दण्डन व्यर्थ ही नहीं उल्टा हानिकारक भी है।

बुद्धने तपश्चर्याका परित्याग कर दिया था इससे लोग उन्हे तथा उनके अनुयायि शिष्योंको आराम पसन्द कहते थे। दीर्घ निकायके पासादिक सुत्तमें (पृ० २५६) बुद्ध चुन्दसे कहते है— 'चुन्द! ऐसा हो सकता है कि दूसरे मतवाले परिब्राजक ऐसा कहे—शाक्यपुत्रीय श्रमण आरामपसन्द हो विहार करते हैं। ......चुन्द! ये चार प्रकारकी आरामपसन्दगी अनर्थ युक्त है—कोई मूर्ख जीवोंका बध करके आनन्दित होता है, प्रसन्न होता है। यह पहली आराम पसन्दगी है १। कोई चोरी करके आनन्दित होता है यह दूसरी आराम पसन्दगी है २। कोई झूठ बोलकर प्रसन्न होता है यह तीसरी आराम पसन्दगी है ३। कोई पांचो भोगोंका सेवन करके आनन्दित होता है ये चौथी आराम पसन्दगी है ४। ये चारो सुखोपभोग निकृष्ट हैं।

हो सकता है चुन्द ! दूसरे मतवाले साधु ऐसा कहें—इन चार सुखोपभोग आराम पसन्दगीसे युक्त हो शाक्यपुत्रीय श्रमण विहार करते हैं। उन्हें कहना चाहिये—ऐसी बात नहीं है। उनके विषयमें ऐसा मत कहो, उन पर झूठा दोषारोपण न करो।'

इससे स्पष्ट है कि बुद्धके मतमे चार यामोका पालन करना ही तपश्चर्या मानी जाती थी। अतः बुद्धने पार्श्वनाथके चातुर्याम धर्म को स्वीकार किया था।

डा० याकोवीने 'महावीर और उनके पूर्वज' शीर्षक अपने एक लेखमे लिखा है कि छै तीर्थिकोके सम्बन्धमे 'जेम्स डी अलविस (James D 'Alvis') ने अपने एक निबन्धमे लिखा था कि ऐसा प्रकट होता है कि 'दिगम्बर' साधुओंका एक प्राचीन सम्प्रदाय माना जाता था। तथा ये सभी विपक्षी तीर्थिक अपने सिद्धान्तोंमे अथवा धार्मिक क्रियाओंमें जैन धर्मके प्रभावको अपनाये हुए थे —गोशाल मक्खलिपुत्र नंगा रहता था, पूरण काश्यपने यह सोचकर कि दिगम्बर रहनेसे मेरी विशेष प्रतिष्ठा रहेगी, वस्त्र धारण करना स्वीकार नहीं किया। अजितकेश कम्बली वृक्षोंमे जीव मानता था और जो वृक्ष काटता था उसे दोषी करार देता था। प्रकुद्ध कात्यायन पानीमे जीव मानता था। इस तरह उस समयके चार तीर्थिक जैन धर्मके सिद्धान्तोंसे प्रभावित थे। इससे प्रकट होता है कि महावीरके समय जैनाचार और विचार अवश्य ही प्रवर्तित थे। अतः निर्ग्रन्थ महावीर से बहुत पहलेसे चले आते थे। (इन्डि० एण्टि० जि० ९)।

बौद्ध त्रिपिटिकसे यह प्रकट है कि बुद्धके समय भारतवर्षमें श्रमणोके कोई ६३ सम्प्रदाय विद्यमान थे। जिनमेंसे छै बहुत

हो प्रमुख थे। इन प्रमुख छै सम्प्रदायोंके आचार्य थे—पूरण काश्यप मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बल, प्रकुध कात्यायन, निगंठ नाथपुत्त (महावीर), और संजय बेलट्ठिपुत्त। दीर्घ निकायके सामञ्ञफलसुत्त (पृ० २१) में इन छहोंका मत प्रतिपादित है। उसमें निगंठ नाथपुत्तको चतुर्याम संवरवादी कहा है। वे चार संवर इस प्रकार बतलाये हैं—१–निगंठ (निर्ग्रन्थ) जलके व्यवहारका वारण करता है (जिसमें जलके जीव न मरें)। २—सभी पापोंका वारण करता है। ३—सभी पापोंका वारण करनेसे धुतपाप होता है। ४—सभी पापोंके वारणमें लगा रहता है।

इसी तरह म० नि० (पृ० २२५) में उपालि गृहपतिसे वार्तालाप करते हुए गौतम बुद्धने कहा है—गृहपति! यहाँ एक चातुर्याम संवरसे संवृत (गोपित-रक्षित) सब वारिसे निवारित, सब वारि (वारितों) का निवारण करनेमें तत्पर सब (पाप—) वारिसे धुला हुआ सब (पाप) वारिसे छूटा हुआ निग्रन्थ है।'

यद्यपि निग्रन्थ साधु जो आज जैन कहलाते हैं शीत जलका व्यवहार नहीं करते और सब पापोंका वारण करनेमे भी तत्पर रहते है किन्तु इन बातोको चतुर्यामोंमे कहीं भी नहीं गिनाया। अतः उक्त बौद्ध उल्लेख अवश्य ही भ्रान्त है। किन्तु इस भ्रान्तिमे ही पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताके बीज श्री याकोबीने देखें।

उन्होंने लिखा है—'निश्चय ही यह जैन मान्यताका यथार्थ वर्णन नहीं है यद्यपि उसमें और जैन मान्यतामें कुछ विरोध भी नहीं है। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है मेरे विचारसे 'चातुर्याम

संवर संवुतो' को समझने में बौद्ध टीकाकारने ही भूल नहीं की किन्तु मूल ग्रन्थकारने भी भूल की है क्योंकि पालीशब्द चातुर्याम और प्राकृतशब्द चातुज्जाम तुल्य हैं। चातुज्जाम एक प्रसिद्ध जैन पारिभाषिक शब्द है जो महावीरके पांच महाव्रतोंके स्थानमे पार्श्वके चार व्रतोंको बतलाता है। अतः मेरा अनुमान है कि उस सिद्धान्तको, जो वास्तवमे महावीरके पूर्वज पार्श्वनाथका था, महावीरका बतलानेमे भूल की है। यह भूल महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि बौद्धोने पार्श्वके अनुयायियोंसे उक्त चातुर्याम को न सुना होता तो निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके निर्देशकके रूपमें वे उसका प्रयोग न करते। तथा यदि बुद्धके समयमे महावीरके किये गये सुधारोंको सब निग्रन्थोंने स्वीकार कर लिया होता तो भी बौद्धोने 'चातुर्याम संवर सवुतो' का प्रयोग न किया होता। अतः बौद्धोंकी बड़ी भूलको मैं इस जैन कथनकी कि महावीरके समयमें पार्श्वके अनुयायी वर्तमान थे-सत्यताके प्रमाण रूपमे पाता हूँ (से० बु० ई०, जि० ४५, प्रस्ता० पृ० २१)

इस तरह बौद्ध त्रिपिटकोंके उल्लेखोसे यह प्रमाणित होता है कि बुद्धके बाल्यकालमे भी निग्रन्थ श्रावक वर्तमान थे तथा बुद्ध पार्श्वनाथके चतुर्यामसे न केवल परिचित थे किन्तु उन्होंने उसे ही विकसित करके अपने अष्टांगिक मार्गका निर्धारण किया था। और उनके समयमे पार्श्वनाथके अनुयायी निग्रन्थ वर्तमान थे।

अब हम जैन साहित्यसे इस सम्बन्धमें कुछ प्रमाण उपस्थित करेंगे।

कतिपय जैनउल्लेख

उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनका केशी गौतम संवाद भी इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय है। उसमें लिखा है—

१—जिणे पासेत्ति णामेणं, अरहा, लोगपूइए।
संबुद्धप्पा य सव्वण्णु धम्मतित्थयरे जिणे॥ १॥
तस्स लोगप्पदीवस्स आसि सीसे महायसे।
केसीकुमारसमणे, विज्जाचरणपारगे॥ २॥
ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससघसमाउले।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं पुरिमागए॥ ३॥
तेंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमंडले।
फासुए सेज्जसंथारे, तत्थवासमुवागए॥ ४॥
अह तेणेव कालेण धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणुत्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए॥ ५॥
तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे।
भयवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे॥ ६॥
बारसंगविऊबुद्धे सीससघसमाउले।
गामाणुगामं रीयंते से वि सावत्थी मागए॥ ७॥
कोट्ठगं णाम उज्जाणं तम्मि नयरमंडले।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए॥ ८॥

× × ×

अह ते तत्थ सोसाण विन्नाय पवितक्कयं।
......जेट्ठं कुलमवेक्खतो, तेंदुयं वणमागओ॥ १५॥
पुच्छामि ते महाभाग! केसी गोयममब्ववी।
........तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी॥ २२॥

"पार्श्वनाथके एक महायशस्वी शिष्य श्रमण केशीकुमार थे, जो ज्ञान और चरित्रके पारगामी थे। वे अपने शिष्योंके साथ ग्राम ग्राम भ्रमण करते हुए श्रावस्ती नगरीमें आये और वहाँ तिण्डुक नामक उद्यानमे ठहरे॥ उसी समय सर्वलोकमें विश्रुत धर्म तीर्थंकर भगवान महावीरके शिष्य, द्वादशांगवेत्ता महायशस्वी भगवान गौतम भी ग्राम-ग्राममे विचरण करते हुए अपने शिष्यसंघके साथ श्रावस्ती नगरीमें पधारे और कोष्ठक नामक उद्यानमे ठहरे॥ दोनोंके गुणवान् संयमी और तपस्वी शिष्योंको यह चिन्ता (विचार) उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा है और वह धर्म कैसा है? महा मुनि पार्श्वने चातुर्याम और सान्तरोत्तर धर्मका कथन किया और महावीरने पञ्चशिक्षा रूप तथा अचेलक धर्मका कथन किया। एक ही मोक्ष-रूपी कार्यके लिये प्रवृत्त इन दोनो धर्मोंमें भेदका क्या कारण है? अपने-अपने शिष्योंके इस वितर्कको जानकर केशी गौतमने परस्परमें मिलनेका विचार किया।'

'विनयके ममज्ञ गौतम केशीको ज्येष्ठकुल (पार्श्वनाथके शिष्य होनेसे) का मानकर अपने शिष्य संघके साथ तेन्दुक

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं पासेण य महामुणी॥ २३॥
एककज्जपवण्णाणं, विसेसे किं नु कारणं?
धम्मे दुविहे मेहावी! कहं विप्पचओ न ते॥ २४॥
तओ केसिं बुवंत तु, गोयमो इणमव्वी।
पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं॥ २५॥
पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्क जड्डा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेण धम्मो दुहा कए॥ २६॥

उद्यानमें गये। गौतमको आता देख श्रमण केशीकुमारने उनका यथोचित समादर किया और बैठनेके लिये प्रासुक तृणोंका आसन प्रदान किया॥ तब केशीने गौतमसे पूछा—हे महाभाग! महामुनि पार्श्वने चातुर्याम धर्मका और वर्धमानने पञ्च शिक्षारूप धर्मका उपदेश किया। एक ही कार्यके लिये प्रवृत्त धर्ममें भेदका कारण क्या है? केशीका प्रश्न सुन कर गौतम बोले-धर्म तत्त्वकी समीक्षा बुद्धि पर निर्भर है। ऋषभ देव के शिष्य ऋजु जड़ थे और महावीरके शिष्य वक्र जड़ हैं। किन्तु बीचके बाईस तीर्थङ्करोंके तीर्थमें होने वाले शिष्य ऋजु और समझदार थे। इसीलिये धर्ममें भेद पड़ा।"

केशी गौतम संवादसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीरके समयमें भी पार्श्वनाथके अनुयायी श्रमण संघ मौजूद थे। अतः बौद्धोंने जो निर्ग्रन्थके लिये चतुर्याम संवरसे संवृत बतलाया है वह भी अवश्य ही इस बातका सूचक है कि बुद्धकालमें पार्श्वनाथके अनुयायी निर्ग्रन्थ मौजूद थे।

श्वेताम्बरीय जैनागमोंमें ऐसे[1] अनेक व्यक्तियोंका निर्देश है जिन्हें 'पासावच्चिज्ज' कहा गया है। इसका संस्कृतरूप पार्श्वापत्यीय होता है। टीकाकारों[2] ने इसका अर्थ 'पार्श्व स्वामीके

१—प्रो० दलसुख मालवणियाने उनकी संख्या ५१० बतलाई है उनमेंसे ५०३ साधु थे। देखो—जैनप्र० का उत्थान महावीराङ्क पृ० ४७।

२—'पार्श्वापत्यस्य—पार्श्वस्वामिशिष्यस्य अपत्यं—शिष्यः पार्श्वापत्यीयः' (सू० २-७)। 'पार्श्वापत्यानां-पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वापत्यीयः (भग० १-६)। पार्श्वनाथशिष्यशिष्ये (स्था० ६)। चातुर्यामिक साधौ (भग० १५)।

शिष्यके शिष्य' किया है। भगवती (१५) की टीकामें पार्श्वापत्यीयका अर्थ करते हुए चातुर्यामिक साधु भी किया है।

आचा०[1] सू० (२-१५-१५) मे भगवान महावीरके पिता सिद्धार्थको पार्श्वापत्यीय श्रमणोपासक और माता त्रिशलाको पार्श्वापत्यीय श्रमणोपासिका लिखा है।

इन पार्श्वापत्यीयोके सम्बन्धमे आगे और भी विशेष प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ तो केवल यही बतलानेके लिये उनका उल्लेख मात्र किया गया है कि पार्श्वनाथ वास्तवमें एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

भगवान महावीर

भगवान पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताके आधारोपर प्रकाश डालनेके पश्चात् हम भगवान महावीरकी ओर आते है।

निगंठ नाटपुत्त और वर्धमान महावीरका ऐक्य

सबसे प्रथम इस शंकाका निवारण करना आवश्यक है कि बौद्ध पिटकोंमे निर्दिष्ट निगंठ नाटपुत्त ही जैनोके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर है इसमें क्या प्रमाण है ?

निगंठ नाटपुत्त निर्ग्रन्थोके बड़े भारी संघके अधिपति थे यह बौद्ध पिटकोके उल्लेखोसे स्पष्ट है। अतः निर्ग्रन्थ साधु होनेके कारण उन्हें निगंठ (निर्ग्रन्थ) कहा गया है और निर्ग्रन्थोके आचार विचारके विषयमे जो कुछ बौद्ध साहित्यमें कहा गया है वह भी बहुत कुछ अंशोमे जैन साधु के आचारसे भिन्न नहीं है। अतः आज जो जैन सम्प्रदायके

१—महावीरस्स अम्मा पियरो पासावच्चिज्जा।

नामसे ख्यात है बुद्धके समयमें उसे निर्ग्रन्थ कहते थे। इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं प्रतीत होता।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों इस बातसे सहमत हैं कि महावीर कुण्डपुर या कुण्ड ग्रामके राजा सिद्धार्थके पुत्र थे। और सिद्धार्थ दिगम्बरीय उल्लेखोंके अनुसार णाह[1] वंश या नाथ वंशके क्षत्रिय थे और श्वेताम्बरीय[1] उल्लेखोंके अनुसार णाय कुलके थे। इसीसे महावीरको णायकुलचन्द और णायपुत्त कहा है।

णाह, णाय, णात ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इसीसे बुद्धचर्यामें श्री राहुलजीने नाटपुत्तका अर्थ – ज्ञातृपुत्र और नाथ पुत्र दोनों किया है। अत दिगम्बरोंके अनुसार महावीर नाथपुत्र थे तो श्वेताम्बरोंके अनुसार ज्ञातृपुत्र थे। अतः बौद्ध ग्रन्थोंमे निर्दिष्ट णाटपुत्त अवश्य ही जैन तीर्थङ्कर महावीर हैं। उस समय जाति और देशके आधारपर इस तरहके नामोंके व्यवहार करनेका चलन था। जैसे बुद्धको शाक्यपुत्र कहा है क्योकि वह शाक्य वंशके थे और उनका जन्म शाक्य देश (कपिलवस्तु) मे हुआ था। इसीसे उनके अनुयायी श्रमण शाक्यपुत्रीय श्रमण (बु० च०, पृ० ५५०) कहे जाते थे। इसी तरह महावीर भी अपनी जाति तथा वंशके आधार पर

१—कुण्डपुरपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए॥ २३॥
—ज० ध०, भा० १, पृ० ७८

'णाहोग्गवंसेसु वि वीर पासा'॥ ५५०॥ ति० प०, अ० ४। 'उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ'—दशभ०, पृ० २४८। २—'णातपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमें'—सूत्र० १ श्रु १, अ०, १ उ०।

णाटपुत्त कहे जाते थे। और उनके अनुयायी निग्रन्थ 'नाथ' पुत्रीय निगंठ' (बु० च०, पृ० ४८१) कहे जाते थे।

१—श्री वेबरने अपनी पुस्तिका 'इन्डियन सेक्ट श्राफ दी जैनास्' में इस विषयपर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"बौद्ध त्रिपिटकोंका सिंहली संस्करण सबसे प्राचीन माना जाता है। ईस्वी पूर्व तीसरी शतीमें उसको अन्तिम रूप दिया गया ऐसा विद्वानोंका मत है। उसमें निगंठोंका एक विरोधी साधु सम्प्रदायके रूपमें बहुतायत से उल्लेख मिलता है। तथा संस्कृतमें लिखे गये उत्तरीय बौद्ध साहित्यमें निर्ग्रन्थोंको बुद्धका प्रतिद्वन्दी बतलाया है।

उन निगंठों या निग्रन्थोंके प्रमुखका नाम पालीमे नाटपुत्त और संस्कृतमें ज्ञातिपुत्र दिया है। जिसका अर्थ होता है 'नाट अथवा ज्ञाति का पुत्र।' वर्धमानने जिस वशमें जन्म लिया था, उसका नाम ज्ञाति, ज्ञात या नाथ था। अतः बौद्ध ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले नाट या ज्ञाति शब्दके साथ महावीरके वशके नामकी समानता प्रत्यक्ष है। और चूकि प्राचीन बौद्ध साहित्यमे किसी व्यक्तिके नामके स्थानमें जिस वंशमें उसका जन्म हुआ है उसके पुत्रके रूपमें उसका उल्लेख करनेकी परम्परा प्रचलित थी, जैसे बुद्धके लिए शाक्य पुत्र और उसके अनुयायी साधुओंके लिये 'शाक्य पुत्रीय श्रमण' शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है। अतः यह अनुमान करनेमें कोई कठिनाई नहीं है कि निगठों या निग्रन्थोंके प्रमुख नाटपुत्त या ज्ञातिपुत्र और ज्ञात बंशके उत्तराधिकारी तथा निर्ग्रन्थ अथवा जैन सम्प्रदायके अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान एक ही व्यक्ति हैं। यदि हम इस विचारका अनुसरण करते हुए बौद्धोंके बुद्धके विरोधियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली विभिन्न चर्चाओंको एकत्र करें तो यह स्पष्ट है कि वर्धमानके साथ निगंठ नाटपुत्तकी एकता सुनिश्चित है। (इं० से० जै०, पृ० २६) ---------- ....
नाटपुत्तके जीवन और व्यक्तित्वके सम्बन्धमें बौद्धोंकी चर्चा और भी

इसके सिवाय म० नि० (सामगामसुत्त) में निग्रन्थ ज्ञातृ-पुत्रका मरण भी पावामें बतलाया है जैसा कि जैन परम्परामें महाबीरका निर्वाण बतलाया है। यद्यपि बौद्ध साहित्यकी पावा जैन पाव' से भिन्न है, तथापि नाम साम्यसे व्यक्तिके ऐक्यका ही समर्थन होता है।

जन्म स्थान

भगवान महाबीरका जन्म कुण्डपुर या कुण्डग्राममें हुआ था। यह दोनों सम्प्रदायोंको मान्य हैं। किन्तु कुण्डपुर या कुण्डग्राम कहाँ था, इसमें विप्रतिपत्ति है।

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि कुण्डपुर एक बड़ा नगर था और सिद्धार्थ एक शक्तिशाली राजा थे। किन्तु आचा० सू० (२ श्रु०, ३ चू०, सू० ३९९) में कुण्डग्रामको एक सन्निवेश कहा है। उसके अनुसार कुण्डपुर नामके दो सन्निवेश थे एक माहण कुण्डपुर और दूसरा खत्तियकुण्डपुर। अर्थात् एक कुण्डपुर ब्राह्मणोंका था और एक क्षत्रियों का था। माहण

उल्लेखनीय है। वे बारम्बार कहते हैं कि निगठ नाट पुत्त अपनेको अर्हत् कहते हैं और सर्वज्ञ होनेका दावा करते हैं। जैन वर्धमानको अर्हत् और सर्वज्ञ मानते ही हैं। धर्म परिवर्तनका इतिहास हमें बतलाता है कि नाटपुत्त और उनके शिष्य निग्रन्थ अपने शरीर को ढांकनेसे घृणा करते थे। वर्धमानके विषयमें भी हमसे ऐसा ही कहा जाता है।............अतः जैनोंका वर्धमान नाटपुत्त बुद्ध के प्रतिद्वन्दीके सिवाय दूसरा नहीं है। बौद्ध त्रिपिटकों तथा अन्य बौद्ध साहित्यके विवरणोंसे प्रकट होता है कि बुद्धका यह प्रतिद्वन्दी बड़ा प्रभावशाली अतएव बड़ा खतरनाक था। तथा बुद्धके समयमें ही उसका धर्म काफ़ी फैल चुका था। (इं० से० जै०, पृ० ३६)।

कुण्डपुर दक्षिणकी ओर था और क्षत्रिय कुण्डपुर उत्तर की ओर।

सन्निवेशका अर्थ—नगरके बाहरका प्रदेश, पड़ाव, और ग्राम नगर आदि स्थान भी है। (पा० स० म० में 'सन्निवेश' शब्द)। इससे कुण्डपुर कोई महत्त्वका स्वतंत्र नगर प्रतीत नहीं होता।

संस्कृत[1] निर्वाण भक्तिमें, जिसे पूज्यपादकृत माना जाता है, 'विदेह कुण्डपुरे' लिखकर कुण्डपुरको विदेहमें बतलाया है। उस समय विदेह देशकी राजधानी वैशाली थी, और भगवान महावीरकी जननी विदेहके लिच्छवि गणतंत्रके प्रमुख राजा चेटककी पुत्री थी। आचा० सू० (२-३-४००) में भगवानकी जननीके तीन नाम दिये हैं—तिसला, विदेह दिन्ना और पियकारिणी। इनमेसे दिगम्बर परम्परामें दो नाम प्रचलित हैं त्रिसला और प्रियकारिणी। तीसरा नाम 'विदेहदिन्ना' विदेह देशकी होनेके कारण दिया गया है। अतः स्पष्ट है कि क्षत्रियाणी त्रिशला विदेह देश की थी।

१—कुंडपुरपुर वरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ॥ २३ ॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत्त-सियपक्खे।
तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु ॥ २४ ॥

—जय० ध०, १ भा०, पृ० ७८।

२—"सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः ॥ ४ ॥"
'भरतेस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे ॥ २५१ ॥
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः·········॥२५२॥

उत्तरपु०, पर्व ७४।

इसी तरह भगवान महावीरको 'णाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाइं विदेहं सिरि कट्टु अगार-मज्झे वसित्ता' (आचा० सू० २-३-४०२ सू०) इत्यादि लिखा है। जिसका आशय है कि भगवान महावीर नाथ या ज्ञातृ-कुलके और विदेह देश के थे।

किन्तु सूत्रकृताङ्ग[१] में भगवान महावीरको वैसालिय (वैशालिक) कहा है। परन्तु श्वे० अंग ग्रन्थोंके प्रसिद्ध टीकाकार शीलाङ्कको भी 'वैशालिक' शब्दका ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने एक श्लोक उद्धृत करके भगवानको वैशालिक कहनेमें तीन हेतु दिये हैं—'उनकी माता विशाला[२] थी, वे विशाल कुलमें उत्पन्न हुए थे, तथा उनके वचन भी विशाल थे। इसलिये उन्हें वैशालिक कहते थे।' इसके सम्बन्धमें डा० याकोबीने (से० बु० ई०, जि० २२ की प्रस्ता०, पृ० ११) में लिखा है—'यह मतिभेद प्रमाणित करता है कि वैशालिक शब्दके वास्तविक अर्थके विषयमें कोई प्रामाणिक परम्परा नहीं थी। अत. उत्तरकालीन जैनोंने 'वैशालिक' का जो बनावटी अर्थ किया, उसकी पूर्ण उपेक्षा करना न्याय्य ही

१—अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ २२ ॥
—सू० १ श्रु०; २ अ०, ३ उ०।

२—'अर्हन् सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो बर्द्धमान स्वामी ऋषभ स्वामी वा भगवान् ऐश्वर्यादिगुणयुक्तो विशाल्यां नगर्यां वर्धमानोऽस्माकमाख्यातवान्। ऋषभस्वामी वा विशालकुलोद्भवत्वाद् वैशालिकः। तथा चोक्तम्—विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा। विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः।'—सूत्र० १ श्रु०, २ अ०, ३ उ०, २२ सूत्र।

है। 'वैशालिक' का अर्थ स्पष्ट रूपसे 'वैशालीका वासी' होता है। और जब कुण्डग्राम वैशालीका बाह्य भाग था तो महावीरको वैशालिक कहना उचित ही है।'

कुण्डग्राम वैशालीका ही एक बाह्य भाग था इसके समर्थनमें डा० याकोबीने बौद्ध साहित्यके आधारसे एक उपपत्ति दी है जो इस प्रकार है—

'बौद्ध ग्रन्थ महावग्गमें हम पढ़ते है कि जब बुद्ध 'कोटिग्गाम' मे थे तो निकटवर्ती राजधानी वैशालीके लिच्छवि और गणिका अम्बपाली उनके दर्शनार्थ आये थे। कोटिग्गामसे वे नातिकाओंके निवासस्थानपर गये। वहाँ वे नातिका भवनमे ठहरे। नातिका भवनके निकट गणिका अम्बपालीका आम्रपालीवन' नामक उद्यान था। नातिकासे बुद्ध वैशाली गये जहाँ उन्होंने निग्रन्थोंके गृहस्थ शिष्य सेनापति सिहको बौद्ध धर्ममे दीक्षित किया। अतः यह बहुत कुछ सम्भव है कि बौद्धोका कोटिग्गाम ही जैनोंका कुण्डग्राम हो। नामोंकी समानताके सिवाय नातिकाओंका निर्देश भी इसीका समर्थन करता है क्योंकि नातिका स्पष्ट ही ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका सूचक है। महावीर इन्हीं ज्ञात्रिक क्षत्रियोके वंशज थे। अतः सम्भवतया कुण्डग्राम विदेह की राजधानी वैशालीके उपनगरोमेसे था।' (से० बु० ई०-जि०२२, प्रस्ता०, पृ० ११)

महापरिनिब्बाणसुत्तके राहुलजीकृत हिन्दी अनुवादके अनुसार बुद्ध राजगृहीसे अम्बलट्ठिका गये, वहाँसे नालन्दा, नालन्दासे पाटलिग्राम गये। उस समय मगधके महामात्य वज्जियोको रोकनेके लिये पाटलिग्राममें पाटलीपुत्रनगरका निर्माण करते थे। पाटलिग्राममे गंगा नदीको पार करके बुद्ध

कोटिग्राम आये। कोटिग्रामसे नादिका और नादिकासे वैशाली आये। इस तरह पाटलीपुत्रसे वैसालीके रास्ते पर गंगा और वैशालीके बीचमें कोटिग्राम अवस्थित था।

कोटिग्राम और वैशालीके मध्यमें नादिका थी। डा० याकोवीने नातिका' शब्द पर टिप्पणीमें लिखा है—'जिस वाक्यमें 'नातिका आया है उसे टीकाकारने तथा आधुनिक अनुवादकों ने गलत समझा है ऐसा प्रतीत होता है। महापरिनिव्वाणसुत्तके अनुवादमें (से० बु० ई०. जि० ११) एक नोट (पृ०२४) में, रे डेविड कहते हैं कि—'प्रथम तो दो बार नादिकाका प्रयोग बहु वचनमें किया है और तीसरी बार एक वचन में। बुद्धघोष उसकी व्याख्यामें कहते हैं कि एक ही जलाशयके तटपर एक ही नामके दो ग्राम थे। मेरी रायमें बहुबचन 'नातिका' शब्द क्षत्रियोंका वाचक है और एक वचन नातिका शब्द गिजका-वसथ' का विशेषण है............।' मेरा विचार है कि 'नादिका' शब्द अशुद्ध है और नातिका शुद्ध है। श्री रे डेविडने अपने अनुवादकी शब्दसूचीमें यह लिखकर भी कि 'नादिका पटनाके पास है' गलती की है। महावग्गके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि नातिका और कोटिग्गाम वैशालीके पास हैं'। (से० बु० ई०, जि० २२, प्रस्ता० पृ० १० का टिप्पण नं० २)।

राहुलजीने यद्यपि नादिका शब्द ही रखा है। किन्तु उनका अभिप्राय वही है, जो 'नातिका' शब्दको शुद्ध मानकर डा० याकोवी का था, क्योंकि राहुलजीने भी नादिका शब्दके टिप्पणमें लिखा है—'एक ज्ञातृयो (=ञाति, = ज्ञातृ = ज्ञातर = जातर = जतरिया = जथरिया = जैथरिया) के गाँव में। नादिका = ज्ञातृ-का = नत्तिका = त्वत्तिका = रत्तिका = रत्ती, जिसके नामसे वर्त-

मान रत्ती परगना (जि० मुजफ्फरपुर) है। (बु० च०, पृ० ५२६, का टि० २)।

नाटपुत्त (महावीर) पर टिप्पणीमे राहुलजीने लिखा है—'नाटपुत्त' ज्ञातृपुत्र। ज्ञातृ लिच्छवियोंकी एक शाखा थी, जो वैशालीके आसपास रहती थी। ज्ञातृसे ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है। महावीर और जथरिया दोनोंका गोत्र काश्यप है। आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेशमे बहुत संख्या मे है। उनका निवास रत्ती परगना भी ज्ञातृ = नत्ती = लत्ती = रत्तीसे बना है।' (बु० च०, पृ० ११०, का टि० ३)।

ऊपर उद्धृत जैन और बौद्ध उल्लेखोके अनुसार कुण्डपुर या कुण्डग्राम विदेह देशमे वैशालीके निकट होना चाहिये। और चूंकि जिन ज्ञातृवंशी लिच्छवियोके कुलमें महावीरने जन्म लिया था, उनके वंशज आज भी जथरिया जातिके रूपमें बिहारके मुजफ्फरपुर जिलेके रत्ती परगनामे निवास करते हैं, तथा मुजफ्फरपुर जिलेका बसाढ़ ग्राम ही वैशाली था, अतः कुण्डग्राम भी उसीके निकट होना चाहिये। बौद्ध ग्रन्थोंका कोटिग्राम नातिका और वैशालीके बीचमें अवस्थित था। सम्भव है वही जैन साहित्यका कुंडग्राम हो जैसा कि डा० याकोवीका अनुमान है। आधुनिक[1] अन्वेषकोंका प्रायः यही मत है कि मुजफ्फरपुर जिलेमे स्थित 'वसाढ़' ही प्राचीन वैशाली है। अब कुंडग्रामको वासुकुंड कहते है और वह प्राचीन वैशालीका ही एक भाग था। वैशाली[2] के तीन भाग थे—एक खास वैशाली (बसाढ़), एक कुंडपुर (वासुकुंड) और एक वानियगाम (बनिया)। उनमें

१—जै० ना० इ० पृ० ८४ का टि० ४। २—प्रो० रा० ऐ० सो० ब० १८९८ में डा० हार्नले का भाषण पृ० ३०।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनिये रहते थे। अब वे तीनों स्थान बसाढ़, बासुकुंड और और बनिया नामक गाँव से पहचाने जाते हैं।

मातृकुल तथा पितृकुल

यदि, जैसा कि प्राप्त उल्लेखोंके आधार पर अनुमान किया जाता है, कुण्डपुर वैशालीका एक उपनगर था, तो उसके स्वामी सिध्दार्थ, जो भगवान महावीरके पिता थे, अवश्य ही कोई बहुत बड़े राजा नहीं होने चाहिएँ। असलमे उस समय विदेहमें राजतंत्र नही था। किन्तु लिच्छवियों[1] का गणतंत्र था। सबगण मिलकर अपना एक मुखिया चुन लेते थे और वही गणतंत्रका प्रधान होता था। उस समय उस लिच्छवियोंके गणतंत्रका प्रधान राजा चेटक था और दिगम्बर[2] उल्लेखोंके अनुसार राजा चेटक की पुत्री और श्वेताम्वरीय[3] उल्लेखोंके अनुसार राजा चेटककी बहिन त्रिशला या प्रियकारिणीका विवाह सिद्धार्थसे हुआ था। इस लिये सिद्धार्थ भले ही बड़े राजा न रहे हों, किन्तु उस गणतंत्रमें उनका एक प्रभावशाली व्यक्ति होना स्पष्ट है।

बौद्ध ग्रन्थोंमें यद्यपि वैशाली नरेश चेटकका निर्देश नहीं है। किन्तु वैशालीका निर्देश बहुतायतसे पाया जाता

१—'हम लोग लिच्छवि गण राजाओंके राज्यमें बसते हैं।' बु० च०, पृ० ३१५। २—'चेटकाख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः ॥३॥ ....सप्तर्धयो वा पुत्र्यश्च ज्यायसी प्रियकारिणी।'—उ० पु०, पर्व० ७५। ३—'समणे भगवं महावीरे भगवओ माया चेडकस्य भगिणी भोई'—आ० चू०, १ अ०।

है अंगुत्तर निकाय-अट्ठकथामें वैशालीकी समृद्धिका वर्णन करते हुए लिखा[१] है—"उस समय वैशाली ऋद्ध=स्फीत (=समृद्धिशाली) बहुजना=मनुष्योंसे आकीर्ण, सुभिक्षा (=अन्नपान संपन्न) थी। उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ आराम, ७७७७ पुष्करिणियां थीं।"........ राजगृहका नैगम वैशालीमें अपना काम समाप्त कर फिर राजगृह लौट गया। लौटकर जहाँ राजा मगध श्रेणिक बिंबसार था, वहाँ गया। जाकर राजा बिम्बसारसे उसने वैशालीकी समृद्धिका वर्णन किया।'

उक्त वर्णनसे प्रकट होता है कि राजगृहीसे भी वैशालीका वैभव महान् था। और राजगृहीके स्वामी बिम्बसार श्रेणिकने वैशालीके वैभव, लिच्छवियोंके प्रभुत्व तथा वैशाली नरेश चेटककी पुत्रीके रूप-गुणसे आकृष्ट होकर अभय कुमारके द्वारा चेलनाका हरण कराया और उसके साथ विवाह किया। यह घटना भी वैशाली और उसके स्वामीके ही महत्त्वको प्रकट करती है। यदि चेटक श्रेणिकके साथ अपनी पुत्रीके विवाहके लिये राजी होता तो चेलनाका हरण करानेकी आवश्यकता न होती। श्रेणिकके पश्चात् जब उसी लिच्छवि कुमारी चेलनाका पुत्र कुणिक (अजात शत्रु) गद्दीपर बैठा तो उसने वज्जियों[२] के इस गणतंत्रको नष्टभ्रष्ट कर डाला।

१—बु० च०, पृ० २९७।

२—डा० रायचौधरीने लिखा है—'प्रो० रे डेविडस तथा कनिंघमके अनुसार वजियोंमें आठ जातियां सम्मिलित थीं—जिनमें विदेह, लिच्छवि, ज्ञात्रिक और वजी सबसे प्रमुख थे। (पो० हि० एं० इं०, पृ० ७३–७४। डा० प्रधानका कहना है कि इस संगठनमें नौ

बौद्ध महापरिनिव्वाण सुत्तमें (दी० नि०, पृ० ११७) लिखा है—'एक समय भगवान बुद्ध राजगृहमें विहार करते थे। उस समय राजा मगध अजात शत्रु वैदेहीपुत्र वज्जीपर चढ़ाई करना चाहता था। वह ऐसा कहता था—मैं इन ऐसे महर्द्धिक (=वैभवशाली) ऐसे महानुभाव वज्जि-योंको उच्छिन्न करूँगा, वज्जिओंका विनाश करूँगा, उन पर आफत ढाऊँगा।'

अजातशत्रुने बुद्धकी सलाह लेनेके लिये अपने मंत्रीको बुद्धके पास भेजा। बुद्ध ने कहा—१-जब तक वज्जी सम्मतिके लिये बैठक करते रहेंगे, २—जब तक वज्जी एक हो बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं, एक हो कर्तव्य करते हैं, ३—जब तक वज्जी अप्रज्ञप्त (=गैर कानूनी) को प्रज्ञप्त (=विहित) नहीं करते, प्रज्ञप्त (=विहित) का उच्छेद नहीं करते, ४—जब तक वज्जी वृद्धोंका आदर सत्कार करते हैं, उनकी बात मानते हैं, ५—जब तक वज्जी कुल स्त्रियो, कुल कुमारियोंके साथ जबर्दस्ती नहीं करते, ६—जब तक वज्जी अपने चैत्योंका सम्मान करते हैं और ७—जब तक वज्जी अर्हतोंको पूजते है, जब तक ये सात अपरिहाणीय धर्म वज्जि-योंमें रहेंगे तब तक वज्जियोंकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं होगी।'

जातियाँ सम्मिलित थीं। जिनमें लिच्छवि, वज्जी ज्ञात्रिक और विदेह भी थे। इस संगठनको वज्जियों अथवा लिच्छवियोंका गणतंत्र कहा जाता था। क्योंकि नौ जातियोंमें से वज्जि और लिच्छवि सबसे प्रमुख थे। इन नौ लिच्छवि जातियोंमें नौ मल्लकी जातियाँ और काशी कौशलके १८ गण राजा सम्मिलित थे। (जै० ना० इं० पृ० ८५-८६)।

उक्त विवरणसे लिच्छवियोके सुदृढ़ संगठन पर प्रकाश पड़ता है।

प्रसङ्गवश भगवान महावीरके वंशका अन्य राजवंशों[1] से सम्बन्ध बतलाना अनुचित न होगा क्योंकि अन्वेषकोंका विश्वास है कि महावीर और बुद्धने अपने शासनका प्रचार करनेके लिये वंशानुगत सम्बन्धोंका पूरा-पूरा लाभ उठाया था। और भारतके मुख्य राजवंशोंके साथ उनका सम्बन्ध होना भी उनकी सफलताका एक कारण अवश्य था।

जहाँ तक खोजोसे पता चलता है महावीरके पितृकुलकी अपेक्षा मातृकुलका राजवंशानुगत सम्बन्ध अधिक व्यापक और अधिक प्रभावक था।

उनका नाना चेटक लिच्छवि गणतंत्रका प्रधान था। इस[2] गणतंत्रमे आठ या नौ जातियाँ सम्मिलित थी जिनमे लिच्छवि, वज्जी, ज्ञात्रिक और विदेह भी थे। यतः इन नौ जातियोंमे लिच्छवि और वज्जी सबसे प्रमुख थे। अतः यह संगठन लिच्छवियों अथवा वज्जियोका गणतंत्र कहा जाता था। ये नौ लिच्छवि जातियाँ नौ मल्लकियों और काशी कोसलके अट्ठारह गणराजाओं[3] से सम्बद्ध थी।

जैन निरयावली सूत्रमें लिखा है कि जब चम्पाके राजा कुणिक (अजात शत्रु) ने एक शक्तिशाली सेनाके साथ चेटकपर आक्रमण करनेकी तैयारी की तो चेटकने काशी-कोशलके १८ गणराजाओं, मल्लकियों और लिच्छवियोंको बुलाकर

१—से० बु० ई०, जि० २२, प्रस्ता० पृ० १३। २—जै० ना० इं० पृ० ८५। ३—'नव मल्लइ नव लेच्छइ, कासी-कोसलगा अट्ठारसवि गण-रायाणो'—भ० सू०....।

उनसे पूछा कि आपलोग कुणिककी माँग पूरी करेंगे या युद्ध करेंगे ?

इसी तरह पावामें महावीर स्वामीका निर्वाण होने पर उक्त १८ गणराजाओंके एकत्र होने तथा निर्वाण महोत्सव मनानेका उल्लेख कल्पसूत्रमें है। इससे इस संगठन तथा चेटककी शक्तिमत्ता, ऐक्य तथा प्रभावशालिताका पता चलता है।

फिर भी बौद्ध ग्रन्थोंमें चेटकका नाम भी न पाया जाना आश्चर्यजनक है। इसका कारण चेटकका भगवान महावीरका अनुयायी तथा सम्बन्धी होना संभव है, क्योंकि महावीरको बुद्ध अपना प्रबल प्रतिद्वन्दी मानते थे—जिसका समर्थन बौद्ध उल्लेखोंसे होता है। चेटकके सम्बन्धमें डा० याकोबीने ठीक ही लिखा है—'जैनोंने अपने तीर्थङ्कर महावीरके परम भक्त तथा सम्बन्धी चेटककी स्मृतिको सुरक्षित रखा है। उन्हींके प्रभावके कारण वैशाली जैन धर्मका गढ़ बनी हुई थी, जबकि बौद्ध उसे पाखण्डियों और विद्रोहियोंका शिक्षालय मानते थे। (से० बु० ई०, जि० २२, प्रस्ता० पृ० १३)। अस्तु,

चेटकके सात पुत्रियाँ थीं। जिनमेंसे सबसे बड़ी त्रिसला ज्ञातृ क्षत्रिय सिद्धार्थसे विवाही थी और भगवान महावीरकी जननी थी। तथा छठी चेलना मगधके राजा श्रेणिक बिम्बसारसे विवाही थी और इस तरह मातृ पक्षके द्वारा मगधके राजवंशके साथ महावीरका निकट सम्बन्ध था। चेलनाके साथ सम्बन्ध होनेसे पूर्व श्रेणिक[1] बौद्ध धर्मका अनुयायी था। चेलनाके प्रभावसे ही वह महावीरका परम भक्त और उनकी उपदेश सभाका प्रधान श्रोता बना।

१—देखो—बृ० क० को०, में श्रेणिक राजा की कथा।

चेटककी शेष पांच पुत्रियोंके नाम इस प्रकार थे—मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, ज्येष्ठा और चन्दना। इसमेंसे मृगावती वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीके राजा शतानीकसे विवाही थी। सुप्रभा दशार्ण देशके हेमकच्छपुर नगरके राजा दशरथसे विवाही थी। प्रभावतीका विवाह कच्छदेशके रोरुक नगरके राजा उदयसे हुआ था। गान्धार देशके महीपुर नगरके राजा सत्यकने ज्येष्ठाकी मांग की। किन्तु चेटकने उसे अपनी कन्या देना स्वीकार नहीं किया। तब उसने क्रुद्ध होकर चेटकपर चढ़ाई कर दी। युद्धमें हारनेपर वह साधु हो गया[1]। बादको ज्येष्ठा और चन्दना भी साध्वी हो गईं।

श्वेताम्बर परम्परा[2] के अनुसार भगवान महावीरकी जननी त्रिसला चेकटकी बहन थी। किन्तु फिर भी चेटकके सात ही पुत्रियां थीं। उनके नाम—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलना थे। सबसे बड़ी प्रभावती[3] का विवाह सिन्धु सौवीर देशके वीतभय नगरके राजा उदयन से हुआ था। पद्मावती चम्पाके राजा दधिवाहनसे विवाही थी। मृगावती कौशाम्बीके राजा शतानीकसे विवाही थी। शिवाका विवाह उज्जैनीके राजा चण्डप्रद्योतसे हुआ था। ज्येष्ठाका विवाह भगवान महावीरके भाई नन्दिवर्धनसे हुआ था। चेलना राजगृहीके राजा श्रेणिक से विवाही थी और सुज्येष्ठा साध्वी हो गई थी।

१—उत्तर पु०, पर्व ७५, श्लोक १-१४।

२—वेसालिओ चेडओ'' 'सत्त धूताओ'' आव० सू०।

३—सिंधुसौवीरेसु''''वीतीभएनगरे'' उदायणे नाम राया''''तस्स''' प्रभावती नाम देवी।—भ० सू० ४९१। यहाँ राजा चेटककी कन्याओं

ये सब सम्बन्ध इस बातके सूचक हैं कि अपने मातृकुलके द्वारा महावीर सौवीर, अंग, वत्स, अवन्ती, विदेह और मगधके

और उनके सम्बन्धोंके विषयमें दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मान्यताओंमें जो अन्तर है उसपर प्रकाश डालना उचित होगा। दिगम्बरोंके अनुसार भगवान महावीरकी जननी त्रिशला अथवा प्रियकारिणी चेटककी सबसे बड़ी पुत्री थी। किन्तु श्वेताम्बरोंके अनुसार वह चेटककी बहिन थी। चेटकके पिता वगैरहके सम्बन्धमें जानकारीका कोई साधन उपलब्ध नहीं है। दिगम्बरोके अनुसार महावीरके कोई भाई नहीं था और न चेटकके कोई सुज्येष्ठा नामकी कन्या थी। श्वेताम्बरोंके अनुसार महावीरके नन्दिवर्धन नामका बड़ा भाई था और उससे चेटककी पाचवीं कन्या ज्येष्ठा विवाही थी। दिगम्बरोंके अनुसार ज्येष्ठा साध्वी हो गई और श्वेताम्बरोंके अनुमार सुज्येष्ठा साध्वी हो गई। दिगम्बरोंके अनुसार चन्दना चेटककी सबसे छोटी पुत्री थी। और श्वेताम्बरोंके अनुसार चन्दना चेटककी दौहित्री तथा चम्पा नरेश दधिवाहनकी पुत्री थी। दिगम्बरोंके अनुसार चेटकके पद्मावती नामकी कोई कन्या नहीं थी और न चम्पा नरेशसे चेटककी किसी कन्याका विवाह हुआ था। श्वेताम्बरोंके अनुसार चम्पापुरके राजा दधिवाहन और रानी पद्मावतीका पुत्र करकण्डु था। अर्थात् अजात शत्रुकी तरह करकण्डु भी चेटकका दौहित्र था। किन्तु इतिहाससे इसका समर्थन नही होता। यह हम पहले लिख आये हैं कि करकण्डु विदेहराज नमिका समकालीन था। और वह पार्श्वनाथके तीर्थमें हुआ था। दिगम्बरों[१] के अनुसार उसके पिताका नाम दन्तिवाहन था और वह चम्पापुरका राजा था, तथा उसकी माताका नाम भी पद्मावती था। किन्तु वह पद्मावती कौशाम्बीके राजा

१—बृ० क० को० में करकण्डु की कथा।

राज घरानोंसे सम्बद्ध थे। और ये सब उस समयके सबसे अधिक शक्तिशाली राजा थे।

उस समय लिच्छवि कुमारियोंका पाणि पीडन करके लिच्छवियोंका जामाता बनना क्षत्रियोंके लिये बड़े सम्मानकी बात

वसुमित्रकी पुत्री थी। अस्तु —चेटककी केवल दो कन्याओंके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे ऐकमत्य है—दोनोंके अनुसार मृगावतीका विवाह कौशाम्बीके राजा शतानीकसे और प्रभावतीका विवाह राजा उदयनसे हुआ था। किन्तु दिगम्बर उदयनको कच्छ देशके रोरुक नगरका राजा बतलाते हैं और श्वेताम्बर सिन्धु सौवीर देशके वीतामय नामक नगरका राजा बतलाते हैं। यह सिन्धु सौवीर देश कहां था, इस विषयमें मतभेद हैं। डा० रे डेविडस् ने अपने मानचित्र[1] में सौवीरको काठियावाड़के उत्तरमें और कच्छकी खाड़ीके एक ओरसे दूसरी ओर तक दिखलाया है। बौद्ध परम्पराके अनुसार सौवीर देशकी राजधानी रोरुक थी। (कै० हि०, जि० १, पृ० १७३)। अतः दिगम्बर उल्लेखका कच्छ ही सौवीर जान पड़ता है और वहींके रोरुक नगरके स्वामी उदयनसे चेटककी पुत्री प्रभावती विवाही थी। श्वेताम्बरीय उल्लेखके अनुसार इस उदयनने अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत पर—जिसे चेटककी पुत्री शिवा विवाही थी, चढ़ाई की थी। इस युद्धका कारण यह था कि प्रद्योत उदयनकी एक जिनप्रतिमा तथा दासीको लेकर भाग गया था। उदयनने प्रद्योतके पास अपना दूत भेजकर कहलाया कि मुझे दासीकी परवाह नहीं है, किन्तु जिन मूर्ति लौटा दो। प्रद्योतने नहीं लौटाई। तब उदयनने उस पर चढ़ाई की और प्रद्योतको बन्दी बना लिया। (जै० ना० इं०, पृ० ६१ का टि० २)।

१—जै० नां०, इं, पृ० ८६।

समझी जाती थी। और गुप्तकाल तक भी समझी जाती रही; क्योंकि ई० ३०८ में पाटलीपुत्र नगरके पास एक गांवके छोटेसे राजा चन्द्रगुप्तको लिच्छवि वंशकी कन्या कुमारदेवी विवाही थी। चन्द्रगुप्तने ऐसे महान् वंशकी कन्यासे विवाह होनेको अपना बड़ा गौरव माना। उसने अपने सिक्कोंपर लिच्छवियोंकी बेटीके नामसे अपनी स्त्रीकी भी मूर्ति अंकित करवाई। उसकी सन्तान बड़े गर्वसे अपनेको लिच्छवियोंका दौहित्र कहा करती थी।

सारांश यह है कि लिच्छवियों तथा वैशालीके राजवंशके द्वारा महावीरके द्वारा प्रचारित धर्मको सब ओर ठोस समर्थन मिला और सौवीर आदि देशोंमें जैन धर्म खूब फैला।

गर्भ परिवर्तन

श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीरके गर्भ परिवर्तनकी एक कथा प्रवर्तित है, जिसका निर्देश आचारांग, कल्पसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है और इसलिये उसकी प्राचीनतामें सन्देहको स्थान नहीं है; क्योंकि मथुरा[1] से प्राप्त अवशेषोंमें, जो अवश्य ही ईस्वी सन् की प्रथम शतीके माने गये हैं गर्भ परिवर्तनकी घटना अंकित की गई है।

घटना इस प्रकार है—वैशालीके ब्राह्मण कुण्ड ग्राममे ऋषभ दत्त नामक ब्राह्मणकी पत्नी देवानन्दा रहती थी। उसने

१—डा० बहुलरने लिखा है—'एक जैन पाषाणखननमें नैगमेश, एक बाल तीर्थङ्कर और एक शिशुके साथ स्त्री अंकित है, यह एक अति प्रसिद्ध कथाका अंकन है, जिसमें एक देवता देवानन्दा और त्रिशलाके गर्भ परिवर्तन करता है, (जै० नां० इं०, पृ० २१)।

चौदह स्वप्न देखे जो तीर्थङ्करके जन्मके सूचक थे, इन्द्रने इस बातको अपने अवधि ज्ञानसे जाना तो उसे ज्ञात हुआ कि गर्भस्थ शिशु महान् तीर्थङ्कर महावीर होनेवाला है। अतः उसने तत्काल एक देवको एक हिरनके रूपमें भेजा और उसे देवानन्दाके गर्भसे त्रिशलाके गर्भमें परिवर्तित करनेकी आज्ञा दी, जिससे महावीरका जन्म भिक्षुक ब्राह्मण वंशमें न हों, क्योंकि जिन क्षत्रिय कुलमें ही जन्म लेते हैं। इस तरह भगवान महावीर[1] ८२ दिन तक देवानन्दाके गर्भमें रहे। भ० सू० मे यह बात भगवान महावीरके मुखसे भी कहलाई गई कि देवानन्दा मेरी माता है।

इस घटनाके सम्बन्धमे डा० याकोबीने जो टिप्पणी दी है उसका आशय यहां दिया जाता है।

'दिगम्बर लोग इसे हास्यास्पद समझते है और नही मानते। किन्तु श्वेताम्बरोका इसकी सत्यतामे दृढ़ विश्वास है। इसमे कोई सन्देह नही हैं कि यह कथा प्राचीन है क्योकि आचारांग, कल्पसूत्र तथा अन्य ग्रन्थोमे पाई जाती है। तथापि यह स्पष्ट नही होता कि क्यो इस प्रकारकी हास्यास्पद घटनाका आविष्कार तथा प्रचार किया गया। इस अन्धकारावृत विषय पर मैं अपनी सम्मति प्रकट करनेकी आज्ञा चाहता हूं। मेरा अनुमान है कि सिद्धार्थके दो पत्नियां थीं एक ब्राह्मणी देवानन्दा, जो महावीरकी वास्तविक माता थी, और एक क्षत्रियाणी त्रिशला। क्योंकि देवानन्दाके पतिका नाम 'ऋषभदत्त' अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होता। प्राकृत रूपके अनुसार उस अवस्थामें उसभदत्तके स्थान

१—'समणे भगव महावीरे'''बासीइ''''गब्भत्ताए साहरिए'—क० सू०, सम्बो० टी०, पृ० ३५-३६।

में 'उसभदिन्न' होना चाहिये था। इसके सिवाय यह नाम ऐसा है जो केवल जैन को ही दिया जासकता है, ब्राह्मण को नहीं। अतः मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि देवानन्दाका दूसरा पति करार देनेके लिये जैनोंने ऋषभदत्त नामका आविष्कार किया है। अब सिद्धार्थ को लीजिये। त्रिशलाके साथ विवाह होनेसे उच्चवंशी तथा महान् प्रभुत्वशाली व्यक्तियोंके साथ उनका सम्बन्ध हो गया इसलिये सम्भवतया यह प्रकट करना कि महावीर त्रिशलाका दत्तक पुत्र नहीं किन्तु औरस पुत्र है अधिक लाभदायक समझा गया। क्योंकि इससे महावीर त्रिशलाके सम्बन्धोंका उत्तराधिकार प्राप्त कर सकता था। और चूंकि जब महावीर तीर्थङ्कर हुये उनके माता पिताका स्वर्गवास हुए बहुत वर्ष हो चुके थे, इसलिये यह कथा सरलतासे प्रसारित हो सकी। किन्तु यतः मनुष्योंकी स्मृतिसे वास्तविक स्थितिका मिटा सकना शक्य नहीं था, इस लिये गर्भपरिवर्तनकी कथाका आविष्कार किया गया। गर्भपरिवर्तनका विचार जैनोंकी मौलिक रचना नहीं है किन्तु स्पष्ट ही, यह विचार उस पौराणिक कथाकी अनुप्रतिकृति है जिसके अनुसार श्रीकृष्णको देवकीके गर्भसे रोहिणीके गर्भमें परिवर्तित किया गया था।" (से० बु० ई०, जि० २२, प्रस्ता० पृ० ३१ की टि० नं० २)

महावीरके गर्भपरिवर्तनकी समस्याको सुलझानेके लिये डा० याकोबीको भी क्लिष्ट कल्पनाका ही आश्रय लेना पड़ा है। किन्तु इसके मूलमें हमें तो ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वके बीचमें बड़प्पनको लेकर उठे प्रचीन विरोधका ही आभास प्रतीत होता है। जैन और बौद्ध दोनों ब्राह्मणसे क्षत्रियको अधिक आदर प्रदान करते थे। इतना ही नहीं किन्तु ब्राह्मण वंशको नीच वंश तक मानते

थे। कल्पसूत्रकी सुबोधनी टीकामे लिखा[1] है कि महावीरने मरीचिके भवमें नीचगोत्र कर्मका बन्ध किया था उसके कारण महावीरको ऋषभदत्त ब्राह्मणकी देवानन्दा ब्राह्मणीके गर्भमें रहना पड़ा। अतः गर्भपरिवर्तनकी घटनामें विशेष तथ्य प्रतीत नहीं होता। सम्भवतया इसीसे दिगम्बर[2] परम्परामें इसका संकेत तक नहीं मिलता।

विवाह

दिगम्बर परम्पराके अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। न उन्होंने स्त्रीसुख भोगा और न राजसुख। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यद्यपि उन्होंने राजपद ग्रहण नहीं किया, किन्तु विवाह करके स्त्रीसुख अवश्य भोगा। उनकी पत्नीका नाम यशोदा था और उससे एक कन्या भी हुई थी जो जमालिसे विवाही थी।

किन्तु आवश्यकनिर्युक्तिकी गाथासे ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर अविवाहित ही रहे थे। लिखा[3] है—"महावीर, अरि-

---

१—'ततश्च्युत्वा तेन मरीचिभवबद्धेन नीचै गोत्रकर्मणा.... ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः कुक्षौ उत्पन्नः'।

२—कै० हि०, जि० १, पृ० १५६ में दिगम्बरोंको लक्ष्य करके लिखा है कि गर्भ परिवर्तनके सम्बन्धमें उनका मत अधिक युक्त है।

३—'वीरं अरिट्ठनेमिं, पासं, मल्लिं च वासुपुज्जच।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
न च इच्छियाभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया' ॥२४४॥
—आ० नि०।

ष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्यको छोड़कर शेष तीर्थङ्कर राजा थे ॥ और ये पांचों तीर्थङ्कर यद्यपि राजकुलमें और विशुद्ध क्षत्रिय-वंशमें उत्पन्न हुए थे फिर भी उन्हें राज्याभिषेक इष्ट नहीं हुआ और उन्होने कुमार अवस्थामें ही प्रव्रज्या ग्रहण करली।"

आगे लिखा[१] है-'जिहोने कुमार अवस्थामें प्रव्रज्या धारण की उन महावीर अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्यको छोड़कर शेष तीर्थङ्करोंने ही विषयोंक सेवन किया।' इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार मलयगिरिने लिखा है—'इस कथनका आशय यह है कि वासुपूज्य, मल्लि, महावीर, पार्श्वनाथ और अरिष्टनेमिके सिवाय शेष सब तीर्थङ्करोंने विषयोंका सेवन किया, किन्तु वासु-पूज्य आदि पांच तीर्थङ्करोंने नहीं किया क्योंकि उन्होने कुमार अवस्थामें ही व्रतग्रहण कर लिया था।'

आगमोदय समितिसे प्रकाशित आवश्यकनिर्युक्तिकी मलयगिरि टीकामे विषयोंका सेवन न करने वाले पांच तीर्थङ्करोंमें महावीर स्वामिका नाम नहीं छपा है। यह छापेकी ही भूल मालूम होती है क्योंकि उक्त कथन कुमार अवस्थामें ही प्रव्रजित होनेवाले सभी तीर्थङ्करोंके सम्बन्धमें है।

१—'गामायारा विसया निसेविया ते कुमारवज्जेहिं।
गामागराइएसु य केसि (सु) विहारो भवे कस्स' ॥२५५॥

टीका—'ग्रामाचारा नाम विषया उच्यन्ते, ते विषया निसेविता—आसेविताः कुमारवर्जैः—कुमारभाव एव ये प्रव्रज्यां गृहीतवन्तः तान् मुक्त्वा शेषैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिः। किमुक्तं भवति? वासुपूज्य-मल्लिस्वामि-पार्श्वनाथ-भगवदरिष्टनेमिव्यतिरिक्तैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिरासेविता विषयाः न तु वासुपूज्यप्रभृतिभिः, तेषां कुमारभाव एव व्रतग्रहणाभ्युपगमात्।

कुमार अवस्थासे मतलब ही अविवाहित अवस्थासे है, क्योंकि कुमारसे ही हिन्दीमें बहुप्रचलित कुंवारा शब्द निष्पन्न हुआ है। और निर्युक्तिगाथा २५५ से उसी अर्थकी पुष्टि होती है।

कुमार अवस्थामें प्रव्रजित होने वाले उक्त पांचो तीर्थङ्कर दिगम्बर मान्यताके अनुसार अविवाहित थे। किन्तु श्वेताम्बर मल्लिको छोड़कर शेष सबको विवाहित ही मानते हैं।

अतः भगवान महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता एकांगी प्रतीत नहीं होती, श्वेताम्बरपरम्परामें भी उसका अस्तित्व पाया जाता है। कमसे कम आवश्यकनिर्युक्तिकार तो महावीरको अविवाहित ही मानते थे—क्योंकि उक्त उल्लेखोंके साथ ही उन्होने अपने महावीरचरितमें उनके विवाह आदिका कोई संकेत नहीं किया है। अस्तु,

महावीरके गर्भपरिवर्तनकी कथामे जिस प्रकार डा० याकोबी को कृष्णके गर्भपरिवर्तनकी अनुकृति प्रतीत होती है, हमें भी महावीरकी पत्नी यशोदाके नामके साथ बुद्धकी पत्नी यशोधरा का स्मरण हो आता है और लगता है कि महावीरके जीवनमें यशोदाका लाया जाना, कहीं बुद्धकी पत्नी यशोधराकी अनुकृतिका तो परिणाम नहीं है ?

प्रव्रज्या

तीस वर्षकी वयमें मगसिर बदी दसमीके दिन महावीरने समस्त परिग्रहको त्यागकर जिनदीक्षा[१] ले ली। उन्होंने अपने शरीरके सब वस्त्र-आभरण उतारकर फेंक दिये, काले घुंघराले केशोंको जड़से उखाड़ डाला और इस तरह अन्तरंग तथा बहिरंग परिग्रहको त्यागकर वह सच्चे निर्ग्रन्थ बन गये।

किन्तु श्वेताम्बरीय मान्यतामें इससे कुछ अन्तर है। आचारांग[२] चूर्णिमे महावीर भगवानकी प्रव्रज्या वर्णन करते हुए लिखा है- 'इस विषयमे कुछ विशेष कथन करते हैं--

---

१--'मणुवत्तणसुहमतुलं देवकयं सेविऊणवालाइं।
अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं॥ २५॥
आभिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीस बहुलाए।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो॥ २६॥
—ज० ध०, भा० १, पृ० ७८।

ति० प०, अध्याय ४, गा० ६६७। हरि० पु० २-५१। उत्त०पु०, पर्व ७४, श्लो० ३०३-३०४।

'मगसिरबहुलस्स दसमी पक्खेण पाईणगामिणीए छायाए पोरसीए अभिनिविट्ठाए'……। कल्प सू० ११३।

२—'इह तु किंचि विसेसं भणणति--सो भगवं णिगिणो भविता एगदूसं वा से खंधे काउं पव्वइतो, तस्स पुण भगवतो एत आलंबणं'…… सो भगवं बद्धमाणो पारं गच्छतीति पारगो सीतपरिसहाणं वत्थमंतरेणा वि। जं पुण तं वत्थं खंधे ठितं घटितं वा तं अणुधम्मियं तस्स…… अहवा तित्थगराणं अयं अणुकालधम्मो।'—आव० चू०।

भगवान महावीर नग्न होकर और अपने कन्धे पर देवदूष्य रखकर प्रव्रजित हुए। उन भगवानका वह वस्त्र आलम्बनमात्र था। मैं इस दिव्य वस्त्रसे अपने शरीरको शीतसे बचाऊंगा या इससे अपनी लज्जा निवारण करूँगा, ऐसी भावना उनकी नहीं थी क्योंकि भगवान तो वस्त्रके बिना भी शीत परीषहको सहन करनेमें समर्थ थे, फिर भी वह वस्त्र उनके कन्धेपर रखा रहा, उसका कारण यह था कि वह उनका धार्मिक कर्तव्य था क्योंकि अतीत कालमे जो तीर्थङ्कर प्रव्रजित हुए, वर्तमानमे जो प्रव्रजित होते हैं तथा भविष्यमे जो प्रव्रजित होंगे, उन सबने इसका पालन किया है, । कहा भी है--"सचेल धर्म महान् है, अन्य तीर्थङ्करोंने भी उसका पालन किया है, इसलिये महावीर भगवानने भी कन्धेपर वस्त्र रहने दिया, लज्जाके लिये नहीं।"

इस तरह श्वेताम्बर मान्यता[१] के अनुसार महावीर स्वामी १३ मास तक चीवरधारी रहे। उसके पश्चात् नग्न दिगम्बर होकर ही विचरे।

जब महावीरका जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बरके रूपमें विभाजित हुआ तो उसके पश्चात् कतिपय मध्यम मार्गी जैनोने एक तीसरे यापनीय[२] संघकी स्थापना की थी। यह यापनीय संघ शायद श्वेताम्बरीय आगमोंको मानता था किन्तु नग्नताका

१--'समणे भगवं महावीरे संवच्छर साहियं मास चीवरधारी हुत्था, तेण परं अचेलए पाणि पडिग्गहिए ॥ ११७ ॥

--कल्पसू०-१६।

२--देखो--'यापनीय साहित्य की खोज' जै० सा० इ०, पृ० ४१ से।

पोषक था। इस संघके एक आचार्य अपराजित सूरिने श्वेताम्बरोंकी उक्त मान्यताके सम्बन्धमें लिखा[1] है—

'भावनामें जो यह कहा है कि महावीर भगवान एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक-नग्न हो गये सो इसमें अनेक मत है। किन्हींका कहना है कि महावीरके कन्धेपर जिसने वस्त्र लटकाया था, उसने उसी दिन उस वस्त्रको ले लिया था। अन्य कहते हैं कि छै महीनोंमें वह वस्त्र कांटो वगैरहसे छिन्न भिन्न हो गया। कुछ कहते हैं कि कुछ अधिक एक वर्षके पश्चात् उस वस्त्रको खण्डलक ब्राह्मणने ले लिया। कुछ कहते हैं हवासे उड़ गया और महावीरने उसकी उपेक्षा कर दी। किन्हींका कहना है कि लटकाने वालेने उसे महावीर भगवानके कन्धेपर रख दिया। इस प्रकार अनेक मत होनेसे इसमें कुछ सार प्रतीत नहीं होता। यदि भगवान महावीरने सचेल लिंगको प्रकट करनेके लिये वस्त्रको ग्रहण किया था उन्हें उसका विनाश क्यो इष्ट हुआ? सदा उसे धारण करना चाहिये था........तथा यदि महावीर भगवानको चेल-प्रज्ञापना (वस्त्रवाद) इष्ट थी तो 'प्रथम[2] और अन्तिम जिनका धर्म अचेलक था' यह वचन मिथ्या ठहरता है। तथा 'नवस्थान' में कहा है -'जैसे मैं अचेल (नग्न) हूं वैसे ही अन्तिम जिन भी होंगे'

१—भ० आ०, गा० ४२१ की टीका में।

२—श्वेताम्बर साहित्य में लिखा है कि प्रथम जिन ऋषभदेव और अन्तिम जिन महावीरका धर्म आचेलक्य—वस्त्ररहित था। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंका धर्म सचेल भी था और अचेल भी था। यथा—आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाणं जिणाणं होई सचेलो अचेलो व ॥ १२ ॥ पञ्चा०, विव० १७।

इससे भी विरोध आता है। तथा यदि अन्य तीर्थङ्कर सवस्त्र थे तो महावीर भगवानकी तरह उनके वस्त्र त्यागका काल क्यों नहीं बतलाया ? हां, यह कहना उचित होगा कि जब महावीर सर्वस्वको त्याग कर ध्यानमें स्थित थे तो किसीने उनके कन्धेपर वस्त्र रख दिया, जो एक उपसर्ग था।"

महावीर भगवानके देवदूष्य धारण करनेके सम्बन्धमें अपराजित सूरिने जो अभिमत प्रकट किया है हमे भी वही उचित जान पड़ता है।

आवश्यक[1] निर्युक्तिमें लिखा है कि चौबीसों तीर्थङ्कर एक वस्त्रके साथ प्रव्रजित हुए। इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार जिन भद्रगणि क्षमाश्रमणने लिखा[2] है—

"सभी जिन भगवान वज्रवृषभनाराच संहननके धारी होते हैं, चार ज्ञानवाले और सत्त्वसम्पन्न होते हैं, उनके हस्तपुट छिद्र-रहित होते हैं और वे परीषहों को जीतने वाले होते हैं। अतः वस्त्र पात्र आदि उपकरणोंसे रहित होने पर भी वस्त्रके अभावमें लगने वाले संयमकी विराधना आदि दोष उन्हें नहीं लगते। उनके लिये वस्त्र-पात्र संयमका साधन नहीं है अतः वे उनका

१—'सव्वे वि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउवीस' ॥२२७॥

२—निरुवमधिइ सहणणा चउनाणातिसयसत्तसंपण्णा।
अच्छिद्दपाणिपत्ता जिणा जियपरीसहा सव्वे ॥ २५८१ ॥
तम्हा जहुत्तदोसे पावंति न वत्थपत्तरहिया वि।
तदसाहण ति तेसिं तो तग्गहणं न कुव्वंति ॥ २५८२ ॥
तहवि गहिएगवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति।
अभिनिक्खमंति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया हुंति ॥२५८३॥
—विशे० भा०।

ग्रहण नहीं करते। तथापि सवस्त्र तीर्थका उपदेश करनेके लिये इन्द्रके द्वारा अर्पित एक देवदूष्य धारण करके दीक्षा लेते हैं। जब वह वस्त्र गिरजाता है तो सभी अचेल–वस्त्ररहित नग्न हो जाते हैं।"

भाष्यकारके उक्त कथनका अभिप्राय यह है कि चौबीसों तीर्थङ्कर सुदृढ़ शरीर वाले तथा परीषहोंको सहनेमें समर्थ होते हैं इस लिये उन्हें वस्त्रकी आवश्यकता नहीं होती। तथा उनके हस्तपुट छिद्ररहित होते हैं, उससे ही वे आहार ग्रहण कर सकते हैं इसलिये उन्हें पात्रकी आवश्यकता नहीं होती। फिर भी सवस्त्र तीर्थका उपदेश देनेके लिये वे एक वस्त्र धारण करते हैं और उस वस्त्रके गिरजाने पर नग्न विचरण करते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि तीर्थङ्करोंको अपने शिष्योंका नग्न रहना इष्ट नहीं था, यद्यपि वे स्वयं नग्नता ही पसन्द करते थे, अत उन्होंने कुछ समय तक एक वस्त्र धारण किया। दूसरे शब्दोंमें यदि यह कहा जाये कि सवस्त्र परम्पराका पोषण करने के लिये ही देवदूष्यकी कल्पना की गई तो कुछ अयुक्त न होगा। अस्तु। आगे इस सम्बन्धमें विशेष विचार किया जायेगा।

तपस्या और ज्ञानलाभ

जैन साहित्यके अवलोकनसे प्रकट होता है कि महावीरने दुद्धर्ष तपस्या की थी। उनका तपस्वी जीवन रोमाञ्चकारी था। जिन दीक्षा धारण करनेके पश्चात् ही वे ध्यान मग्न हो गये थे और छै मास तक ध्यानस्थ रहे थे। छै मासके पश्चात् उन्होंने

कूलपुर या कोल्लाग सन्निवेशमें प्रथम वार भिक्षा भोजन ग्रहण किया था।

पीछे बुद्धके द्वारा निर्दिष्ट जिन चार प्रकारकी तपस्याओंका निर्देश कर आये हैं उन चारोंका ही आचरण महावीरने किया था। दीक्षा लेते समय ही वे नग्न हो गये थे और उन्होंने अपने सिर और दाढ़ीके केशोंको स्वयं अपने हाथसे उखाड़कर फेंक दिया था। वे सदा अस्नान व्रत पालते थे और भूमि पर शयन करते थे। एकान्तवास उन्हें प्रिय था। और वर्षाकालको छोड़कर सदा मौन विचरण करते थे। इस तरह उन्होने बारह वर्ष विताये थे।

इन बारह वर्षोंमे उन्हें जिन कष्टोका सामना करना पड़ा-उपसर्गोंको सहना पड़ा उनको पढ़कर भी चित्त चंचल हो उठता था। इसीसे बुद्धने कठोर तपस्याका मार्ग छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया था। किन्तु महावीर तो महावीर थे, उनकी दृढ़ता स्पृहणीय थी।

श्वेताम्बरीय आगमिक उल्लेखोके अनुसार इन बारह वर्षोंमे एकाकी विहारी महावीरको अनेको उपसर्गों और कष्टोंका सामना करना पड़ा। उनके कानोंमे कीले ठोंके गये, सर्वाङ्गको धूलसे आच्छादित कर दिया गया, किन्तु महावीर अपने सन्मार्गसे विचलित नहीं हुए और न उन्होंने अपनी क्षमाशीलता और निर्वैर वृत्तिका ही परित्याग किया।

दिगम्बर उल्लेखके अनुसार जब वे उज्जैनमें ध्यानस्थ थे तब रात्रिमें उनके ऊपर घोर उपसर्ग किया गया। किन्तु वे अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए।

उनकी क्षमाशीलता और निर्वैर वृत्ति आदर्श थी। इसी

आन्तरिक और बाह्य वृत्तिने उन्हें एक दिन 'जिन' बना दिया। वह दिन था वैसाख शुक्ला दसमी। उस दिन वह जृम्भिका[1] ग्रामके निकट बहनेवाली ऋजुकूला नदीके तट पर शालवृक्षके नीचे ध्यानस्थ थे। उसी दिन उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई और वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये तथा 'जिन', अर्हत्', तीर्थङ्कर आदि नामोंसे अभिहित हुए।

१--उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे वहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पादछायाए ॥ २८ ॥
वइसाह जोण्हपक्खे दसमीए खवगसेढिमारुढो।
हतूंण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥ २६ ॥

—ज० ध०, भा० १, पृ० ८० में उद्धृत।

वइसाह सुद्धदसमी माघारिक्खम्हि वीरणाहस्स।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥ ७११ ॥

—त्रि० प्र०, अ० ४।

जंभियवहि उजुवालियतीर वियावत्त सामसालअहे।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पण्ण केवलं णाणं ॥ ५२५ ॥

—आ० नि०, पृ० २६१।

ग्राम-पुर-खेट कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान् प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादश वर्षाण्यमरपूज्यः ॥ १० ॥
ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपराण्हे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भिकाग्रामे ॥ ११ ॥
वैसाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

—निर्वाण भक्ति।

सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्व

जैन साहित्यमें भगवान महावीरको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बतलाया है। सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्वकी प्राप्ति उन्हें तपस्याके पश्चात् ही हुई थी। जन्मसे तो महावीर भी असर्वज्ञ और असर्वदर्शी थे। बारह वर्षकी कठोर साधनाके द्वारा आत्माकी पूर्णज्ञान शक्ति और पूर्णदर्शन शक्तिके आवारक चार घातिकर्मोंको नष्ट करके उन्होंने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप चतुष्टयको प्रकट किया। इसीसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। यहां संक्षेपमे प्रकृत विषय पर प्रकाश डालना अनुचित न होगा।

जैन सिद्धान्तमें ज्ञान और दर्शनको आत्माका गुण माना है। यद्यपि अल्पज्ञ अवस्थामें इन्द्रियोके द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है किन्तु ज्ञान जीवका ही गुण है, इन्द्रियोंका नहीं; क्योंकि इन्द्रियोंके विना भी ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः जैन दर्शनमें जीव ज्ञानदर्शनलक्षण वाला माना गया है। किन्तु सब संसारी जीवोंमें ज्ञान और दर्शन एकसा नहीं पाया जाता। उनमे तर-तमभाव देखा जाता है। किसी संसारी जीवमें ज्ञानका विशेष विकास पाया जाता है तो किसीमें स्वल्प। इस तर-तमभावको निष्कारण नहीं माना जा सकता। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। जैन दर्शनमें इस तर-तमता का कारण आवरण कर्म माना गया है। आवारक कर्मके ही कारण आत्माका पूर्णज्ञान अविकसित रहता है और उसके कतिपय अंश ही तर-तमताको लिये हुए विभिन्न संसारी जीवों में प्रकट देखे जाते हैं।

आत्माके ज्ञान दर्शन आदिके आवारक कर्म भी सहेतुक

हैं, अहेतुक नहीं हैं, क्योंकि कर्मको अहेतुक माननेसे उनका विनाश नहीं बन सकता। अतः कर्म सहेतुक हैं तथा मूर्त हैं। और वे जीवसे सम्बद्ध हैं। क्योंकि यदि कर्मको जीवसे सम्बद्ध न माना जायगा तो कर्मका कार्य जो मूर्त शरीर है, उस मूर्त शरीर से जीवका सम्बन्ध नहीं बन सकता। अर्थात् यदि कर्मोंसे जीव को भिन्न माना जायगा तो कर्मोंसे भिन्न अमूर्त जीवका शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता। और शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध सिद्ध है; क्योंकि शरीरके छेदे जाने पर जीवको दुःख होता है, जीवके गमन करने पर शरीर भी गमन करता है। जीवके रुष्ट होनेपर शरीरमें कम्प, दाह, आंखोंका लाल होना, भौंका चढ़ना आदि देखे जाते हैं। तथा जीवकी इच्छासे शरीरका गमन, आगमन, हाथ पैर सिर अंगुली आदिका संचालन देखा जाता है। अतः जीव शरीरसे सम्बद्ध है। यदि जीवको शरीर और कर्मोंसे असम्बद्ध माना जायगा तो सम्पूर्ण जीवोंके केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुण प्रकट दीखने चाहिये जैसा कि मुक्तात्माओंमें देखा जाता है। अतः जीवका कर्मके साथ भी एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मानना चाहिये।

यह शंका हो सकती है कि अमूर्त जीवका मूर्त शरीरके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। किन्तु जैन सिद्धान्तमें जीव और कर्मोंका अनादि सम्बन्ध स्वीकार किया गया है अतः उक्त शंकाको स्थान नहीं है। इस तरह जीव और कर्मोंका सम्बन्ध अनादि है। यदि उसे अनादि न माना जायगा तो वर्तमानमें भी जो जीव और कर्मका सम्बन्ध उपलब्ध होता है वह नहीं बन सकेगा।

कर्म जीवके गुणोंका निमूर्ल विनाश नहीं करते; क्योंकि ऐसा माननेपर जीव द्रव्यमें पाये जानेवाले गुणोंका अभाव हो जायेगा और उनका अभाव हो जानेपर जीव द्रव्यके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। कर्मोंकी अनादि सन्तान भी बीज और अंकुरकी सन्तानकी तरह नष्ट हो जाती है। कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं और रुकनेको संवर कहते हैं। आस्रवके कारण हैं--मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। और संवरके कारण है—सम्यक्त्व, संयम और विरागता आदि। अतः आस्रवके विरोधी संवरके कारणोंके प्रकट होनेपर कर्मोंकी आस्रवपरम्परा विच्छिन्न हो जाती है। और इस तरह नवीन कर्मोंका बन्ध रुक जाता है।

अब प्रश्न रहता है पूर्व संचित कर्मोंके क्षयका। जैन सिद्धान्तमे योगके निमित्तसे कर्मोंका बन्ध होता है और कषायके निमित्तसे कर्मोंमें स्थिति पड़ती है। इसलिये योग और कषायका अभाव हो जाने पर बन्ध और स्थितिका अभाव हो जाता है और उससे पूर्वसञ्चित कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। तथा तपसे भी पूर्वसञ्चित कर्मोंका क्षय होता है। कर्मोंका क्षय हो जाने पर पूर्णज्ञान--जिसे जैन सिद्धान्तमे केवल ज्ञान कहते हैं—उसी तरह प्रकट हो जाता है जैसे मेघ पटलके हटने पर सूर्य।

अतः जैसे निरावरण सूर्य समस्त जगत्को प्रकाशित करता है वैसे ही निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त जगत्को जानते देखते हैं। इसीसे केवलज्ञानीको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है। वह केवलज्ञानी असत्यार्थका प्रतिपादन नहीं कर सकता क्योंकि असत्य कथन करनेके कारण है--

अज्ञान और राग द्वेष। इन दोनोंसे वह मुक्त है, अतः वह सत्यार्थका ही प्रतिपादन करता है।

इसीसे भगवान महावीर अपने बारह वर्षके साधना कालमें मौन ही रहे, उन्होंने किसीको कोई उपदेश नहीं दिया। बारह वर्षकी साधनाके पश्चात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाने पर ही उन्होंने अपनी प्रथम धर्मोपदेशना की। उसी समयसे वे तीर्थङ्कर कहलाये।

भगवान महावीरकी सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्वकी चर्चा उनके समयमें सर्वविश्रुत थी, यह बात बौद्ध त्रिपिटिकोंसे भी प्रकट होती है।

मज्झिम निकायके 'चूल-दुक्खक्खन्ध सुत्तन्त' (पृ० ५९) में बुद्ध महानाम शाक्यसे कहते हैं--"एक समय महानाम ! मैं राजगृहमें गृध्रकूट पर्वतपर विहार करता था। उस समय बहुत से निगंठ (=जैन साधु) ऋषिगिरिकी काल शिलापर खड़े रहने (का व्रत) ले, आसन छोड़, उपक्रम करते, दुःख कटु तीव्र वेदना झेल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायंकाल ध्यानसे उठकर जहाँ ऋषिगिरिके पास कालशिला थी, जहाँ पर कि वह निगंठ थे, वहाँ गया। जाकर उन निगंठोंसे बोला—'आवुसो ! निगंठो ! तुम खड़े क्यों हो, आसन छोड़े दुःख कटुक तीव्र वेदना झेल रहे हो।' ऐसा कहने पर उन निगंठोंने कहा—आवुस ! निगंठ नाथपुत्त (=जैन तीर्थङ्कर महावीर) सर्वज्ञ सर्वदर्शी आप अखिल (=अपरिशेष) ज्ञान दर्शनको जानते हैं—चलते खड़े, सोते जागते, सदा निरन्तर (उनको) ज्ञान दर्शन उपस्थित रहता है। वह ऐसा कहते हैं—निगंठो ! जो तुम्हारा पहलेका किया हुआ कर्म है उसे इस कड़वी दुष्कर क्रिया (=तपस्या) से नाश करो और जो इस वक्त यहां काय वचन मनसे, संवृत्त (=पाप न करनेके

कारण रक्षित, गुप्त) हो, यह भविष्यके लिये पापका न करना हुआ। इस प्रकार पुराने कर्मोंका तपस्यासे अन्त होने से, और नये कर्मोंके न करने से, भविष्यमें चित्त अन्-आस्रव (=निर्मल) होगा। भविष्यमें आस्रव न होनेसे कर्मोंका क्षय (होगा), कर्मक्षयसे दुःखका क्षय, दुःखक्षयसे वेदना (=झेलना) का क्षय, वेदनाक्षयसे सभी दुःख नष्ट होंगे। हमें यह विचार रुचता है=खमता है इससे हम सन्तुष्ट हैं।'

इसी तरह म० नि० के चूल सकुलुदायी सुत्तन्त (पृ० ३१८) मे लिखा है—

'एक समय भगवान् बुद्ध राजगृहमें वेणुवन कलन्दक निकायमे विहार करते थे। उस समय सकुल उदायि परिव्राजक महती परिषद्के साथ परिव्राजकाराममें रहता था। भगवान् पूर्वाह्ण समय जहाँ सकुल उदायी परिव्राजक था, वहाँ गये। तब सकुल उदायी परिव्राजक ने कहा—

पिछले दिनों भन्ते ! (जो वह) सर्वज्ञ सर्वदर्शी निखिल ज्ञान दर्शन होनेका दावा करते हैं—चलते, खड़े, सोते जागते भी (मुझे) निरन्तर ज्ञान दर्शन उपस्थित रहता है......।

कौन है यह उदायी सर्वज्ञ सर्वदर्शी०......बुद्ध भगवानने पूछा—

'भन्ते ! निगंथ नाटपुत्त !'

ऊपरके दोनों उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेकी बात श्रमण सम्प्रदायमें विश्रुत थी और सर्वज्ञ सर्वदर्शीका वही अर्थ लिया जाता था जो जैन शास्त्रोंमें वर्णित है।

प्रथम धर्मदेशना

केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवतागण आकर केवलज्ञानी तीर्थङ्करका ज्ञानकल्याणक महोत्सव मनाते हैं, उनकी पूजा करते हैं और इन्द्रकी आज्ञासे उनके उपदेशके लिये समवसरणकी रचना करते हैं, ऐसी सामान्य जैन मान्यता है। तदनुसार जृंभकाके पास ऋजूकूलनदीके तट पर भगवान महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न होने पर देवतागणने आकर उनकी पूजा की और ज्ञानकल्याणकका महोत्सव मनाया। समवसरणकी रचना भी हुई। परन्तु इस प्रथम समवसरणमे महावीर भगवानकी वाणी नहीं खिरी और इसलिये उस दिन धर्मतीर्थका प्रवर्तन नहीं हो सका।

श्वे० आवश्यक निर्युक्तिमें लिखा[1] है कि शेष सभी जैन तीर्थङ्करोका तीर्थ प्रथम समवसरणमें उत्पन्न हुआ, किन्तु जिनेन्द्र महावीरका तीर्थ द्वितीय समवसरणमें उत्पन्न हुआ। श्वेताम्बर साहित्यमें (स्था० १० ठ०) दस अच्छेरे 'आश्चर्य' बतलाये हैं, जिनमेसे एक महावीर भगवान पर उपसर्ग होना, दूसरा गर्भ-परिवर्तन और तीसरा है अभव्यसभा। अर्थात् जृम्भिका ग्राममें महावीरके केवलज्ञान उत्पन्न होने पर समवसरणकी रचना हुई और उसमें देव मनुष्य तिर्यञ्च एकत्र भी हुए और कल्पका पालन करनेके ही लिये धर्मकथा भी हुई किन्तु किसीने भी व्रत-धारण नहीं किये। महावीरसे पूर्व अन्य किसी भी तीर्थङ्करके समयमें ऐसा नहीं हुआ। अतः यह घटना आश्चर्य जनक होनेसे अछेरा (आश्चर्य) कहलाई।

---

१ 'तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे।
उप्पण्णो उ जिणाणं वीरजिणिंदस्स बीयम्मि ॥"

आव० नि० (गा० ५३८) में [1]बतलाया है कि केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भगवान महावीर रात्रिमें ही महासेनवन नामक उद्यानको चले गये। इसकी टीकामें मलयगिरिने लिखा है—

'भगवान महावीरको केवल ज्ञान उत्पन्न होनेके अनन्तर ही चारों प्रकारके देव आगये थे और उन्होंने हर्षित होकर ज्ञान कल्याणकका अद्भुत महोत्सव मनाया था। किन्तु भगवानने जाना कि यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो प्रव्रज्या धारणकर सके। यह जानकर वे विशिष्ट धर्मकथामें प्रवृत्त नहीं हुए। किन्तु ऐसा कल्प है कि जहां केवल ज्ञान हो वहाँ केवलीको कमसे कम भी एक अन्तर्मुहूर्त तक ठहरना चाहिए और देवकृत पूजाको स्वीकार करना चाहिए, तथा धर्मोपदेश भी करना चाहिए। इस नियोगके अनुसार संक्षेपसे धर्मोपदेश करके भगवान महावीर वहांसे विहार कर गये; क्योंकि उन्होने अपने ज्ञानसे जाना कि यहां से बारह योजनपर मध्यमा नामकी नगरीमें सोमिल नामक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा है। वहाँ ग्यारह उपाध्याय आये हुए हैं। वे सब चरमशरीरी हैं और पूर्व जन्ममें उन्होंने गणधर लब्धिका उपार्जन किया है। यह जानकर देवताओंसे वेष्टित भगवान महावीर देवकृत प्रकाश के द्वारा रात्रिमें भी दिनका सा प्रकाश करते हुए मध्यमा नगरीके महासेन वन नामक उद्यानमें पधारे।' वहां दूसरे समवसरणकी रचना हुई और देवताओंने महावीर भगवानकी पूजा की। इसी दूसरे समवसरणमें भगवान महावीरको [2]धर्म चक्रवर्तित्व प्राप्त हुआ'

१ 'उत्पन्नंमि अणंते नट्ठम्मि अ छाउमत्थिए नाणे।
राइए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे ॥ ५३८ ॥'

२ "अमरनररायमहिओ पत्तो वरधम्मचक्कवट्टित्तं।
बीयम्मि समवसरणे पावाए मज्झिमाए उ ॥' ५३६ ॥
—आव० नि०, पृ० २६६।

देवताओंका जय जयकार सुनकर यज्ञमें उपस्थित समूह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने समझा कि देवगण यज्ञमें पधार रहे हैं। किन्तु जब देवगण यज्ञमें न पधारकर समीपमें ही स्थित भगवान महावीरके समवरणमें चले गये तो जन समूह भी उधर ही चला आया, और यह बात सर्वत्र फैल गई कि यहां एक सर्वज्ञ आये हुए हैं और देव उनकी पूजा करते हैं। इन्द्रभूति नामक ब्राह्मण विद्वान् इस बात को सुनकर क्रुद्ध होता हुआ यज्ञ मण्डपसे समवसरणकी ओर चला। उसे देवोंके द्वारा महावीरकी पूजा तथा उनकी सर्वज्ञताका प्रवाद सह्य नहीं हुआ। इन्द्रभूतिको देखते ही सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवानने उसका नाम और गोत्र उच्चारण करते हुए उसे अपने पास बुलाया। महावीरके मुखसे अपना नाम और गोत्र सुनकर प्रथम तो उसे कुछ अचरज हुआ, पीछे उसके अहंकारने उसे सुझाया कि मैं तो सर्वलोक प्रसिद्ध हूं, मुझे कौन नहीं जानता। यदि यह मेरे मनोगत संशयको बतलाये तो मैं समझूं कि यह सर्वज्ञ है।

इतनेमें ही महावीरने कहा—'इन्द्रभूति गौतम ! तुझे जीवके अस्तित्वमे सन्देह है'। अपने मनोगत सन्देहका निवारण होते ही इन्द्रभूतिने महावीरका शिष्यत्व स्वीकार करके उनके चरणोंमें प्रव्रज्या लेली और महावीरका प्रधान गणधर पद अलंकृत किया। इस तरह श्वेताम्बरीय साहित्यके अनुसार महावीरके तीर्थका प्रवर्तन मध्यमा नगरीके महासेनवनमें हुआ। वहांसे महावीरने राजगृहीकी ओर प्रस्थान किया और वहां उनका तीसरा समवसरण रचा गया।

किन्तु दिगम्बर साहित्यके उल्लेख उक्त कथनके अनुकूल नहीं हैं। उनके अनुसार जृम्भिका ग्राममें केवल ज्ञान होनेके

पश्चात् भी भगवान महावीरका प्रव्रज्याके समयसे धारण किया गया मौन भंग नहीं हुआ और वे छियासठ[1] दिन तक मौनपूर्वक विहार करते हुए राजगृही नगरीमे गये और उसके बाहर स्थित विपुलाचल पर विराजमान हो गये। वहीं उनका प्रथम समवसरण रचा गया। वहीं इन्द्रभूति गौतमने उनके पादमूलमें प्रव्रज्या धारण की और वहीं उनकी प्रथम धर्मदेशना हुई।

इस विषयमें वीरसेन स्वामीने अपनी धवला और जयधवला टीकामें कतिपय प्राचीन गाथाओंको उद्धृत करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। जयधवलामें प्रश्न किया गया है कि महावीरने धर्मतीर्थका उपदेश कहाँ दिया? इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि 'जब महामंडलीक राजा श्रेणिक अपनी चेलना रानीके साथ सकल पृथ्वी मण्डलका उपभोग करता था तब मगध देशके तिलकके समान राजगृह नगरकी नैऋत्य दिशामें स्थित तथा सिद्ध और चारणोंके द्वारा सेवित विपुलगिरि पर्वतके ऊपर बारह सभाओंसे वेष्ठित भगवान महावीरने धर्मतीर्थका उपदेश दिया।'

१—षट्षष्टिं दिवसान् भूयो मौनेन विहरन् प्रभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥६२॥
× × ×
इंद्राग्निवायुभूताख्याः कौण्डिन्याख्याश्च पंडिताः।
इन्द्रनोदयनायाताः समवस्थानमर्हतः ॥६८॥
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः।
त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धाः सयम प्रतिपेदिरे ॥६९॥
—हरि० पु०, २ सर्ग।

फिर प्रश्न किया गया कि किस कालमें भगवान महावीरने धर्मतीर्थका प्रवर्तन किया। इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि—'इस भरतक्षेत्र सम्बन्धी अवसर्पिणी कालके चौथे दुषम सुषमा नामक कालमें तेतीस वर्ष, छै मास और नौ दिन अवशिष्ट रहने पर धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई।'

इस कालका विवरण देते हुए लिखा है कि—'चौथे कालमें ७५ वर्ष आठ मास, १५ दिन शेष रहने पर आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन बहत्तर वर्षकी आयु लेकर भगवान महावीर गर्भमें आये। बहत्तर वर्षोंमे तीस वर्ष कुमार काल है, बारह वर्ष छद्मस्थकाल (तपस्याकाल) है तथा तीस वर्ष केवलिकाल है। इस बहत्तर वर्ष प्रमाण कालको ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन काल मे घटा देने पर महावीरके मोक्ष जाने पर शेष बचे चतुर्थ कालका प्रमाण आता है। इस कालमें छियासठ दिन कम केवलिकालको मिला देनेपर अर्थात् तीन वर्ष, आठ मास, पन्द्रह दिनमें २९ वर्ष, नौ मास, २४ दिन मिला देनेपर तेतीस वर्ष छह महीना, नौ दिन होते हैं। चौथे कालमें इतना शेष रहने पर भगवान महावीरने धर्मतीर्थका प्रवर्तन किया अर्थात् प्रथम धर्मदेशना की।

अतः दिगम्बर परम्पराके अनुसार केवलज्ञान होनेके छियासठ दिन पश्चात् श्रावणकृष्णा[1] प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय

---

१ इम्मिस्सेऽवसप्पणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचि विसेसूणए संते ॥५५॥
वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥५६॥
सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥५७॥
—धवला, पु० १, पृ० ६२-६३ में उद्धृत।

आकाशमें अभिजित् नक्षत्रका उदय रहते हुए राजगृही नगरीके बाहर स्थित विपुलाचलपर[1] महावीरकी प्रथम धर्मदेशना हुई।

केवल ज्ञान होने पर भी छियासठ दिन तक धर्मदेशना न होनेका कारण बतलाते हुए जयधवला (भा० १, पृ० ७५-७६) मे प्रश्नोत्तर रूपमे जो विवरण दिया गया है यहाँ हम उसे उद्धृत किये देते हैं।

प्रश्न—केवलिकालमेंसे छियासठ दिन किसलिये कम किये गये है ?

उत्तर—भगवान महावीरको केवल ज्ञान हो जाने पर भी छियासठ दिन तक धर्मतीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिये केवलिकालमें छियासठ दिन कम किये गये है।

प्रश्न—केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी ?

एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवास अडमास पण्णरस दिवससेसम्मि ॥६८॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६९॥

—ति० प० १।

श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥६१॥

—हरि० पु०, २ सर्ग।

१ पञ्चसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे ॥५२॥
महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स।

—धवला, पु० १, पृ० ६१ पर उद्धृत।

उत्तर—गणधर न होने से।

प्रश्न—सौधर्म इन्द्रने केवल ज्ञान होनेके समय ही गणधरको उपस्थित क्यों नहीं किया ?

उत्तर—काललब्धिके बिना सौधर्म इन्द्र गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था।

प्रश्न—जिसने अपने पादमूलमें महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुषको छोड़कर अन्यके निमित्तसे दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती।

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है और स्वभावके विषयमें कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता।

उक्त प्रश्नोत्तरोंसे ज्ञात होता है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् जो व्यक्ति तीर्थङ्करके पादमूलमें दीक्षा लेकर उनका शिष्यत्व स्वीकार करता है वही उनका गणधर बननेका अधिकारी होता है। छियासठ दिन तक किसी ऐसे व्यक्तिने महावीर भगवानके पादमूलमे दीक्षा लेकर उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया, जो इनका गणधर बननेकी योग्यता रखता हो।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, श्वेताम्बरीय मान्यताके अनुसार जृम्भिका ग्राममें केवल ज्ञान प्रकट होने पर भी महावीर भगवान्की धर्मदेसना इसलिये नहीं हुई कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित नहीं था जो उनके पादमूलमे चारित्र धारण करके उनका शिष्यत्व स्वीकार कर सकता हो। दूसरे दिन महासेन नामक उद्यानमें इन्द्रभूति आदिके उनका शिष्यत्व स्वीकार करने पर ही उनकी धर्मदेशना हुई। अतः केवल ज्ञान प्रकट होनेके पश्चात् ही भगवान् महावीरकी धर्मदेशना न होनेके सम्बन्धमे दोनों सम्प्रदायों की मान्यतामें प्रायः एकरूपता है। अन्तर है प्रथम देशनाके स्थान और काल में।

समवसरण

महावीर भगवान्‌की उपदेश सभाको समवसरण कहा जाता था। जैन साहित्यमें तीर्थङ्करोंके [1]समवसरणोंका जो वर्णन मिलता है वह अनुपम है। वृहत्सभास्थानकी रचना कैसी की जाती थी यह उससे प्रकट होता है। संक्षेपमें समवसरणकी रचना इस प्रकार होती है—सबसे प्रथम धूलि साल नामक कोटके बाद चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ होते हैं। इन मानस्तम्भों पर दृष्टि पड़ते ही अहङ्कारी व्यक्तियोंका अहङ्कार चूर-चूर हो जाता है। मानस्तम्भोंके चारों ओर सरोवर होते हैं। फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा होती है, फिर पुष्प वाटिका होती है। उसके आगे पहला कोट होता है। उसके आगे दोनों ओर दो दो नाटक शालाएँ होती हैं, उनके आगे दूसरा उपवन होता है, उसके आगे वेदिका और फिर ध्वजाओंकी पंक्तियाँ होती हैं। फिर दूसरा कोट होता है। उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षोंका वन होता है। उसके बाद स्तूप और स्तूपोंके बाद मकानोंकी पंक्तियाँ होती हैं। फिर तीसरा कोट होता है। उसके भीतर सोलह दीवालोंके बीचमें बारह कोटे होते हैं। इन कोटोंके भीतर पूर्वादि प्रदक्षिणा क्रमसे पृथक्-पृथक् मनुष्य, देव और मुनिगण बैठते हैं। तदनन्तर पीठिका होती हैं और पीठिकाके ऊपर तीर्थंकर विराजमान होते हैं। तीर्थंकर पूरब अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठते हैं। उनके चारों ओर प्रदक्षिणारूप क्रमसे मुनिजन १, कल्पवासिनी देवियाँ २, आर्यिका तथा अन्य स्त्रियाँ ३, ज्योतिषोंकी देवियाँ ४, व्यन्तरोंकी देवियाँ ५, भवन-

१. विस्तृत वर्णनके लिये तिलोय पण्णत्ति भा० १, गा० ७१२–९३३ तथा महापुराण प्र० भाग पृ० ५१४-५३९ देखना चाहिये।

वासिनी देवियाँ ६, भवनवासी देव ७, व्यन्तरदेव ८, ज्योतिष्क-देव ९, कल्पवासी देव १०, मनुष्य ११ और पशु १२ बैठते हैं। शान्तमूर्ति क्षमाशील तीर्थंकरके प्रभावसे समवसरणमें स्थित विरोधी प्राणी भी परस्परके विरोधको भूल जाते हैं और शान्तिपूर्वक उपदेश श्रवण करते हैं।

दिव्यध्वनि और उसकी भाषा

तीर्थङ्करों की वाणीको दिव्यध्वनि कहते हैं। दिव्य[1]-ध्वनि अर्थात् अलौकिक आवाज़। भगवानके मुखकमलसे निकलनेवाली इस ध्वनिकी दिव्यता यह होती है कि यद्यपि वह ध्वनि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसका परिणमन सर्वभाषारूप होता है। समवसरणमें उपस्थित सभी प्राणी उसका अभिप्राय अपनी अपनी भाषामें समझ जाते हैं। इसीसे उसे सर्व भाषारूप कहा गया है।

किन्हीं आचार्योंका मत है कि वाणीकी यह विशेषता देवकृत है। जिनसेनाचार्य ने उसे देवकृत नहीं माना बल्कि भगवान्की ही विशेषता माना है। इसी तरह कुछ आचार्योंने तीर्थङ्करकी वाणीको अनक्षरी[2] माना है किन्तु जिनसेनाचार्य ने उसका निषेध करते हुए अक्षररूप ही माना है। उनका कहना है कि अक्षर समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं देखा जाता।

---

१. 'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्वं बोधयतिस्म जिनस्य महिम्ना ॥७०॥
—म० पु०, २३ प० ।

२. 'देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥७३॥
—म० पु० २३ पर्व ।

भगवान[1] महावीरने अपना उपदेश अर्धमागधी भाषामें दिया था। उनके कालमें धर्मकी भाषा संस्कृत थी। किन्तु महावीर और बुद्ध ने तत्कालीन लोक भाषाको ही अपने अपने उपदेशोंको माध्यम बनाया। जहां तक हम जान सके हैं ये दोनों ही प्रचारक किसी भाषाविशेष पर जोर नहीं देते थे। उनकी केवल यही भावना थी कि लोग धर्मको जाने और उसका अनुसरण करें। भाषा विशेषके प्रयोगका महत्त्व उनकी दृष्टिमें नहीं था। चुल्लवग्ग (५-३३-१) में लिखा है कि एक बार दो भिक्षुओ ने बुद्धसे शिकायत की कि भिक्षु बुद्धबचनको अपनी अपनी भाषामें परिवर्तित कर रहे हैं। बुद्धने उत्तर दिया कि मैं भिक्षुओ को अपनी अपनी भाषाके प्रयोगकी अनुज्ञा देता हूं। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि बुद्धने किस भाषामें धर्मका प्रचार किया। किन्तु सबसे प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ पालि भाषामे हैं और पालि निकायको त्रिपिटक कहते हैं।

पालि भाषाका मूल कौन भाषा है और वह कहाँ उत्पन्न हुई इस विषयमे बड़ा विवाद है। किन्तु बौद्ध बुद्धकी भाषाको मागधी मानते हैं। डा० सुनीति कुमार चटर्जीका कहना है कि 'बुद्धके समस्त उपदेश बादके समयमें मागधी भाषासे मध्यदेशकी सौरसेनी प्राकृतमें अनुवादित हुए थे। और वे ही ईस्वी पूर्व प्राय. दो सौ वर्षसे पालि भाषाके नामसे प्रसिद्ध हुए।' किन्तु पालि भाषाका शौरसेनी और मागधीकी अपेक्षा पैशाचीके साथ ही अधिक सादृश्य है इसीसे डा० कोनो और सर ग्रियर्सनने पैशाची भाषा

---

१. 'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ' –सम० सू०। 'देवा णं अद्ध मागहाए भासाए भासति' –भग० सू०। 'भासारिया जे णं अद्ध मागहाए भासाए भासंति –प्रज्ञा०'

जिस देशमें प्रचलित थी उसीको पालिका उत्पत्तिस्थान बतलाया था। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धके उपदेशोंका माध्यम लोक भाषा ही थी। और भगवान महावीरके उपदेशोंका माध्यम अर्धमागधी भाषा थी। इस भाषाकी यह विशेषता थी कि सब श्रोता इसका अभिप्राय अपनी अपनी भाषामें समझ लेते थे। भाषाकी इस विशेषताको देवताओंका अतिशय भी कहा गया है कि मागध जातिके देवोंके द्वारा उसका परिणामन इस रूपमें कर दिया जाता था जिसको सब श्रोता समझ सकते थे। यह तथोक्त देवकृत अतिशय आधुनिक युगके उन यंत्रोंका स्मरण दिलाते हैं जिनके द्वारा एक भाषामें कही गई बातको तत्काल विभिन्न भाषाओंमें अनूदित कर दिया जाता है और इस तरह श्रोता अपनी अपनी भाषा में ही उसका अभिप्राय समझ लेते हैं। उक्त विशेषताको वक्ता भगवान् तीर्थङ्करका भी अतिशय बतलाया गया है। आजके वैज्ञानिक युगमें इसका आशय हम यह ले सकते हैं कि भगवान महावीर अपना उपदेश एक ऐसी भाषामें देते थे जो भाषा किसी देश विशेषसे सम्बद्ध नहीं थी, यद्यपि उसमें उस देशकी भाषाके शब्दोंकी बहुतायत थी जिस देशमें भगवानकी प्रथम धर्म देशना हुई थी। वह देश मगध था, इसीसे भगवान की वाणी अर्धमागधी कही जाती थी। १६वीं शताब्दीके ग्रन्थकार श्रुतसागर[1] श्रुरिके अनुसार भगवानकी भाषाका अर्धभाग मगध देशकी भाषा अर्थात् मागधी भाषारूप था और आधा भाग अन्य सर्वभाषारूप था।

---

१. 'सर्वार्धमागधीया भाषा भवति। कोऽर्थः? अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकम्' —षट्प्रा० टी०, पृ० ६६।

'अर्धमागधी' शब्द 'अर्ध' और 'मागधी' इन दो शब्दोंके समाससे निष्पन्न होता है। अर्धशब्दका अर्थ लगभग आधा और ठीक आधा दोनों होते हैं। व्याकरणके अनुसार जिस समासमें अर्ध शब्द अवयवीसे पूर्वमें आता है वहाँ उसका अर्थठीक आधा होता है। अत. 'मागध्या अर्धम्—अर्धमागधी' इस व्युत्पत्तिके अनुसार—जिस भाषामे ठीक आधी मागधी भाषा और आधी अन्य अन्य भाषाएँ रिलीमिली हो उसे अर्धमागधी भाषा कहते हैं। उदाहरणके लिए जिस भाषामें सौ शब्दोंमेंसे पचास शब्द मागधी भाषाके और पचास शब्द अन्य अन्य भाषाओंके मिलेजुले हो उसे अर्धामागधी कहा जा सकता है। श्रुतसागर सूरिने इसी व्युत्पत्तिको लक्ष्यमें रखकर ही उक्त अर्थ किया है।

ईसाकी सातवीं शताब्दीके चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तरने अर्धमागधी भाषाका अर्थ दो प्रकारसे किया है। यथा—

'मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागह, अहवा अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागध।'

इनमेंसे दूसरे प्रकारका अर्थ तो स्पष्ट है—अट्ठारह प्रकारकी देशी भाषाओंमें नियत सूत्रको अर्द्धमागध कहते हैं। अर्थात् अर्धमागधी भाषा अट्ठारह प्रकारकी देशी भाषाओंके मेलसे निष्पन्न भाषा होती है। किन्तु प्रथम प्रकारमें मतभेद है—

पं० बेचरदासजीने उसका अर्थ इस प्रकार किया है—'मगधदेशकी आधी भाषामे जो निबद्ध हो उसे अर्धमागध कहते हैं।' (जै० सा० सं०, भा० १, पृ० ३३)। किन्तु अपने 'पाइअसद्दमहण्णवके उपोद्घातमे प० हरगोविन्ददासने उसका अर्थ किया है—'मगधदेशके अर्धप्रदेशकी भाषामें जो निबद्ध हो वह अर्धमागध' (पृ० २७)।

पं० हरगोविन्ददास अर्धमागधी शब्दकी 'अर्धमागध्याः' व्युत्पत्तिसे सहमत नहीं हैं। वह 'अर्धमगधस्येयं अर्धमागधी' व्युत्पत्तिको ही वास्तविक बतलाते हैं। इसके अनुसार अर्धमागधीका अर्थ होता है —मगध देशके अर्धांशकी जो भाषा वह अर्धमागधी है। निशीथ चूर्णिकारके अर्थका प्रथम प्रकार इसी व्युत्पत्तिके अनुकूल प्रतीत होता है। मगधार्धविषय भाषानिबद्धा' का अर्थ मगधदेशके अर्धप्रदेशकी भाषामें निबद्ध ही उपयुक्त है— मगधदेशकी आधी भाषामें निबद्ध ठीक नहीं है, क्योंकि अर्द्ध शब्द ऐसी स्थितिमें नहीं है जिससे उसे भाषाके साथ संयुक्त किया जा सके।

किन्तु पं० हरगोविन्ददासने चूर्णिकारके दूसरे अर्थको बिल्कुल ही छोड़ दिया है क्योंकि वह उनकी 'अर्धमगधस्येयं' व्युत्पत्तिके प्रतिकूल और 'अर्धमागध्याः' के अनुकूल है। उससे तो यही स्पष्ट होता है कि अर्धमागधी भाषा अनेक भाषाओंके मेलसे निष्पन्न भाषा थी। यही अर्थ तत्कालीन स्थिति तथा जैन-परम्परा के भी अनुकूल है। महावीर भगवानकी जन्मभूमि मगधदेश होनेसे उनकी भाषाका मुख्य सम्बन्ध मगधदेशके साथ होना उचित ही है। उसके साथ ही मगधके निकटवर्ती दूसरे प्रान्तोंकी भाषाओंके साथ मागधीका सम्पर्क होना स्वाभाविक है। अतः अन्य प्रान्तोंकी भाषाओंसे मिश्रित मागधी भाषा ही अर्धमागधी होनी चाहिये।

मार्कण्डेयने अपने प्राकृत व्याकरणमें मागधी भाषाका लक्षण बनाकर उसी प्रकरणके अन्तमें अर्ध मागधी भाषाका लक्षण इस प्रकार कहा है—'शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी।' अर्थात् शौरसेनी भाषाके निकटवर्ती होनेसे मागधी ही अर्ध-मागधी है।' अर्ध मागधीका उत्पत्ति स्थान मगध और शूरसेन

का मध्यवर्ती प्रदेश माना जाता है। मगध देश और शूरसेन देश पास-पास होनेसे मगधकी भाषा मागधीका सूरसेन देशकी भाषा शौरसेनीके साथ सम्पर्क होनेसे अर्धमागधी भाषाकी उत्पत्ति हुई है। अतः उक्त लक्षणसे भी 'अर्ध मागध्याः' व्युत्पत्ति का ही पोषण होता है। सर ग्रियर्सनने अपने प्राकृत भाषाओंके भौगोलिक विवरणमे यह स्थिर किया है कि जैन अर्ध मागधी मध्यदेश (शूरसेन) और मगधके मध्यवर्ती देशकी भाषा थी। किन्तु क्रमदीश्वरने अपने प्राकृत व्याकरणमें अर्ध-मागधीका लक्षण भिन्न किया है—'महाराष्ट्री मिश्रा अर्ध मागधी, अर्थात् महाराष्ट्रीसे मिश्रित मागधी भाषा ही अर्धमागधी है।' सम्भवतया यह लक्षण अर्ध मागधी पर महाराष्ट्रीका प्रभाव पड़ने के पश्चात् रचा गया है; क्योंकि श्वे० जैन सूत्रोकी अर्धमागधी मे इतर भाषाओंकी अपेक्षा महाराष्ट्रीके लक्षण अधिक देखनेमे आते हैं। परन्तु इस लक्षण से भी यही प्रकट होता है कि अन्य भाषाओंसे मिश्रित मागधीको ही अर्धमागधी कहते थे। अतः 'अर्धमागधी' मे अर्ध शब्द मागधीके साथ समस्त है न कि मगध के साथ। मगध देशकी भाषा मागधी थी यह इतिहास सिद्ध है। आधे मगध देशकी भाषा उससे भिन्न कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती जो अर्धमागधी कही जाती हो। फिर भी पं० हर-गोविन्द दास जीने जो अर्ध मगधकी भाषाको अर्ध मागधी कहा है, उसका कारण शायद यह हो कि विद्वानोंका कहना है कि श्वे० जैन सूत्रोंकी भाषामें मागधीके लक्षण अधिक न मिलनेसे वह अर्धमागधी कहलानेके योग्य नहीं है। यह आपत्ति इसी बातको दृष्टिमें रखकर उठाई जाती है कि मागधीसे अर्धमागधी उत्पन्न हुई है। इसीके बचावके लिये शायद पण्डितजीने अर्धमागधीका अर्थ आधे मगधकी भाषा

किया है। मगर इस परिभाषासे भी उक्त आपत्तिका परिहार नहीं होता—क्योंकि जब मगधकी भाषा मागधी थी तो आधे मगधकी भाषा उससे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती। दूसरे, श्वेताम्बरीय आगम सूत्रों पर महाराष्ट्रीका गहरा प्रभाव परिलक्षित होनेका कारण यह है कि महावीर निर्वाणसे ९८० वर्ष पश्चात् वलभीमें उनका संकलन, सम्पादन और लेखन हुआ तथा तबसे उनके संशोधन, संवर्द्धन, संरक्षा, पठन पाठन लेखन आदि का कार्य गुजरात और काठियावाड़में ही होता रहा। फिर भी अणेग, उदही, लोगालोगे, आदि शब्द उक्त आगमोंके किसी भी पृष्ठमें देखे जा सकते हैं, जो अर्ध मागधीके महाराष्ट्री चित्र मूल आधारके सूचक हैं।

अतः अर्धमागधी एक ऐसी भाषा थी जो मागधी तथा अन्य प्रान्तोंकी भाषाओंके मेलसे निष्पन्न हुई थी। उसीको भगवान महावीरने अपने उपदेशका माध्यम बनाया था। उसे सभी श्रोता सरलतासे समझ सकते थे।

महावीर भगवान के गणधर

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साहित्यमें महावीर भगवानके ग्यारह गणधर बतलाये हैं। उनमें प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम थे। शेष गणधरोंमेंसे कुछके नामोंमें अन्तर पाया जाता है। आचार्य गुणभद्रने अपने उत्तर पुराणमें ग्यारह गणधरोंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं – इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्मा, मौर्य, मौन्द्र, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेल या अन्वचेल, और प्रभास (पर्व २४, श्लो० ३७३-३७४)। श्वेताम्बर साहित्य में उनके नाम इस प्रकार पाये जाते हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडिक (त), मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य और प्रभास। इन ग्यारह गणधरोंमेंसे दिगम्बर

साहित्यसे केवल एक इन्द्रभूतिके सम्बन्धमें ही थोड़ी सी जानकारी प्राप्त होती है। शेष गणधरोंके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

श्वेताम्बरीय आगमोंसे भी गणधरोंके विषयमें स्वल्प ही जानकारी प्राप्त होती है। यथा समवायांग सूत्र ११ में ग्यारह गणधरोंके नाम बताये हैं, सम० सू० ७४ में अग्निभूतिकी आयु ७४ वष बतलाई है, सम० सू० ७८ में अकम्पित गणधरका आयु ७८ वर्ष बतलाई है। सम० सू० ९२ में इन्द्रभूतिकी आयु ९२ वर्ष बतलाई है। कल्पसूत्र की स्थविरावलीमें कहा है कि भगवान महावीरके नौ गण और ग्यारह गणधर थे। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कल्पसूत्रमें ग्यारह गणधरोंके नाम गोत्र और प्रत्येक के शिष्योकी संख्या बतलाई है। गणधरोंकी योग्यताके विषयमें लिखा है कि सभी गणधर द्वादशांग और चतुदश पूर्वके धारी थे। तथा सभी राजगृहसे मुक्त हुए। उनमें भी इन्द्र भूति और सुधर्माके सिवाय शेष नौ गणधर भगवान महावीरके रहते हुए ही मुक्त हुए। उक्त स्थविरावलीमे यह भी लिखा है कि आज जो श्रमणसंघ पाया जाता है वह सुधर्माकी परम्परामे है। शेष गणधर निस्सन्तान ही मुक्त हुए—उनकी शिष्य परम्पराका अभाव है।

इन्द्रभूतिके विषयमें धवलामें लिखा है—उनका[1] गोत्र गौतम था, वर्ण ब्राह्मण था, चारो वेद और छहों वेदांगोंमे वह पारंगत थे तथा शीलवान और ब्राह्मणोंमे श्रेष्ठ थे। जीव-अजीव विषयक सन्देहको दूर करनेके लिये महावीर स्वामीके पादमूलमे उपस्थित

---

१. 'गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय सडंगवि। णामेण इंदभूदित्ति सीलवं बह्मणुत्तमो ॥६१॥' —षट्खं, पु० १, पृ० ६५।

हुए थे। महावीरका शिष्यत्व स्वीकार करने पर उनके प्रधान गणधर पद पर अधिष्ठित होनेके बादकी दशाका वर्णन करते हुए लिखा[1] है–वह मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय नामक चार निर्मल ज्ञानोंसे सम्पन्न थे। उन्होंने दीप्त, उग्र और तप्त तपको तपा था। वे अणिमा आदि आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धिसे भूषित थे। सर्वार्थसिद्धिके निवासी देवोंसे अनन्तगुण बलशाली थे। एक मुहूर्तमें द्वादशांगके अर्थचिन्तनमें और पाठ करनेमें समर्थ थे। वे अपने पाणिपात्रमें दी गई खीरको अमृत रूपसे परिवर्तित करनेमें तथा अक्षय बनाने में समर्थ थे। उन्हें आहार और स्थान सम्बन्धी अक्षीण ऋद्धि प्राप्त थी। वे सर्वावधि ज्ञानी और उत्कृष्ट विपुल मति मनःपर्यय-ज्ञानी थे। सात प्रकारके भयसे रहित थे। उन्होंने चारो कषायोंको नष्ट कर दिया था। पाँचों इन्द्रियोंको जीत लिया था। मन वचन और कायरूप तीन दण्डोंको भग्न कर दिया था। आठ मदोंको नष्ट कर दिया था। सदा दस धर्मोंका पालन करनेमें वह तत्पर रहते थे। पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन माताओं का पालन करते थे। बाईस परीषहोंके विजेता थे। सत्य ही उनका अलंकार था।

श्वे० भगवती सूत्र (१-१७) में इन्द्रभूतिके गुणोंका वर्णन इस प्रकार है–उस समय श्रमण भगवान महावीरका प्रधान शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार था। उसका गोत्र गौतम था, सात हाथ ऊँचा था, समचतुरस्र संस्थान तथा वज्रवृषभनाराच संहननका धारी था, कसौटी पर अंकित सुवर्णकी रेखाके तथा कमलकी केसरके समान गौर वर्ण था। उग्र दीप्त, तप्त और महातपका आचरण करनेवाला था। घोर तपस्वी और घोर ब्रह्मचर्यका पालक था, शरीरके संस्कारोंसे दूर रहता था, तेजोलेश्याका धारक था, चौदह पूर्वोंका ज्ञाता और चार ज्ञान

१—क० पा०, भा० १, पृ० ८३।

से सम्पन्न था तथा सर्वाक्षर सन्निपाती-श्रुतके समस्त अक्षरोंका वेत्ता था।'

भग० सू० (१४-७-५५१) से यह भी प्रकट होता है कि गौतम का भगवान महावीरके प्रति दृढ़ अनुराग था तथा उन दोनोंका पूर्व जन्मका सम्बन्ध था—आदि।

इस तरह दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आगमोंसे इन्द्रभूति गौतम गणधरके सम्बन्धमे ही विशेष जानकारी मिलती है। उसके पश्चात् यदि किसी गणधरके सम्बन्धमें कुछ मिलता है तो वह हैं सुधर्मा। दिगम्बर परम्परामे भगवान महावीरकी शिष्य परम्परा को लिये हुए जितनी पट्टावलियाँ मिलती हैं उनमे इन्द्रभूतिके पश्चात् सुधर्माका नाम मिलता है। सुधर्मा[1] का ही दूसरा नाम लोहार्य अथवा लोहार्यका दूसरा नाम सुधर्मा था। सुधर्माके पश्चात् जम्बूका नाम आता है। दिगम्बर परम्पराके[2] अनुसार इन्द्रभूतिसे ही सुधर्माको अंग और पूर्वका ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस तरह दिगम्बर परम्परामे सुधर्माका नाम तो इन्द्रभूतिके पश्चात आता है किन्तु उनके सम्बन्धमें अन्य कोई निर्देश नहीं मिलता। श्वेता० आगमोंसे भी सुधर्माके सम्बन्धमे कोई विशेष जानकारी नही मिलती। केवल इतना ही निर्देश मिलता है कि जम्बूके प्रश्न के उत्तरमें सुधर्माने अमुक आगमका व्याख्यान किया।

१—'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण सुधम्मणामेण।
गणधर सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं॥ १०॥
—ज० प०।

२—क० पा०, भा० १, पृ० ८४।

इस तरह भगवानके गणधरोंके विषयमें प्राचीन दिगम्बर साहित्य तथा श्वेताम्बर आगमोंसे इतनी जानकारी मिलती है। किन्तु आवश्यक निर्युक्तिमें एक गाथाके[1] द्वारा ग्यारह गणधरोंके संशयोंका निर्देश किया गया है। इन संशयोंको दूर करनेके लिये ही वे ग्यारह व्यक्ति भगवान महावीरके समवसरणमे गये थे और संशय दूर होते ही उनके पादमूलमें जिन दीक्षा धारण करके महावीर भगवानके शिष्य तथा गणधर बन गये थे। वे ग्यारह संशय इस प्रकार थे—

१ जीव है कि नहीं ?
२ कर्म है कि नहीं ?
३ शरीर ही जीव है या इससे भिन्न है ?
४ भूत-पृथिवी जल आदि है या नहीं ?
५ इस भवमे जीव जैसा होता है परभवमे वैसा होता है कि नहीं ?
६ बंध-मोक्ष है कि नहीं ?
७ देव हैं कि नहीं ?
८ नारकी हैं कि नहीं ?
९ पुण्य पाप है कि नहीं ?
१० परलोक है कि नहीं ?
११ निर्वाण है कि नहीं ?

१—जीवे कम्मे तज्जीव भूय तारिसय बंधमोक्खे य।
देवा णेरइय या पुण्णे परलोय णिव्वाणे ॥ ५९६ ॥
—आव० नि०।

क्या पार्श्व और महावीरके धर्ममें भेद था ?

पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए बौद्ध तथा श्वेताम्बरी साहित्यके आधारसे यह बतलाया है कि पार्श्वनाथका धर्म चतुर्याम रूप था। उसमे संशोधन करके भगवान महावीरने उसे पञ्च महाव्रतका रूप दिया। उत्तराध्ययन सूत्रके प्रसिद्ध केशी-गौतम संवादमे भी इसकी चर्चा है। पार्श्वनाथकी परंपराके आचार्य केशी और वर्धमान महावीरके प्रधान शिष्य गौतम दोनों श्रावस्तीके एक उद्यानमे मिलते हैं। केशी गौतमसे पूछता[१] है कि पार्श्वनाथका धर्म चतुर्याम और 'सान्तरोत्तर' है और महावीरका धर्म पञ्च महाव्रत रूप तथा अचेलक है। इस अन्तरका क्या कारण है।

प्रायः इतिहासज्ञोने इस संवादको एक ऐतिहासिक तथ्यके रूपमे स्वीकार किया है और उसीपर से यह निष्कर्ष निकाला है कि महावीर ने पार्श्वनाथके धर्ममे सुधार किया था। प्रकृत विषय पर प्रकाश डालनेके लिये हमे जैन साहित्यका आलोडन करना होगा।

जहाँ तक हम जानते हैं कि पार्श्व और महावीरके धर्ममे उक्त भेदकी चर्चाका दिगम्बर जैन साहित्यमे कोई संकेत तक नहीं

१—'चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पच सिक्खिओ।
देसिओ वड्ढमाणेण पासेण य महामुणी ॥ १२ ॥
अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणम् ॥ १३ ॥'
—उत्त० २३ अ०

है। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर तथा शेष बाईस तीर्थङ्करोंके धर्ममें अन्तर होनेका निर्देश दिगम्बर साहित्यमें भी मिलता है। मूलाचार, में जो दिगम्बर परम्पराका मान्य प्राचीन आचार ग्रन्थ है, लिखा है कि दूसरे अजितनाथ तीर्थङ्कर से लेकर तेईसवें पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थङ्करोंने सामायिक संयमका उपदेश दिया था। किन्तु प्रथम ऋषभ और अन्तिम महावीर तीर्थङ्करने छेदोपस्थापना संयमका भी उपदेश दिया था। इसी ग्रन्थमें आगे और लिखा[१] है—प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर का धर्म प्रतिक्रमण सहित था अर्थात् दोष लगे या न लगे, किन्तु उसकी विशुद्धिके लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक था। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थङ्करोके धर्ममें अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करनेका विधान था।

इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि पार्श्व और महावीरके धर्म-में थोड़ा अन्तर अवश्य था। पार्श्वनाथने सामायिक, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात रूप चार ही चारित्रों-का विधान किया था तथा उनके धर्ममें साधुके लिये प्रतिक्रमण करना जरूरी नहीं था—दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था। किन्तु महावीरने छेदोपस्थापनाका विधान करके चारकी जगह पाँच चारित्रोंका विधान किया और अपराध हो या न हो, साधु के लिये प्रतिक्रमण करना अनिवार्य कर दिया।

१—'बावीसं यतित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण भयवं उसहा य वीरो य॥ ३६॥
२— सपडिकम्मो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्य य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं॥ १२६॥
—मूला० ७ अ०

इस तरह पार्श्वनाथके धर्ममें चार चारित्रोंका विधान तो दिगम्बर साहित्यमे भी मिलता है और यह भी मिलता है कि उसमे एककी वृद्धि करके महावीर स्वामीने उनकी संख्या पाँच कर दी थी। किन्तु चतुर्यमका निर्देश नहीं मिलता। हाँ, अकलंकदेव के तत्त्वार्थवार्तिक मे (अ० १, सू० ७) निर्देशादि का विधान करते हुए चारित्रके चार भेद भी बतलाये है—'चतुर्धा चतुर्यमभेदात्'। चार यमोंके भेदसे चारित्रके चार भेद हैं। तथा सामायिक आदिकी अपेक्षा पाँच भेद हैं। यहाँ चतुर्यम तथोक्त चतुर्याम के लिये आया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

जैनाचारके अनुसार निर्ग्रन्थ जैन साधु मुनिदीक्षा लेते समय सामायिक संयमको ही धारण करता है—'समस्त पाप कार्योंका मैं त्याग करता हूँ इस प्रकार एक यमरूपसे व्रत धारण करने का नाम सामायिक' है और उसी एक यमरूप व्रतके भेद करके पाँच यमरूपसे धारण करनेका नाम छेदोपस्थापना' है। सामायिक संयम मे दूषण लगा लेने पर छेदोपस्थापना चारित्र धारण कराया जाता है।

मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके द्वारा छेदोपस्थापना तथा अनिवार्य प्रतिक्रमणका विधान न करने और प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर

१—'संगहिय सयलसंजममेयजमणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होई ॥ १८७ ॥
—षट् खं०, पु० १, पृ० ३७२।

२—छेत्तूणय परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो ॥ १८८ ॥
—षट् खं० पु० १, पृ० ३७२।

के द्वारा उनका विधान करने का कारण बतलाते हुए मूलाचार[1] में लिखा है कि—प्रथम तीर्थङ्करके शिष्य सरल स्वभावी किन्तु जड़-बुद्धि थे। बारम्बार समझाने पर भी शास्त्रका मर्म नहीं समझ पाते थे और अन्तिम तीर्थङ्कर के शिष्य कुटिल और जड़मति थे। अतः वे योग्य अयोग्यको नहीं समझते थे। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके शिष्य दृढ़ बुद्धि, एकाग्रमन और प्रेक्षापूर्वकारी होते थे। इसीलिये उनके नियमोंमें अन्तर था।

उत्तराध्ययन[2]में भी गौतमने पार्श्व और महावीरके धर्ममें उक्त अन्तर होनेका कारण उनकी शिष्य परम्पराकी प्रवृत्ति और मानसको ही बतलाया है। सारांश यह है कि पार्श्वनाथ-की परम्पराके निर्ग्रन्थ सरलमति और समझदार होते थे, इस-लिये अधिक विस्तार न करने पर भी वे यथार्थ आशयको समझ कर ठीक रीतिसे व्रतका पालन करते थे। किन्तु महावीरकी परम्पराके निर्ग्रन्थ कुटिल और नासमझ थे। इसलिये महावीर-

---

१—'आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥ ३८॥
मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोह लक्खा य।
तुम्हा हु जमाचरंति तं गरहंतावि सुज्झंति॥ १३२॥
—मूला०, ७ अ०।

२—'पुरिमा उज्जुजडा उ वक्कजड्डा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेण धम्मो दुहा कए॥ २६॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसुज्झो सुपालओ॥ २७॥
—उत्तरा०, २३ अ०।

ने परिग्रह त्याग व्रत में सम्मिलित स्त्री त्याग व्रत को पृथक् करके व्रतोंकी संख्या पाँच कर दी।

स्था० सू० (२६६) में कथित चतुर्याम का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने लिखा है—"मध्यके बाईस तीर्थङ्कर तथा विदेहस्थ तीर्थङ्कर चातुर्याम धर्म का तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर पञ्चयाम धर्मका कथन शिष्योंकी अपेक्षासे करते हैं। वास्तवमें तो दोनों ही पञ्च पञ्च याम धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं। किन्तु प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थके साधु क्रमसे ऋजु जड़ और वक्रजड़ होते हैं अतः परिग्रह छोड़ने का उपदेश देने पर 'परिग्रह त्याग में मैथुन त्याग भी गर्भित है यह समझनेमे और समझकर उसका त्याग करनेमे असमर्थ होते हैं। किन्तु शेष तीर्थङ्करोंके तीर्थके साधु ऋजु और प्राज्ञ होनेके कारण तुरन्त समझ लेते है कि परिग्रहमें मैथुन भी सम्मिलित है क्योंकि बिना ग्रहण किये स्त्रीको नहीं भोगा जा सकता।

अतः पार्श्वनाथ और महावीर के धर्म में जो अन्तर प्रतीत होता है वह सैद्धान्तिक नहीं है किन्तु अपने अपने समय के शिष्यों

१—टीका—'इयं चेह भावना। मध्यम तीर्थङ्कराणां विदेहकानाञ्च चतुर्यामधर्मस्य पूर्वपश्चिमतीर्थकरयोश्च पञ्चयामधर्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षया। परमार्थतस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेषामप्यसौ, यतः प्रथम पश्चिमतीर्थङ्करसाधवः ऋजुजडा वक्रजडाश्चेति तत्त्वादेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टे मैथुनवर्जनमवबोद्धुं पालयितुं च न क्षमा। मध्यम विदेहजतीर्थसाधवस्तु ऋजुप्राज्ञास्तद्बोद्धुं वर्जयितुं च क्षमा इति।'

—स्था० सू० २६६।

की स्थिति को देखकर थोड़ा सा फेरफार किया गया है। अचेलक और सान्तरोत्तर धर्ममें भी वही दृष्टि परिलक्षित होती है। इसका विस्तृत विचार आगे संघभेदके प्रकरणमें किया जायगा; क्योंकि संघभेदमें वस्त्र ही प्रधान कारण बना।

निर्वाण

७२ वर्षकी अवस्थामें बिहार प्रदेशके पटना जिलेके अन्तर्गत पावा नामक स्थानसे भगवान् महावीरने मुक्तिलाभ किया। उनके मुक्त होनेकी अवस्थाके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर वर्णनोंमें अन्तर पाया जाता है।

श्वेताम्बरीय वर्णन के अनुसार भगवान् महावीरका उपदेश सुनने के लिए विभिन्न देशोंके राजा पावामें पधारे। भ० महावीर ने एकत्र जन समूहको छै दिन तक उपदेश दिया। सातवें दिन रात्रि के समय रात भर उपदेश दिया। जब रात्रि के पिछले पहर में सब श्रोता नींदमें थे, भ० महावीर पर्यङ्कासनसे शुक्ल ध्यानमें स्थित हो गये। जैसे ही दिन निकलने का समय हुआ, महावीर प्रभुने निर्वाण लाभ किया। जब मनुष्य जागे तो उन्होंने देखा कि वीर प्रभु निर्वाण लाभ कर चुके हैं। उस समय गौतम गणधर के सिवाय उनके सभी शिष्य उपस्थित थे।

१—वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य बीस दिवसे य।
चउविह अणगारेहि य बारह दिणेहि (गणेहि) विहरित्ता॥
पच्छा पावा णयरे कत्तिय मासस्स किण्हचौद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ॥
—ज० ध०, भा० १, पृ० ८१ में उद्धृत।

दिगम्बरीय[1] उल्लेखके अनुसार, उनतीस वर्ष, पाँचमास और बीस दिन तक चार प्रकारके अनगारों और बारह गणों अर्थात् सभाओंके साथ विहार करके भगवान् महावीर पावामें पधारे और योग निरोधके द्वारा शेष चार अघाति कर्मोको भी नष्ट करके कार्तिक मासकी कृष्ण चतुर्दशीके दिन स्वाति नक्षत्रके रहते हुए रात्रिके समय निर्वाणको प्राप्त हुए।

श्वेताम्बरीय उल्लेखके अनुसार कार्तिक कृष्ण अमावस्या को स्वाति नक्षत्रके रहते हुए रात्रिके पिछले पहरमें महावीर का निर्वाण हुआ। इस तरह दोनो मान्यताओंमें २४ घंटोंका अथवा एक दिन रात का अन्तर है।

वीरप्रभुका निर्वाण होनेके पश्चात् देवताओने आकर मोक्ष कल्याणकका उत्सव मनाया और दीपोंकी मालिका संजोई। उस समय उस दीपमालिकासे पावा नगरीका समस्त आकाश आलोकित हो उठा। काशी और कोशलके अट्ठारह राजाओ, नौ लिच्छवियों और नौ मल्लोने भी पावामें पधार कर दीप मालिकाका महोत्सव मनाया और कहा; क्योंकि केवल ज्ञान-रूपी प्रकाश आज अस्त हो गया अतः हमें भौतिक प्रकाश करना चाहिये। जैन साहित्य[2] के उल्लेखानुसार भारत में कार्तिक कृष्ण अमावस्याके दिन प्रति वर्ष जो दीपावली महोत्सव मनाया जाता

१—'कत्तियमावसि सियमा समाइ भणिया जिणिंदाणं ॥ ३१० ॥
—अभि० रा०, पृ० २२३६।

२—ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपालिकयाऽत्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतभक्तिभाक्।
—हरि० पु० ६६ सर्ग श्लो० २१

है, वह महावीर भगवान्‌के निर्वाणके उपलक्षमें ही प्रचलित हुआ था।

महावीर निर्वाणका समय

महावीर भगवान्‌के निर्वाण समयको लेकर पुरातत्त्वज्ञोंमें बहुत समयसे मतभेद चला आता है। यह मतभेद आधुनिक नहीं है। प्राचीन जैन साहित्यमें भी इस विषयको लेकर मतभेद पाया जाता है। उदाहरणके लिये प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थ तिलोयपण्णति[1] में इस विषयके चार मतोंका निर्देश किया है। इन चारो मतोंमें वीर निर्वाणसे अमुक वर्षोंके पश्चात् शक राजाके होनेका निर्देश किया है। इसी तरह धवलाकार[2] वीरसेन

१— 'वीर जिणे सिद्धिगदे चउसद इगिसट्ठिवास परिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥१४९६॥
अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिए।
पणसीदम्मि अतीदे पणमासे सगणिओ जादो ॥१४९७॥
चोद्दससहस्स सगसय तेणउदीवासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥१४९८॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा'' ॥१४९९॥
—ति० प०, अ० ४।

२—'पंचयमासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी' ॥ ४१ ॥
गुत्ति-पयत्थ-भयाइं चोद्दस रयणाइ समइकंताई।
परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्जं सगणरिंदस्स ॥ ४२ ॥
सत्त सहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंचमासा य।
अइकंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती ॥ ४३ ॥
—षट् खं०, पु० ९, पृ० १३२-१३३।

स्वामीने धवलामें भी तीन मतोंका निर्देश किया है जिनमेंसे दो मत त्रिलोकप्रज्ञप्तिके ही अनुरूप है। त्रि० प० में दत्त चतुर्थ मत के अनुसार तथा धवला के प्रथम मतानुसार वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ। श्री जिनसेनने अपने हरिवंश[1] पुराणमें (शक सम्वत् ७०५) तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने (शक सं० ९२५ के लगभग) अपने त्रिलोकसार[2] में इसी मत को स्थान दिया है जिससे स्पष्ट है कि उन्हें यही मत मान्य था।

शकका यह समय ही शक सम्वत्की प्रवृत्तिका काल है। इसका समर्थन श्वेताम्बराचार्य मेरुतुंग की विचार श्रेणी में उद्धृत एक प्राचीन[3] श्लोकसे होता है। उसमें बतलाया है कि महावीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद इस भारतवर्षमें शक सम्वत्की प्रवृत्ति हुई।

शक सम्वत् और विक्रम सम्वत्में १३५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है। ६०५ वर्षमें से १३५ वर्ष घटानेसे ४७० वर्ष अव-

---

१—वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रां मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
—ह० पु०, सर्ग ६०।

२—पणछस्सयवस्स पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणव तियमहियसगमासं ॥ ८५० ॥
—त्रि० सा०।

३—'श्री वीरनिर्वृ तेर्वर्षै षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः।
शाकसम्वत्सरस्यैषा प्रवृत्ति र्भरतेऽभवत्' ॥

शिष्ट रहते हैं। यही वीर निर्वाणके बाद विक्रम सम्वत्की प्रवृत्ति का काल है। इस प्रकार जैन ग्रन्थोंके आधार पर भारतमें वर्तमानमें प्रचलित विक्रम सम्वत्के प्रारम्भसे ४७० वर्ष पहले तथा ईस्वी सन् से ५२७ वर्ष पहले वीर भगवान् का निर्माण हुआ था। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनेक ग्रन्थोंके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है।

परन्तु प्रसिद्ध जैन इतिहासज्ञ स्व० डा० हर्मन जेकोबीने श्री हेमचन्द्राचार्यके एक उल्लेखसे प्रेरित होकर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में शंका उपस्थित की थी। तत्पश्चात् जार्ल[1] चारपेन्टियर नामक एक विद्वानने इण्डियन एण्टिक्वेरीके ४३ वें भागमें इस विषय पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा था। उसमें उन्होंने डा० जेकोबीके मतका समर्थन और सम्पोषण करते हुए यह सिद्ध करनेका प्रथम प्रयास किया था कि महावीरका निर्वाण विक्रम सम्वत्से ४७० वर्ष पूर्व नहीं किन्तु ४१० वर्ष पूर्व हुआ था। अतः उन्होंने यह सुझाव दिया था कि परम्पराके अनुसार जो काल गणना की जाती है उसमें से ६० वर्ष कम कर देने चाहिये।

जार्ल चार्पेन्टियर के मुख्य मुद्दे इस प्रकार थे—

१—मेरुतुंगाचार्य आदि ने विचारश्रेणि आदि ग्रन्थों में जो प्राचीन गाथाएँ दी हैं उनमें निर्दिष्ट राजाओं में कोई पारस्परिक

१—अपने लेखके नोटमें लेखकने महावीर निर्वाण पर लिखे गये लेखोंकी सूची इस प्रकार दी है—राईस, इं० एं० जि० ३, पृ० १५७। इ० थामस, जि० ८, पृ० ३०। पाठक, जि० १२, पृ० २१। और लिखा है कि जेकोबीके लेखके पश्चात् ये सब लेख स्वतः रद्द हो गये।

सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् जिस विक्रम राजाके होनेका उल्लेख है, उसका इतिहास में कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये उन पुरानी गाथाओंमे जिस प्रकार काल गणना की गई है तथा जो राजाओंका राज्यकाल दिया है वह सब निर्मूल है।

२—बौद्ध साहित्यसे प्रकट है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे तथा बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार बुद्धका निर्वाण ईस्वी सन् से ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। जनरल कनिंघम और मोक्समूलरने भी इस समयको माना है। बुद्धकी अवस्था मृत्यु समय ८० वर्षकी थी। यदि जैन गाथाओंके अनुसार महावीर का निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ वर्षमें हुआ होता तो उस समय बुद्धकी आयु केवल ३० वर्ष होनी चाहिये। परन्तु सब कोई मानते हैं कि ३६ वर्षकी उम्रसे पहले बुद्धको बोधिलाभ नहीं हुआ। ऐसी स्थितिमें उनके अनुयायी उस समय कहाँसे हो सकते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि यदि महावीरका निर्वाण जैनोंकी मान्यताके अनुसार हुआ तो बुद्धके साथ उनकी समकालीनता कैसे बन सकती है।

३—यह भी कहा जाता है कि महावीर और बुद्ध दोनो श्रेणिक-के पुत्र अजातशत्रुके राज्यकालमें वर्तमान थे। ऐतिहासिक उल्लेखोंके अनुसार अजातशत्रु बुद्धके निर्वाणसे आठ वर्ष पूर्व राजगद्दी पर बैठा था और उसने ३२ वर्ष तक राज्य किया था। अब यदि उक्त जैन गाथाओंके अनुसार महावीरका निर्वाणकाल माना जाता है तो उक्त बात घटित नहीं होती। अतः या तो महावीरके निर्वाण कालको और इधर लाना चाहिये या बुद्धके निर्वाणसमयको पीछे ले जाना चाहिए। परन्तु बुद्धका

निर्वाणकाल तो ठीक गणनाके अनुसार है जब कि महावीर का निर्वाण काल अनुमानके आधार पर कल्पित है। अतः उसमें ६० वर्ष कम करना चाहिये।

इसके पश्चात् स्व० काशीप्रसाद जी जायसवालने विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल में (१६१५ सितम्बर) शैशुनाक और मौर्यकाल गणना' शीर्षकसे एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा। उसके अन्तमें उन्होंने महावीर और बुद्धके निर्वाण समयकी भी विद्वत्तापूर्वक विवेचनाकी तथा प्राचीन गाथाओं की गणनाको सप्रमाण सिद्ध करके जार्ल चार्पेन्टियरकी युक्तियों का निरसन किया। किन्तु उन्होंने भी १८ वर्षकी भूल बतला कर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में १८ वर्ष बढ़ानेका सुझाव दिया।

प्रचलित काल गणना पर प्रकाश डालनेके लिये यहाँ हम स्व० जायसवाल जीके मुद्दों[1] को भी दे देना उचित समझते हैं।

१—अगुत्तर निकायमें जो यह उल्लेख मिलता है कि जब महावीरका निर्वाण पावामें था तब बुद्ध जीवित थे, यह उल्लेख पूर्ण रूपसे मानने योग्य है। पहले किये गये ऊहापोहसे यह निष्कर्ष निकलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणसे २१९ वर्ष पूर्व महावीरने निर्वाण पाया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त महावीर निर्वाणसे २१९ वर्ष पश्चात् और बुद्ध निर्वाण से २१८ वर्ष पश्चात् गद्दी पर बैठा। इस तरह जैनोकी काल गणनाके अनुसार चन्द्रगुप्त ईस्वी सन्से ३२६ या ३२५ वर्ष पूर्व गद्दीपर बैठा। इसमें चन्द्रगुप्त

१—ये मुद्दे हम 'जै० सा० स०, खं० १, अं० ४ से साभार उद्धृत करते हैं। लेखक

के राज्यारोहणसे पहलेके २१८ वर्ष जोड़नेसे (३२६+२१८) ईस्वी पूर्व ५४४ आता है। यही बुद्ध निर्वाणका समय है। सीलोन, बर्मा और स्यामकी दन्तकथाओंके अनुसार भी बुद्ध निर्वाणका यही काल आता है।

२—डा० हार्नेले सरस्वती गच्छ की पट्टावली की १८वीं गाथा के आधार पर विक्रम सम्वत्के प्रारम्भ काल ४७० वर्ष पश्चात् में १६ वर्ष बढ़ाते हैं। गाथाका अर्थ यह है कि विक्रम १६ वर्षकी उम्र तक गद्दी पर नहीं बैठा अर्थात् १७वें वर्षमे उसका राज्याभिषेक हुआ। इसका यह तात्पर्य हुआ कि महावीर निर्वाणके ४८७ वर्ष पश्चात् विक्रम गद्दी पर बैठा। इसका परिणाम यह निकला कि जैनोंने विक्रम संवत्के प्रथम वर्ष (ई० स० पूर्व ५८–५७) के अन्तमें और महावीर निर्वाणके पश्चात् ४७० वर्ष पूरा होनेके बीचमें १८ वर्षका अन्तर छोड़ दिया।

३—प्रद्योत के समयसे लेकर शक राज्य और विक्रम सम्वत् तककी जैन[1] काल गणना नीचे अनुसार है—

जिस रात्रिमें महावीरका निर्वाण हुआ उसी रात्रिमें पालक अवन्तीकी गद्दी पर बैठा। पालकके राज्यके ६० वर्षके पश्चात्

१—जं रयणि काल गओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
त रयणि अवंतिवई अहिसित्तो पालगो राया ॥ १ ॥
सट्ठी पालगरण्णो पणवण्ण सयं तु होइ नन्दाण।
अट्ठसयं मुरियाणं तीस चिय पुस्समित्तस्स ॥ २ ॥
बलमित्त-भाणुमित्ता सट्ठी वरिसाणि चत्त नहवहने।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वरिसा सगस्स चउ ॥ ३ ॥

—विचार श्रे० में उद्धृत।

नन्दोंके राज्यका काल १५५ वर्ष बतलाया है। पुराणोंके अनुसार नन्दवर्धनसे लेकर अन्तिम नन्द पर्यन्त १२३ वर्ष होते है। इतने वर्ष तक नन्दोंने राज्य किया। ३२ वर्ष जो अधिक हैं (१२३-३२-१५५) वे हमें उदायीके राज्यसे पहले अथवा दूसरे वर्षके आगे लाकर छोड़ देते हैं, अर्थात् पालक वंशकी तरह ध्यान खींचने लायक एक दूसरा काल उदायीके राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। किन्तु पुराणों के अनुसार अजात शत्रु के छठे वर्ष (पालकका राज्यरोहण काल) और उदायीके राज्याभिषेकके बीचमें अपनेको ६४ वर्षका अन्तराल छोड़ना चाहिए। जब कि जैन काल गणनाके अनुसार पालकका राज्य काल ६० वर्ष ही है। इस तरह चन्द्रगुप्तके समयमें पुनः ४ वर्ष अन्तर आता है। और इससे चन्द्रगुप्त महावीरके निर्वाणके २१५ अथवा २१६ वर्ष पश्चात् गद्दीपर बैठा। इस प्रकार जुदी जुदी तारीखे आती है। मौर्योंके राज्य कालको दो वर्षसमूहोंमें विभाजित कर दिया है —१०८ और ३०। उसमें १०८ वर्ष मौर्य वंशके हैं और ३० वर्ष पुष्यमित्रके हैं। उसके पश्चात् बलमित्र भानुमित्रके ६० वर्ष सम्मिलित किये हैं। इस गणनाके अनुसार हम महावीर निर्वाणके पश्चात् ४१३ वर्ष तक पहुँच जाते हैं। इसके पश्चात् ४० वर्ष नहपानका राज्य काल बतलाया है। उसके पश्चात् १३ वर्ष गर्द भिल्लके राज्यके हैं और ४ शक राजा के हैं इन सबका जोड़ ४७० होता है। यहाँ गाथाओंकी गणना समाप्त हो जाती है। विक्रम संवत् और इस गणनाका परस्पर सम्बन्ध मिलाने से ऊपर लिखे अनुसार १८ वर्ष का अन्तर आता है'।

हेमचन्द्राचार्यके द्वारा दत्त जिस काल गणनाको आधार मानकर जेकोबी तथा चार्पेन्टियरने प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में

६० वर्ष घटानेका सुझाव दिया था, उसे भूल भरा बतलाते हुए जायसवालने लिखा था कि हेमचन्द्रने अपनी कालगणनामें जो पालकके ६० वर्ष छोड़ दिये हैं यह उनकी एक मोटी भूल है; क्योंकि यदि हम प्रारम्भके ६० वर्षोंको छोड़ देते हैं तो चन्द्रगुप्त, स्थूल भद्र, सुबाहु और भद्रबाहुकी समकालीनतामें विरोध आता है और प्रो० जेकोबीने हेमचन्द्रकी इस भूल को अपनी गणनाका आधार बनाया है और ऐसा करनेमे पाली लेखोंमें आये हुए अशोकके भूलभरे समयका और उसके ऊपर बाँधी गई निर्वाण काल गणना का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है।

पाली लेखोंमे दिये हुए समयके ऊपर बाँधी गई गणनासे उन लेखोमे लिखी हुई अशोकके अभिषेककी तारीख तथा पूर्व परम्परासे चली आती हुई तारीखके मध्यमे लगभग ६० वर्षका अन्तर है। हेमचन्द्राचार्यकी भूलसे जैन काल गणनामे भी ६० वर्ष छूट जानेसे इन दोनो गणनाओंकी एकता ने उक्त विद्वानोंके मतको बल दिया है। परन्तु प्रद्योतका पुत्र पालक, जो अजातशत्रुका समकालीन था, महावीर निर्वाणके दिन गद्दी पर बैठा. यह मानना स्वाभाविक और सप्रमाण है। हेमचन्द्राचार्यके कथनके अनुसार महावीर निर्वाणके पश्चात् तुरन्त ही नन्दवंशका राज्य शुरू हुआ, यह मान्यता एकदम भूल-भरी और अप्रामाणिक है'।

इस प्रकार प्रचलित निर्वाण सम्वत्में डा० याकोबी और जार्ल चार्पेन्टियरके द्वारा बतलाई गई ६० वर्षकी भूलको भ्रम पूर्ण बतलाते हुए स्व० जायसवालने १८ वर्ष बढ़ानेकी जो सम्मति दी उसका खुलासा इस प्रकार है—

महावीरके निर्वाणसे गर्दभिल्ल तक ४७० वर्षका अन्तर जैन गाथाओंमें कहा है, जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानते हैं। किन्तु जैनोंके सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें विक्रम सम्वत् और विक्रम जन्ममें १८ वर्षका अन्तर माना है। यथा— 'वीरात् ४९२ विक्रम जन्मान्तर वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४'। विक्रम विषयक गाथाकी भी यही ध्वनि है कि वह १७वें या १८वें वर्षमें सिंहासन पर बैठे। इससे सिद्ध है कि ४७० वर्ष जो वीर निर्वाणसे गर्दभिल्ल राजाके राज्यान्त तक माने जाते हैं वे विक्रमके जन्म तक हुए (४९२—२२ = ४७०)। अतः विक्रम जन्म (म० नि० ४७०) में १८ वर्ष और जोड़नेसे निर्वाणका वर्ष विक्रम सम्वत्से ४८८ वर्ष पूर्व निकलता है। १८ वर्षका फर्क गर्दभिल्ल और विक्रम सम्वत्के बीच गणना छोड़ देनेसे उत्पन्न हुआ मालूम होता है'।

'यह याद रखनेकी बात है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे। बौद्धोंके सूत्रोंमें लिखा है कि जब बुद्ध शाक्य भूमिकी ओर जाते थे तब उन्हें सूचना मिली कि पावामें महावीरका निर्वाण हो गया। बौद्ध लोग लंका, श्याम, वर्मा आदि स्थानोंमें बुद्ध निर्वाणके आज (वि० सं० १९७१) ४५८ वर्ष बीते मानते हैं। सो प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में १८ वर्ष जोड़ देनेसे यह मिलान खा जाता है कि महावीर बुद्धके पहले निर्वाणको प्राप्त हुए। नहीं तो, बुद्ध निर्वाणसे महावीरका निर्वाण १६-१७ वर्ष पहले सिद्ध होगा, जो प्राचीन सूत्रोंके कथनके विरुद्ध पड़ेगा'।

डा० जायसवालके उक्त मतका निरसन पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने (अनेकान्त, वर्ष १, कि० १ में) विस्तारसे किया।

१—मुख्तार साहबने अनेक ग्रन्थोंसे प्रमाण देकर यह प्रमाणित किया कि प्रचलित विक्रम सम्वत् विक्रमकी मृत्युका सम्वत् है जो वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद प्रारम्भ होता है और इसलिए वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमके राजा होनेकी जो बात कही जाती है और उसके आधार पर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर जो आपत्ति की जाती है, वह ठीक नहीं है।

२—इसके सिवाय, नन्दिसंघकी एक पट्टावलीमें तथा विक्रम प्रबन्धमें भी जो यह लिखा[1] है कि 'जिन कालसे (महावीरके निर्वाणसे) विक्रम जन्म ४७० वर्षके अन्तरको लिये हुए है' और दूसरी पट्टावलीमें जो आचार्योंके समयकी गणना विक्रमके राज्यारोहण कालसे उक्त जन्ममें १८ वर्षकी वृद्धि करके दी गई है वह सब उक्त शक कालको और उसके आधार पर बने हुए विक्रमकालको ठीक न समझनेका परिणाम है। ऐसी हालतमें कुछ जैन, अजैन तथा पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वानोंने पट्टावलियोंको लेकर जो प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति की है कि उसकी वर्ष संख्यामें १८ वर्षकी कमी है जिसे पूरा किया जाना चाहिए, वह समीचीन मालूम नहीं होती और इसलिये मान्य किये जानेके योग्य नहीं है।

३—साथ ही श्वेताम्बर भाइयोंने जो वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना[2] है और जिसकी वजहसे

१—'सत्तरि चदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।'

२—'विक्कमरज्जारंभा प (पु) रओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकाले।'

—वि० श्रे०।

प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में १८ वर्ष बढ़ानेकी भी कोई जरूरत नहीं रहती उसे क्यों न ठीक मान लिया जाये, इसका कोई समाधान नही होता।

४—'इसके सिवाय जार्ल चार्पेन्टियरकी यह आपत्ति बराबर बनी ही रहती है कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्षके बाद जिस विक्रम राजाका होना बतलाया जाता है उसका इतिहासमें कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु विक्रम सम्वत्को विक्रमकी मृत्युका सम्वत् मान लेने पर यह आपत्ति कायम नहीं रहती क्योंकि जार्ल चार्पेन्टियरने वीर निर्वाणसे ४१० वर्षके बाद विक्रम राजाका राज्यारम्भ होना इतिहाससे सिद्ध माना है और उसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा है। इससे प्रचलित विक्रम सम्वत्को उसका मृत्यु सम्वत् माननेसे यही समय उसके राज्यारम्भका आता है। मालूम होता है जार्ल चार्पेन्टियरके सामने विक्रम सम्वत्के विषयमें विक्रमकी मृत्युका सम्वत् होनेकी कल्पना ही उपस्थित नहीं हुई और इसीलिये आपने वीर निर्वाणसे ४१० वर्षके बाद ही विक्रम सम्वत्का प्रचलित होना मान लिया और इस भूल तथा गल्तीके आधार पर ही प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति कर डाली कि उसमें ६० वर्ष बढ़े हुए हैं इसलिए उसे ६० वर्ष पीछे हटाना चाहिये।

इस प्रकार मुख्तार साहबने अपने लेखमें एक ओर स्व० जायसवालके १८ वर्ष बढ़ानेके सुझावको और दूसरी ओर जार्ल चार्पेन्टियरके ६० वर्ष घटानेके सुझावको सदोष बतलाकर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्को ही ठीक ठहराया।

हम पहले लिख आए हैं कि श्री जायसवालने जार्ल चार्पेन्टियरके इस सुझावका कि प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में ६० वर्ष अधिक

हैं, निरसन करते हुए हेमचन्द्राचार्यके भूलभरे उल्लेखको उसका आधार बतलाया था। मुख्तार साहबने भी जार्ल साहबके उक्त मतको अमान्य ठहराया किन्तु उन्होने हेमचन्द्राचार्यके कथनको भूल भरा न बतलाकर यह स्पष्ट किया कि जायसवाल साहबको ही उसे समझनेमें भूल हुई है। उसका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है—

मेरुतुंगकी विचार श्रेणीमे जो काल गणना दी है वह हम पीछे दे आये हैं उसमें महावीर निर्वाणसे ६० वर्ष तक पालक, १५५ वर्ष नन्द, १०८ वर्ष मौर्य, ३० वर्ष पुष्पमित्र, ६० वर्ष बलमित्र, भानुमित्र, ४० वर्ष नभोवाहन, १३ वर्ष गर्दभिल्ल तथा ४ वर्ष तक शकोका राज्य क्रमशः बतलाया है जिसका जोड़ ४७० वर्ष होता है। श्वेताम्बरोंमें यही काल गणना मानी जाती है।

परन्तु श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके 'परिशिष्ट पर्व' से ज्ञात होता है कि उज्जयिनीके राजा पालक का जो ६० वर्ष समय ऊपर बतलाया है उसी समय मगधके सिंहासन पर श्रेणिकका पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) और कुणिकके पुत्र उदायीका राज्य क्रमशः रहा है। उदायीके निस्सन्तान मर जाने पर उसका राज्य नन्दको मिला। इसीसे परिशिष्ट पर्वमें श्री महावीर स्वामीके निर्वाणसे ६० वर्ष बाद नन्द राजाका होना लिखा[1] है। इसके पश्चात् मौर्यवंशके प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्तका राज्यारम्भ बतलाते हुए वह श्लोक[2] दिया है जिसे जार्ल चार्पेन्टियरने अपने निर्वाणका

१—अनन्तरं वर्धमान स्वामि निर्वाण वासरात्।
गतायां षष्ठिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः॥ ६–२४३॥
२—एवं श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥ ८–३३९॥

मुख्य आधार माना गया है। उसमें बताया है कि महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त राजा हुआ।

विचार श्रेणिकी गाथामें १५५ वर्षका समय केवल नन्दोंका बतलाया है और उसमें ६० वर्ष पहले पालकका समय दिया है। अतः उसके अनुसार चन्द्रगुप्तका राज्यरोहणकाल वीर निर्वाण से २१५ वर्ष बाद होता है। परन्तु हेमचन्द्रने १५५ वर्ष बाद बतलाया है। अतः ६० वर्षका अन्तर पड़ता है।

इस अन्तरको स्पष्ट करते हुए मुख्तार सा० ने लिखा है कि हेमचन्द्रने ६० वर्षकी यह कमी नन्दोंके राज्यकालमें की है, उनका राज्यकाल ९५ वर्ष बतलाया है, क्योंकि नन्दोंसे पहले उनके और वीर निर्वाणके बीचमे ६० वर्षका समय उन्होने कुणिक आदि राजाओंका माना ही है। ऐसा मालूम होता है कि पहले से वीरनिर्वाणके बाद १५५ वर्षके भीतर नन्दोंका होना माना जाता था, परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीरनिर्वाणके ठीक बाद नन्दोंका राज्य प्रारम्भ हुआ। बल्कि उससे पहले उदायी तथा कुणिकका राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु पीछेसे १५५ वर्षकी गणना अकेले नन्दोंके लिए रूढ़ हो गई और उधर पालक राजाके अभिषिक्त होनेकी घटना उसके साथ जुड़ जानेसे काल गणनामें ६० वर्षकी वृद्धि हुई और उसके फलस्वरूप वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्यने दो श्लोकोंसे उक्त भूलका सुधार कर दिया। चन्द्रगुप्तके राज्यारोहण समयकी वर्ष संख्या १५५ में आगेके २५५ वर्ष (१०८+३०+६०+१३+४=२५५) जोड़ देनेसे ४१० होते हैं। यही वीर निर्वाणसे विक्रमका राज्यारोहण काल है। परन्तु महावीर निर्वाण और राज्यारोहण काल ४१० में राज्यकालके ६०

वर्ष भी सम्मिलित कर लिये जावें। ऐसा किए जाने पर विक्रम सवत् विक्रम मृत्युका संवत् हो जाता है और फिर सारा झगड़ा मिट जाता है। (अनेका०, वर्ष १, कि० १, पृ० २१-२२)।

इस तरह मुख्तार साहबने जैन काल गणनाके आधार पर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्को ही ठीक प्रमाणित किया। तत्पश्चात् मुनि कल्याण विजय जीने भी वीर निर्वाण सम्वत् और जैनकाल गणना शीर्षक एक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखकर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्को ही ठीक प्रमाणित किया था।

सन् १९४१ में मैसूर राज्यके आस्थान विद्वान् पं० ए० शान्ति राज[1] जी शास्त्रीने प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर आपत्ति की। आपकी आपत्तिका मुख्य आधार था त्रिलोकसारकी गाथा ८५०, जिसमे वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास बाद शकराजाकी उत्पत्ति बतलाई है। पं० जीका कहना था कि उक्त गाथामें प्रयुक्त हुए 'सगराजो'—शकराजः शब्दका अर्थ पुरातन विद्वानों द्वारा विक्रम ग्रहण किया गया है अतएव वही अर्थ ग्राह्य है। अपने इस कथनके प्रमाणमें आपने त्रिलोकसारकी माधवचन्द्र कृत संस्कृत टीकाको उपस्थित किया था। उसमें टीकाकारने शक राजका अर्थ विक्रमांक (—मार्क) शकराज किया है। अतः शास्त्री जीने विक्रम सम्वत् ६०५ वर्ष पूर्व वीरका निर्वाण माननेका सलाह दी थी। किन्तु टीकाकारने यदि 'भ्रमवश' शकका अर्थ विक्रम शक कर दिया हो तो उसे किसी निर्णयका आधार नहीं बनाया जा सकता। अन्य किसी भी ग्रन्थकारने उक्त शक कालको विक्रमका काल नहीं माना। त्रिलोकसारके पूर्ववर्ती धवला टीकामे वीरसेन स्वामी

१—अनेकान्त, वर्ष ४, पृ० ५५६।

ने स्पष्ट लिखा है कि ६८३ वर्षमें से ७७ वर्ष ७ मास कम करने पर पाँच मास अधिक ६०५ वर्ष होते हैं। वह वीर जिनेन्द्रके निर्वाण प्राप्त होनेके दिनसे लेकर शककालके प्रारम्भ होने तकका काल है। इस कालमें शक नरेन्द्रका काल जोड़ देने पर वर्धमान जिनके मुक्त होनेका काल आता है। अपने इस कथनके समर्थन में वीरसेन स्वामीने एक प्राचीन गाथा[1] भी उद्धृत की है। उसका भी यही अभिप्राय है कि शककालमें ६०५ वर्ष ५ मास जोड़ देनेसे वीरजिनेन्द्रका निर्वाणकाल आ जाता है।

तिलोय प० और हरिवंश पुराणमें भी महावीर निर्वाण और शकराजाका अन्तरकाल ६०५ वर्ष ५ मास बतलाते हुए शकको 'विक्रमार्क' नहीं कहा। अतः उक्त गाथामें आगत शकराज शब्दसे विक्रम संवतका निर्देश नहीं लिया जा सकता इण्डि० ए० जि० १२मे स्व० के० बी० पाठकने भी वीरनिर्वाण सम्वत् सम्बन्धी अपने लेखमें त्रिलोकसारकी टीकाकी भूलकी चर्चा की थी और टीकाकारोंके द्वारा भूल किये जानेके एक दो उदाहरण भी दिये थे। आपने लिखा था—'त्रिलोकसारमें—'पण छस्सयवस्स पणमास जुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो।' के टीकाकार माघवचन्द्रने शकराजाका अर्थ 'विक्रमाङ्क शकराज' किया है। मूल ग्रन्थमें इस तरह का कोई निर्देश नहीं है। देशी टीका-कारोंसे इस तरहकी भूलें हुई है। उदाहरणके लिए—माघनन्दि श्रावकाचारकी प्रशस्तिको रखा जा सकता है। इसकी प्रशस्तिमें बतलाया है कि वीर नि० सं० १७८० में प्रधावी संवत्सरमें ज्येष्ठ

१—'पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥ ४१"
—षट खं०, पु० ६, पृ० १३२।

शुक्लापंचमीके दिन यह ग्रन्थ पूजा क लिये स्थापित किया गया। उसमें यह भी लिखा है कि वीरनिर्वाण के ६०५ वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। अतः १७८० में से ६०५ वर्ष घटाने पर ११७५ शेष बचते है। प्रधावी संवत्सर शकसं० ११७५ में ही पड़ता है। अतः प्रधावी संवत्सर मे—शक सं० ११७५ में वीरनिर्वाणको हुए १७८० वर्ष बीते थे। अतः शक सम्वत्से ६०५ वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ यह सिद्ध है। किन्तु प्रशस्तिकी कनड़ी टीकामे वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष तककी आचार्य परम्परा बतलाकर लिखा है —'आचारांग पाठी आचार्योंसे लेकर प्रधावी सवत्सरकी जेष्ठ शुक्ला पंचमी तक—जब ग्रन्थ पूजा के लिए स्थापित किया गया—१०९७ वर्ष हुए। अतः १०९७+ ६८३ जोड़नेसे १७८० होते हैं। आगे लिखा है कि वीर स्वामी का निर्वाण सम्वत् १९२२० प्रवर्तित है। और यह भी लिखा है कि वीर जिनके मोक्षसे ६०५ वर्ष ५ मास बाद शक राजा हुआ'।

यहाँ गल्ती हुई है और वह यह हुई है कि वीर प्रभुके तीर्थ काल २१००० मेंसे १७८० को घटाकर शेष १९२२० को निर्वाण काल मान लिया है। अतः ऐसी भूलोके आधार पर ऐतिहासिक निर्णय नही किए जा सकते।

माघनन्दि श्रावकाचारकी प्रशस्तिके उक्त उल्लेखसे यह भी प्रमाणित होता है कि लगभग सात सौ वर्षों पूर्व शक सम्वत्से ६०५ वर्ष पूर्व ही वीर निर्वाण सम्वत् माना जाता था। अतः प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्की मान्यताके पीछे सात सौ वर्षोंकी परम्पराका उल्लेख भी उसकी प्रामाणिकताकी ही पुष्टि करता है।

अब भगवान महावीरके समकालीन व्यक्तियों तथा कतिपय अन्य संकलनाओंकी दृष्टिसे प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर विचार किया जाता है।

समकालीन व्यक्ति

जैन तथा बौद्ध उल्लेखोंके अनुसार महात्मा बुद्ध, आजीविक सम्प्रदायके संस्थापक मक्खलि गोशाल, वैशाली नरेश चेटक। मगधराजा श्रेणिक या बिम्बसार और श्रेणिक पुत्र अभय और कुणिक या अजातशत्रु, ये इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति भगवान् महाबीरके समकालीन थे। उनके सम्बन्धमें जैन उल्लेखों से नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमे आते हैं—

लिच्छवि गण तंत्रके प्रमुख चेटकराजकी सबसे बड़ी पुत्री की कुक्षिसे महाबीर का जन्म हुआ था और सबसे छोटी पुत्री चेलना राजा श्रेणिककी पटरानी और कुणिककी जननी थी।

जैन ग्रन्थकारोंके[1] द्वारा निबद्ध श्रेणिक चरितके अनुसार श्रेणिकके पिताने श्रेणिकको अपने राज्यसे निकाल दिया था। मार्गमें एक ब्राह्मणका साथ होगया। उसकी बुद्धिमती पुत्रीसे श्रेणिकने विवाह किया। उससे अभयकुमार नामक पुत्र हुआ। पिताकी मृत्यु हो जानेके पश्चात् श्रेणिकको मगधका राज्य मिला, और बड़ा होने पर अभयकुमार राजमंत्री हुआ।

अभय कुमारके मंत्रित्वकालमे राजा श्रेणिक चेटककी सबसे छोटी पुत्री चेलना पर आसक्त हो गये और चेटकसे उसकी याचना की। चेटकके द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर अभयकुमार ने छलसे चेलना का हरण करके श्रेणिकके साथ उसका विवाह करा दिया। उस समय राजा श्रेणिक जैनेतर धर्मावलम्बी थे और

१—वृ० क० को०, कथा ५५।

चेलना जैन थी। चेलनाके प्रयत्नसे ही राजा श्रेणिकने जैन धर्म धारण किया और भगवान महावीर की उपदेश सभा का प्रधान श्रोता बना।

जब लगभग ४२ वर्षकी अवस्थामे महावीर भगवानको केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और राजगृहीके बाहर स्थित विपुलाचल पर उनका पदार्पण हुआ उस समय राजगृहीमे राजा श्रेणिक चेलनाके साथ निवास करते थे।

हरिषेणने अपने कथा कोशमे श्रेणिककी कथाके अन्तमे लिखा है कि जब चतुर्थ कालमे तीन वर्ष, आठ मास और सोलह दिन शेष रहे तब महावीर भगवानका निर्वाण हुआ तथा पंचम कालके इतने ही दिन बीतने पर राजा श्रेणिक की मृत्यु हुई। अर्थात् भगवान महावीरके निर्वाणसे सात वर्ष पाँच मास पश्चात् श्रेणिककी मृत्यु हुई। किन्तु जैन और बौद्ध उल्लेखोसे इसका समर्थन नहीं होता। यह सर्वविदित है कि कुणिकने बड़ा होने पर अपने पिता श्रेणिकको कारागारमे डाल दिया था और

१—"कत्थ कहिय ? सेणियराए सचेलणे महामंडलिए सयलबसुहा-मडल भुंजते" । ज० ध०, भा० १, पृ० ७३

२—किन्तु अब सभी ऐतिहासिक अजात शत्रु (कुणिक) पर लगाये गये इस इलजाम को झूठा मानते हैं। वह कई अंशोमें बुद्धके प्रतिद्वन्दी देवदत्तको सहारा देता था इसी कारण उस पर यह इल्जाम लगाया होगा ऐसा उनका कहना है। भा० इ० रू० पृ० ४१३। बृ० क० को० में हरिषेणने भी इस घटना की चर्चा नहीं की है।

वहीं उसकी मृत्यु हुई। श्रेणिककी मृत्युके पश्चात् कुणिकको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह चित्तकी शान्तिके लिये महावीर और बुद्धके पास गया।

श्वेता० जैन सूत्रोंमें महावीर भगवानके साथ श्रेणिक-विषयक जितने प्रसंग आये हैं, उनसे अधिक प्रसंग कुणिक सम्बन्धी मिलते हैं। उनमे यह भी लिखा है कि श्रेणिककी मृत्यु-के पश्चात् कुणिक और उसके भाई हल्ल विहल्लका आपसमें झगड़ा हुआ। हल्ल विहल्ल अपने नाना चेटकके पास चले गये। कुणिकने चेटकपर आक्रमण कर दिया और वैशालीको बरबाद कर दिया।

अब गोशालकको लीजिये। भगवती सूत्रके १५ वें शतकमें उसका वर्णन विस्तारसे दिया है। उसके अनुसार जब गोशालकने क्रुद्ध होकर महावीर भगवान पर अपनी तेजो लेश्याका प्रयोग किया और कहा कि तू छ मासमें मर जायेगा, तब महावीरने उससे कहा— गोशाल; मैं अभी १६ वर्ष तक इस पृथ्वीपर विहार करूंगा। और तू अपनी तेजो लेश्यासे स्वयं ही जलकर सातवें दिन मर जायेगा। अर्थात् गोशालककी मृत्युसे १६ वर्ष बाद तक भगवान महावीर जीवित रहे।

मरनेसे पूर्व गोशालकने अपने शिष्योंको कुछ बातें बतलाई जिनमें मुख्य 'आठ चरिम' हैं। उन आठ चरिमोंमें एक 'महाशिला कंटक' युद्ध भी है। अजातशत्रुका चेटकके साथ जो युद्ध हुआ था उसे ही 'महाशिला कण्टक' युद्ध कहा है। अतः गोशालककी मृत्युसे पहले यह युद्ध हो चुका था।

यह तो हुआ जैनग्रन्थोंसे प्राप्त भगवान महावीरके समकालीन इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियोंका विवरण। अब बौद्ध साहित्यको लीजिये।

जैन ग्रन्थोंमें महावीरके समकालीन व्यक्तिके रूपमें बुद्धका संकेत तक भी नहीं मिलता। किन्तु बौद्ध त्रिपिटकोंमें निगंठ नाटपुत्त—निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्रका निर्देश तथा एक प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूपमें विवरण बहुतायतसे मिलता है। जैसा कि हम पहले भी लिख आये हैं। अतः उससे यह स्पष्ट है, कि दोनों व्यक्ति समकालीन थे।

इसी तरह मगध राज बिम्बसार (श्रेणिक) और उसका पुत्र अजातशत्रु (कुणिक) भी बुद्धके समकालीन थे। बुद्धचर्या (पृ० ४१३) मे लिखा है कि बुद्ध प्रव्रजित होनेके पश्चात् राजगृहीमें आये। बिम्बसारने उनसे वहाँ ठहरनेकी प्रार्थना की किन्तु बुद्धने कहा मैं सत्यकी खोजमें हूँ। तथा बिम्बसारने उनसे प्रार्थना की कि बोधिलाभ होने पर राजगृही पधारना। तदनुसार जब बुद्धको बोधिलाभ हो गया तो वे राजगृही आये और बिम्बसार उनका उपासक बन गया। अर्थात् जब बुद्धने घर छोड़ा तब राजगृहीके सिंहासन पर श्रेणिक आसीन था। बुद्धके जीवन कालमें ही श्रेणिककी मृत्यु हुई और अजात शत्रुके राज्यके आठवे वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ।

अब हम प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्को सामने रखकर उक्त समकालीन व्यक्तियोके उक्त घटना क्रमपर विचार करेंगे।

पाठक जानते हैं कि सन् १९५६ की वैसाखी पूर्णिमाको विश्व भरमे महात्मा बुद्धकी २५०० वी निर्वाण जयन्ती मनाई गई थी। तदनुसार (२५००-१९५६ = ५४४) बुद्धका निर्वाण ईस्वी पूर्व ५४४ में हुआ था। सिंहल आदि बौद्ध देशोमें बुद्धके निर्वाण का यही काल माना जाता है। जैसे जैन परम्परामें महावीरका

निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में माना जाता है वैसे ही उक्त बौध्द देशोंमें बुद्धका निर्वाण ईस्वी पूर्व ५४४ मे माना जाता है। और जैसे महावीर निर्वाणके प्रचलित कालको लेकर विद्वानोंमें मत-भेद चला आता है, वैसे ही प्रचलित उक्त बुद्ध निर्वाणके काल को लेकर विद्वानोंमें उससे भी अधिक मतभेद चला आता है। किन्तु जायसवालने बौद्ध अनुश्रुतिके प्रत्येक गोलमालको सुलझा कर ५४४ ई० पूर्वमें बुद्ध निर्वाणकी स्थापना की थी (ज० रा० ऐ० सो०, जि० १, पृ० ९७ आदि)। अतः हम परम्परासे प्रचलित उक्त दोनों निर्वाणकालोंको ही सामने रखकर उक्त समकालीन व्यक्तियोंके घटना क्रमपर विचार करेंगे।

बुद्ध की आयु ८० वर्ष थी और महावीरकी आयु ७२ वर्ष के करीब थी। चूंकि बुद्धका निर्वाण ईस्वी पूर्व ५४४ में हुआ अतः उनका जन्म ईस्वी पूर्व ६२४ में होना चाहिए। तथा चूंकि महावीरका निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में हुआ अतः उनका जन्म ईस्वी पूर्व ५९९ में होना चाहिए। इस तरह बुद्धसे महावीर करीब २५ वर्ष छोटे ठहरते है। बुद्धने करीब २९ वर्षकी अवस्थामें घर छोड़ा और लगभग ३६ वर्षकी अवस्थामें उन्हें बोधि लाभ हुआ। महावीरने ३० वर्षकी अवस्थामें घर छोड़ा और लगभग बयालीस वर्षकी अवस्थामें उन्हें केवल ज्ञान हुआ। अर्थात् प्रचलित निर्वाणकालके अनुसार बुद्धको ५८८ ईस्वी पूर्वमें बोधिलाभ हुआ और महावीरको ५५७ ईस्वी पूर्वमें बोधिलाभ हुआ। इस तरह बोधिलाभके पश्चात वे दोनों महापुरुष लगभग १२-१३ वर्ष तक अपने अपने धर्मके शास्ताके रूपमें—प्रतिस्पर्धी के रूपमें साथ साथ विचरण करते रहे। बौद्ध पालि साहित्यमें निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्रके सम्बन्धमें जो उल्लेख मिलते हैं, १२ वर्षके

सुदीर्घकालमें उनका घटित होना जरा भी असंभव नहीं कहा जा सकता।

हाँ, जब महावीर अपने धर्म प्रचारके क्षेत्रमें अवतरित हुए तब बुद्ध वृद्ध हो चुके थे जब कि महावीर प्रौढवयमें पदार्पण कर चुके थे और इसलिए स्वभावतः उनमें कार्यक्षमता अधिक थी। बौद्ध पालि साहित्यमें महावीरका ही प्रबल प्रतिद्वन्द्वीके रूप में अधिक निर्देश मिलनेका यह भी एक कारण हो सकता है। अब इन महापुरुषोके उक्त कालकी संगतिको अन्य समकालीन व्यक्तियोंके साथ भी मिलाकर देख लेना चाहिये।

बौद्ध पाली साहित्यमें बुद्धके विरोधी छै शास्ताओंमें मक्खलि गोशालका नाम भी आता है, जो महावीरका भी समकालीन था। भगवती सूत्रके अनुसार गोशालकने महावीरके जिन होनेसे दो वर्ष पूर्व ही अपनेको 'जिन' घोषित कर दिया था और महावीरके निर्वाणसे १६ वर्ष पूर्व उसकी मत्यु हुई। चूँकि महावीरको जिनत्वकी प्राप्ति ईस्वी पूर्व ५५७ मे हुई, अतः गोशालक ईस्वी पूर्व ५५९ में 'जिन' हुआ और ईस्वी पूर्व ५४३ में उसकी मत्यु हुई। अर्थात बुद्धसे एक वर्ष पश्चात् उसका मरण हुआ। इस तरह 'जिन' होनेके पश्चात गोशालक भी १५ वर्ष तक प्रतिद्वंदी के रूपमें बुद्धके समकालमें विचरण करता रहा। अतः उसके कालकी संगति भी ठीक बैठ जाती है।

अब राजा श्रेणिक और तत्पुत्र अजातशत्रुको लीजिये। चूँकि बुद्धका निर्वाण ई० पूर्व ५४४ में हुआ और उससे ८ वर्ष पूर्व अजातशत्रु मगधके राज्यासन पर बैठा। अतः ५५२ ई० पूर्वमें

अजातशत्रु[1] गद्दी पर बैठा और लगभग इसी समय श्रेणिककी मृत्यु हुई। चूँकि भगवान महावीरको केवलज्ञान ई० पूर्व ५५७ में हुआ अतः श्रेणिक केवल ४–५ वर्ष तक ही भगवान महावीरके उपदेशोंसे लाभान्वित हो सका।

ई० पूर्व ५५२ में राज्यासन पर बैठते समय अजातशत्रुकी आयु २३ वर्ष अवश्य होनी चाहिये; क्योंकि इतनी अवस्था हुए बिना पिताको कारागारमें डाल कर राज्यासनपर बैठनको हिम्मत नहीं हो सकती। अतः अजातशत्रुका जन्म ई० पूर्व ५७५ मे होना चाहिए। और उससे कमसे कम एक वर्ष पूर्व चेलनाके साथ राजा श्रेणिकका विवाह होना चाहिए।

राजा श्रेणिकके साथ चेलनाका विवाह करानेमें श्रेणिक-पुत्र अभयकुमारका हाथ था और वह उस समय मगधका प्रधान मंत्री था। अतः उस समय उसकी आयु कमसे कम लगभग २४ वर्ष तो अवश्य होनी चाहिए। अतः कहना होगा कि भगवान महावीर और श्रेणिकपुत्र अभयकुमार लगभग समवसक थे।

अत यदि ईस्वी पूर्व ६०० के लगभग अभयकुमारने जन्म लिया हो तो उस समय श्रेणिककी आयु १८–१९ वर्षकी अवश्य

१—दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त) में अजातशत्रुकी भगवान महावीरसे भेंट होनेके समय महावीरको 'अद्धगतो वयो'-अर्धगतवय लिखा है। अजातशत्रु पिताकी मृत्युके पश्चात् ही भेंटके लिये गया था। अतः यदि वह ५५२ ई० पूर्वमें राज्यासनपर बैठा और उसके पश्चात् महावीर स्वामीके पास गया तो उस समय महावीर स्वामीकी अवस्था ५१–५२ के लगभग होना चाहिये। अतः दीघनिकायके इस उल्लेखकी संगति भी उक्त काल निर्णयके प्रकाशमें ठीक बैठती है।

होनी चाहिए। और इस तरह श्रेणिकका जन्म ईस्वी सन्से ६१९ वर्ष पूर्व होना चाहिये।

महावंशमें लिखा है— बिम्बसार और युवराज सिद्धार्थ (बुद्ध) परस्परमें मित्र थे। उन दोनोंकी तरह उनके पिता भी परस्परमें मित्र थे। बुद्ध बिम्बसारसे ५ वर्ष बड़े थे। जब बुद्ध २९ वर्षके थे, उन्होंने गृह त्याग किया। ६ वर्षके पश्चात् बोधि-लाभ करने पर ३५ वर्षकी अवस्थामें बुद्ध बिम्बसारसे मिले। बिम्बसार १५ वर्षकी अवस्थामे राज्यासन पर बैठे। जब बिम्बसारको राज्य करते हुए १५ वर्ष बीत गये तो बुद्धने अपना धर्म प्रवर्तन प्रारम्भ किया। बिम्बसारने ५२ वर्ष राज्य किया— १५ वर्ष बुद्धको बोधिलाभ होनेसे पूर्व और ३७ वर्ष पश्चात्"।

जैन घटनाओंके आधार पर अनुमानित हमारे उक्त काल निर्णयके साथ महावंशका उक्त कथन भी बहुत अंशोंमे मिल जाता है। बुद्धका निर्वाण ५४४ ई० पूर्वमें माननेपर बुद्धका जन्म उससे ८० वर्ष पूर्व ६२४ ई० पूर्वमे होना चाहिए और चूँकि श्रेणिक उनसे ५ वर्ष छोटे थे, अतः श्रेणिकका जन्म ६१९ ई० पूर्वमे होना चाहिए, जैसाकि हमने ऊपर बतलाया है। चूंकि बुद्धका निर्वाण ५४४ ई० पूर्वमे हुआ और अजातशत्रु उससे ८० वर्ष पूर्व मगधके राज सिंहासन पर बैठा। अतः श्रेणिकने ई० पूर्व ५५२ तक राज्य किया। महावंशके अनुसार श्रेणिक १५ वर्षकी अवस्थामे राजा हुआ और ५२ वर्ष उसने राज्य किया। इस कथनमे और श्रेणिक सम्बन्धी हमारी उक्त काल गणनामें केवल ४ वर्षका अन्तर पड़ता है। यदि श्रेणिकका जन्म ई० पूर्व ६१९ के स्थानमें ईस्वी पूर्व ६१५ मान लिया जाये तो १५ वर्षकी अवस्थामें उसका राज्यासन पर बैठना और ५२

वर्ष तक राज्य करना अक्षरशः प्रमाणित हो जाता है और उससे जैन शास्त्रोंमें वर्णित घटनाओंकी संगतिमें भी कोई अन्तर नहीं आता। किन्तु ऐसा करनेसे एक तो बुद्ध और श्रेणिकके बीचमें महावंशमें जो ५ वर्षका अन्तर बतलाया है उसमें ४ वर्षकी वृद्धि हो जाती है। दूसरे जैन ग्रन्थोंमें अभयकुमारकी उत्पत्ति के पश्चात् ही श्रेणिकको मगधके राज्यासनका स्वामी होना बतलाया है। अतः १५ वर्षकी उम्रसे पहले देश निकाला, विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि घटनाओंका घटना सुसंगत प्रतीत नहीं होता। उसमें चार वर्षकी वृद्धि करनेसे एक ओर महावंशका यह कथन कि बुद्धसे बिम्बसार पाँच वर्ष छोटे थे, और दूसरी ओर जैन ग्रन्थोंमें वर्णित श्रेणिकके बाल-जीवनकी घटनाएं सुसंगत बैठ जाती हैं।

अतः जैनोंमें परम्परासे प्रचलित वीर निर्वाण कालको और बौद्धोंमें परम्परासे प्रचलित बुद्ध निर्वाण कालको ही ठीक मान कर चलनेसे बुद्ध, महावीर, गोशालक, श्रेणिक, अभयकुमार और अजातशत्रु आदिकी समकालीनता तथा जैन और बौद्ध ग्रन्थो में वर्णित घटनाओंकी संगति ठीक बैठ जाती है।

उक्त घटनाओंके प्रकाशमें निर्धारित उक्त काल क्रमकी तालिका नीचे दी जाती है। साथमें तुलनाके लिये भी का० प्र० जायसवाल और मुनि कल्याण विजय जीके मत भी दिये जाते।

नाम	जन्म	बोधिलाभ	निर्वाण	जायसवाल	मुनि-कल्याणविजय
महावीर	५९९	५५७	५२७	महा० नि०	महा० नि०
	ई० पू०	ई० पू०	ई० पू०	५४५ ई०पू०	५२८ ई० पू०
बुद्ध	६२४	५८८	५४४	बु० नि०	बु० नि०
	ई० पू०	ई० पू०	ई० पू०	५४४ ई०पू०	५४४ ई०पू०

नाम	जन्म	बोधिलाभ	निर्वाण	जायसवाल	मुनि-कल्याणविजय
गोशालक	×	५६६ ई० पू०	५४३ ई० पू०		
श्रेणिक	६१६ ई० पू०	राजगद्दी ६०० ई० पू०	५५२ ई० पू०	६०१-५५२ ई० पू० राज्यकाल	६०१-५५२ ई० पू०
अभयकुमार	६०० ई० पू०				
अजातशत्रु	५७५ ई० पू०	५५२ ई० पू०	५२० ई० पू०	५५२-५१८ राज्यकाल	५५२-५१८

उक्त संगतिके साथ जो एक बड़ी विसंगति सामने आती है वह है बौद्ध पालि साहित्यमे बुद्धके जीवनकालमे महावीरका पावामे निर्वाण होनेका उल्लेख।

मज्झिमनिकायके सामगामसुत्त (पृ० ४४१) मे लिखा है—

'एक समय भगवान् शाक्य देशमें सामगाममें बिहार करते थे। उस समय निगंठ नाटपुत्त अभी अभी पावामे मरे थे। उनके मरने पर निगंठ लोग दो भाग हो भंडन कलह विवाद करते एक दूसरेको मुखरूपी शक्तिसे छेदते बिहरते थे "आदि।'

म० नि० के उपालिसुत्तमें (पृष्ठ २२२ में) लिखा है कि उपालि नातपुत्तका अनुयायी था। वह बुद्धके साथ वाद करनेके लिये गया। किन्तु उसका परिणाम उल्टा ही हुआ, बुद्धने उसे अपना शिष्य बना लिया। उसके पश्चात् उपालिने अपने घर जाकर द्वारपालको यह आदेश दे दिया कि निर्ग्रन्थोको अन्दर नहीं आने देना। पीछे जब महावीर भगवान अपनी शिष्य मण्डलीके साथ उपालिके घर गये तो उपालिके मुखसे बुद्धकी प्रशंसा सुनकर वह

उसे सह न सके और उनके मुखसे गर्म लोहु निकल पड़ा अर्थात् मुँहसे रक्तका वमन हुआ।

बौद्ध पालि साहित्यमें वर्णित इस घटनाके ऊपर कतिपय विद्वानोंने[1] बहुत जोर दिया है। और उन्होंने इस घटनाको मरण सम्बन्धी उक्त घटनाके साथ जोड़कर यह कल्पना की है कि उपाली वार्ता घटनाके कुछ ही समय पश्चात् पावामें महावीरका मरण हो गया।

किन्तु जार्ल चार्पेन्टियर आदिने इस बातको स्वीकार नहीं किया। उसके कारण निम्न प्रकार हैं—जैन उल्लेखोंके अनुसार जिस पावामे महावीर भगवानका निर्वाण हुआ था वह पावा पटना जिलेमें नालन्दाके पास है। किन्तु बौद्ध साहित्यमें जिस पावाका निर्देश है वह शाक्य भूमिमें है क्योंकि उस समय बुद्ध शाक्य देशके सामगाममें स्थित थे और चुन्द पावासे चलकर सामगाम आया था। अतः उक्त निर्देश प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। डा० जेकाबीने भी (से० बु० ई० जि० ४५, पृ० १६) यही बात लिखी है और उसे प्रामाणिक नहीं माना है। इसके सिवाय महावीरके निर्वाणके पश्चात् ही जो उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोंमें लड़ाई झगड़ा होनेका उल्लेख किया है उसका भी समर्थन किसी जैन स्रोतसे नहीं होता। समस्त दि० श्वे० जैन

१—जार्ल चार्पेन्टियरने महावीरके समयनिर्णय सम्बन्धी अपने लेखमे (इ० ए० जि० ४३) उक्त चर्चा करते हुए लिखा है कि स्पेंस हार्डीने 'मैन्युअल आफ बुद्धिज्म' में तथा बीगन्डेटने (से० बु० ई० जि० १३, पृ० २५६) लिखा है कि उपालिके विरोधके कारण महावीरका मरण हुआ। राहुल जीने म० नि० के अपने अनुवादके टिप्पणमें भी (४४१ पृ०, टि० २) यही बात लिखी है।

साहित्यमें महावीर निर्वाणसे भद्रबाहु स्वामी पर्यंत १६० वर्षके अन्तरालमे इस प्रकारके किसी विवादका संकेत तक नहीं है।

बुद्धके निर्वाणसे ५०० वर्ष पश्चात् ईसाकी प्रथम शताब्दीमे तत्कालीन बौद्ध भिक्षुओंकी स्मृतिके आधारपर उपलब्ध त्रिपिटक ग्रन्थोंको लंकामे लिपिबद्ध किया गया था। उस समयतक जैन धर्ममें दिगम्बर श्वेताम्बर भेद उत्पन्न हो चुका था। तथा पावामें भगवान महावीरका निर्वाण होनेकी बात तो सर्व-विश्रुत थी। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिपिटकोंके संकलयिताओंने इन घटनाओंको समकालीन समझकर एकत्र निबद्ध कर दिया, तथा उन्होने पावाको वही पावा समझ लिया जिससे वे विशेष रूपसे परिचित थे। अतः बौद्ध ग्रन्थोंके इस उल्लेखके आधार पर प्रचलित निर्वाण सम्वत्को गलत प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

यदि त्रिपिटकोंके उल्लेखोंका तुलनात्मक रूपसे परिशीलन किया जाये तो उनमें परस्पर विरुद्धता मिल सकती है। यहाँ हम केवल दो उल्लेखोंको उदाहरणके रूपमे उपस्थित करते हैं।

संयुत्त निकायके जटिल[1] सुत्तमें लिखा है कि एक बार कौसलाधिपति प्रसेनजित्ने बुद्धसे भेट की और उनके प्रश्नके उत्तरमें बुद्धने कहा कि 'अनुत्तर सम्यक संबोधिको जान लिया' ऐसा मेरे विषयमें ही कहना उचित है। तब प्रसेन जित्ने कहा—

'हे गौतम ! वह जो श्रमण ब्राह्मण संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणके आचार्य, ज्ञात यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुत जनों द्वारा साधु सम्मत है—जैसे पूर्णकाश्यप, मक्खली गोशालक, निगंठ नाटपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रकुद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली।

१ बुद्ध च०, पृ०, ६९.

वह भी पूछने पर यह दावा नहीं करते। फिर जन्मसे अल्प-वयस्क और प्रव्रज्यामें नये आप गौतमके लिये तो कहना ही क्या है' ?

इस कथनसे तो यही प्रकट होता है कि बुद्ध अन्य सब विपक्षी शास्ताओंसे लघु-वयस्क थे। किन्तु दीघ निकायके 'सामञ्ञफल सुत्त मे अजातशत्रुसे भेंटके समय महावीरको 'अद्धगतो वयो' लिखा है। अर्थात् अजातशत्रुके राज्यारम्भके समय महावीर लगभग पचास वर्षके थे। यह कथन प्रचलित निर्वाण सम्वन्के आधार पर ऊपर निर्धारित कालक्रमके तो अनुकूल है क्योंकि उसके अनुसार ई० पू० ५५२ के लगभग अजातशत्रु राजा हुआ, और उस समय महावीर भगवानकी आयु ४७ वर्ष-की थी। उसके पश्चात् ही अजातशत्रु पिताकी मृत्युके सन्तापका शमन करनेके लिये विभिन्न शास्ताओंके पास गया था। किन्तु जटिलसुत्तके उक्त कथनके साथ उसकी संगति नहीं बैठती, क्योंकि बुद्धका निर्वाण अजातशत्रुके राज्यके आठवें वर्षमें हुआ माना जाता है। और बुद्धकी आयु ८० वर्षकी थी। अतः उक्त भेंटके समय बुद्धकी आयु ७५ वर्ष होनी चाहिये, और अद्धगतोवयो महावीरकी ५० वर्ष, जैसा कि हमने बतलाया है। अतः त्रिपिटिकोंमें दत्त घटनाओंके कालक्रमको सर्वथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। और इसलिये उसमे दत्त महावीर भगवान्की मृत्युकी घटनाको प्रमाण कोटिमें नहीं रखा जा सकता।

इस प्रकार प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्के अनुसार महावीर भगवान्का निर्वाण वि० स० से ४७० वर्ष पूर्व, शक सम्वत्से ६०५ वर्ष पूर्व और ई० सन्से ५२७ वर्ष पूर्व माननेसे बुद्ध, गोशालक, श्रेणिक, अजातशत्रु आदि समकालीन व्यक्तियोंके साथ उसका

सामञ्जस्य बैठ जाता है। अब हम वीर निर्वाणसे उत्तरकालमें होनेवाले विशिष्ट व्यक्तियोंके कालक्रमके साथ उसके सामञ्जस्य पर विचार करेंगे।

महावीरके पश्चात्की राज्यकाल गणना

भगवान् महावीरके निर्वाण और चन्द्रगुप्तमौर्यके राज्याभिषेक का अन्तरकाल हेमचन्द्रने[1] १५५ वर्ष और जिनसेन[2] (७८३ ई०) तथा मेरुतुंगने (१३०० ई०) २१५ वर्ष दिया है। जिनसेन और मेरुतुंग महावीरके निर्वाण और अवन्तीकी गद्दीपर पालकके राज्याभिषेकको समकालीन बतलाते हैं। जिनसेनके पूर्वज यति-वृषभने[3] तथा मेरुतुंगके पूर्वज तित्थोगाली[4] पइन्नय[5] के कर्ताने भी ऐसा ही लिखा है। जिनसेन और मेरुतुंगने उन्हींका अनुसरण किया है।

पालकके पिताका नाम प्रद्योत अथवा चण्डप्रद्योत था। मज्झिम निकाय (पृ० ४५५) मे लिखा है कि मगधराज अजातशत्रु राजा प्रद्योतके भयसे नगरको सुरक्षित कर रहा था। यह घटना बुद्धके निर्वाणसे पश्चात् की है। उक्त सभी जैन ग्रन्थोंमें पालकका राज्यकाल ६० वर्ष लिखा है। मेरुतुंगने विचार[6] श्रेणीमें

१—एवं च श्री महावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः। ३३९॥—परि० प०, ८।

२—हरिवंश पु० ६० स०, ४८८-८९ श्लोक। ३—ति० प्र०।

४—जक्काले वीर जिणो णिस्सेयससंपय समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो॥१५०५॥
—ति० प०, अ० ४।

५—'जं रयणिं सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए अभिसित्तो पालओ राया॥'

६—'पालकस्य राज्ञः षष्टि (६०) वर्षाणि राज्यमभूत। तावता

पालकका राज्यकाल ६० वर्ष बतलाकर लिखा है कि पाटलीपुत्रमें कुणिकपुत्र उदायीको किसीने मार दिया और इस तरह महावीर निर्वाणसे ६० वर्षके पश्चात् नन्द राजा हुआ। तिलोयपण्णत्ति और जिनसेनके हरिवंशके अनुसार पालकके पश्चात् १५५ वर्ष तक विजय वंशका राज्य रहा। तत्पश्चात् मुरुण्डों (मौर्यो) का राज्य हुआ। और तित्थोगाली पइन्नय, तीर्थोद्धार प्रकरण तथा विचार श्रेणीके अनुसार पालकके पश्चात् १५५ वर्ष तक नन्दोंका राज्य हुआ, तत्पश्चात् मौर्योंका राज्य हुआ। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र तथा अन्य जैन ग्रन्थकारोंमें महावीर निर्वाण और चन्द्रगुप्त मौर्यके अन्तर कालको लेकर ६० वर्षका मत भेद है।

किन्तु उक्त सभी जैन ग्रन्थकार, जिनमे हेमचन्द्र भी हैं महावीरके निर्वाणसे ६० वर्षके पश्चात् नन्दवंशका राज्यारम्भ मानते हैं। अतः नन्दवंशके राज्यारम्भ कालको लेकर उनमें कोई मतभेद नहीं है। मतभेद है नन्दवंशके राज्यकालको लेकर। अन्य जैन ग्रन्थकार नन्दवंशका राज्य काल १५५ वर्ष बतलाते हैं। तब हेमचन्द्र महावीर निर्वाणसे लेकर चन्द्रगुप्तमौर्य के राजाभिषेक तकका काल १५५ वर्ष बतलाते हैं। अतः १५५ में से ६० वर्ष कम कर देने पर हेमचन्द्रके मतानुसार नन्दवंशका राज्यकाल ९५ वर्ष होता है।

बौद्ध कालगणना

बौद्धग्रन्थ दीपवंश और महावंशमे अजातशत्रुसे लेकर शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओंके राज्यकालकी अवधि दी है।

पाटलीपुत्रेऽपुत्रे कुणिकपुत्रे उदायिनृपे उदायि नृपमारकेण हते" नन्दो राज्येऽभिषिक्तः' उक्तं च परिशिष्टपर्वणि—'अनन्तरं वर्धमानस्वामि-निर्वाणवासरात्। गतायां षष्ठिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः ॥'—वि० श्रे०।

महावंशमें लिखा[1] है—'अजात शत्रुके पुत्र उदयभट्टने अपने पिता अजातशत्रुको मारकर १६ वर्ष राज्य किया। उदयभट्ट के पुत्र अनुरुद्धने अपने पिताको मारकर राज्य किया और अनुरुद्धके पुत्र मुण्डने अपने पिताको मारकर राज्य किया। दोनोंने आठ वर्ष राज्य किया। मुण्डके पुत्र नागदासकने मुण्डको मारकर २४ वर्ष तक राज्य किया। इस तरह इस वंश को पितृघाती वंश जानकर क्रुद्ध नागरिकोंने नागदासकके अमात्य सुसुनागको राजा बनाया। उसने १८ वर्ष राज्य किया।

१— अजात सत्तुपुत्तो त घातेत्वादायभद्दका।
रज्जं सोलसवस्सानि कारेसि मित्त दुब्भिको ॥ १ ॥
उदयभद्दपुत्तो तं घातेत्वा अनुरुद्धको।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं घातेत्वा मुण्डनामको ॥ २ ॥
मित्तद्दुनो दुम्मतिनो ते पि रज्ज अकारयुं।
तेसं उभिन्न रज्जेसु अट्ठवस्सानतिक्कमुं ॥ ३ ॥
मुण्डस्स पुत्तो पितरं घातेत्वा नागदासको।
चतुवीसति वस्सानि रज्जं कारेसि पापको ॥ ४ ॥
पितुघातकवंसोय इति कुद्धा य नागरा।
नागदासकराजानं अपनेत्वा समागता ॥ ५ ॥
सुसुनागोति पञ्ञात अमच्चं साधुसंमत।
रज्जे समभिसिञ्चिसु सब्बेस हितमानसा ॥ ६ ॥
सो अट्ठारस वस्सानि राजा रज्ज अकारयि।
कालासोको तस्स पुत्तो अट्ठवीसतिकारयि ॥ ७ ॥
अतीते दसमे वस्से कालासोकस्स राजिनो।
संबुद्ध परिनिब्बाणा एवं वस्ससत अहु ॥ ८ ॥

—महावंश, ४ परि०।

उसके पुत्र कालासोकने २८ वर्ष राज्य किया। कालासोकको राज्य करते हुए १० वर्ष बीतने पर बुद्धके परिनिर्वाणको १०० वर्ष हुए।

काला[1]सोकके पुत्र दस भाई थे। उन्होंने २२ वर्ष राज्य किया। फिर क्रमसे ९ नन्द हुए। उन्होंने भी २२ वर्ष राज्य किया। मौर्य क्षत्रियोंके वंशमें श्री चन्द्रगुप्त हुए। ब्राह्मण चाणक्यने नौवें धननन्दको मारकर चन्द्रगुप्तको सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाया। उसने २४ वर्ष राज्य किया। उसके पुत्र

१—'कालासोकस्स पुत्ता तु अहेसुं दस भातुका।
द्वावीसति ते वस्सानि, रज्ज समनुसासिसुं॥ १४॥
नव नन्दा ततो आसुं कमेनेव नराधिपा।
ते पि द्वावीस वस्सानि रज्जं समनुसासिसुं॥ १५॥
मोरियान खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं।
चंदगुत्तोति पञ्ञात चाणक्को ब्राह्मणो ततो॥ १६॥
नवमं धननन्दं तं घातेत्वा चण्डकोधवा।
सकले जम्बुदीपस्मि, रज्जे समभिसिञ्चि सो॥ १७॥
सो चतुवीस वस्सानि, राजा रज्ज अकारयि।
तस्स पुत्तो बिंदुसारो अट्ठवीसति कारयि॥ १८॥
बिंदुसार सुता आसुं सतं एको च विस्सुता।
असोको आसि तेसं तु पुञ्ञतेजो बलिद्धिको॥ १९॥
वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं।
सकले जंबुदीपस्मिं एकरज्जं अपापुणि॥ २०॥
जिननिब्बाण तो पच्छा, पुरे तस्साभिसेकतो।
साट्ठारसं वस्ससतद्वय एवं विजानियं॥ २१॥"
—महावंश, ५ परि०

बिन्दुसारके १०० पुत्र थे। उनमे अशोक बड़ा तेजस्वी और बलवान था। उसने अपने ९९ भाईयोंको मारकर सकल जम्बूद्वीप मे राज्य किया। बुद्ध निर्वाण और अशोकके अभिषेक काल के बीच में २१८ वर्षका[२] अन्तर है।

अत: महावंशके अनुसार बुद्ध निर्वाणसे २४ + १६ + ८ + २४ + १८ + २८ + २२ + २२ = १६२ वर्षके पश्चात् चन्द्रगुप्त हुआ। चूंकि बुद्धका निर्वाण ई० पूर्व ५४४ में हुआ और महावीरका निर्वाण ई० पूर्व ५२७ मे हुआ। अतः १७ वर्षका अन्तर होनेसे बौद्धकाल गणनाके अनुसार महावीरके निर्वाणसे १६२ – ११७ = ४५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ।

बौद्ध ग्रन्थोंमे अजातशत्रुका राज्यकाल ३२ वर्ष लिखा है और चूँकि अजातशत्रुके राज्यके आठवें वर्षमे बुद्धका परिनिर्वाण हुआ अतः उक्त कालगणनामें अजातशत्रुके राज्यकालके २४ वर्ष ही गिनाये गये हैं। अन्यथा अजातशत्रुके राज्यारम्भसे लेकर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक तक १७०वर्ष होते हैं। इन १७०वर्षोंमें नवनन्दोका राज्यकाल केवल २२ वर्ष बतलाया है।

२—श्री जायसवालने इस बौद्धकाल गणनाको गलत ठहराकर बुद्ध निर्वाण और चन्द्रगुप्तके राज्याभिषेकके बीचमें २१८ वर्षका अन्तर बतलाया है। बुद्धका निर्वाण अजात शत्रुके राज्यके आठवें वर्षमें हुआ अतः अजातशत्रुसे चन्द्रगुप्तके राज्याभिषेक तक का काल ३५ + ३५ + ३३ + ४० + ४३ + २८ + १२ = २२६ वर्ष होता है इसमे एक वर्ष अधिक है अतः २२६ – १ = २२५ हुए। इसमें अजातशत्रु के राज्यके ७ वर्ष कम कर देनेसे २१८ वर्ष शेष रहते हैं। (ज० वि० उ० रि० सो०, जि० १, पृ० ९५)

पौराणिक कालगणना

हिन्दु पुराणकारोंने भी शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओंके राज्यकालका वर्णन किया है। विष्णु, मत्स्य, भागवत, ब्रह्माण्ड और वायुपुराणमें उनकी कालगणना मिलती है। किन्तु विष्णु पुराण, और भागवतमें प्रत्येक राजाका राज्यकाल नहीं दिया, केवल उनके नाम तथा उनके वंशका राज्यकाल दिया है। शेष तीनों पुराणोंमे प्रत्येक राजाके साथ उनके राज्यकालके वर्ष भी दिये हैं। परन्तु उनमें भी एकरूपता नहीं है। अनेक नामोंमें और राज्य-कालके वर्षोंमे एक दूसरेसे भिन्नता है।

श्रीमद्भागवतमें (स्क० १२, अ०१) जो राजवंशावली दी है, उसका स्थान नहीं बतलाया कि ये राजवंश किस देशमे राज्य करते थे। किन्तु विष्णुपुराणमें (अ०२३) उन्हें मगध देशका शासक बतलाया है, और लिखा है कि बृहद्रथ वंशके अन्तिम राजा रिपुञ्जय[1]को उसका मंत्री सुनिक मार देगा और अपने पुत्र प्रद्योतका राज्याभिषेक करेगा। विष्णु, भागवत और मत्स्यपुराण में दत्त वंशावली इस प्रकार है—

विष्णु पुराण	भागवत	मत्स्य पुराण	
प्रद्योत	प्रद्योत	बालक	२३ वर्ष
|	|	|	
बलाक	पालक	पालक	२८ ,,
|	|	|	
विशाखयूप	विशाखयूप	विशाखयूप	५३ ,,

१—भागवतमें पुरञ्जय नाम है और मंत्रीका नाम शुनक है। मत्स्यमें मंत्रीका नाम पुलक है।

जनक	राजक	सूयक	२१ ,,
नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन		१२५ ,,
नन्दि			

इस प्रकार विष्णु पु० में प्रद्योतवंशके ६ राजा गिनाये हैं। और मत्स्यमें ४ ही गिनाये हैं—प्रद्योतका नाम ही नहीं है। विष्णु और भागवत दोनों पुराणोंमे लिखा है कि य पॉच प्रद्योत एक सौ अड़तीस वर्ष तक पृथ्वीका पालन करेंगे। इसके पश्चात् दोनों पुराणोंमें शिशुनागवंशी राजाओंका निर्देश है। मत्स्यमें लिखा है कि राजा सूर्यक वाराणसीमें अपने पुत्रको बैठाकर गिरिव्रज (मगध) मे चला जायेगा।

तीनो पुराणोंमे तत्पश्चात् शिशुनागवंशी राजाओंकी नामावली इस प्रकार दी है—

विष्णु पु०	भागवत पु०	मत्स्य पुराण	
शिशुनाभ	शिशुनाग	शिशुनाक	४० वर्ष
काकवर्ण	काकवर्ण	काकवर्ण	२६ ,,
क्षेत्रधर्मा	क्षेत्रधर्मा	क्षेत्रधोमा	३६ ,,
क्षतौजा	क्षेत्रज्ञ	क्षेमजित	२४ ,,
विधिसार (बिम्बसार)	विधिसार	विन्ध्यसन	२८ ,,

अजातशत्रु	अजातशत्रु	अएवायपन ९ ,,
		भूमिमित्र १४ ,
अर्भक	दर्भक	अजातशत्रु २७ ,,
		वंशक २४ ,,
उदयन	अजय	उदासी ३३ ,,
नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन ४० ,,
महानन्दि	महानन्दि	महानन्दि ४३ ,,
महापद्मनन्द	महापद्मपतिनन्द	महापद्म ८८ ,,
आठ पुत्र	आठ पुत्र	आठ पुत्र १२ ,,

इस प्रकार इन तीनों पुराणोंमें प्रद्योतोंका राज्यकाल १३८ वर्ष (मत्स्यमे १२५ वर्ष), शिशुनागोंका ३६२ वर्ष और नन्दोंका १०० वर्ष बतलाया है। मत्स्यमें विन्ध्यसेन (विम्बसार) और अजात शत्रुके मध्यमें दो नाम ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। इसीसे उसमे शिशुनागवंशी राजाओंकी संख्या १२ हो गई है। किन्तु उनका राज्यकाल ३६२ वर्ष ही बतलाया है जब कि प्रत्येक राजाके राज्यकालका संकलन करनेसे उसमें १८ वर्षकी कमी रह जाती है।

उक्त वंशावलियोंमें दत्त राजाओंके नामोंके अवलोकनसे पता चलता है कि मगधके प्रसिद्ध शिशुनागवंशी राजा बिम्बसारके ठीक नामका पता पुराणकारोंको नहीं था, जब कि बौद्ध और जैन ग्रन्थकार उससे सुपरिचित थे।

मगध और अवन्तीके राजवंश

उक्त पुराणोंमें प्रद्योतको अन्तिम बृहद्रथ राजाका उत्तराधिकारी कहा है और पाँच प्रद्योतोंके पश्चात् शिशुनागवंशी राजाओंका निर्देश किया है। इससे ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है कि प्रद्योतवंश मगधमें राज्य करता था और उसके पश्चात् शिशुनागवंशी राजाओंका राज्य मगधमें हुआ। किन्तु यह प्रायः माना जाता है कि प्रद्योतवशने मगधमें राज्य नहीं किया और न मगधसे उसका कोई सम्बन्ध था। प्रद्योतवंशके संस्थापक राजा प्रद्योतको अवन्तीका ही राजा माना जाता है, जो भगवान महावीर बुद्ध और मगधराज श्रेणिकका समकालीन था। इतिहासमें भी अवन्तिराज प्रद्योतका ही वर्णन मिलता है।

कुमारपाल प्रतिबोध (पृ० ७६-८३) में उज्जैनीके प्रद्योतको कथा है। उसके अनुसार मगधके राजकुमार अभयने प्रद्य तका बन्दी बनाया और प्रद्योतने अभयकुमारके पिता श्रेणिक (बिम्बसार) के चरणोंमें सीस नवाया। जैन ग्रन्थोंके अनुसार इसी प्रद्योतके पुत्रका राज्याभिषेक भगवान महावीरके निर्वाणके दिन अवन्तीकी गद्दी पर हुआ और उसने ६० वर्ष राज्य किया।

जैन काल गणनामे मगधके नन्दवंशके पूर्व अवन्तीके पालककी काल गणना क्यों दी गई इस विषयको लेकर प्रायः ऊहापोह चलता है। पुराणोंके अवलोकनसे पता चलता है कि मगध और

अवन्ती के राजवंशोंमें इस प्रकारका व्यतिक्रम नया नहीं है और उसको लेकर इतिहासज्ञोंमें ऊहापोह होता आया है।

श्री जायसवाल जी का कहना है कि 'मगधने जब अवन्तिको जीता तो अवन्तिका वृत्तान्त प्रसंगवश मगधके इतिहासमें आया। यह वृत्तान्त मूल पाठमें एक कोष्ठक में या पाद टिप्पणीके रूपमें पढ़ा जाता था। उसके अन्तमें यह पाठ था—

स (त) त्सुतो नन्दिवर्धनः।

हत्वा तेषां यशः कृत्स्न शिशुनाको भविष्यति ॥

यहाँ शिशुनाकका अर्थ था शैशुनाक—शिशुनाक वंशज और वह नन्दिवर्धनका विशेषण था। किन्तु बादमें पिछले लेखकों और प्रतिलिपिकारोंने यह न समझकर कि इसे कोष्ठकमें पढ़ना चाहिये, नन्दिवर्धनको प्रद्योतवंशका अन्तिम राजा तथा शिशुनाक का अर्थ पहला शिशुनाक राजा समझकर प्रद्योतवंशको मगधमें शिशुनाकोंका पूर्ववर्ती मान लिया, और उनके वृत्तान्तको बार्हद्रथों और शैशुनाकोंके बीच रख दिया।' पार्जीटरने भी इस स्पष्ट गलतीको सुधार कर प्रद्योतोंके वृत्तान्तको पुराण पाठमें मगध के वृत्तान्तसे अलग रख दिया है। और इस तरह से अब यह विषय प्रायः निर्विवाद माना जाता है। (भा० इ० रू०, जि०, १ पृ० ४९६)।

अवन्तिराज प्रद्योत

'प्रायः' इस लिये कि कोई कोई विद्वान् अवन्तिके प्रद्योतोंसे मगधके प्रद्योतोंको भिन्न मानते है। दोनोंको एक माननेमें उनकी एक आपत्ति इस प्रकार है—

'पुराणोंमें मगधके राजाके रूपमें जिस प्रद्योतका वर्णन है उसका राज्यकाल पुराणोंके अनुसार २३ वर्ष है। किन्तु अवन्ति-

राज प्रद्योतका काल इससे बहुत अधिक होना चाहिये। जैन और बौद्ध परम्पराके अनुसार चण्ड प्रद्योत बिम्बसारका समकालीन था। तथा वह अजातशत्रुका भी समकालीन था। पुराणोंके अनुसार बिम्बसारका राज्यकाल २८ वर्ष और अजातशत्रुका २७ वर्ष था। पुराणोंके अनुसार अजातशत्रुका उत्तराधिकारी दर्शक था। भासकी स्वप्नवासवदत्तासे इसका समर्थन होता है। उससे प्रकट होता है कि मगधपर दर्शकके राज्यके आरंभिक वर्षोंमें अवन्तिमें चण्ड प्रद्योत महासेन राज्य करता था। इन सब बातों को दृष्टिमें रखते हुए चण्डप्रद्योतका सुदीर्घ काल तक अवन्तिमें राज्य करना सिद्ध होता है। जब कि पौराणिक प्रद्योतका राज्यकाल २३ वर्ष था।'' ज० बि० उ० रि० सो०, जि० ७ पृ० ११०)

जैनाचार्य हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्वसे पता चलता है कि उज्जयिनीके राजा पालकके समयमें मगधके सिंहासनपर श्रेणिक पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) और कुणिकके पुत्र उदायीका क्रमशः राज्य रहा है। उदायीके निस्सन्तान मर जाने पर उसका राज्य नन्दको मिला। दक्खिनी बौद्ध अनुश्रुतिमे भी अजातशत्रु के ठीक बाद उदायीका राज्य बताया है। दीपवंशमें उदयीके बाद अनुरुद्ध मुण्ड और तब नागदासक है। उत्तरी बौद्ध अनुश्रुतिके ग्रन्थ दिव्यावदानमे मुण्डके बाद काकवर्णिका नाम है। परन्तु पुराणोमे अजातशत्रु और उदयीके बीच दर्शक है। श्री जायसवालका कहना था कि नागदासक = दर्शक शिशुनाग (शैशुनाक) में शिशुनाग खाली विशेषण है। यह विशेषण लगाने की आवश्यकता उस समय इसलिये थी कि उसके समकालीन विनय पामोक्ख (बौद्ध संघके चुने हुए मुखिया) का नाम भी दर्शक था। काकवर्णि भी दर्शकका ही विशेषण है, क्योंकि

शिशुनाकका बेटा काकवर्ण था। इस लिए उसका कोई भी वंशज काकवर्णि कहला सकता है, इस तरह नागदासक-दर्शक और काकवर्णि एक ही व्यक्ति हैं। प्रो० दे० रा० भण्डारकर भी नागदासक और दर्शकको एक ही मानते थे। किन्तु भासकी प्रामाणिकता उन्हें स्वीकृत नहीं थी।

उन्होंने सिद्ध किया है कि दर्शकको यदि अजातशत्रुका बेटा माना जाये तो उसके गद्दी पर बैठनेके समय उदयन कमसे कम ५६ वर्षका रहा होगा। इस दशामें ५७ वर्षकी उम्रमें उसका दर्शककी बहिन पद्मावतीसे विवाह करना सर्वथा असंगत है। और भासने अपने समयकी गलत अनुश्रुतिका अनुसरण किया है (भा० इ०, रू०, पृ० ४६७)। भासने स्वप्नवासवदत्तामें मगध नरेश दर्शककी बहिन पद्मावतीसे वत्सराज उदयनका विवाह कराया है। इससे पहले अवन्तिपति प्रद्योतकी पुत्री वासवदत्ताके साथ उसका विवाह हो चुका है। मगध नरेशकी बहिन पद्मावतीके साथ विवाह करानेके लिए उदयनका मंत्री यौगन्धरायण वासवदत्ताको रूप बदलकर राजगृहीमें पद्मावतीके पास रख देता है और ऐसा रूपक रचता है जिससे वासवदत्ताके मरनेका संवाद फैल जाता है। बातचीतमें वासवदत्ता पद्मावतीसे कहती है तू महासेनकी होने वाली बहू है। पद्मावती पूछती है—महासेन कौन है? वासवदत्ता उत्तर देती है उज्जैनीका राजा प्रद्योत है। इतनेमें धाय आकर कहती है कि महाराज उदयनका कुल रूप वय आदि देखकर महाराजने उसे पद्मावती देना स्वयं ही स्वीकार किया है।

सोमदेव रचित कथासरित्सागरमें भी यह कथा आई है। उसमें लिखा है 'वत्सराज उदयन वासवदत्ताको पाकर विषय

सुखमें मग्न हो गया और राज्यका कुल भार अपने मंत्री योगन्धरायणको सौंप दिया। तब मंत्रीने उदयनका राज्य बढ़ानेका विचार करते हुए सोचा कि हमारा एक शत्रु मगधराज प्रद्योत है, उसकी कन्या पद्मावतीकी याचना करने से वह हमारा मित्र हो जायेगा। आगे उसने वासवदत्ताको छिपाकर उक्त प्रकारसे पद्मावतीके साथ उदयनका विवाह करा दिया।

नाटक तथा कथाके उक्त आख्यानसे तो यही प्रकट होता है कि पद्मावतीके साथ विवाहके समय उदयन तरुण होना चाहिये और वासवदत्ताके द्वारा पद्मावतीको अपने पिता प्रद्योतकी बहू बनानेकी बात कहनेसे तो प्रद्यात उस समय वृद्ध प्रमाणित नहीं होता है। चूँकि प्रद्योतकी पुत्री वासवदत्ता उदयनसे विवाही थी इसलिये प्रद्योत और उदयनकी अवस्थामे बीस बरसका अन्तर तो होना ही चाहिये; क्योंकि वासवदत्ताके विवाहके समय उसके दोनों भाई पालक और गोपाल भी तरुण थे। अतः पद्मावतीके विवाहके समय प्रद्योतकी अवस्था ५० वर्ष और उदयनकी अवस्था तेंतीस बर्ष होना चाहिये।

किन्तु अवन्तीपति प्रद्योत मगधराज श्रेणिक और उसके पुत्र अजातशत्रुका समकालीन था। यदि यह मान लिया जाय कि प्रद्योत श्रेणिककी तरह १५ वर्षकी अवस्थामे गद्दी पर बैठा और वह श्रेणिकपुत्र अभयकुमारका समवयस्क था, क्योंकि कुमारपाल प्रतिबोधके अनुसार अभयकुमारने प्रद्योतको बन्दी बनाया था, तो अजातशत्रुकी मृत्युके समय (ई० पू० ५२० अनुमानित) उसकी अवस्था ८० वर्षकी और वत्सराज उदयनकी अवस्था ६० वर्षकी होना चाहिये। ऐसी वृद्धावस्थामें पद्मावतीके साथ उदयनके विवाहको रचानेमें वासवदत्ताका सहयोग, पद्मावती का उदयनके प्रति आकर्षण और महाराज दर्शकका पद्मावतीके

लिये स्वयं उदयनको पसन्द करना आदि बातें, जो नाटकमें वर्णित हैं, घटित नहीं हो सकती और न वासवदत्ता ही पद्मावती को अपने ८० वर्षके वृद्ध पिता प्रद्योतकी भावी पत्नी कहनेकी धृष्टता कर सकती है। अतः डा० भण्डारकरका भासके विषय मे जो मन्तव्य है कि उसने किसी गलत अनुश्रुतिके आधारपर महाराज दर्शककी बहिन पद्मावतीके साथ उदयनका विवाह रचाया है, उचित प्रतीत होता है।

दूसरे, कथा सरित्सागर[1]में पद्मावतीको मगधराज प्रद्योतकी पुत्री बतलाया है। यह मगधराज प्रद्योत वही पौराणिक प्रद्योत जान पड़ता है, जिसके अस्तित्वमें विवाद है। तीसरे, जैन ग्रन्थोंमें अजातशत्रु (कुणिक) के पद्मावती नामकी कोई कन्या नहीं बतलाई, प्रत्युतः उसकी रानीका नाम पद्मावती था। अतः भास-के नाटकके आधारपर प्रद्योतको मगध राज दर्शकका समका-लीन नहीं माना जा सकता। फिर भी पुराणोंमें जो उसका राज्य-काल २३ वर्ष बतलाया है, ऐतिहासिक घटनाओंको देखते हुए बहुत कम है।

हाँ यदि प्रद्योतको अजातशत्रुका समवयस्क माना जाये और जैन मान्यताके अनुसार महावीरके निर्वाणके समय (ई० पूर्व ५२७) उसकी मृत्यु मानी जाय तो उसका राज्यकाल २३ वर्ष होना संभव है। किन्तु उस अवस्थामें कुमारपाल प्रतिबोधमें दत्त चण्डप्रद्योतकी कथामें जो राजा श्रेणिक और तत्पुत्र अभय-

---

१ — परिपन्थी च तत्रैकः प्रद्योतो मगधेश्वरः।
पार्ष्णिग्राहः स हि सदा पश्चात्कोपं करोति नः ॥१६॥
तत्तस्य कन्यकारत्नमस्ति पद्मावतीति यत्।
तदस्य वत्सराजस्य कृते याचामहे वयम् ॥२०॥ (३-१)

कुमारके साथ चण्डप्रद्योतकी जीवन घटनाये दी हैं वे घटित होना संभव नहीं है। उन घटनाओंको देखनेसे तो चण्ड प्रद्योत श्रेणिकका लघु समकालीन अवश्य होना चाहिये और ऐसी अवस्थामें उसका राज्यकाल २३ वर्ष संभव प्रतीत नहीं होता तथा उसकी अवस्थाको देखते हुए जैन ग्रन्थोका यह कथन कि जिस दिन भगवान महावीरका निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्तिके सिंहासन पर पालकका अभिषेक हुआ, सत्य प्रतीत होता है।

अतः जो विद्वान् पौराणिक प्रद्योतका राज्यकाल २३ वर्ष बतलाया जानेके कारण उसे अवन्तिपति चण्ड प्रद्योतसे पृथक् मानते है, उनको आपत्ति अनुचित नही कही जा सकती। किन्तु मगधके सिंहासन पर प्रद्योत नामके किसी राजाका होना, जिसके पुत्रका नाम भी पालक था, इतिहाससे प्रमाणित नहीं होता। अतः पुराणोका उक्त कथन किसी भ्रान्तिका फल जान पड़ता है। और उस भ्रान्तिके बाज कुमारपाल प्रतिबोधमे दत्त चण्ड प्रद्योत की कथामें निहित हैं। अवश्य ही कुमा० प्र० १३ वीं शताब्दीकी रचना है किन्तु उसका आधार स्वतंत्र प्रतीत होता है।

कथामे वर्णित घटना इस प्रकार है—चण्डप्रद्योतने एक वेश्याकी सहायतासे अभयकुमारको अपना बन्दी बना लिया। जब अभयकुमार उज्जैनीसे राजगृह लौटकर आया तो उसने भी चण्ड प्रद्योतको अपना बन्दी बनानेके लिए छलपूर्ण कौशलका सहारा लिया। वणिकका वेष धारण करके अभय दो गणिकाओके साथ उज्जैनी पहुंचा और राजमार्गके एक आवासमें रहने लगा। एक दिन प्रद्योतकी दृष्टि उन गणिकाओ पर पड़ी। वह उनके रूपपर मुग्ध हो गया।

इधर अभयने प्रद्योतके समान एक व्यक्तिका नाम प्रद्योत रखकर उसे पागल बना दिया और उसे अपना भाई बतलाया।

वह उसे बाँधकर प्रति दिन राजमार्गसे वैद्यके घर ले जाता और वह आदमी यह चिल्लाता हुआ जाता—मैं प्रद्योत हूँ। ये मुझे बाँधकर लिये जाते हैं। सब लोग यह जान गये कि इसके भाई-का नाम प्रद्योत है और यह पागल है। एक दिन रात्रिमें वेश्या सक्त प्रद्योत अभयके निवास स्थान पर पहुँचा और पकड़ लिया गया। दिन निकलनेपर उसे खाटमें बाँधकर राजमार्गसे लेकर सब लोग चल दिये। वह बहुत चिल्लाया—'मैं प्रद्योत हूँ ये मुझे बाँधे लिये जाते हैं। मगर पुरवासी तो प्रति दिनकी इस चिल्लाहटसे सुपरिचित थे। अतः वे चुप रहे और प्रद्योत बन्दी बनाकर राजगृह पहुँचा दिया गया।

इस घटनासे (अभयकुमारके भाई) मगधराज प्रद्योतकी भ्रान्ति चल पड़ी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। कथा सरित्सागरमें जो पद्मावतीको मगधराज प्रद्योतकी पुत्री बतलाया वह भी उसी भ्रान्तिका फल हो सकता है। भासने पद्मावतीको मगधराज दर्शककी बहन बतलाया है। पुराणोंके अनुसार दर्शक अजात-शत्रुका पुत्र था। और अजातशत्रु अभयकुमारका भाई तथा मगधका राजा था।

अस्तु,जो कुछ हो, किन्तु मगधके सिंहासन पर प्रद्योतवंश राज्य होना इतिहास सिद्ध नहीं है। अतः इस प्रासंगिक चर्चाको यहीं समाप्त करके हम आगे बढ़ते हैं।

पुराणोंके प्रद्योतवंश विषयक सन्दर्भको मगधके वृत्तान्तसे अलग करके, कोष्ठक या टिप्पणीके रूपमें पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों राजवंश नन्दिवर्धन पर आकर समाप्त होते हैं। और दोनों वंशोंकी कालगणना करने पर अवन्तिका नन्दि-र्धन और मगधका नन्दिवर्धन समकालीन प्रतीत होते हैं। अन्तमें

स्पष्ट रूपसे अवन्तिके नन्दिवर्धनको शैशुनाक कहा ही है। फलतः दोनों न केवल समकालीन हैं किन्तु एक हैं। मगध द्वारा अवन्तिकी विजय तो निश्चित है ही। इसीसे श्रीजायसवालजीने (ज० वि० उ० रि० सो० जि० १) यह परिणाम निकाला था कि मगधके राजाओंमें से नन्दिवर्धनने ही अवन्तिको जीता था। जैनग्रन्थोंके अनुसार अवन्तिमें पालकके वंशके बाद नन्दवंशने राज्य किया। नन्दिवर्धन नन्द कहलाता था। पुराणके एक पाठमें उसका नाम वर्तिवर्धन भी है। (भा० इ० रू०, जि० १, पृ० ५००)।

किन्तु बादको पटनासे प्राप्त मूर्तियोसे यह जाना गया कि पटनामे भी कोई राजा अज था। और तब यह स्पष्ट हुआ कि अज और उदपी एक ही है। तथा अवन्तिका अजक भी वही है और उसीने अवन्तिको जीता था।

बात यह है कि पुराणोंके अनुसार प्रद्योतका उत्तराधिकारी पालक और उसका उत्तराधिकारी विशाखयूप है, विशाखयूपके बाद एक राजाका नाम अजक है। किसी-किसी प्रतिमें उसे विशाखयूप से पहले रख दिया है। कथा सरित्सागरके अनुसार पालकका भाई गोपालबालक था और मृच्छकटिकके अनुसार पालकको गद्दीसे उतारकर प्रजाने गोपालकको आर्यक नामसे राजा बनाया था। उधर श्रीमद्भागवतमें मगधवंशमें उदयके स्थान पर 'अजय' आता है। और नन्दीवर्धनको आजेय लिखा है जिससे उदयीका नाम अज सिद्ध होता था। बादको उक्त मूर्तियोसे यह ज्ञात होनेपर कि पटना में भी कोई राजा अज था, स्पष्ट हुआ कि अज और उदयी एक ही हैं तथा वही अवन्तिका अजक भी है। (ज० वि० उ० रि० सो० १९१९)। संभवतः अवन्तिको जीतकर भी वह अपने राज्यमें नहीं मिला सका। यह काम उसके उत्तराधिकारी नन्दवर्धनने किया।

नन्दोंके १५५ वर्ष

अब हम नन्दोंकी ओर आते हैं।

जैन अनुश्रुतिके अनुसार अवन्तिमें पालकके राज्यके बाद नन्दोंने १५५ वर्ष राज्य किया। और जैनाचार्य हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्वके अनुसार उज्जैनीके राजा पालकके समयमें मगधके सिंहासनपर श्रेणिकपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) और कुणिकके पुत्र उदायीका क्रमशः राज्य रहा। उदायीके निस्सन्तान मारेजाने पर उसका राज्य नन्दको मिला।

भागवत्, विष्णु, मत्स्य आदि पुराणोंमें अज अथवा उदयीके उत्तराधिकारीका नाम नन्दिवर्धन बतलाया है। और मगध तथा अवन्तिके राज्यवंशोंमे उसका नाम आता है। अतः नन्दीवर्धन मगध और अवन्ती दोनोंका राजा था।

पुराणोंमे पांच प्रद्योतोंका राज्यकाल १३८ वष बतलाया है, जिसमे २३ वर्ष प्रथम प्रद्योतके हैं। अवन्तिपति प्रद्योतके राज्यकालकी घटनाओं से यह स्पष्ट है कि उसका राज्यकाल २३ वर्ष से बहुत अधिक वर्षों तक रहा है अतः २३ वर्षकी गणना ठीक नहीं है। इसलिए १३८ में से २३ वर्ष कमकर देनेपर पालकके राज्यभिषेकसे लेकर नन्दिवर्धनकी मृत्युतकका काल ११५ वर्ष होता है।

यह प्रसिद्ध है कि चन्द्रगुप्तमौर्यसे पहले नन्दोंका राज्य था। नन्दोंकी दो पीढ़ियोंने राज्य किया। पहली पीढीमे महापद्मनन्द था और दूसरी पीढ़ीमें उसके आठ बेटे। ये सब मिलकर नौ नन्द थे। वायु पु० में महापद्मनन्दका राज्यकाल ८८ वर्ष दिया है, किन्तु बाकी पुराणोंमें महापद्मके ८८ वर्ष और दूसरी पीढ़ीके १२ वर्ष

मिलाकर १०० वर्ष पूरे किये हैं। इस प्रकार नन्दोके १०० वर्ष राज्य करनेकी अनुश्रुति है। जैनाचार्य हेमचन्द्रने महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्तका राजा होना लिखा है। तथा महावीर निर्वाणसे ६० वर्ष पश्चात् नन्दका राजा होना लिखा है। अतः उन्होंने १५५–६० = ९५ वर्ष तक नन्दोका राज्य बतलाया है जो १०० वर्षकी पौराणिक अनुश्रुतिसे मेल खाता है।

किन्तु अन्य जैन ग्रन्थकारोंने १५५ वर्ष तक नन्दोंका राज्य बतलाया है और इस तरह हेमचन्द्र तथा उनकी काल गणनामें ६० वर्षका अन्तर पड़ता है। वही अन्तर हम वायु पुराण तथा अन्य पुराणोंकी कालगणनामें पाते हैं। वायु पुराण महापद्मनन्दका राज्यकाल २८ वर्ष बतलाता है, किन्तु अन्य पुराणोमें ८८ वर्ष बतलाया है। अतः ८८–२८ = ६० वर्षका अन्तर स्पष्ट है।

इस परसे ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि महापद्मनन्दके राज्य कालको लेकर दो अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं। एक अनुश्रुतिके अनुसार उसने ८८ वर्ष राज्य किया और दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार उसने २८ वर्ष राज्य किया। अन्य जैन ग्रन्थकारोंने प्रथम अनुश्रुतिको अपनाकर नन्दोका राज्यकाल १५५ वर्ष बतलाया। किन्तु हेमचन्द्रने दूसरी अनुश्रुतिको अपनाकर नन्दोंका राज्यकाल ९५ वर्ष बतलाया है।

अतः हेमचन्द्रके अनुसार महावीर निर्वाणसे ११५ + २८ + १२ = १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ। और अन्य ग्रन्थकारोंके अनुसार ११५ + ८८ + १२ = २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ।

इसपर एक आशङ्का यह की जा सकती है कि इस तरहसे तो नन्दोंका राज्यकाल हेमचन्द्रके अनुसार २८ + १२ = ४० वर्ष

और अन्य जैनग्रन्थकारोंके अनुसार ८८ + १२ = १०० वर्ष होता है ६५ या १५५ वर्ष नहीं होता। इस आशङ्काका उत्तर यह है जैसा कि जायसवाल जीने (ज० वि० उ० रि सो०, जि० १) स्पष्ट किया है कि जैनग्रन्थकारोंने अज उदयीके वंशजोको भी नन्दराजा मान लिया है। नन्दिने मगधके राज्यमें अवन्तिको मिलाया इससे उसे नन्दिवर्धन कहा है। उसका मूल नाम नन्द था, नन्दि नहीं था। भविष्य पुराणमें नन्दवर्धन नाम है। इसी तरह नन्दिवर्धनके उत्तराधिकारी महानन्दिका नाम भी महानन्द था। भविष्य पु०में उसे नन्द कहा है। तथा नवनन्दका अर्थ नये नन्द था। जो बादको नौ नन्दके रूपमे माना जाने लगा। तथा उन नौ नन्दोंने क्रमशः राज्य किया, यह मान लेना स्वाभाविक ही था। इस तरहसे नन्दोंके वास्तविक राज्यकालमें बहुत वर्षोकी वृद्धि होगई।

पुराणोंके अनुसार नन्दिवर्धनसे लेकर अन्तिम नन्द तकका कुल राज्यकाल-१२३ वर्ष है। इनमेंसे जायसवाल जी २८ + १२ = ४० वर्ष नवनन्दोंके और ४० + ४३ = ८३ वर्ष पूर्व नन्दोंके मानते है। पूर्व नन्दोंमें एक नन्दिवर्धन था और दूसरा था महानन्दी, नन्दिवर्धनका राज्यकाल ४० वर्ष था और महानन्दि का ४३ वर्ष।

श्री जायसवालने लिखा है कि पालकके ६० वर्षके पश्चात् जैनकाल गणनामे नन्दोंके १५५ वर्ष बतलाये हैं। पुराणोंमे नन्दो का राज्य (४० + ४३ + २८ + १२) १२३ वर्ष बतलाया है। अतः (१५५–१२३ शेष ३२ वर्ष उदायीके लेनेसे १५५ वर्ष पूरे हो जाते हैं। (ज० वि० उ० रि० सो०, जि० १, पृ० १०२)

श्री जायसवाल जीने नन्दोके १२३ वर्षोंमें उदायीके राज्यके ३२ वर्ष जोड़कर जैनकाल गणनामें बतलाये नन्दोंके १५५ वर्षो

की पूर्ति की है। और पालकके ६० वर्षके पश्चात् उदायीका राज्याभिषेक माना है। किन्तु तिलोयपण्णति, तित्था० पइन्नय आदि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें महावीर निर्वाणके दिन अवन्तीकी गद्दीपर अभिषिक्त पालकका राज्यकाल ६० वर्ष बतलाया है और हेमचन्द्राचार्यने अपने परिशिष्ट पर्वमे मगधकी गद्दीपर महावीरके निर्वाणसे उदायीके राज्यान्त तकका काल ६० वर्ष बतलाया है। अर्थात् पालक और उदायीका राज्यकाल एक साथ समाप्त हुआ।

हेमचन्द्रने लिखा (परि० पर्व, सर्ग६, श्लो० १८९-२९३) है कि उदायीसे सभी राजा त्रस्त थे और उन्होंने यह समझ लिया था कि जब तक उदायी जीवित है हम सुखसे नहीं रह सकते। अवन्ती नरेश भी उनमेसे एक था, अतः एक राज्यभ्रष्ट राजपुत्र अवन्ती नरेशसे सलाह करनेके बाद साधु बन गया और उसने छलसे उदायीका बध करदिया। उदायीके कोई सन्तान नहीं थी, अतः नाईपुत्र नन्द मगधके सिंहासन पर बैठा।

अवन्तीपतिसे अभिसन्धि करके उदायीका अपघात किया जाना यह सूचित करता है कि उदायीने पालकवशकी भी वही दशाकी थी जो अन्य राजाओंकी की थी। और सम्भवतया यह घटना उदायीके जीवनके अन्तसे कुछ ही पूर्वकी होगी। इसीसे जहाँ महावीर निर्वाणके ६० वर्ष बीतने पर पालकवंशका अन्त हुआ वहीं मगधके राज्यासन पर उदायीका भी अन्त हो गया। उदायीके पश्चात् मगधके सिंहासनपर जिस नापित नन्दके बैठने का निर्देश हेमचन्दने किया है, वह अवश्य ही महापद्मनन्द है, उसीको पुराणोमें शूद्राका पुत्र तथा यूनानी लेखकोंने नाईका पुत्र बतलाया है। उसीके कालको लेकर ६० वर्षका मतभेद पुराणोंमें है।

अतः १५५ वर्षकी संख्या पूरी करनेके लिये पुराणोंके नन्द-कालके १२३ में उदायीके ३२ वर्ष नहीं जोड़े जा सकते। श्री जायसवालने ईस्वी पूर्व ४६७ में उदायीका अन्त माना है सो वीर-निर्वाण ५२७ ई० पू०में ६० वर्ष घटानेसे वही समय आता है। उदायीके पश्चात् मगधके राज्यासन पर बैठनेवालोंकी तालिका तथा कालगणना जायसवाल[1] जीने इस प्रकार दी है।

१—जायसवालजीको उदायीके उत्तराधिकारियोंमें परिवर्तन करना पड़ा है उसका विवरण नीचे दिया जाता है—

खारवेलके प्रसिद्ध हाथी गुफा वाले शिलालेखकी छठी पंक्तिमें एक वाक्य इस प्रकार आया है—'नन्दराज तिवस सतोघाटितम्'। इसका अर्थ डा० स्टेनकौनोंने किया—'नन्दराजके समय सं० १०३ में खोदी गई नहर'। कोनौके मतमें यह वीर सम्वत् है। और वे वीर निर्वाण सम्वत्का आरम्भ ईस्वी पूर्व ५२७ में मानते थे। अतः उनके मतसे ५२७—१०३ = ४२४ ई० पूर्वमें नन्दराजा था।

श्रीजायसवालने 'नन्दराज तिवस सतो घाटितम्' का अर्थ किया—'नन्दराजके सं० १०३ में खोदी' उनका कहना है कि यदि 'नन्दराजने सं० १०३ में खोदी' यह अर्थ इष्ट होता तो 'तिवससत नन्दराज ओघाटित' पाठ होता। (ज० वि० उ० रि० सो०, जि० १३, पृ० २३३)

अतः श्रीजायसवालके अनुसार खारवेलके शिलालेखमें नन्दसंवत्का निर्देश है। उन्होंने कुछ प्रमाणोंके आधार पर यह प्रमाणित किया कि 'नन्द सम्वत् किसी समय प्रचलित था। अलवेरुनीने लिखा है कि ईस्वी पूर्व ४५८ में एक सम्वत्का आरम्भ हुआ था। उसे वह हर्षवर्धन सम्वत् बतलाता है, और बतलाता है कि उसके समय तक (११वीं शताब्दी ई०) मथुरा और कनौजमें वह सम्वत् प्रचलित था। किन्तु ४५८ ई० पूर्वमें हर्षवर्धन नामके किसी राजाका अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं है। अतः

अनुरुद्ध	४६७-४५८ ई० पू०
नन्दिवर्धन	४५८-४१८ ,,
मुण्ड	४१८-४१० ,,
महानन्दी	४०६-३७४ ,,
महानन्दीके दो बेटे	३७४-३६६ ,,
महापद्मनन्द	३६६-३३८ ,,
धननन्द	३३८-३२६ ,,
चन्द्रगुप्त मौर्य	३२६-२५-३०२ ई० पू०

यह हर्षवर्धन नन्दवर्धन होना चाहिये क्योंकि हर्ष और नन्द समानार्थक हैं। और प्राचीन भारतमें ऐसा प्रयोग करनेकी प्रथा थी'। (वही, पृ० २३८)।

अलबेरुनीने इस सम्वत्‌को मथुरा और कन्नौजमें प्रचलित पाया था। उसने लोगोंसे सुना कि इस सम्बत् के प्रवर्तक राजाने टैक्स घटा दिये थे क्योंकि उसे पृथ्वीमें से बहुत धन मिला था। यह बात नन्दोंके गढे हुए कोशोंका स्मरण कराती है। यह प्रसिद्ध है कि नन्दवर्धनने प्रद्योतोंके अवन्तिराज्यको जीत लिया था और मथुरा अवन्तिराज्यका एक अंग था। अत. मथुरा और अन्तर्वर्ती कन्नौज नन्दवर्धनके मगध साम्राज्यके अन्तर्गत थे। अतः उन प्रदेशोंमें नन्द सम्वत्‌का प्रचलित होना स्वाभाविक था।

उक्त प्रमाणोंके आधार पर श्रीजायसवालजीने खारवेलके शिलालेखमें निर्दिष्ट सम्वत्‌को नन्दसम्वत् माना जो ई० पूर्व ४५८ में प्रचलित किया गया था और जिसका प्रचलनकर्ता नन्दवर्धन था।

जायसवाल जीको नन्दिवर्धनका राज्याभिषेक काल ४५८ ई० पू० निर्धारित करनेके लिये मगध राजवंशकी नामावलीमें भी थोड़ा सा उलट फेर करना पड़ा। (ज० वि० उ० रि० सो० जि० १३, पृ० २३९) उन्होंने मगधराज उदायीका अन्तकाल ४६७ ई० पू० माना है। जैन

अर्थात् उदयीके अन्त और चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्याभिषेकके बीचमें जायसवाल जीके अनुसार ४ं७—३२५ = १४२ वर्षका

काल गणनाके अनुसार भी महावीरके निर्वाणसे उदायीके राज्यान्त तक का काल ६० वर्ष बतलाया है । अतः ५२७ ई० पू०में ६० वर्ष घटानेसे ४६७ ई० पू० काल आता है । पाली ग्रन्थोंमें नन्दवर्धनके अव्यवहित पूर्वमें दो राजाओंके नाम और दिये हैं, जो पुराणोंमें नहीं हैं । वे नाम हैं अनुरुद्ध और मुण्ड । अनुरुद्धका राज्यकाल नौ वर्ष और मुण्डका राज्यकाल ८ वर्ष बतलाया है । अतः उदायीके पश्चात् कालक्रम इस प्रकार बैठता है ।

अनरुद्ध ९ वर्ष	४६७—४५८ ई० पू०	
मुण्ड ८ ,,	४५८—४४९	,,
नन्दवर्धन ४० वर्ष,	४४९—४०९	,,

पुराणोंमें नन्दोंके सौ वर्ष बतलाये हैं । जिनमें नन्दवर्धनके ४० वर्ष और महानन्दके ४३ वर्ष है । १७ वर्ष शेष रहते हैं । जायसवाल जीने अनुरुद्ध और मुण्डको भी नन्दोमें सम्मिलित करके ९ – ८ = १७ वर्ष पूरे किये हैं । क्योंकि जैन अनुश्रुतिके अनुसार मगधमें उदायीके पश्चात् नन्दोंका राज्य हुआ था । अनुरुद्ध और मुण्डमें से किसी एकको नन्द-वर्धनके नीचे रख देनेसे नन्दवर्धनका राज्याभिषेक काल ४५८ ई० पू० आ जाता है । यदि अनुरुद्ध और मुण्ड दोनोंको नन्दवर्धनके पश्चात् रख देते हैं तो जैन और पौराणिक अनुश्रुतियाँ आपसमें मिल जाती हैं, जो उदायीके पश्चात् नन्दोंका राज्य बतलाती हैं । किन्तु ऐसा करनेसे ४५८ ई० पू० में नन्दवर्धनके राज्यका नौवां वर्ष होता है । अतः अनु-रुद्ध और मुण्ड दोनोंको नन्दवर्धनके पश्चात् न रखकर एक को ही रखना पर्याप्त है । इस तरहसे श्री जायसवालजीने उदायीके पश्चात् अनुरुद्ध और मुण्डमेंसे एकको रखकर तथा उसके पश्चात् नन्दवर्धनको रखकर ई० पू०

अन्तर है। इसमें पालकवंश अथवा उदयी तकके ६० वर्ष जोड़ देनेसे वीर निर्वाण और चन्द्रगुप्तमौर्यके राज्याभिषेकका अन्तर २०२ वर्ष आता है। अर्थात् वीर निर्वाणसे २०२वें वर्षमें चन्द्रगुप्त मौर्यका राज्याभिषेक हुआ। किन्तु जैन ग्रन्थोंमें वीर निर्वाणसे (६०+१५५=२१५) वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्तके राजा होनेका निर्देश है। अतः १२ वर्षका अन्तर स्पष्ट है और इसके अनुसार ५२७—२१५=३१२ ई० पू० में चन्द्रगुप्तका राज्याभिषेक होना चाहिये।

इतिहासके प्रेमियोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्याभिषेकके कालको लेकर भी इतिहासज्ञोंमें मतभेद है। और वह मतभेद भी १३–१४ वर्षका ही है। अर्थात् ३२६–२५ ई० पूर्वसे लेकर ३१२ ई० पूर्व तकके बीचमें चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा, यह सुनिश्चित रीतिसे माना जाता है। अतः महावीर निर्वाणसे २१५ वर्ष पश्चात् मौर्योंका राज्य होनेका जैन निर्देश सर्वथा गलत नहीं कहा जा सकता। और इसलिये इस दृष्टिसे भी प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् ही ठीक प्रतीत होता है।

असलमें जैनग्रन्थोंमें महावीर निर्वाणके पश्चात् होनेवाले राजवंशोंकी कालगणना तो दी है किन्तु उन राजवंशोंमें होनेवाले राजाओंका न तो नाम दिया है और न प्रत्येकका राज्यकाल ही दिया है। अतः पुराणों और बौद्धग्रन्थोंमे दी गई राजकाल गणनाके साथ उनका समीकरण कर सकना शक्य नहीं है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि वीर निर्वाणके पश्चात्की जो राज्यकाल गणना दी है, प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् उसके अविरुद्ध

---

४५८ नन्दवर्धनका राज्याभिषेक माना और उसे ही नन्द सम्वत्का प्रवर्तक बतलाया।

है। सभी जैन महावीर निर्वाण और विक्रमके मध्यमें ४७० वर्षका अन्तर माननेमें एकमत हैं। तथा शक राजासे ६०५ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण होनेमें भी सबका ऐकमत्य है। अतः विक्रम सम्वत्से ४७० वर्ष, शकसम्वत् से ६०५ वर्ष और ईस्वीसन से ५२७ वर्ष पूर्व वीरका निर्वाण मानना ही समुचित है।

आचार्य काल गणना

जैन ग्रन्थोंमें जैसे वीर निर्वाणके पश्चात् होनेवाले प्रमुख राजवंशोंकी काल गणना दी है वैसे ही तत्पश्चात् होनेवाले महावीरके प्रमुख शिष्य-प्रशिष्योंकी भी परंपराका उल्लेख कालक्रमसे किया है।

दिगम्बर जैनोंके त्रिलोक प्रज्ञप्ति, धवला, जय धवला आदि ग्रन्थों और पट्टावलियोंमें तथा श्वे० जैनोंकी स्थविरावली और पट्टावलियोंमें उसका वर्णन पाया जाता है।

दि० जैनोंके अनुसार भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए और तत्पश्चात् १०० वर्षमें ५ श्रुत-केवली हुए।

ति० प० में लिखा[1] है—'जिस दिन वीर प्रभुका निर्वाण हुआ

१—'जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामित्ति केवली जादो।
तत्थवि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥१४७७॥
वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेण ॥१४७८॥

उसी दिन उनके प्रधान शिष्य गौतम केवलज्ञानी हुए। उनके मुक्त होने पर सुधर्मा स्वामी केवलज्ञानी हुए। उनके मुक्त होनेपर जम्बू स्वामी केवलज्ञानी हुए। जम्बू स्वामीके मुक्त होनेपर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनोंके धर्मप्रवर्तनका सामूहिक काल ६२ वर्ष है।

आगे लिखा[1] है—नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, चौथे गोवर्द्धन और पाँचवें भद्रबाहु, ये पाँच पुरुषश्रेष्ठ जगतमें विख्यात श्रुतकेवली श्री वर्द्धमान स्वामीके तीर्थमें हुए। इन पाँचोंके कालका सम्मिलित प्रमाण सौ वर्ष होता है। इनके पश्चात् पंचम कालमें भरत क्षेत्रमें कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ।

इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमे तीनों केवलियोंका पृथक् पृथक् काल भी दिया है। तथा नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें (जै० सि० भा०, भाग १, कि० ४) भी प्रत्येक केवली और श्रुतकेवलीका पृथक् पृथक् काल दिया है, जो इस प्रकार है—

१—"णंदीय णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहुत्ति ॥१४८२॥
पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा।
ते बारस अंगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स ॥१४८३॥
पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं।
वीदम्मि पचमए भरहे सुदकेवली णत्थि ॥१४८४॥
—तिलोयप०, अ० ४।

ज० ध० १ भा० १, पृ० ८५। धवला, पु० १, पृ० ६६। हरि० पु०, सर्ग ६६, श्लो० २२। इन्द्र० श्रुता०, श्लो० ७२-७८।

३ केवली		पाँच श्रुतकेवली	
१ गौतम गणधर	१२ वर्ष	१ विष्णुकुमार[2]	१४ वर्ष
२ सुधर्मास्वामी[1]	११ ,,	२ नन्दिमित्र	१६ ,,
३ जम्बू स्वामी	३८ ,,	३ अपराजित	२२ ,,
	—	४ गोवर्धन	१९ ,,
	६२ वर्ष	५ भद्रबाहु	२९ ,,
			—
			१०० वर्ष

इस तरह भगवान महावीरके निर्वाणसे भद्रबाहु श्रुतकेवली पर्यन्त १६२ वर्ष होते हैं।

श्वेताम्बरीय स्थविरावलीके अनुसार महावीर निर्वाणके

१—धवला (पृ० ६६, भा० १) में तथा श्रवणवेलगोलाके शिलालेख नं० १ मे दूसरे केवलीका नाम लोहार्य ही पाया जाता है। किन्तु जयधवला, हरिवंश पु०, श्रुतावतार तथा शिलालेख नं० १०५ (२५४) मे उसके स्थानपर सुधर्माका नाम है। जम्बूद्वीप पण्णतिमे स्पष्ट लिखा है कि लोहार्यका नाम सुधर्मा भी था। यथा—

तेणवि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणहर सुधम्मणा खलु जंबुणामस्स णिद्दिट्ठं ॥१०॥

२—तिलोयपण्णति जम्बूद्वीपपण्णति, आदिपुराण व श्रुतस्कन्धमें नन्दि या नन्दि मुनि नाम आता है विष्णु और नन्दि भी एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं। यह संभव है कि आचार्यका पूरा नाम विष्णु नन्दि हो, संक्षेपमें उन्हें कहीं विष्णु और कहीं नन्दि कहा गया हो।

पश्चात् होनेवाले युगप्रधान आचार्योंका कालक्रम इस प्रकार¹ दिया है—

१ सुधर्मा	२० वर्ष	५ यशोभद्र	५० वर्ष
२ जम्बू	४४ ,,	६ संभूतिविजय	८ ,,
३ प्रभव	११ ,,	७ भद्रबाहु	१४ ,,
४ शयंभव	२३ ,,	८ स्थूलभद्र	४५ ,,
			२१५ ,,

इस काल गणनाकी विशेषता यह है कि जिस प्रकार महावीर निर्वाणके पश्चात् होने वाले राजवंशोंकी काल गणनाके २१५ वर्ष (पालकसे लेकर नन्दवंशके अन्त तक) गिनाये हैं उसी प्रकार महावीर निर्वाणके पश्चात् होनेवाले युगप्रधान आचार्योंका काल भी २१५ वर्षके हिसाबसे गिनाया है। अर्थात् उधर नन्दवंशके अन्तके साथ और इधर स्थूलभद्रके स्वर्गवासके साथ महावीर निर्वाणके २१५ वर्ष पूरे होते हैं।

इसके अनुसार वीर निर्वाणके १७० वर्ष बीतने पर भद्रबाहु स्वामीका स्वर्गवास हुआ। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने परिशिष्ट² पर्वमें लिखा है। श्वे० स्थविरावलीमें गौतम

१—'सिरि वीराउ सुहम्मो वीसं चउचत्तवासजंबुस्स।
पभवेगारस सिज्जंभवस्स तेवीस वासाणि॥
पन्नास जसोभद्दे, संभूइस्सट्ठ भद्दबाहुस्स।
चउदस य थूलभद्दे, पणयालेवं दुपन्नरस॥'
—वि० श्रे०।

२—श्री वीर मोक्षात् वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥—प० प०।

गणधरको, जो महावीरके प्रधान शिष्य थे, महावीरके निर्वाणके पश्चात् युगप्रधान पट्टपर आसीन न कराकर सुधर्माको आसीन कराया है। किन्तु कल्पसूत्रके अनुसार महावीर स्वामीका निर्वाण होनेके पश्चात् गौतमको केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई और वे १२ वर्ष तक प्रधान पद पर प्रतिष्ठित रहे। तत्पश्चात् उन्होंने अपना पद सुधर्मा स्वामीको दिया और वे आठ वर्ष तक उस पद पर आसीन रहे। इस तरह स्थविरावलीमें जो सुधर्माके २० वर्ष गिनाये हैं, उनमें १२ वर्ष गौतमके और ८ वर्ष सुधर्माके हैं। किन्तु दोनोंका अलग अलग उल्लेख न करके सुधर्माके ही २० वर्ष बतलानेमें क्या हेतु है यह हम नहीं कह सकते।

जम्बू स्वामी केवलीके पश्चात् होने वाले युगप्रधान आचार्यों मे भद्रबाहु ही एक ऐसे हैं, जिन्हें दोनों सम्प्रदायोंने माना है। जम्बू स्वामीके पश्चात और भद्रबाहु स्वामीसे पहले होनेवाले ४ आचार्योंके नाम दोनों सम्प्रदायोंमें भिन्न भिन्न हैं और उनका काल भी समान नहीं है। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न व्यक्ति हैं। किन्तु भद्रबाहुका युगप्रधानत्व दोनों सम्प्रदायोंको स्वीकार्य है। इन्हींके समयमें संघभेद हुआ। इसलिये भी भद्रबाहुका स्थान अखण्ड जैन परम्पराकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दि० जैन ग्रन्थ तथा शिलालेख इन्हें मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्तका समकालीन सिद्ध करते हैं। और विदेशी तथा एतद्देशीय इतिहासज्ञोंने भी उनकी सत्यताको स्वीकार किया है।

किन्तु उक्त काल गणनाको देखते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहुकी समकालीनता सिद्ध नहीं होती और उन दोनोंके बीच मे वही प्रसिद्ध ६० वर्षका अन्तर पड़ता है। अर्थात् यदि भद्रबाहुके समय वीर नि० १६२ में ६० वर्ष बढ़ा दिये जायें तो चन्द्र-

गुप्त मौर्य और भद्रबाहुकी समकालीनता ठीक बन जाती है। अथवा चन्द्रगुप्त मौर्यके कालमेसे ६० वर्ष पीछे हटा दिये जायें जैसा कि हेमचंद्राचार्यने महावीर निर्वाणसे २१५ वर्षकी परम्पराके स्थानमे १५५ वर्ष पश्चात चंद्रगुप्तका राजा होना लिखा है तो दोनोंकी समकालीनता बन सकती है। आचार्य हेमचंद्रने ऐसा विचारपूर्वक ही किया है और इसलिये उनके समयमें दोनोंकी समकालीनताको एक वास्तविक तथ्यके रूपमें माना जाता था, यह स्पष्ट है, क्योकि यदि उसमे उन्हें थोड़ा सा भी संदेह होता तो हेमचंद्र २१५ वर्षकी चली आई हुई प्राचीन जैन गणनामे संशोधन करनेका साहस न करते।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त

आगे हम श्रुत केवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तको समकालीन बतलाने वाले उल्लेखोंका साधार निर्देश करते हैं—

दिगम्बर साहित्यमे इस विषयका सबसे प्राचीन उल्लेख हरिषेणकृत बृहत्कथा कोशमे (कथा १३१) पाया जाता है। यह ग्रन्थ शक सम्वत् ८५३ का रचा हुआ है। इसमें बतलाया है कि भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धन देशके निवासी एक ब्राह्मणके पुत्र थे। उन्होने एक दिन खेलते हुए एकके ऊपर एक, इस तरह चौदह गंटू रख दिये। चतुर्थ श्रुत केवली गोवर्धन उधरसे कहीं जाते थे। उन्होने भद्रबाहुको उसके पितासे मॉग लिया और उसे पढ़ा लिखाकर विद्वान् बना दिया। पीछे भद्रबाहुने अपने गुरुसे मुनि दीक्षा ले ली, और वह गोवर्धनके स्वर्गगमनके पश्चात् पञ्चम श्रुत केवली हुए।

एक दिन वे उज्जैनी नगरीमे भिक्षाके लिये गये। उस समय वहॉका राजा श्रीमान् चन्द्रगुप्त था और वह महान् श्रावक था।

भद्रबाहुने जैसे ही एक शून्यगृहमें प्रवेश किया। एक शिशुने कहा—'यहाँसे जल्दी चले जाओ।' दिव्यज्ञानी भद्रबाहुने शिशुके यह वचन सुनकर जाना कि यहाँ बारह वर्ष तक वर्षा नहीं होगी। ऐसा जानकर वे भोजन किये बिना ही लौट गये। उन्होंने संघसे यह समाचार कहा कि मेरी आयु थोड़ी है अतः मैं तो यहीं ठहरूँगा आप लोग समुद्रके समीप चले जायें। यह सुनकर नरेश्वर चन्द्रगुप्तने भी उनके पास जिन दीक्षा ले ली। मुनि होनेके पश्चात् चन्द्रगुप्तका नाम विशाखाचार्य हो गया और वे दस पूर्वियोंमें प्रथम हुए तथा संघके अधिपति बना दिये गये। उनके साथ सब संघ भद्रबाहुकी आज्ञानुसार दक्षिणापथ देशमें स्थित पुन्नार नगरको चला गया। भद्रबाहु मुनिने भाद्रपद देशमें जाकर समाधि मरण पूर्वक शरीर त्याग दिया।

इस कथामें भद्रबाहुको श्रुतकेवली तथा उनके गुरुका नाम गोवर्धन दिया है और चन्द्रगुप्त नरेश्वरको दीक्षा देनेके पश्चात् उनका उत्तराधिकारी विशाखाचार्य बतलाया है।

समस्त दिगम्बर जैन साहित्यमें तथा शिलालेखोंमे गोवधनको चतुर्थ श्रुतकेवली बतलाया है और उन्हें भद्रबाहु श्रुत केवलीका पूर्वज बतलाया है। तथा भद्रबाहुको पुड्रवर्धन देशके कोटिमत नगरका वासी बतलाया है। अतः यह निर्विवाद है कि वृ० क० कोशमे जिस भद्रबाहुका आख्यान दिया है वे श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं, और उनके समयमे चन्द्रगुप्त नामका यदि कोई राजा हुआ है तो वह मोर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ही है। चन्द्रगुप्त नामक अन्य राजा तो बहुत समय पश्चात् हुए है। अतः उनके श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन होनेका प्रश्न ही नहीं है।

श्री सत्यकेतु विद्यालंकारने अपने मौर्य साम्राज्यके इतिहासमें

(पृ० ४२४) लिखा है—'हम इस अनुश्रुतिमें कोई संदेह नहीं करते कि चन्द्रगुप्त नामका उज्जयिनीका एक राजा आचार्य भद्रबाहुके साथ श्रवणबेल गोलामें आया था और वहाँ पहुँचकर अनशन व्रत करके स्वर्गलोक सिधारा था। परन्तु प्रश्न यही है कि चन्द्रगुप्त है कौन सा ? जैन साहित्यके अनुसार यह अशोकका पौत्र है।'

किन्तु भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त द्वितीयकी, जो इतिहासमे संप्रति के नामसे ही प्रसिद्ध है, समकालीनता संभव नहीं है। अशोक के पौत्र सम्प्रतिका राज्याभिषेक २२० ई० पू० में हुआ। अर्थात् चन्द्रगुप्त प्रथमके राज्याभिषेकसे सौ वर्षसे भी अधिक कालके पश्चात्। उस समय भद्रबाहुका अस्तित्व किसी भी तरह संभव ननीं है। यद्यपि श्वेताम्बर साहित्यमे मम्प्रतिको जैन धर्मका महान् उद्धारक लिखा है। आर्य सुहस्तीने उसे जैन धर्ममें दीक्षित किया था। किन्तु एक तो श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवलीके ७५ वर्ष पश्चात् आर्य सुहस्ती पट्टासीन हुए थे। दूसरे, सम्प्रतिके राजपाट त्याग कर जिन दीक्षा लेनेका कोई निर्देश नहीं है। तीसरे, सम्प्रतिका चन्द्रगुप्त नाम भी कहीं नहीं मिलता, श्वेताम्बर साहित्यमे सम्प्रति नामसे ही उसका उल्लेख मिलता है। अतः भद्रबाहु श्रुतकेवलीका समकालीन चन्द्रगुप्त नामक राजा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ही हो सकता है। इतिहासमें उसकी राज्य समाप्तिका उल्लेख नहीं मिलता और न उसकी मृत्यु होनेका ही निर्देश है। इससे यह बहुत संभव माना जाता है कि उसने राज्य त्यागकर श्रुतकेवली भद्रबाहुसे मुनि दीक्षा ली।

डा० स्मिथने (आक्स० हि० इं०, पृ० ७५-७६) लिखा था—'चन्द्रगुप्त मौर्यका राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इसपर

ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओंसे ही पड़ता है। जैनियोंने सदैव उक्त मौर्य सम्राटको बिम्बसारके सदृश जैन धर्मावलम्बी माना है और उनके इस विश्वासको झूठ कहनेके लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि शैशुनाग नन्द और मौर्य राजवंशोंके समयमें जैनधर्म मगध प्रान्तमें बहुत जोर पर था। × × एक बार जहाँ चन्द्रगुप्तके धर्मावलम्बी होनेकी बात मान ली तहाँ फिर उनके राज्यको त्यागकर जैन विधिके अनुसार सल्लेखना विधिके द्वारा मरण करनेकी बात सहज ही विश्वसनीय हो जाती है। जैन ग्रंथ कहते हैं कि जब भद्रबाहुकी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षवाली भविष्यवाणी उत्तर भारतमें सच होने लगी तब आचार्य बारह हजार जैनियों (मुनियों) को साथ लेकर अन्य सुदेशकी खोजमें दक्षिणको चल पड़े। महाराज चन्द्रगुप्त राज्य त्याग कर संघके साथ हो लिये। यह संघ श्रवणबेलगोल पहुँचा। यहाँ भद्रबाहुने शरीर त्याग किया। राजर्षि चन्द्रगुप्तने उनसे बारह वर्ष पीछे समाधिमरण किया। इस कथाका समर्थन श्रवणबेल गोला आदिके नामों, ईसाकी सातवीं शताब्दीके उपरान्तके लेखों तथा दसवीं शताब्दीके ग्रन्थोंसे होता है। इसकी प्रामाणिकता सर्वतः पूर्ण नहीं कही जा सकती। किन्तु बहुत कुछ सोच विचार करनेपर मेरा झुकाव इस कथनकी मुख्य बातोंको स्वीकार करनेकी ओर है। यह तो निश्चित ही है कि जब ईस्वी पूर्व ३२२ में या उसके लगभग चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुए थे तब वे तरुण थे। अतएव जब २४ वर्षके पश्चात् उनके राज्यकालकी समाप्ति हुई तब वे पचास वर्षकी अवस्थासे नीचे ही होंगे। अतः इतनी कम अवस्थामें उनका राज्य त्याग देने और लुप्त हो जानेका उक्त कारण ही प्रतीत होता है। राजाओंके इस प्रकार विरक्त हो जानेके अन्य भी उदाहरण हैं। और बारह वर्ष-

का दुर्भिक्ष भी अविश्वसनीय नहीं है। संक्षेपमें अन्य कोई वृत्तान्त उपलब्ध न होनेके कारण इस क्षेत्रमें जैन कथन ही सर्वोपरि प्रमाण है।' (जै० शि० सं०, भाग १, भूमिका पृ० ६८-७० से)

डा० स्मिथने सातवीं शतीके जिन शिलालेखोंका निर्देश किया है उनमें श्रवण वेलगोलाके चन्द्रगिरिपर स्थित पार्श्वनाथ बस्तीके पासका शिलालेख (नं० १) इस सम्बन्धमें सबसे प्राचीन प्रमाण है। यह लेख श्रवण वेलगोलाके शिलालेखोंमें सबसे प्राचीन माना जाता है। इसमें लिखा है—'महावीर स्वामीके पश्चात् गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु विशाख प्रोष्ठिल, कृतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण, बुद्धिलादि गुरु परम्परामें होनेवाले भद्रबाहुके त्रैकाल्यदर्शी निमित्त ज्ञानके द्वारा उज्जैनीमें यह कथन किये जानेपर कि वहाँ बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़नेवाला है, सारे संघने उत्तरापथसे दक्षिण पथको प्रस्थान किया और क्रमसे वह बहुत समृद्धियुक्त जनपदमें पहुंचा। भद्रबाहु स्वामी संघको आगे बढ़नेकी आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य सहित कटवप्रपर ठहर गये और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया।

द्वितीय भद्रबाहुकी स्थिति

इस शिलालेखमें भद्रबाहुको श्रुतकेवली न बतलाकर निमित्त-ज्ञानी बतलाया है तथा चन्द्रगुप्तके स्थानमें प्रभाचन्द्र नामका प्रयोग किया है। किन्तु श्रवण वेलगोलाके शिलालेख नं० १७[1],

१—श्री भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त मुनीन्द्रयुग्म ·· ······ ।

१८, ४०,[1] ५४ और १०८[2] में भद्रबाहुको श्रुतकेवली तथा चन्द्रगुप्त-को उनका शिष्य बतलाया है। यहाँ यह स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा कि दि० पट्टावलिमें भद्रबाहु[3] नामके दो आचार्योंका उल्लेख

१—'श्री भद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलि नाथेषु चरमः परमो मुनिः॥ ४॥
'चन्द्रप्रकाशोज्ज्वल सान्द्र कीर्ति श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।'

२—यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूद् विदुषां विनेता सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन॥ ८॥
तदीय शिष्यो जनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।
—जै० शि० स०, भाग १।

३—ति० प० अ० ४, गा० १४९०, श्रुतस्कन्ध गा० ७६, श्रुताव० श्लोक ८३, ज० ध०, भाग १, पृष्ठ ८६, धवला पु० १, पृष्ठ ६६ में द्वितीय भद्रबाहुका नाम नहीं आया। 'जहबाहु', जयबाहु, जसबाहु नाम पाया जाता है। भद्रबाहु नाम केवल पट्टावलीमें पाया जाता है। ति० प० आदिके अनुसार यह जयबाहु (भद्रबाहु) आचारांगधारियोंकी परम्परामें तीसरे थे। और महावीर निर्वाणसे ६२+१००+१८३+२२० = ५६५ वर्षोंके पश्चात् आचारांगधारियोंकी परम्परा प्रारम्भ हुई। तथा चार आचारांगधारियोंका काल ११८ वर्ष बतलाया है। अतः यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यका काल ५० वर्ष माना जाये तो ११८—५० = ६८ वर्षको ५६५ मे जोड़नेसे (५६५+६८=६३३) महावीर निर्वाणसे ६३३ वर्ष पश्चात् दूसरे भद्रबाहुका अन्तकाल आता है। अर्थात् ६३३—५२७ = १०६ ई० या ६३३—४७० = १६३ विक्रम सम्सत्मे द्वितीय भद्रबाहुका मरण हुआ। किन्तु नन्दी संघकी पट्टावलीमें सामूहिक कालके साथ ही साथ प्रत्येक आचार्यका पृथक् २ काल भी दिया है। किन्तु उसमें प्रथम तीन केवलियों, पाँच श्रुतकेव-

मिलता है, एक तो अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु, और दूसरे वे भद्रबाहु हैं, जिनसे सरस्वती गच्छकी नन्दि आम्नायकी पट्टावली

लियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय तो क्रमशः वही ६२ + १०० + १८३ वर्ष बतलाया गया है और उसका जोड़ ३४५ वर्ष कहा है। इसके आगे जिन पाँच एकादश अंगधारियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया है, यहाँ उनका समय १२३ वर्ष बतलाया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र आचारांगधारी कहा है उन्हें यहाँ (न० पट्टा०) दस, नौ और आठ अंगके धारी कहा है। तथा इनका समय भी ११८ वर्षके स्थानमें ६६ वर्ष कहा है। इस पट्टावलीकी काल गणनाके अनुसार वीर निर्वाणसे ६२ + १८० + १८३ + १२३ + २४ = ४६२ वर्षके पश्चात् द्वितीय भद्रबाहु हुए और उनका काल २१ वर्ष बतलाया है। अर्थात् ५२७—४६२ ईस्वी सन्से ३५ वर्ष पूर्व या विक्रम सम्वत् ४६२—४७० = २२ में द्वितीय भद्रबाहु हुए। किन्तु पट्टावलामें लिखा है 'बहुरि महावीर स्वामी पीछें ४९२ च्यारि सै बाणवै वर्ष गये, सुभद्राचार्यका वर्तमान वर्ष २४ सो विक्रम जन्म तै बावीस वर्ष। बहुरि ता का राज्य तै ४ वर्ष दूसरा भद्रबाहु हुआ जानना। (इं० एं०, जि० २१, पृ० ५७ आदि) आशय यह है कि इस पट्टावलीमें 'तदुक्तं विक्रम प्रबन्धे' लिखकर दो गाथाएँ उद्धृत की हैं, जिनमे बतलाया है कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ८ वर्ष तक बालक्रीड़ा की; १६ वर्ष तक भ्रमण किया और ५६ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रमाणके अनुसार विक्रमका जन्म वीर निर्वाण सं० ४७० मे हुआ। अतः (४६२–४७० = २२) विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष पीछे सुभद्राचार्यका अन्त हुआ। तत्पश्चात् भद्रबाहु द्वितीय पट्टपर बैठे। तथा १८ वर्षकी उम्रमें विक्रमका राज्यारोहण हुआ। अतः (२२–१८ = ४) विक्रमके राज्यके ४ वर्ष बीतनेपर द्वितीय भद्रबाहु पट्टासीन हुए। विक्रम

प्रारम्भ होती है। दूसरे भद्रबाहुका समय ईस्वी सन्से ५३ वर्ष पूर्व पाया जाता है। अतः दोनों भद्रबाहुओंके मध्यमें तीन शता-

---

के राज्यारोहणसे विक्रम सम्वत्का चलन मानकर डा० फ्लीट वगैरहने वि० सं० ४ या ईस्वी पूर्व ५३ में द्वितीय भद्रबाहुका होना माना है। किन्तु वीर निर्वाण सम्वत् और विक्रम सम्वत्के मध्य ४७० वर्षके अन्तर में १८ वर्षकी वृद्धि कर देनेसे अथवा वीर निर्वाणसे ४८८ वर्ष पश्चात् विक्रम सम्वत्का प्रचलित होना माननेसे जो नई आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं उनका निर्देश श्री जुगलकिशोर मुख्तारने (अनेकान्त, वर्ष १, कि० १, पृष्ठ १९ में) स्पष्ट रूपसे किया है। अतः वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सम्वत्की प्रवृत्ति मानना ही उचित है और तदनुसार विक्रम सम्वत् २२ से वि० सं० ४५ तक भद्रबाहु द्वितीयका काल आता है। सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें इन्हें ब्राह्मण बतलाया है तथा आयु ७७ वर्ष बतलाई है। क० को० की कथाके श्रुतकेवली भद्रबाहु भी ब्राह्मण थे। और श्वेताम्बर परम्पराके तथोक्त श्रुतकेवली और वराह मिहिरके भाई भद्रबाहु भी ब्राह्मण थे। उनकी आयु भी ७६ वर्ष बतलाई है। सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीमें भद्रबाहुके शिष्यके तीन नाम बतलाये हैं—गुप्तिगुप्त, अर्हद्बलि और विशाखाचार्य। श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्यका नाम भी विशाखाचार्य था तथा दिगम्बर जैन ग्रन्थोंके जसबाहु आदि और नं० सं० पट्टावलीके भद्रबाहु (द्वितीय) के शिष्यका नाम लोहाचार्य था। नन्दि पट्टावलीके अनुसार लोहाचार्यके शिष्य अर्हद्बलि और अर्हद्बलिके शिष्य माघनन्दि थे। किन्तु सरस्वती ग० पट्टावलीमें लोहाचार्यको उमास्वामीके पश्चात् रखा है जो किसी भी तरह ठीक नहीं है। अतः द्वितीय भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी स्थिति सर्वथा असन्दिग्ध नहीं है। यदि दूसरे भद्रबाहु वराहमिहिरके भाई थे, तो कहना होगा कि दिगम्बर परम्पराके द्वितीय भद्रबाहु श्वेताम्बर परम्पराके

ब्दियोंका अन्तराल है। इनके शिष्यका नाम गुप्तिगुप्त पाया जाता है। डा० फ्लीटके मतानुसार ये द्वितीय भद्रबाहु ही दक्षिण गये थे और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तका ही नामांतर चन्द्रगुप्त था। मुनि कल्याण विजय जीने भी इसी मतका समर्थन किया है।

किन्तु उन्होंने द्वितीय भद्रबाहुके ईस्वी पूर्व ५३ में अथवा विक्रमकी प्रथम शतीमें होनेको गलत बतलाया है क्योंकि श्वेताम्बरीय साहित्यमें भद्रबाहुको ज्योतिषी वराहमिहिरका भाई लिखा है और वराहमिहिरका काल शक सम्वत् ४२७ (ई० ५०५) निश्चित है।

जैसे दिगम्बर जैन परम्परामें द्वितीय भद्रबाहुको चरमनिमित्त धर लिखा है वैसे ही श्वेताम्बर परम्परामें भी भद्रबाहुको निमितवेत्ता और भद्रबाहु संहिताका कर्ता लिखा है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि श्वेताम्बर ग्रन्थकारोंने वराहमिहिरके भाई निमित्तवेत्ता भद्रबाहुको ही श्रुतकेवली भी लिखा है। और यह भूल नई नहीं हैं. बहुत पुरानी है। इसी भूलके कारण निर्युक्तियोंका कर्ता भी श्रुतकेवली भद्रबाहुको ही समझा जाता रहा है, जिसका परिमार्जन वृहत् कल्पसूत्रके दो भागकी प्रस्तावनामे मुनि पुण्यविजय जीने युक्ति पुरःसर किया है।

भद्रबाहु सम्बन्धी इस चिरकालीन भूलके फलस्वरूप भद्रबाहुका जीवनवृत्त तक अस्त व्यस्त हो गया प्रतीत होता है। उदाहरणके लिये श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहुके गुरुका नाम यशोभद्र है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें द्वितीय भद्रबाहुके गुरुका नाम यशोभद्र है और श्रुतकेवली भद्रबाहुके गुरुका नाम गोवर्धनाचार्य है।

१ द्वितीय भद्रबाहुसे भिन्न थे क्योंकि दोनोके मध्यमें भी कई शताब्दियोका अन्तराल है।

श्रवण वेलगोलाके जिस शिलालेख नं० १ का ऊपर जिक्र किया उससे भी ऐसा अर्थ निकल सकता है कि शायद दूसरे भद्रबाहु दक्षिणको गये थे। जैसा कि डा० प्लीट और मुनि कल्याण विजय जीका भी मत है। परन्तु यह मत भी आपत्तिपूर्ण है क्योंकि प्रथम तो द्वितीय भद्रबाहुके समयमें चंद्रगुप्त नामके किसी राजाका कोई संकेत नहीं मिलता, दूसरे चंद्रगुप्त और गुप्तिगुप्तको एक माननेके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है, तीसरे जिस दुर्भिक्षके कारण भद्रबाहुको उत्तरापथसे दक्षिणापथको जाना पड़ा, द्वितीय भद्रबाहुके समयमें उस दुर्भिक्षका कोई निर्देश नहीं मिलता। इन कारणोंसे ही डा० फ्लीटके मतको विद्वानोंका समर्थन नहीं मिल सका।

अतः हरिषेण कथा कोशमें जो भद्रबाहुकी कथा दी है उसमें प्रामाणिकता है। यद्यपि उसमे चन्द्रगुप्तको उज्जैनीका राजा बतलाया है, किन्तु यह कथन भी आपत्तिजदक नहीं हैं, क्योंकि हम पहले बतला आये हैं कि शिशुनागवंश और नन्दवंशके राज्यमे उज्जैनीका राज्य भी सम्मिलित था। तथा यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्यकी प्रधान राजधानी तो पाटलीपुत्र ही थी, किन्तु कुछ अन्य राजधानियाँ भी थीं, जिनमें उज्जैनका नाम भी है और जो पश्चिम खण्डकी राजधानी थी (भा० इ० रू०, भा० २, पृ० ५४८)।

फिर कथामें चन्द्रगुप्तको उज्जैनीका राजा नहीं बतलाया। बल्कि यह बतलाया है कि जब भद्रबाहु उज्जैनीमें पधारे तो उस समय उस नगरमे महान श्रावक राजा चन्द्रगुप्त था। अतः उससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि उस समय चन्द्रगुप्त उज्जैन आया हुआ था।

मौर्य चन्द्रगुप्तका जैन श्रमणोंके प्रति विशेष आकर्षण था यह इतिहास सिद्ध है। मेगस्थिनीजने, जो चन्द्रगुप्तके दरबारमें सेल्यू-

कसका राजदूत था, लिखा है कि ये श्रमण ब्राह्मणों और बौद्धोंसे भिन्न थे इनका महाराज चन्द्रगुप्तके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे स्वयं अथवा अपने अनुचरोंके द्वारा बड़ी विनय तथा भक्तिके साथ श्रमणोंकी पूजा किया करते थे।

मि० जार्ज सी० एम० वर्डवुकने लिखा है—'चन्द्रगुप्त और विन्दुसार दोनों जैन थे। किन्तु चन्द्रगुप्तके पौत्र अशोकने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था।

डा० जायसवालने लिखा है—'ये मौर्य महाराज वेदोंके कर्म-काण्डको नहीं मानते थे और न ब्राह्मणोंकी जातिको अपनेसे ऊँचा मानते थे। भारतके ये व्रात्य अवैदिक क्षत्रिय सार्वकालिक साम्राज्य अक्षय 'धर्मविजय' स्थापित करनेकी कामनावाले हुए। (मौ० सा० इ० की भूमिका)

चन्द्रगुप्त मौर्यको जब जैन और बौद्ध क्षत्रिय बतलाते हैं तब ब्राह्मण पुराण उसे मुरा नामकी दासीका पुत्र बतलाते हैं। मुद्रा-राक्षस नाटकसे प्रकट है कि चाणक्य चन्द्रगुप्तको वृषल कहता था। जिन क्षत्रिय जातियोंपर ब्राह्मणोंका कोप हुआ वे वृषल कह-लाईं। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ब्राह्मण धर्मावलम्बी नहीं था। शेष रहे बौद्ध धर्म और जैन धर्म। सो मौर्यवंशमें बौद्ध धर्मका प्रवेश अशोकके द्वारा हुआ। चन्द्रगुप्तका पूर्वाधिकारी नन्द जैन था, यह बात खारवेलके शिलालेखसे स्पष्ट है, क्योंकि उस शिलालेखकी १२वीं पंक्तिमें बतलाया है कि नन्द कलिंगपर चढ़ाई करके कलिंग जिनकी मूर्ति ले गया था। बृहस्पति मित्रको हराकर खारवेल उस मूर्तिको पुनः कलिंग ले आया। इस घटनासे श्री जायसवालने यह सिद्ध किया है कि नन्द राजा जैन थे। (ज० वि० उ० रि० सो०, जि० १३, पृ० २४५)

अतः पाटलीपुत्रके राज घरानेमें चन्द्रगुप्तसे पहलेसे ही जैन

धर्म प्रचलित था। शायद इसीसे पुराणोंमें महापद्म नन्दके विषयमें लिखा है कि 'अबसे शूद्र राजा होंगे। अस्तु,

इसके सिवाय प्राचीन दि० जैन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिमें लिखा है कि 'मुकुटधारी राजाओंमें अन्तिम राजा चन्द्रगुप्तने जिन दीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारियोंने दीक्षा ग्रहण नहीं की।

यह प्राचीन उल्लेख भी इस बातको प्रमाणित करता है कि चन्द्रगुप्त नामक राजाने जिन दीक्षा धारण की थी। उसके पश्चात् किसी राजाने जिन दीक्षा धारण नहीं की। यह उल्लेख भी हरिषेण कथाकोश और श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें उल्लिखित चन्द्रगुप्तका ही निर्देशक है, क्योंकि उस एक चन्द्रगुप्तके सिवाय किसी अन्य चन्द्रगुप्तके जिन दीक्षा धारण करनेका कोई संकेत नहीं है, और वह चन्द्रगुप्त भद्रबाहु श्रुतकेवलीका लघु समकालीन मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ही है।

तथा ति० प० में उक्त गाथा ऐसे प्रकरणसे सम्बद्ध है जिसका सम्बन्ध भगवान् महावीरके निर्वाण पश्चात् होनेवाली आचार्यके परम्परासे है। उस प्रकरणमें सबसे प्रथम भगवान् महावीरके

१—महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्मो एकच्छत्रो भविष्यति॥
—मत्स्य पु०, २७१ अ०।

२—'मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरादु पव्वज्जं ग्रेव गेण्हंति॥१४८१॥
—ति० प०, अ० ४।

निर्वाणके पश्चात् क्रमसे होनेवाले तीन केवलज्ञानियोंका निर्देश है। उसके पश्चात् बतलाया है कि अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधर हुए, अन्तिम चारण ऋषि सुपार्श्वचन्द्र हुए, अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वज्रयश हुए और अंतिम अवधिज्ञानी श्री नामक ऋषि हुए। तत्पश्चात् अंतिम चद्रगुप्त राजाके दीक्षा लेनेवाली गाथा है। उसके पश्चात् क्रमसे होनेवाले पाँच श्रुतकेवलियोंका निर्देश है, जिनमें अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे।

भगवान महावीरके निर्वाणगमनके ३ वर्ष ८॥ मास पश्चात् पंचमकाल प्रारम्भ हुआ। पंचमकालमें ऋद्धि सिद्धिका योग क्वचित् ही होता है। चतुर्थकालमे उत्पन्न हुए मनुष्य पंचमकालमें मुक्त हो सकते है, जैसे जम्बूस्वामी। किन्तु पंचम कालके जन्मे हुए जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। इसी तरह ऋद्धियोंका लाभ भी उत्तरोत्तर हीन होता होता बन्द हो जाता है। अतः केवली और श्रुत केवलियोके मध्यमे जिन अन्तिम विशिष्ट व्यक्तियोका निर्देश किया है, महावीर निर्वाणसे कई शताब्दी पश्चात् उनका होना संभव प्रतीत नहीं होता। बहुत संभव तो यही प्रतीत होता है कि श्रुत केवलियोंके थोड़े बहुत आगे या पीछे ही वे महापुरुष हुए हों और शायद इसीलिए उनका निर्देश अन्तिम केवलीके पश्चात् तथा श्रुत केवलियोके पहले किया है। और इस दृष्टिसे भी जिन दीक्षा लेनेवाले अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें होनेवाले मौर्य चन्द्रगुप्त ही हो सकते हैं।

अतः भद्रबाहु श्रुतकेवली और मौर्य चन्द्रगुप्तकी समकालीनतामें कोई सन्देह करना उचित प्रतीत नहीं होता।

खारवेलके शिलालेखसे समर्थन

इसके सिवाय दिगम्बर तथा श्वेताम्बर अनुश्रुतियाँ यह बत-

लाती हैं कि भद्रबाहुके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और उसके कारण बहुत सा श्रुत विच्छिन्न हो गया।

खारवेलके हाथीगुफावाले शिलालेखकी १६ वीं पंक्तिमें आगत एक वाक्यको पहले इस प्रकार पढ़ा गया था—'मुरियकालं वोछिनं (नें ?) चोयठि अगस निकंतरियं उपादायाति।' और इसका अर्थ किया गया था—मुरियकालके १६४वें वर्षको वह पूर्ण करता है (शि० ले० सं० भा० २) किन्तु पीछे श्रीजायसवालने बड़े श्रमके साथ अध्ययन करके इसका संशोधन इस प्रकार किया 'मुरियकाल वो छिनं च चोयठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति।' और उसका अर्थ बतलाया—मौर्यकालमें विच्छिन्न हुए चौसठ भागवाले चौगुने अंगसप्तिकका उसने उद्धार किया।' अथवा तुरियका अर्थ चतुर्थ (पूर्व) भी किया जा सकता है, जिसके ६४ भागोंमें सात अथवा सौ या १६४ अंग थे।' इन अर्थोंको करके श्री जायसवालने लिखा है—'जैन आगमोंके इतिहासके और अधिक गहरे अध्ययनसे हम यह निर्णय करनेमें समर्थ होंगे कि इन तीनों अर्थोंमें से कौन सा अर्थ ग्राह्य है। किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें जैन मूल ग्रन्थोंके विनाशको लेकर जैन परम्परामें जो विवाद चलता है, उसका लेखके उक्त पाठसे आश्चर्यजनक समर्थन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि उड़ीसा जैन धर्मके उस सम्प्रदायका अनुयायी था, जिसने चन्द्रगुप्तके राज्यमें पाटलीपुत्रमें होनेवाली वाचनामें संकलित आगमोंको स्वीकार नहीं किया था।' (ज० बि० उ० रि० सो० जि० १३, पृ० २३६)।

उक्त शिलालेखके उक्त पाठसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयसे श्रुतका विच्छेद होनेकी जो अनुश्रुतियाँ हैं, वे मौर्यकालसे सम्बद्ध

हैं और इसलिये भद्रबाहु श्रुतकेवलीका चन्द्रगुप्त मौर्यके कालमें होना सिद्ध है।

ऊपरके समस्त विवेचनके आधारपर यह मानना पड़ता है कि आचार्योंकी काल गणनामे अवश्य ही कुछ भूल है। यद्यपि दि० जैन ग्रन्थों और पट्टावलियोमें जो वीर निर्वाणके पश्चात् होनेवाले जैनाचार्योंकी काल गणना दी है, जिसके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक अंगज्ञानकी परम्परा चालू रही, वह सर्वत्र एकरूप पाई जाती है, उसमें ऐसी गुंजाईश नहीं दिखाई पड़ती, जिसके आधार पर कुछ वर्षोंकी भूल प्रमाणित की जा सके।

किन्तु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली अन्य सब पट्टावलियोंसे विलक्षण है और आचार्योंके काल निर्णयमें यदि उसका उपयोग किया जाये तो भद्रबाहु श्रुतकेवली और चन्द्रगुप्त मौर्यकी समकालीनता बन सकती है, किन्तु है वह क्लिष्ट कल्पना ही। अन्य दि० जैन ग्रन्थोंके अनुसार महावीर निर्वाणके पश्चात् लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष पूरे होते है। किन्तु नन्दि पट्टा० के अनुसार वीर निर्वाणसे लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही होते हैं। इस तरह दोनों काल गणनाओंमें ११८ वर्षका अन्तर है। किन्तु यह अन्तर केवल एकादश अंगधारी तथा अन्य जैन ग्रन्थोंके अनुसार आचारांगधारी किन्तु नन्दि पट्टा० के अनुसार दस नौ आठ अगधारी आचार्योंके ही कालमें है। ३ केवली, ५ श्रुतकेवली और ११ दस पूर्वधारी आचार्योंकी काल गणनामें कोई अन्तर नहीं है। किन्तु यदि इस ११८ वर्षमें से जो नन्दि पट्टा० के अनुसार अर्हद्बलिसे लेकर भूतवलि पर्यंत पाँच आचार्योको दिये गये हैं—५० वर्ष पाँच श्रुतकेवलियोंमें सम्मिलित कर दिये जायें तो आचार्य कालगणनाके अनुसार भी श्रुतकेवली भद्रबाहु और चंद्रगुप्तमौर्यकी समकालीनता

बन जाती है। और पाँच श्रुतकेवलियोंके बतलाये गये १०० वर्ष कालमें ५० वर्षकी वृद्धि कोई अधिक नहीं है क्योंकि आगे पाँच एकादश अंगधारियोंका काल दो सौ बीस वर्ष बतलाया गया है, जो पाँच श्रुतकेवलियोंके कालसे दूनेसे भी अधिक है। यदि इन दोनों कालोंका समीकरण कर दिया जाये तो दोनोंका काल १६०-१६० वर्ष हो जाता है। इस तरह यदि पाँच श्रुतकेवलियोंका काल एक सौ साठ वर्ष हो जाता है तो समस्या सुलझ जाती है और ६० वर्षकी कमी स्पष्ट हो जाती है। किन्तु श्वेताम्बर परंपरा में भी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका लगभग वही काल माना जाता है जो दिगम्बर परम्परामें माना जाता है। इसीसे आचार्य हेमचंद्रको भगवान महावीरके निर्वाणसे चंद्रगुप्त मौर्यके राज्य तककी राज-काल गणनामें ६० वर्ष कम करना पड़े।

हेमचन्द्रने वीर निर्वाणसे एक सौ पचपन वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजाको होना लिखा है तथा वीर निर्वाणसे एक सौ सत्तर वर्ष बीतनेपर भद्रबाहुका स्वर्गगत होना लिखा है। अतः हमें श्वेताम्बरीय काल गणनाको भी देखना होगा।

श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार वीर निर्वाणसे २१५ वर्ष पर्यन्तकी राज्यकाल गणना और आचार्य काल गणना इस प्रकार हैं—

१—पालक[1] ६० + नवनन्द १५५ = २१५ वर्ष।

२ - गौतम १२ + सुधर्मा ८ + जम्बू ४४ + प्रभव ११ + शय्यंभव २३ + यशोभद्र ५० + संभूति विजय ८ + भद्रबाहु १४ + स्थूलभद्र ४५ = २१५ वर्ष।

तत्पश्चात् मौर्य राज्यकाल १०८ वर्षमें—महागिरि ३०, सुहस्ति ४६, गुणसुन्दर ३२।

आर्यसुहस्ती और सम्प्रति

कल्पसूत्र स्थविरावलीके अनुसार आर्य यशोभद्रके दोशिष्य थे—संभूति विजय और भद्रबाहु। संभूति विजयके शिष्यका नाम स्थूलभद्र था। और स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और सुहस्ती।

आर्य भद्रबाहुका स्वर्गवास वीर निर्वाणसे १७० वर्ष पश्चात् हुआ। स्थूलभद्र वीर निर्वाण १७० से २१५ तक आचार्य पदपर रहे। उनके पश्चात् आर्य महागिरि ३० वर्ष तक और तत्पश्चात् सुहस्ती ४६ वर्ष तक पट्टासीन रहे।

श्वेताम्बरीय उल्लेखोके अनुसार स्थूलभद्र अन्तिम नन्दके मंत्री शकटालके पुत्र थे। और उनके शिष्य सुहस्तीने अशोकके पौत्र सम्प्रतिको जैन धर्ममें दीक्षित करके जैन धर्मका महान् उद्धार कराया था। स्थूलभद्रका स्वर्गवास चन्द्रगुप्तके राज्यकालमें हुआ और चन्द्रगुप्तके राज्यकालमे ही आर्य सुहस्तीने उनसे दीक्षा ली। तत्पश्चात् आर्य सुहस्ती सम्प्रतिके राज्यकाल तक जीवित रहे। अर्थात् आर्य[1] सुहस्तीने चन्द्रगुप्त मौर्य, तत्पुत्र विन्दुसार, तत्पुत्र अशोक और अशोकके पौत्र सम्प्रतिका राज्यकाल देखा। श्री जायसवाल जीने चन्द्रगुप्तका राज्यकाल ई० पू० ३२६ से ३०२ तक तथा सम्प्रतिका राज्यकाल ई० पू० २२० से २११ तक ठहराया है। अर्थात् चन्द्रगुप्त और सम्प्रतिके मध्यमें एक शताब्दी-

१—पट्टा० समु०, पृ० १७।

२—श्वेताम्बर चन्द्रगुप्तके राज्याभिषेक और सुहस्तीकी मृत्युके बीचमें ११० या १०९ वर्षका अन्तर गिनते हैं। (परि० पर्व०, जेकोबी की प्रस्तावना)

का अन्तर है। इस सुदीर्घ कालकी पूर्तिके लिये मुनि श्री कल्याण विजय जीने आर्य सुहस्तीके साथ स्थूलभद्रकी संगति बैठानेके लिये आचार्य पदारोहण कालकी समाप्तिके पश्चात् भी स्थूलभद्रको जीवित माना है। फिर भी सम्प्रतिके इतिहास सम्मत कालके साथ आर्य सुहस्तीकी संगति नहीं बैठ सकी है, क्योंकि मुनि जीने वीर निर्वाणके २९१वे वर्षमें सुहस्तीका स्वर्गवास माना है। और इतिहासके अनुसार (५२७—२०१=२३६ ई० पू०) उसी वर्ष अशोकका अन्त हुआ था। जायसवाल जीने लिखा है कि जैन रिकार्डोंमे इसके स्पष्ट चिन्ह हैं कि सम्प्रति चन्द्रगुप्तके १०५ वर्ष पश्चात् अर्थात् अशोककी मृत्युके १६ वर्ष बाद राज्यासन पर बैठा (ज० वि० उ० रि० सो०, जि० १, पृ० ९४–९५)

वायु पुराण और तारानाथ आदिके अनुसार अशोकका उत्तराधिकारी उसका बेटा कुनाल था। उसका राज्यकाल आठ बरस लिखा है। विष्णु पुराणके अनुसार अशोकका पोता दशरथ था। मत्स्य पुराणमें भी उसका नाम है। बारवर (गया जिला) के पास नागार्जुनी पहाड़ी पर दशरथकी बनवाई हुई तीन गुफाएँ हैं जिनमे उसके दान सूचक अभिलेख हैं। दिव्यावदान और श्वे० जैन अनुश्रुतिके अनुसार अशोकका पोता सम्प्रति था। मत्स्य और विष्णु पुराणमें दशरथके बाद सम्प्रति या संगतका नाम है। जायसवाल जीने इसका यह परिणाम निकाला है कि सम्प्रति दशरथका छोटा भाई और उत्तराधिकारी था। अतः उन्होंने अशोकके पश्चात् ८ वर्ष तक कुनालका, उसके बाद ८ वर्ष तक दशरथका और उसके बाद सम्प्रतिका राज्यकाल ठहराया है।

श्वेताम्बरीय साहित्यमें सम्प्रतिकी कथा इस प्रकार दी है—आर्य सुहस्तीने कौशाम्बी नगरीमें आहारके अभिलाषी एक दरिद्र

व्यक्तिको दीक्षा दी। वह मरकर कुणालका पुत्र हुआ। अंधे कुणालने अपने पिता अशोकसे राज्य माँगा। अशोकने कहा— अंधेको राज्यसे क्या प्रयोजन? कुणाल बोला—मैं अपने पुत्रके लिये राज्य माँगता हूँ। मेरे सम्प्रति (अभी) पुत्र हुआ है। इस परसे अशोकने उसका नाम 'सम्प्रति' रखा। बड़ा होने पर सम्प्रति उज्जैनीका राजा हुआ। एक बार आर्य सुहस्ती उज्जैनीमे पधारे। सम्प्रतिने उन्हें देखा और उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो आया। सम्प्रतिने आर्य सुहस्तिसे श्रावकके व्रत धारण किये और उनका परम भक्त बन गया। अपने पूर्व जन्मके दारिद्र्यका स्मरण करके सम्प्रतिने नगरके चारों द्वारोपर भोजन शालाएँ स्थापित कीं, जिनमें दीन अनाथ भोजन कर सकते थे। जो भोजन शेष बचता था वह भोजनशालाके प्रबन्धकोंका होता था। यह जानकर राजाने यह आज्ञा दी कि जो अन्न शेष बचे वह साधुओंको दिया जाये, क्योंकि साधु लोग 'राजपिण्ड' होनेसे मेरे घर भोजन नहीं करते। इसी तरह सम्प्रतिने सब व्यापारियोंमे यह घोषणा करा दी कि साधुओंको अन्न-पान; तेल वस्त्र वगैरह विना मूल्य दिया जाये और उसका मूल्य राजकोषसे लिया जाये।

अब साधुओको प्रचुर मात्रामें सब आवश्यक वस्तुएँ मिलने लगीं तो आर्य महागिरिने अर्थ सुहस्तिसे इसका कारण पूछा— सुहस्तीने यह जानते हुए भी कि इस प्रकारका अन्न वस्त्र साधुके लिये अग्राह्य है, अपने शिष्य सम्प्रतिके मोहसे उसका समर्थन किया। तब आर्य महागिरिने सुहस्तीसे कहा—आप ऐसे बहुश्रुत होकर भी यदि शिष्यके मोहसे ऐसा कहते हैं तो आजसे मेरा तुम्हारा विसंभोग है—हम तुम एक मण्डलीमें नहीं रह सकते।

सुहस्तीने अपने दोषोंकी आलोचना करके तथा अपने अपराधकी क्षमा मांगकर आर्य महागिरिसे मिलाप कर लिया। (अभि० रा० में 'संग्रह शब्दसे)

इस कथाके अनुसार तो आर्य महागिरि भी सम्प्रतिके राज्य कालमें वर्तमान थे। किन्तु पट्टावलीके अनुसार सहुस्तीसे महागिरि तीस वर्ष बड़े थे अतः उनका स्वर्गवास भी सुहस्तीसे तीस वर्ष पूर्व हो चुका था क्योंकि दोनोंका आयुमान सौ सौ वर्ष माना गया है और अधिक वृद्धि करनेकी गुंजाइश नहीं है। मुनि कल्याण विजय जीने आर्य महागिरिका स्वर्गवास वीर निर्वाणाब्द २६१ में और सुहस्तीका स्वर्गवास वीर निर्वाण २९१ में माना है और अशोकका राज्यकाल वीर निर्वाण २६५ तक माना है। इसका तो यह मतलब हुआ कि सम्प्रतिने अशोकके राज्यकालके अन्दर ही राज्यपद प्राप्त कर लिया था और अशोकने जो कुछ बौद्ध धर्मके लिये किया, सम्प्रतिने अपने दादा अशोकके राज्यकालमें ही वही सब जैन धर्मके लिये किया। किन्तु यह संभव प्रतीत नहीं होता।

इसीसे श्री जायसवालने[1] लिखा था—सम्प्रति और सुहस्तीका समय एकदम गलत है।

असलमें राज्यकाल गणना और आचार्य काल गणनाकी संगति बैठानेके लिये ही मुनि कल्याण विजय जीको कालकी खींचातानी करनी पड़ी है, फिर भी वह संगति नहीं बैठ सकी है। इससे हमारा इतना ही आशय है कि आचार्य काल गणनामें अवश्य ही कुछ वर्षोंकी भूल है और उसमे सुधार हुए बिना सम्प्रति और सुहस्ती तथा महागिरिकी कालावधि संगत नहीं बैठ

१—ज० वि० उ० रि० सो, जि० १, पृ० १०४ का फुटनोट नं० ११७ में।

सकती। यदि भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी कालावधिको चन्द्रगुप्त मौर्यके कालके साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है तो आर्य महागिरि, सुहस्ती तथा सम्प्रतिके जीवनसम्बन्धी अनुश्रुतियोंकी संगति भी बैठ जाती है।

नंदमंत्री शकटाल

अब हम पुनः नन्दके मंत्री शकटालकी ओर आते हैं क्योंकि श्वेताम्बर साहित्यमे स्थूलभद्रको उसका पुत्र कहा है।

चन्द्रगुप्तके भारतीय आख्यानोके लिये गुणाढ्यकी बृहत्कथा को सबसे प्राचीन माना जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु उसके दो संस्कृत रूपांतर उपलब्ध है—एक क्षेमेन्द्रकी बृहत्कथामंजरी और दूसरा सोमदेवका कथा सरित्सागर। यद्यपि य दोनो रचनाएँ ईसाकी ११वीं शती तथा उसके भी बादकी हैं किन्तु इतिहासज्ञोंका मत है कि उनमें बृहत्कथाकी मूलवस्तु सुरक्षित है। (भा० इं० पत्रिका, जि० १२, पृ० ३१०)

गुणाढ्यने चन्द्रगुप्तके विषयमे जो कथा दी है वह इस प्रकार है—इंद्रदत्त वर्षका शिष्य था और पाणिनि, कात्यायन, वररुचि, और व्याडिका सहाध्यायी था। गुरुने उससे दक्षिणामें बहुतसा धन माँगा। इंद्रदत्त अयोध्याके राजा नन्दके पास गया जो निन्यानबे करोड़ सुवर्ण मुद्राओंका स्वामी था। किन्तु वहाँ जानेपर उसे मालूम हुआ कि नन्द अभी अभी मर गया है। इंद्रदत्त नन्दके मृत शरीरमें प्रविष्ट हो गया और व्याडि उसके शरीरकी रक्षा करने लगा। नन्दके मृत शरीरमें प्रविष्ट होनेके बाद इंद्रदत्तने वररुचिको आवश्यक धन दे दिया। नन्दके मंत्री शकटालने जब देखा कि कृपण नंद बड़ा उदार हो गया है तो उसे संदेह हुआ।

उस समय नंदका पुत्र चंद्रगुप्त बालक था। अतः उसने यह उचित समझा कि इंद्रदत्त नंदके शरीरमे ही बना रहे और इसलिये शकटालने छलसे इंद्रदत्तका शरीर जला दिया। इंद्रदत्तने शकटालको उसके पुत्रोंके साथ एक कूपमे डाल दिया, और उन्हें थोड़ा सा भोजन देने लगा। शकटालके सब पुत्रोंने स्वयं भोजन न करके अपने पिताको भोजन ग्रहण करनेके लिये विवश किया, जिससे वह बदला ले सके। वररुचि इंद्रदत्तका मंत्री था वह स्वयं शासनका भार उठानेमें असमर्थ था, अतः उसने इंद्रदत्तपर दबाव डाला कि वह शकटालको पुनः मंत्री बनावे। इंद्रदत्त इन दोनों मंत्रियोंको राज्यभार सौपकर योगानंदके रूपमें विषयासक्त हो गया'।

'एक बार वररुचि इंद्रदत्तका कोपभाजन बना। इंद्रदत्तने उसके वधकी आज्ञा दे दी। किंतु शकटालने वररुचिको छिपाकर उसकी रक्षा की। वररुचिकी मृत्युकी झूठी खबर पाकर उसके सम्बंधियोंने भी प्राण त्याग दिये। इससे इंद्रदत्तकी बड़ी बदनामी हुई। तब शकटालने चाणक्यकी सहायतासे योगानन्द और उसके पुत्र हिरण्यगुप्तको मार कर चंद्रगुप्तको उसके पिताके राज्यासनपर बैठाया।

बृहत्कथामे शकटालसे चाणक्यके भेंटकी कथा इस पकार पाई जाती है—'शकटालने चाणक्यको एक कटीली घासकी जड़े खोदते देखा, जो उसके पैरमे चुभ गई थी। उसे अपने मतलबका व्यक्ति समझकर शकटालने योगानंदके महलमे होनेवाले श्राद्धके लिए निमंत्रित कर दिया। तथा गुप्तरूपसे उसके स्थानपर दूसरे व्यक्तिको बैठा दिया। जब चाणक्य आया और उसने स्थानको घिरा हुआ पाया तो क्रुद्ध हो, शिखा खोल नंदको नष्ट करनेकी

प्रतिज्ञा की। शकटालने अपनी सफाई देकर चाणक्यके द्वारा योगानंद और उसके पुत्रको मरवा डाला।'

हरिषेण कृत जैन वृहत्कथाकोशमें भी शकटालकी कथा है। जो इस प्रकार है—

'पाटलीपुत्रमें नन्द नामका राजा था। उसके मंत्रीका नाम शकटाल था। उधर वररुचि, नमुचि, वृहस्पति और इंद्रदत्त पढ़नेके लिये गये, और वेदपारंगत होनेके पश्चात् गुरु दक्षिणाके लिये नन्दके पास गये। इसी समय नन्दका मरण हो गया। नमुचि नन्दके शरीरमें प्रवेश करके पाटलीपुत्रमें राज्य करने लगा और उसने वररुचि आदिके लिये एक हजार गौ प्रदान कीं। उन्होने वे गायें किसीके द्वारा अपने उपाध्यायके लिये भिजवा दीं। और वररुचि वगैरह योगानंदकी सेवामें रहने लगे।

एक दिन शकटालने योगानंदको परीक्षाके लिये उसे मदिरा पिला दी। योगानंदने शकटालको उसके सौ पुत्रोंके साथ भयानक कारागारमें डाल दिया। पश्चात् घटनावश नन्दने शकटालको कारागारसे निकालकर पुनः मंत्री बना दिया। शकटाल मन ही मन रुष्ट होकर अवसरकी ताकमें रहने लगा।

एक दिन वररुचिने नन्दके कहनेपर कविता पाठ किया। शकटालने अवसरसे लाभ उठाकर नन्दसे कहा कि राजन्! वररुचि दुष्ट बुद्धि है और आपके अन्तःपुरको नष्ट करना चाहता है। नन्दने वररुचिको मार डालनेकी आज्ञा दे दी। राजाके किङ्करोंने वररुचिको तो छोड़ दिया और उसके बदलेमें किसी दूसरेके प्राण ले लिये। राजाका भ्रम दूर होनेपर वररुचि पुनः नन्दका सेवक हो गया। उधर शकटाल महापद्म नामक जैनाचार्यके निकट साधु हो गया। एक दिन शकटाल मुनि भिक्षाके लिये राजमहलकी

ओर गये। द्वेषी वररुचिने उन्हें राजाके अन्तःपुरमें पहुँचा दिया। जब वह भोजन करके चले गये तो वररुचिने नन्दसे कहा कि यह शकटाल भिक्षाके बहानेसे आपके अन्तःपुरमें रमण करनेके लिये गया था। नन्दने रुष्ट होकर शकटालको मारनेके लिये अपने आदमी भेज दिये। सब वृत्तांत जानकर शकटालने छुरीसे अपना पेट फार डाला और शांतभावसे मृत्युका आलिंगन किया।

इस कथामें यद्यपि चंद्रगुप्त और चाणक्यका कोई वृत्तांत नहीं आया, किंतु कथावस्तु गुणाढ्यकी कथासे कुछ मेल अवश्य खाती है।

वृहत्कथा कोशकी रचना भगवती आराधना नामक एक प्राचीन जैन ग्रंथमें आये हुए दृष्टांतोंके आधार पर हुई है। उसमें शकटाल मुनिके सम्बंधमे जो गाथा आई है वह इस प्रकार है—

सगडालएण वि तहा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो।
वररुइ पओगहेदु रुट्ठे णंदे महापउमे ॥२०७६॥

इस गाथाका अर्थ स्पष्ट है कि—'वररुचिके प्रयोगके द्वारा महापद्म नन्दके रुष्ट हो जाने पर शकटालने भी शस्त्र ग्रहणके द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध किया'। किंतु आराधनाके टीकाकार श्री अपराजित सूरिको सम्भवतया शकटाल और महापद्मनन्दके जीवन वृत्तांतका परिचय नहीं था। शायद इसीसे उन्होंने 'महा-पउमे' महापद्म धर्माचार्यस्य समीपे प्रतिपन्नदीक्षेण' किया है—अर्थात् शकटालने महापद्म धर्माचार्यके निकट दीक्षा ली थी। इसीसे 'रुट्ठे णंदे' शब्दोंका अर्थ उन्होंने छोड़ दिया है। और हरिषेणको शकटाल और नंदकी कथा ज्ञात होने पर भी उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अपराजित सूरिके व्याख्यानका ही अनुसरण अपनी कथामें किया प्रतीत होता है।

हरिषेण कृत जैन वृहत्कथा कोशमें चाणक्यकी भी कथा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिषेणने शकटालकी कथासे चाणक्य वाला अंश अलग करके चाणक्यकी कथाका निर्माण किया है। गुणाढ्यकी कथामे चाणक्यका जो वृत्तांत दिया है वृहत्कथाकोशमे भी चाणक्यकी कथामे वही वृत्तांत दिया है किंतु कथाकोशमें यद्यपि शकटालको नंदका मत्री बतलाया है किंतु शकटालको नंद वंशके विनाशका प्रेरक न बनाकर 'कवि' नामक एक अन्य मंत्रीके द्वारा यह कार्य कराया गया है। अर्थात् नन्द कविको कूपमे डालता है उसका परिवार मर जाता है और वह बदला लेनेके लिये जीवित रहता है। नन्द द्वारा मुक्त होने पर वह पुनः मंत्री बनता है और जंगलमें चाणक्यको घासकी जड़ें उखाड़ता देखकर उसे अपने इष्टकी सिद्धिमे सहायक बनाता है और नंदके द्वारा चाणक्यका अपमान कराकर नंदवशका नाश कराता है।

श्वेताम्बरीय साहित्यमे भी चाणक्यकी कथा लगभग उक्त प्रकारसे ही पाई जाती है। तथा शकटालका वृत्तांत स्थूलभद्रके पिताके रूपमें पाया जाता है। उसमे भी शकटालको नौवें नंदका मंत्री तथा वररुचिको उसका प्रशंसक बतलाया है। वररुचिकी करामातका भण्डाफोड़ कर देनेके कारण वररुचि शकटालसे रुष्ट हो जाता है और यह मिथ्या प्रवाद फैलाता है कि 'शकटाल नन्दको मारकर राजा होना चाहता है। राजा भी इस मिथ्या प्रवादके कारण शकटालसे रुष्ट हो जाता है। तब शकटाल अपने वंशको बचानेके लिये अपने छोटे पुत्रसे कहता है कि जब मैं राजाको नमस्कार करूँ तब मेरा सिर काट डालना। पिताके अनुरोधसे पुत्र वैसा ही करता है। शकटालके दो पुत्र बतलाये हैं, छोटा पुत्र नन्दका मंत्री बन जाता है और बड़ा पुत्र स्थूलभद्र ३० वर्षकी वयमे साधु हो जाता है।

ऊपरकी कथाओंसे यह स्पष्ट है कि शकटाल महापद्मनन्द अथवा अंतिम नन्दका मंत्री था। अंतिम शैशुनाक राजाका उत्तराधिकारी महापद्मनन्द था। पुराणोंके अनुसार वह महानन्दीका शूद्रासे पैदा हुआ बेटा था। हेमचन्द्राचार्यने उसे (परि० पर्व०, सर्ग ६, श्लो० २०२) नापितकुमार कहा है। एक यूनानी लेखकने लिखा है कि वह एक नाई था, किंतु रानी उसपर आसक्त हो गई थी और धीरे धीरे वह राजकुमारोंका अभिभावक बनकर अंतमें उन्हें मारकर स्वयं राजा बन बैठा। उसका दूसरा नाम उग्रसेन था। महापद्मको पुराणोंमें 'सर्वक्षत्रान्तकृत'—सब क्षत्रियोंका उत्पाटक कहा है। महापद्मनन्दके बेटेने केवल १२ वर्ष राज्य किय। उसके ही समयमे सिकंदरने भारतवर्षपर चढ़ाई की और चन्द्रगुप्त मौर्यने नन्दवंशका राज्य हस्तगत किया। (भा० इ० रू०, पृ० ५२८)।

गुणाढ्यकी बृहत्कथा तथा जैन बृहत्कथाकोशकी कथामें बतलाया है कि जब वररुचि वगैरह नन्दके पास पहुँचे तो उसकी मृत्यु हो गई। इससे ऐसा अनुमान करना संभव है कि शकटालके सामने ही महापद्मनन्दकी मृत्यु हो गई थी और उसके उत्तराधिकारी अंतिम नन्दका मंत्रा भी शकटाल था क्योंकि उसे नौवें अर्थात् अन्तिम नन्दका मंत्री भी कहा है। महापद्मनन्दके समय ही चाणक्यके अपमानवाली घटना घटी, जिसमें शकटालका या उसके अन्य सहयोगीका हाथ था। महापद्मके मर जानेपर उसके पुत्रका बारह वर्ष तक ही राज्य कर सकना उसी षड्यंत्रका परिणाम था जिसका सूत्रपात महपद्मनन्दके जीवनकालमें हुआ था।

शकटालके पुत्र स्थूलभद्रका नाम तो क्या, संकेत तक भी दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें तथा जैनेतर साहित्यमें नहीं है। फिर भी

यदि यह मान लिया जाये कि स्थूलभद्र नन्द मंत्री शकटालके पुत्र थे तो उक्त कथाओंको देखते हुए यह मानना होगा कि महापद्म नन्दके समयमें शकटाल युवा थे। महापद्मनन्दका राज्यकाल ईस्वी पूर्व ३६६ से आरम्भ होता है क्योंकि ईस्वी पूर्व ४०९ तक तो नन्दिवर्धन वगैरहका राज्यकाल समाप्त होता है। उनके पश्चात् ४३ वर्ष महानन्दीने राज्य किया और महानन्दीका पुत्र महापद्मनन्द था। तथा महापद्म और उसके पुत्रोंने ४० वर्ष राज्य किया तत्पश्चात् ईस्वी पूर्व ३२६-३२५ के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य मगधके सिंहासन पर बैठा।

अतः अन्तिम नन्दके मंत्री शकटालका जन्म ईस्व' पूर्व ४०० से पहले नहीं होना चाहिये। किंतु मुनि कल्याण विजय जीने पट्टावलियोंके अनुसार स्थूलभद्रका जन्म ईस्वी पूर्व ४०० से पहले अर्थात् वीर निर्वाणके २६वें वर्षमें बतलाया है। तथा तीस वर्षकी अवस्थामें उन्होने दीक्षा ली थी। अर्थात् शकटालके महापद्मनन्दका मंत्री होनेसे पूर्व ही स्थूलभद्रने दीक्षा ले ली थी। किंतु श्वेताम्बर अनुश्रुतिके ही अनुसार महापद्मनन्दका रोषभाजन होनेके पश्चात् शकटालकी मृत्यु होनेपर स्थूलभद्रने दीक्षा ली थी। अतः ईस्वी पूर्व ४०० के लगभग शकटाल पुत्र स्थूलभद्रका जन्म होना संभव नहीं हैं हाँ शकटालका जन्म होना संभव है। अतः स्थूलभद्रका जन्म ईस्वी पूर्व ३७० के लगभग होना चाहिये। और तीस वर्षकी वयमें ईस्वी पूर्व ३४० के लगभग उन्हें प्रव्रजित होना चाहिये। वह समय महापद्म नन्दके राज्यका अन्तिम समय था और शकटालने वृद्धावस्थामें पदनिक्षेप किया था। बालब्रह्मचारी भद्रबाहु श्रुतकेवली भी शकटालके समवयस्क हो सकते हैं। उन्होंने भी सौ वर्षके लगभग आयु पाई हो यह संभव है। यद्यपि

श्वेताम्बर पट्टावलीमें उनकी आयु ७६ वर्षके लगभग बतलाई है, किन्तु सरस्वती गच्छकी दिगम्बर पट्टावलीमें द्वितीय भद्रबाहुकी उतनी ही अवस्था बतलाई है और श्वेताम्बर अनुश्रुतियोंमें दोनों भद्रबाहुओंमें ऐसा गड़बड़ घोटाला कर दिया गया है कि दोनोंका अस्तित्व एकमे ही गर्भित हो गया है। अतः यह संभव है कि द्वितीय भद्रबाहुकी आयु प्रथम भद्रबाहुको भी दे दी गई हो। अतः भद्रबाहु श्रुतकेवलीका समय ई० पूर्व ४०० से ईस्वी पूर्व ३०० के लगभग ही मानना चाहिये। अर्थात् वीर निर्वाण १२७ से २०७ तक। तथा स्थूलभद्रका समय वीर निर्वाण सं० १५७ से २५७ तक, और आर्य सुहस्तीका वीर नि० सं० २०० से ३०० के लगभग मानना चाहिये। ऐसा माननेसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त, स्थूलभद्रके पिता शकटाल और अन्तिम नन्द तथा आर्य महागिरि आर्य सुहस्ती और सम्प्रतिका लोक विश्रुत साहचर्य बन जाता है।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने परिशिष्ट पर्वमें चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यकालमे ही बारह वर्षके दुर्भिक्ष, अङ्गोका सङ्कलन और भद्रबाहुका स्वर्गगमन आदि बतलाया है। किन्तु राज्य त्याग कर चन्द्रगुप्तके भद्रबाहुके साथ जानेकी चर्चा नहीं की है यद्यपि चन्द्रगुप्तका समाधिपूर्वक मरण बतलाया है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि चूँकि इस अनुश्रुतिका दिगम्बर जैन मान्यताके साथ गहरा सम्बन्ध है, अतः उन्होने इसे स्थान देना उचित नहीं समझा होगा। दिगम्बर परम्परामें भी अनेक श्वेतांबरीय अनुश्रुतियोंको स्थान नहीं दिया गया है। किंतु इससे ऐतिहासिक तथ्यको ओझल नहीं किया जा सकता।

अतः चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी समकालीनता अवश्य ही एक ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होती है और इसलिये

दोनों ही परम्पराओंमें भगवान महावीरके पश्चात्की आचार्य परम्पराका जो काल दिया है वह निर्दोष नहीं है। और इसलिये उसके आधार पर किसी निर्दोष तथ्यका उद्भावना करना संभव नहीं है।

यहाँ हमने वीर निर्वाणके समयका निर्धारण करनेकी दृष्टिसे प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्को ही ठीक मानकर उसके आधारपर महावीर भगवानके समकालीन व्यक्तियोंके कालक्रम तथा घटनाओंका सम्बन्ध बैठाया। पश्चात् महावीर निर्वाणके पश्चात् होनेवाले राजाओं तथा राजवंशोंके कालक्रमके साथ उसकी संगति बैठाई और फिर आचार्योंकी काल गणनाके प्रसंगमें भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्यके इतिहास प्रसिद्ध साहचर्यको लेकर १०० वर्षमें होनेवाले पाँच श्रुतकेवलियोंके कालक्रममें कतिपय वर्षोंकी भूल होनेकी आशंका प्रकट की है।

इस परसे यह कहा जा सकता है कि जार्ल चार्पेन्टियरने जो प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्में ६० वर्ष अधिक बतलाकर ६० वर्ष करनेकी सम्मति दी थी उसे ही मान्य क्यों न कर लेना चाहिये। क्योंकि उससे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तकी समकालीनता बन जाती है।

किन्तु ऐसा करनेसे यद्यपि भद्रबाहुका समय चन्द्रगुप्तके पास आ जाता है जैसा कि हेमचन्द्राचार्यने किया है। किन्तु विक्रम सम्वत् और वीर निर्वाण सम्वत्के बीचका प्रसिद्ध ४७० वर्षका अन्तर तथा शक राजा और वीर निर्वाण सम्वत्के बीचका ६०५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर गड़बड़ा जाता है, और इनके पीछे प्राचीन जैन अभिलेखोंका इतना जबरदस्त बल है कि उसको रौंद करके आगे बढ़ना शक्य नहीं है। अतः वीर निर्वाणका जो काल माना जाता है वही उचित है।

संघ-भेद

भगवान महावीरके निर्वाणकालकी चर्चाके प्रसंगसे श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चन्द्रगुप्तका विवरण आ जानेके पश्चात् भगवान महावीरके संघमें विभेद होनेकी चर्चा करना उचित होगा, क्योंकि इन दोनों महापुरुषोंके कालमें ही उसका सूत्रपात हुआ माना जाता है।

जैन धर्मसे परिचित जनोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि जैन धर्मके अनुयायी मुख्य रूपसे दो सम्प्रदायोंमें विभाजित हैं। एक सम्प्रदाय दिगम्बर जैन कहलाता है और दूसरा सम्प्रदाय श्वेताम्बर जैन। दोनों सम्प्रदाय भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीरको अपना धर्मगुरु मानते हैं और दोनोंकी उपासना एकसी श्रद्धा भक्तिके साथ करते हैं। किन्तु दोनोंमें जिस मुख्य बातको लेकर मतभेद है वह दोनोंके नामोंसे ही स्पष्ट है। दिगम्बर-दिशायें ही जिनका वस्त्र है अर्थात् जो नग्न गुरुओंका उपासक सम्प्रदाय है वह दिगम्बर कहलाता है। और श्वेताम्बर अर्थात सफेद वस्त्र धारण करनेवाले गुरुओंका उपासक संप्रदाय श्वेताम्बर कहलाता है। अतः दोनों नामोंसे यह स्पष्ट है कि साधुओंके वस्त्र पहिनने और न पहिननेको लेकर ही दोनों संप्रदायोंकी सृष्टि हुई है। यह संघ भेद कैसे हुआ इस सम्बन्धमें दोनों सम्प्रदायोंमें विभिन्न कथाएँ पाई जाती हैं किंतु उनसे भी यही प्रकट होता है कि वस्त्रके कारण ही संघभेद हुआ। सबसे प्रथम हम दिगम्बर साहित्यमें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्तिके सम्बंधमें जो कथा पाई जाती है उसीको देते हैं—

हरिषेणके बृहत्कथा कोश (वि० सं० ९८९) में देवसेनके दर्शनसारमें (वि० सं० ९९०) और भाव संग्रहमें तथा रत्ननंदिके भद्रबाहु चरित्रमें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्तिकी कथा दी है।

देवसेनने अपने दर्शनसार[1] में लिखा है—'विक्रम राजाकी मृत्युके १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देशके वलभीपुरमें श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ उत्पन्न हुआ ॥११॥ श्री भद्रबाहु गणिके शिष्य शांति नामके आचार्य थे। उनका जिनचंद्र नामका एक शिथिलाचारी दुष्ट शिष्य था ॥१२॥ उसने मत चलाया कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है। केवल ज्ञानी भोजन करते हैं और उन्हें रोग होता है ॥१३॥ वस्त्र धारण करने वाला भी मुनि मोक्ष प्राप्त कर सकता है। महावीरका गर्भ परिवर्तन हुआ था। जैनके सिवाय अन्य लिंगसे भी मुक्ति हो सकती है तथा प्रासुक भोजन सर्वत्र किया जा सकता है ।१४॥

कहना न होगा कि स्त्रीकी मुक्ति, केवलि मुक्ति, सवस्त्र साधुकी मुक्ति, महावीर भगवानका गर्भ परिवर्तन आदि जो बातें श्वेताम्बर मतके सम्बन्धमें ऊपर बतलाई हैं, उन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता और मुख्य रूपसे इन्हीं बातोंको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मतभेद है।

१—एक्कसए छत्तीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥११॥
सिरिभद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ ।
तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥ १२ ॥
तेण कियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो ।
केवलणाणीण पुण अण्णक्खाणं तहा रोगो ॥१३॥
अंबरसहिओ वि जई सिज्झई वीरस्स गब्भचारत्तं ।
परलिंगे विय मुत्ती फासुयभोज्जं च सव्वत्थ ॥१४॥
—मो० इं० पत्रि०, जि० १५, भाग ३-४, पृ० २०२ ।

किंतु भद्रबाहु गणिके शिष्य आचार्य शांति और उनके शिष्य जिनचन्द्रका पता श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परामें नहीं लगता। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परामें शांतिसूरि[1] और शांतिचन्द्र[2] गणि नामके आचार्य हुए, किंतु वे देवसेनके पश्चात् हुए हैं। इसी तरह जिनचन्द्र[3] नामके भी आचार्य श्वेताम्बर परम्परामें हुए हैं। किन्तु वे भी विक्रमकी ११वीं और १२वीं शताब्दीमें हुए हैं।

हाँ, विक्रमकी सातवीं शतीमें जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण नामके एक प्रसिद्ध जैनाचार्य श्वेताम्बर परम्परामें हो गये हैं, जिन्होंने अपने विशेषावश्यक[4] भाष्यमें वस्त्रपात्रवादका खूब समर्थन

१—'वि० पणणवत्यधिक सहस्र १०९६ वर्षे श्रीउत्तराध्ययन टीकाकृत थिरापद्र गच्छीय वादिवेताल श्री शान्तिसूरिः स्वर्गभाक्'।

—तपा० पट्टा० (पट्टा० समु० पृ० ५४)

मुनि कल्याण विजय जीने 'वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना' (पृ० ११७) में एक गाथा उद्धृत की है जिसका भाव यह है कि युग प्रधान तुल्य वादिवेताल शान्तिसूरिने वालभ्य संघके कार्यके लिये वलभी नगरीमें उद्यम किया है।' मुनि जीका अनुमान है कि वलभीमें जो देवर्द्धिगणिने सम्मेलन बुलाया उसमें एक परम्पराके उपप्रमुख वादि वेताल शान्तिसूरि थे। शायद इन्हीं शान्तिसूरिसे उक्त कथामें तात्पर्य हो।

२—पट्टा० समु०, पृ० ७५-७६।

३—देखो—जिणचंद सूरि' शब्द अभि० राजे०।

४—मण-परमोहि-पुलाए' आहार-खवग-उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि सिज्भणा य जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥२५९३॥

—विशे० भा०।

किया और जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्पके विच्छिन्न होनेकी घोषणा करके एक तरहसे उसपर रोक ही लगा दी थी। इन्हींके समयमें इनसे कुछ वर्ष पूर्व निर्युक्तियोंके रचयिता द्वितीय भद्रबाहु भी हो गये हैं। इन द्वितीय भद्रबाहु और जिनभद्र गणिके गुरु-शिष्य भावके सम्बन्धमे कुछ कह सकना हमारे लिए शक्य नहीं है। क्योंकि जिनभद्रने अपने विशेषावश्यक भाष्यमें भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिका व्याख्यान करने जाकर भी न रचयिता भद्रबाहुका ही नाम लिया और न उनकी कृति आवश्यक निर्युक्तिका ही नाम लिया। प्रवचनको[1] प्रणाम करके गुरुके उपदेशानुसार आवश्यक अनुयोगका व्याख्यान करनेकी प्रतिज्ञा की है। यह एक विचित्र सी बात है कि जिस कृतिका व्याख्यान किया जाये उसका नाम तक भी न लिया जाये। इसीसे टीकाकार हेमचन्द्रने यह शङ्का की है कि इस भाष्यमे भद्रबाहु प्रणीत सामायिक निर्युक्तिका व्याख्यान किया जायेगा। तब इसे आवश्यकानुयोग क्यों कहा? टीकाकारने तर्कपद्धतिका आश्रय लेकर शङ्काका समाधान तो कर दिया, किंतु एक सरल जिज्ञासुके लिये तो उक्त शङ्का अन्य अनेक आशङ्काएँ उत्पन्न करनेवाली है, जिनके विस्तारमें जाना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

इन जिनभद्रको श्वेताम्बर मतका संस्थापक या प्रवर्तक तो नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रबलपोषक और समर्थक होनेमे तो रंचमात्र भी संदेह नहीं है। अतः जिनभद्र नामसे यदि इन्हींका

१—कयपवयणप्पणामो वोच्छं चरणगुणसंगहंसयलं।
आवस्सयाणुओगं गुरूवए साणु सारेण ॥ १ ॥

—वि० भा०।

निर्देश देवसेनने किया हो तो यह असंभव नहीं है। एक दूसरे देवसेनने अपने भावसंग्रहमें श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी पूरी कथा दी है, जो इस प्रकार है—

'उज्जैनी नगरीमें भद्रबाहु नामके आचार्य थे। वे निमित्त-ज्ञानी थे। उन्होंने संघको बुलाकर कहा कि एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष होगा जो बारह वर्षोंमें समाप्त होगा। इसलिये सबको अपने अपने संघोंके साथ अन्य देशोंको चले जाना चाहिये। यह सुनकर सब गणधर अपने अपने संघोंको लेकर उन उन देशोंको विहार कर गये, जहाँ सुभिक्ष था। उनमेंसे एक शांति नामके आचार्य अपने शिष्योंके साथ सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमें पहुँचे। परन्तु उनके पहुँचनेके बाद वहाँ पर भी बड़ा भारी अकाल पड़ गया। भूखे लोग दूसरोंका पेट फाड़कर और उनका खाया हुआ भात निकाल कर खा जाने लगे। इस निमित्तको पाकर सबने कम्बल, दण्ड तूम्बा, पात्र, आवरण और सफेद वस्त्र धारण कर लिये, ऋषियोंका आचारण छोड़ दिया और दीनवृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करना और बैठकर याचना करके वसतिकामें जाकर स्वेच्छापूर्वक भोजन करना शुरु कर दिया। उन्हें इस प्रकार आचरण करते हुए कितना ही समय बीतने पर जब सुभिक्ष हो गया तो शांति आचार्यने उनसे कहा कि अब इस कुत्सित आचारणको छोड़ दो और अपनी निंदा गर्हा करके फिरसे मुनियोका श्रेष्ठ आचारण ग्रहण कर लो। इन वचनोंको सुन कर उनके एक प्रधान शिष्यने कहा कि अब उस दुर्धर आचरणको कौन धारण कर सकता है? उपवास, भोजनका न मिलना, तरह तरहके दुस्सह अन्तराय, एक स्थान, अचेलता मौन, ब्रह्मचर्य, भूमि पर सोना, हर दो महीनेमें केशोंका लोच करना, बाईस

परीषहोंको सहना आदि बड़े ही कठिन आचरण हैं। इस समय हम लोगोंने जो आचरण ग्रहण कर रक्खा है वह इस लोकमें भी सुखदायक है। इस पंचम कालमें हम उसे नहीं छोड़ सकते। तब शान्त्याचार्यने कहा कि चारित्रसे भ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं, यह जैन मार्गको दूषित करता है। जिनवर भगवानने निर्ग्रन्थ प्रवचनको ही श्रेष्ठ कहा है, उसको छोड़कर अन्य मार्गका अवलम्बन लेना मिथ्यात्व है। इस पर रुष्ट होकर उस शिष्यने अपने दीर्घ दण्डसे गुरुके सिर पर प्रहार किया जिससे मरकर वह व्यन्तर हो गया। तब वह शिष्य संघका स्वामी बन गया और प्रकट रूपसे श्वेताम्बर हो गया। वह लोगोंको उपदेश देने लगा और कहने लगा—सग्रन्थ लिंगसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अपने अपने ग्रहण किये हुए पाषण्डोंके सदृश उन लोगोंने शास्त्रोंकी रचना की और उनका व्याख्यान करके लोगोंमें उसी प्रकारके आचरणकी प्रवृत्ति चला दी। (भाव सं०, गा० ५३-७०)।

हरिषेणकृत वृहत्कथाकोशसे भद्रबाहुकी कथाका कुछ अंश श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्यके प्रकरणमें दे आए हैं। जिसमें दुर्भिक्षके कारण श्रुतकेवली भद्रबाहुसे चन्द्रगुप्तके दीक्षा लेने और उसका विशाखाचार्य नाम होने तथा उसके साथ संघके दक्षिण पथको चले जानेका निर्देश है। आगेकी कथा इस प्रकार है—'सुभिक्ष हो जाने पर भद्रबाहु गुरुका शिष्य विशाखाचार्य समस्त संघके साथ दक्षिणापथके देशसे मध्य देशमें लौट आया। रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य तीनों दुर्भिक्ष कालमें सिन्धु देशमें चले गये थे। इन्होंने वहाँसे लौटकर कहा कि वहाँके लोग दुर्भिक्ष पीड़ितोंके हल्लेके कारण दिनमें नहीं खा पाते थे, इससे रातको खाते थे। उन्होंने हमसे कहा कि आप लोग भी रातके समय हमारे घरसे पात्र लेकर आहार ले जाया करें। उन लोगों-

के ऐसा कहने पर हम लोग वैसा करने लगे। एक दिन एक कृशकाय निर्ग्रन्थ साधु हाथमें भिक्षा पात्र लेकर श्रावक के घर गया। अँधेरेमें उस नग्न मुनिको देखकर एक गर्भिणी श्राविकाका, जो नई आई थी भयसे गर्भपात हो गया। तब श्रावकोंने आकर साधुओंसे कहा—'समय बड़ा खराब है। जब तक स्थिति ठीक नहीं होती तब तक आप लोग बायें हाथसे अर्ध फालक (आधे वस्त्र खण्ड) को आगे करके और दाहिने हाथमें भिक्षा पात्र लेकर रात्रिमें आहार लेनेके लिये आया करें। जब सुभिक्ष हो जायेगा तो प्रायश्चित लेकर पुनः अपने तपमें संलग्न हो जाना'। श्रावकोंका वचन सुनकर यतिगण वैसा करने लगे।

जब सुभिक्ष हो गया तो रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्यने सकल संघको बुलाकर कहा—अब आप लोग अर्धफालकको छोड़कर निर्ग्रन्थरूपताको धारण करें। उनके वचनोंको सुनकर कुछ साधुओंने निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया। रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य भी विशाखाचार्यके पास गये और उन्होंने अर्ध वस्त्रको छोड़कर मुनिका रूप नैर्ग्रन्थ्य धारण कर लिया। जिन्हे गुरुका वचन रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ, उन शक्तिहीनोंने जिनकल्प और स्थविर कल्पका भेद करके अर्धफालक सम्प्रदायका चलन किया।

सौराष्ट्र देशमें वलभी नामकी नगरी है। उसमें वप्रवाद नाम का मिथ्यादृष्टि राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम स्वामिनी था। वह अर्धफालक वाले साधुओंकी भक्त थी। एक दिन राजा अपनी रानीके साथ महलमे बैठा हुआ गवाक्षोके द्वारा अपने नगरकी शोभा देखता था। उसी समय अर्धफालक संघ भिक्षाके निमित्तसे राजाके महलमे आया। अर्धफालक संघको

देखकर राजाको बड़ा कौतुक हुआ और वह अपनी रानीसे बोला देवि ! तुम्हारा यह अर्धफालक संघ तो ठीक नहीं प्रतीत होता, न तो यह वस्त्रसे वेष्ठित ही है और न नग्न ही है। एक दिन राजाने उस संघसे कहा कि तुम लोग अर्धवस्त्रको छोड़कर निर्ग्रन्थताको अपना लो। यदि निर्ग्रन्थ रूपको धारण करनेमें तुम लोग असमर्थ हो तो इस अर्धफालककी विडम्बनाको छोड़कर मेरे आदेशसे अपने शरीरको ऋजु वस्त्रसे ढांककर विहार करो। उस दिनसे वप्रवाद राजाकी आज्ञासे प्रेमीहृदय लाट देश वासियोंका काम्बल तीर्थ प्रवर्तित हुआ। इसके पश्चात् दक्षिणापथमें स्थित सावलिपत्तनमे उस काम्बल सम्प्रदायसे यापनीय संघ उत्पन्न हुआ।'

भट्टारक रत्ननन्दिने सम्भवतः देवसेन और हरिषेणकी कथाओंको सम्बद्ध करके अपने भद्रबाहु चरित्रको लिखा है। इसीसे उनकी कथामे परिवर्तन भी देखा जाता है। उनके परिवर्तित कथा भागका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—'भद्रबाहु स्वामीकी भविष्य वाणी होनेपर बारह हजार साधु उनके साथ दक्षिणकी ओर विहार कर गये। परन्तु रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र आदि मुनि उज्जैनीमें ही रह गये। दुर्भिक्ष पड़ने पर उनके शिष्य विशाखाचार्य आदि लौटकर उज्जैनी आये। उस समय स्थूलाचार्यने अपने साथियोंसे कहा कि शिथिलाचार छोड़ दो। पर उन्होंने क्रोधित होकर स्थूलाचार्यको मार डाला। इन शिथिलाचारियोंसे अर्धफालक सम्प्रदायका जन्म हुआ। इसके बहुत समय बाद उज्जयिनीमे चन्द्रकीर्ति नामका राजा हुआ। उसकी कन्या वलभीपुरके राजाको ब्याही गई। उस कन्याने अर्धफालक साधुओंके पास विद्याध्ययन किया था, इसलिये वह उनकी भक्त थी। एक बार उसने अपने पतिसे उन साधुओंको अपने यहाँ

बुलानेके लिये कहा। राजाने बुलानेकी आज्ञा दे दी। वे आये और उनका खूब स्वागत सत्कार हुआ। परन्तु राजाको उनका वेष अच्छा न लगा। वे रहते तो थे नग्न, पर ऊपर वस्त्र रखते थे। रानीने अपने पतिके मनका भाव जानकर साधुओंके पास पहिननेके लिये श्वेतवस्त्र भेज दिये। साधुओंने भी उन्हें स्वीकार कर लिया। उस दिनसे वे सब साधु श्वेताम्बर कहलाने लगे। उनमें जो प्रधान था उसका नाम जिनचन्द्र था।'

ऐतिहासिक दृष्टिसे इन कथाओंका मूल्यांकन करनेके लिये उनमे वर्णित बातोंके सम्बन्धमें थोड़ा प्रकाश डाल देना उचित होगा।

उक्त कथाओंमें जहाँ तक भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें बारह वर्षके दुर्भिक्ष पड़ने तथा संघके साथ उनके दक्षिणापथको जानेका प्रश्न है, उसके सम्बन्धमें हम पिछले प्रकरणमें लिख आये हैं। अतः उसके सम्बन्धमें यहाँ कुछ न लिखकर शेष बातोंपर प्रकाश डालते हैं। उत्तर प्रांतमें ही रह जाने वाले साधुओंमें तीन को प्रमुख बतलाया है—रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य इनमेसे एक रामिल्ल नामके किसी साधुका पता श्वेताम्बर परम्परामें नहीं चलता। हाँ, स्थविर स्थूलभद्र भद्रबाहुके समकालीन और उत्तराधिकारी माने गये हैं। तथा दिगम्बर परम्परामे श्रुतकेवली भद्रबाहुको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान श्वेताम्बर परम्परामें स्थूलभद्रको प्राप्त है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी आचार्य परम्पराका आरम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहुसे न होकर स्थूलभद्रसे होता है। उनके[1] यहाँ श्रुतकेवली भद्रबाहुकी शिष्य परम्पराका

१—'तं जहा–थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स''''अंतेवासी दुवे थेरा–थेरे अज्ज सभूअविजए'''थेरे अज्ज भद्दबाहू''''। थेरस्स णं अज-

अभाव है। और स्थूलभद्र[1]को अन्तिम श्रुतकेवली लिखा है। अतः भद्रबाहुके समय उत्तर भारतमें रह जानेवाले मुनियोंके प्रधानके रूपमें स्थूलभद्रका नाम तो इतिहास सिद्ध है। किन्तु सुभिक्ष हो जाने पर जो स्थूलभद्रका पुनः विशाखाचार्यका अनुयायी निर्ग्रन्थ होना बतलाया गया है, वह ठीक नहीं है। स्थूलभद्र तथोक्त स्थविर परम्पराके ही अनुयायी बने रहे और इसीसे उन्हें श्वेताम्बर परम्परामें अग्रस्थान प्राप्त हुआ।

हरिषेणने 'रामिल्लः स्थविरो योगी भद्राचार्योऽप्यमी त्रयः' लिख कर उनकी संख्या तीन बतलाई है और आगे 'रामिल्लस्थविर स्थूल भद्राचार्याः' लिखा है। वैसे स्थविर स्थूल भद्राचार्य एक ही व्यक्तिका नाम हो सकता है क्योंकि उक्त स्थूलभद्र आचार्य स्थविर थे और योगी भी थे। उन्होंने योगकी प्रक्रियाके द्वारा सिंहका रूप धारण करके अपनी बहनको डरा दिया था। किंतु हरिषेण तीनकी गणना करते हैं, इसलिये भद्राचार्यको पृथक् नाम मान कर के उससे जिनभद्र गणि क्षमा श्रमणका ग्रहण होना सम्भव है क्योंकि देवसेनने श्वेताम्बर पक्षके प्रमुखका नाम 'जिनचन्द्र' लिखा है। इसमें 'जिन' नाम है और भद्र या चन्द्र उसका पूरक है। जिनभद्रके सम्बन्धमें हम लिख आए हैं कि वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रबल पोषक प्राचीन आचार्योंमेंसे अन्यतम थे। किन्तु उनका समय स्थूलभद्रसे लगभग नौ शताब्दी पश्चात् है। किन्तु

संभूअ विजयस्स" अंतेवासी थेरे अज्ज थूलभद्दे ""। थेरस्स णं अज थूलभद्दस्स"" अंतेवासी दुवे थेरा"" ॥' —क० सू० स्थवि०।

१—'योगीन्द्रः स्थूलभद्रोऽभूदथान्यः श्रुतकेवली।' —पट्टा० समु०, पृ० २५।

जिनभद्र और हरिषेणके बीचमें लगभग तीन शताब्दियोंका अन्तर है। अतः सम्भव है उनका नाम सुनकर हरिषेणने उन्हें भी स्थूलभद्रका सहयोगी समझ लिया हो। अस्तु,

देवसेन सूरिकी कथामें दुर्भिक्षके समय वलभी नगरीमें गये हुए साधुओंका दुर्भिक्षके कारण वस्त्र पात्र कम्बल आदि ग्रहण करना बतलाया गया है। किन्तु हरिषेणकृत कथामें पहले अर्धफालक सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है अर्थात् शिथिलाचारी साधु बायें हाथ पर वस्त्र खण्ड लटकाकर आगे कर लेते थे—जिससे नग्नताका आवरण हो जाता था—पीछे वलभी नगरीमें उन्होंने पूरा शरीर ढाकना शुरु कर दिया और कम्बल वगैरह रखने लगे। देवसेनकी कथाके उक्त अंशसे हरिषेणकी कथाका अर्धफालक वाला उक्त अंश बुद्धिग्राह्य तो है ही, मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे भी उसका समर्थन होता है।

अर्धफालक सम्प्रदाय

जै० हि० भाग १३, अङ्क ९-१० में श्री नाथूराम जी प्रेमीने दर्शनसारकी विवेचनाके परिशिष्टमें रत्ननन्दिके भद्रबाहु चरित्रमें आगत उक्त कथाका विश्लेषण करते हुए लिखा था— दिगम्बर ग्रन्थोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवलीका शरीरान्त वीर निर्वाण सम्वत् १६२ मे हुआ है और श्वेताम्बरोकी उत्पत्ति वीर नि० सं० ६०३ (विक्रम संवत् १३६) में हुई है। दोनोंके बीचमे कोई साढ़े चार सौ वर्षका अन्तर है। रत्ननन्दि जीको इसे पूरा करनेकी चिन्ता हुई पर और कोई उपाय न था इस कारण उन्होंने भद्रबाहुके समयमें दुर्भिक्षके कारण जो मत चला था, उसको श्वेताम्बर न कहकर अर्धफालक कह दिया और उसके बहुत वर्षों बाद (साढ़े चार सौ वर्षके बाद) इसी अर्धफालक सम्प्रदाय

के साधु जिनचन्द्रके सम्बन्धकी एक कथा और गढ़ दी और उसके द्वारा श्वेताम्बर मतको चला हुआ बतला दिया। वास्तवमें अर्धफालक नामका कोई भी सम्प्रदाय नहीं हुआ। भद्रबाहु चरित्र से पहलेके किसी भी ग्रन्थमे इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह भट्टारक रत्ननन्दिकी खुदकी 'ईजाद' है।'

उस समय तक हरिषेण कृत कथाकोश प्रकाशमे नहीं आया था। संभवतः इसीसे प्रेमी जीने अर्धफालक संप्रदायको रत्ननन्दि-की खुदकी ईजाद लिख डाला। किंतु हरिषेण कृत कथाकोशसे यह स्पष्ट है कि रत्ननन्दिने अपनी कथामे 'खुदकी ईजाद' नही घुसेड़ी, जो कुछ लिखा है वह उन्हें परम्परासे ही प्राप्त हुआ था। अतः रत्ननन्दिसे कई शताब्दि पूर्व दसवीं शतीमे अर्धफालक सम्प्रदाय-का अस्तित्व माना जाता था, हरिषेणके [1]कथाकोशसे यह स्पष्ट है। अब यदि उसे किसीकी 'ईजाद' कहा जा सकता है तो वह व्यक्ति आचार्य हरिषेण हैं। किंतु जैसे अर्धफालक सम्प्रदायको रत्ननन्दि-की 'ईजाद' करार देनेमे जल्दबाजी की गई, यदि वैसी ही जल्द-बाजी उसे हरिषेणकी ईजाद करार देनेमें की गई तो यह दूसरी बड़ी भूल होगी; क्योंकि यद्यपि हरिषेणसे पहलेके किसी ग्रन्थमे इस सम्प्रदायका कोई निर्देश अभी तक नहीं मिला है, किन्तु मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेषोंमेंसे एक [2]शिलापट्टमे

१—कथाकोशमें कहा है कि जब तक सुभिक्ष न हो साधु अपने बाएँ हाथमे वस्त्रको आगे करके तथा दाहिने हाथमें भिक्षापात्र लेकर आहारके लिये निकलें। यथा—

यावन्न शोभनः कालः जायते साधवः स्फुटम्।
तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वाऽर्धफालकम् ॥५८॥

२—आजकल यह शिलापट्ट लखनऊके संग्रहालयमें सुरक्षित है।

एक जैन साधु बिल्कुल उसी रूपमें अङ्कित है जिस रूपका निर्देश कथाकोशमें[1] किया गया है। और उसे जैनयति कृष्णकी मूर्ति बतलाया है। 'जैन साहित्यनो इतिहास' में उसके सम्बन्धमें इस प्रकार परिचय दिया गया है—

'आ ऐक जैन स्तूप नो भाग छे के जे उक्त मथुरानी कंकाली तीला टेकरीमांथी निकलेल छे। ते स्तूपना बे भाग पाडेला छे। उपलो भाग सांकड़ो छे अने तेना मध्यमां स्तूपनी आकृति छे अने स्तूपनी बंने बाजुए जिननी बच्चे आकृतिओ छे। कुल ते चार आकृतिओ (मूर्तिओ) छेल्ला चार तीर्थङ्कर नमि, नेमि, पार्श्व अने वर्धमाननी छे। नीचे ना भागमां कण्हनी मूर्ति छे के जेना मानमां आ स्तूप बनाववामां आव्यो हतो। कण्हनी मूर्तिने वस्त्र पहेरावेलां होता थी ते श्वेताम्बर मूर्ति मानी शकाय। आमां आवेल मूल लेख कोई अनिर्णीत लिपिमां छे। आरंभमां ९५ नी साल होवानुं जणाय छे के जे बखते वासुदेवनु राज्य हतुं।'

इसमें बतलाया है कि नीचेके भागमें कण्हकी मूर्ति है जिसके सन्मानमे यह स्तूप बनाया गया। कण्हकी मूर्ति वस्त्र पहिने होनेसे उसे श्वेताम्बर मूर्ति कहा जा सकता है। इसमेंका मूल लेख किसी ऐसी लिपिमें है जिसका निर्णय नहीं हो सका, सम्वत् ९५ के सालमे जब वासुदेवका राज्य था तबकी यह होनी चाहिये।'

इसमें श्री देसाई जीने कण्हकी मूर्तिको वस्त्र पहिने होनेसे श्वेताम्बर होना तो स्वीकार्य कर लिया किंतु उसके वस्त्र धारणके ढंगके विषयमें कुछ नहीं लिखा। श्री चिम्मनलाल[1] शाहने भी

१—भिक्षापात्रंसमादाय दक्षिणेन करेण च।
गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुध्वं भोजनं दिने ॥५६॥
—हरि० क० को०, पृ० ३१८

१—जै० ना० इं०

इस विषयमें मौन धारण कर लिया है। किन्तु श्री बुहलरने (इं० एण्टि०, जि० २, पृ० ३१६) लिखा था—नेमिष देवताके बाएँ घुटनेके पास एक छोटी सी आकृति नंगे मनुष्यकी है जो बाएँ हाथमें वस्त्र होनेसे तथा दाहिना हाथ ऊपरको उठा होनेसे एक साधु मालूम होता है।

लखनऊ संग्रहालयके तत्कालीन अध्यक्ष डा० वासुदेव शरण अग्रवालने उक्त शिलापट्टके सम्बन्धमें लिखा था—'पट्टके ऊपरी भागमे स्तूपके दो ओर चार तीर्थङ्कर हैं, जिनमेसे तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालकृत) और चौथे संभवतः भगवान महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं। पर तीर्थङ्कर मूर्तियोंपर न कोई चिन्ह है और न वस्त्र। पट्टमें नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथ मे सम्मार्जनी और बाएँ हाथमे एक कपड़ा (लगोट) लिए हुए है, शेष शरीर नग्न है। (जै० सि० भा०, भाग १०, कि० २, पृ० ८० का फुटनोट)।

चित्रके देखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कण्हने बाएँ हाथ-से वस्त्र खण्डको मध्यसे पकड़ा हुआ है और सामने करके उससे उन्होंने अपनी नग्नता मात्रको छिपाया हुआ है। संभवतः श्वेताम्बर सम्प्रदायके पूर्वज अर्धफालक सम्प्रदायका यही रूप था। यह सम्भव है कि उसे अर्धफालक सम्प्रदाय नामसे न कहा जाता हो और दिगम्बरोंने ही वस्त्र खण्ड रखनेके कारण उन्हें यह नाम दे दिया हो। मगर श्वेताम्बर साधुओंका प्रारम्भिक रूप यही प्रतीत होता है। क्योंकि श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रके संबोध प्रकरणसे प्रकट होता है कि विक्रमकी ७वीं ८वीं शताब्दी तक श्वेतांबर साधु भी मात्र एक कटिवस्त्र ही रखते थे। तथा जो साधु उस कटिवस्त्रका उपयोग

निष्कारण करता था वह कुसाधु माना जाता था। तथा प्रारम्भमें शरीरका गुह्य अंग ही ढांकनेका विशेष खयाल रहता था। गुह्य अङ्गके ढाकने वाले वस्त्र खण्डको 'चोलपट्ट' कहते थे। चोलपट्टका[1] प्रमाण स्थविरके लिये दो हाथ और युवाके लिये चार हाथ था। तथा वह चौकोर होता था। हमारे विचारसे चुल्लपटसे चोलपट्ट शब्द बना प्रतीत होता है। 'चुल्ल' का अर्थ है क्षुद्र। अतः चुल्लपट्टका अर्थात् क्षुद्र वस्त्र होता है। प्रारम्भमें वस्त्रको दाहिने हाथसे पकड़कर नग्नताको ढांका जाता होगा जैसा कि मथुरासे प्राप्त कण्हके शिलापट्ट पर अङ्कित चित्रसे स्पष्ट है। पीछे उसे धागेके द्वारा कमरमें बांधा जाने लगा होगा। आर्य रक्षितके पिता सोमदेवका श्वेताम्बर साहित्यमें जो वर्णन पाया जाता है उससे भी यही प्रकट होता है। सोमदेव अन्य सब उपकरणोंको छोड़नेके लिये तैयार हो जाता है परन्तु अधोवस्त्र छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता। तब आर्य रक्षित बड़े कौशलसे उससे धोती छुड़वाते हैं और धोतीकी जगह कटिमें धागेसे चोलपट्ट बँधवा देते हैं। यह घटना विक्रमकी दूसरी शताब्दीके आरम्भकी बतलाई जाती है। उधर मथुरासे प्राप्त आयागपट्ट भी लगभग उसी समयका है। उसपर सं० ९५ अङ्कित है। उस समय कौशाण वंशके अन्तिम सम्राट वासुदेवका राज्य था।

अतः अर्धस्फालक सम्प्रदायका अस्तित्व किसीकी कल्पनाका विषय न होकर वास्तविक ही है और वही वर्तमान श्वेताम्बर

---

१ 'चोलस्य पुरुषचिन्हस्य पटः प्रावरणवस्त्रं चोलपट्टः'।
—अभि० रा०।

२ दुगुणो चउग्गुणो वा हत्थो चउरंस चोलपट्टोय।
थेर जुवाणट्ठा वा सण्हे थूलम्मि य विभासा ॥९२०॥
—प्रव० सारो० ९१ द्वार।

सम्प्रदायका पूर्वज भी है। अतः हरिषेणका कथन वास्तविक ही प्रतीत होता है।

किन्तु कथामे जिस ढंगसे अर्धफालकसे श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है उसमें वास्तविकताकी प्रतीति नहीं होती। किसी नगरीके राजाके आदेश मात्रसे अर्धफालकसे श्वेताम्बर बन जाना संभव प्रतीत नहीं होता। असलमे शिथिलाचारिता एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रवेश होनेपर यदि उसे न रोका गया तो उसका बढ़ना ही स्वाभाविक है। विनयपिटकका महावग्ग इसपर अच्छा प्रकाश डालता है। बौद्ध संघमें साधु पहले फटे चिथड़े ही धारण करते थे, गृहस्थोंके द्वारा दिये गये चीवर धारण करनेका नियम नहीं था। बुद्धने जब गृहपति चीवर धारण करनेकी आज्ञा दे दी तो उसके पश्चात् वस्त्रोंका ढेर लग गया।

यही स्थिति हम श्वेताम्बर सम्प्रदायमे भी पाते हैं। पं० बेचरदास जीने 'जैन साहित्यमें विकार' नामक पुस्तकके 'श्वेताम्बर दिगम्बरवाद' नामक अध्यायमें इस पर साधार प्रकाश डाला है। अतः कथाका वह अंश 'कविकी ईजाद' हो तो आश्चर्य नहीं है। किन्तु वलभी नगरीमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलानेमें अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्य निहित है क्योंकि वर्तमानमें उपलब्ध श्वेताम्बरीय आगमोंका संकलन वलभी नगरीमें ही किया गया था। और उनकी संकलना तथा लेखनके पश्चात् श्वेताम्बर-दिगम्बर भेदकी एक ऐसी अटूट दीवार खड़ी हो गई जिसने दोनोंको सर्वदाके लिये पृथक् कर दिया। इसीसे श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति वलभी नगरीमें बतलाई गई प्रतीत होती है।

उक्त कथामें एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि उसमें जिन-

कल्प और स्थविर कल्पके भेदको पीछेसे कल्पित बतलाया[1] है और श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यके अवलोकनसे भी उसका समर्थन होता है। आचारांग सूत्रमें तो ये दोनों भेद हैं ही नहीं, अन्य भी प्राचीन अंगोंमें नहीं हैं। हाँ, कल्पसूत्र निर्युक्तिमें हैं। और इसलिये उसे उसी समयकी उपज कहा जा सकता है।

उक्त कथा पर एक आपत्ति यह की जाती है कि उसमें संघ उज्जैनीसे दक्षिणकी ओर गया ऐसा लिखा है। डा० फ्लीटका कहना है कि संघकी दक्षिण यात्रा ऐतिहासिक सत्य है, चाहे वह उज्जैनीसे गया हो या और कहींसे। (इण्डि०, एण्टि०, जिल्द २१, पृ० १५६)

अब हम श्वेताम्बर[2] साहित्यसे उस कथाको देते हैं जिसमें बोटिक सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है।

१—'इष्टं न यैर्गुरोर्वाक्यं संसारार्णवतारकम्।
जिन-स्थविरकल्पं च विधाय द्विविधं भुवि ॥६७॥
अर्धफालकसंयुक्तमज्ञातपरमार्थकैः।
तैरिदं कल्पितं तीर्थं कातरैः शक्तिवर्जितैः ॥६८॥
—हरि० क० को०।

२—'छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइआ सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा॥ २५५०॥
रहवीरपुरं नगरं दीवगमुज्जाण मज्जकण्हे य।
सिवभूईस्सुवहिम्मि पुच्छा थेराण कहणा य॥२५५१॥
बोडियशिवभूईओ बोडियलिंगस्स होई उप्पत्ती।
कोडिन्न कोट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना ॥२५५२॥
—विशे० भा०।

रथवीरपुरमें शिवभूति नामका एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजाके लिये अनेक युद्ध जीते थे। इसलिये राजा उसका विशेष सन्मान करता था, और इससे वह बड़ा घमण्डी हो गया था और रात्रिको बहुत विलम्बसे घर आता था। एक दिन वह बहुत रात गये घर लौटा। उसकी मांने द्वार नहीं खोला और उसे खूब बुरा भला कहा। तब वह साधुओंके उपाश्रयमें चला गया और उनसे व्रत देनेकी प्रार्थना की। साधुओंने उसे व्रत नहीं दिये। तब वह स्वयं केशलोच करके साधु बन गया। राजाने शिवभूतिको एक बहुमूल्य रत्नकम्बल दिया। आचार्यने उसे लेनेसे मना किया। किन्तु शिवभूति नहीं माना। एक दिन आचार्यने शिवभूतिकी अनुपस्थितिमे उस रत्नकम्बलको फाड़कर उसके पैर पोंछनेके आसन बना डाले। इससे शिवभूति रुष्ट हो गया। एक दिन आचार्य जिन कल्पका वर्णन कर रहे थे। उसे सुनकर शिवभूति बोला—आजकल इतनी परिग्रह क्यों रखते हैं? जिनकल्पको क्यों नहीं धारण करते? आचार्यने उत्तर दिया—जम्बू स्वामी के पश्चात् जिन कल्पका विच्छेद हो गया। संहनन आदिके अभावमें आजकल उसका धारण करना शक्य नहीं है। इसपर शिवभूति बोला—'मेरे रहते हुए जिनकल्पका विच्छेद कैसे हो सकता है, मैं ही उसे धारण करूँगा। आचार्य तथा स्थविरोंने उसे बहुत समझाया किन्तु वह नहीं माना और वस्त्र त्याग कर चला गया। उसकी बहन उसे नमस्कार करनेके लिये गई। वह भी उसे देखकर नंगी हो गई। जब वह भिक्षाके लिये नगरमें गई तो एक गणिकाने उसे वस्त्र पहिना दिया। नंगी स्त्री बड़ी बीभत्स लगती है, यह सोचकर शिवभूतिने भी उसे सवस्त्र रहनेकी आज्ञा दे दी। पश्चात् शिवभूतिने कौडिन्य और कोट्टवीर नामके दो व्यक्तियोंको अपना शिष्य बनाया। इस तरह वीर निर्वाणके ६०९

वर्ष बीतनेपर रथवीरपुरमें बोटिक शिवभूतिसे बोटिकोंका मत उत्पन्न हुआ।'

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भगवान महावीरके तीर्थकालमें सात निन्हव उत्पन्न हुए। आगमकी यथार्थ बातको छिपाकर अन्यथा कथन करनेको निन्हव कहते हैं। इस तरहकी घटनाएँ सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिमें कारण हुआ करती हैं। किन्तु इन सात निन्हवोंके कारण कोई नया सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हुआ और एक-को छोड़कर शेष सभी निन्हवोंके कर्ता आचार्य समझानेसे मान गये।

स्थानांग[1] सूत्रमें सातो निन्हवोंके नाम, स्थान और कर्ता आचार्योंका निर्देश पाया जाता है। आवश्यक[2] निर्युक्तिमें उनका काल भी दिया है। किन्तु स्थान और काल आठ निन्हवोंका दिया है। तथा उपसहार[3] करते हुए भी सात ही निन्हवोंका निर्देश किया

१—'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयण-णिण्हगा पण्णत्ता। तं जहा—बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामु-च्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया। एएसिं णं सत्तण्हं पवयण-णिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया होत्था—जमाली, तिस्सगुत्ते, आसाढे, आस-मित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठा माहिल्ले। एएसिं णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिनगरे होत्था। तं जहा—सावत्थी, उसमपुरं, सेयविया, मिहिल, उल्लुगातीरं पुरिमंतरंजि, दसपुर, णिण्हग उप्पत्ति नगराइं॥

—स्था०, सूत्र ५८७।

२—आव नि०, गा० ७७६–७८३।

३—एवं एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निण्हया सत्त।
वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पवयणे नत्थि॥७८४॥

है। आव० नि० पर विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमें बतलाया है कि यह आठवाँ निन्हव वोटिक मत है, और उन्होंने ही वोटिक मतकी उत्पत्ति कथा भी दी है। इस तरहसे इस आठवें निन्हवके जन्मदाता वे ही जान पड़ते हैं। और इसलिये दिगम्बर कथाओंके जिनभद्र ये जिनभद्र ही हो सकते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्पका विच्छेद होनेकी घोषणा की थी। कथामें भी यही बतलाया गया है कि जिनकल्पका विच्छेद होनेके पश्चात् शिवभूतिने नग्न होकर जिनकल्पका प्रवर्तन किया और इस तरह वोटिक मत चल पड़ा। किन्तु इससे दिगम्बर मत अर्वाचीन प्रमाणित नहीं होता क्योंकि जब जिनकल्पको दिगम्बरत्वका प्रतिरूप माना गया है और जम्बूस्वामी तक उसका प्रचलन रहा है तथा उसे ही शिवभूतिने धारण किया तो उसने नवीन मत कैसे चलाया। जो पुराना था तथा एक पक्षने जिसके विच्छेद होनेकी घोषणा कर दी थी। उसीका पुनः प्रवर्तन करना नवीन मतका चलाना तो नहीं है। यदि जिनकल्प पहले कभी प्रचलित न हुआ होता तथा जैन परम्परामें उसे आदर प्राप्त न हुआ होता तो उसे नवीन मत कहा जा सकता था। किन्तु उत्तरकालीन श्वेताम्बर साहित्यमें जिनकल्पका समादर पाया जाता है। श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यके टीकाकारोंने प्रायः प्रत्येक कठिन आचारको जिनकल्पका आचार बताया है। उसके सम्बन्ध मे केवल इतना ही विरोध था कि पञ्चम कालमें उसका विच्छेद हो गया है, क्योंकि उसका धारण कर सकना शक्य नहीं है।

सत्तेया दिट्ठीओ जाइजरा मरणगब्भवसहीणं।
मूलं संसारस्स उ हवंति निग्गंथरूवेणं ॥७८६॥'

—आ० नि०।

शिवभूतिको भी यही कहकर समझाया[1] गया था। किन्तु उसने यही उत्तर दिया कि असमर्थके लिये जिनकल्पका विच्छेद भले हो हुआ हो समर्थके लिये उसका विच्छेद कैसे हो सकता है ?

एक बात और भी है, दिगम्बर कथाओंमें श्वेताम्बरोंकी बाबत प्रायः यही लिखा है कि जिनकल्पका धारण करना बड़ा कठिन है इसलिये हमने स्थविर कल्पको धारण किया है। यही बात श्वेताम्बरीय कथामे भी प्रकारान्तरसे कही गई है। उससे संघभेदकी उत्पत्तिके आशयमें अन्तर नहीं पड़ता। दिगम्बर लेखक दिगम्बर वेशको जैन मुनिका साधारण आचार मानकर दुर्भिक्षजनित परिस्थितियोंके कारण उत्पन्न हुई शिथिलाचारिताको श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका जनक बतलाते हैं। और श्वेताम्बर लेखक जम्बू स्वामी के पश्चात् विच्छिन्न हुए जिनकल्पका पुनः संस्थापन करनेको दिगम्बर मतकी उत्पत्तिका जनक बतलाते हैं। तथा जिनकल्पके विच्छेदका कारण काल आदिकी कठिनताको बतलाते हैं, जो कि अशक्तताका ही सूचक है। किन्तु दोनोंके आशयोंमें इस ऐक्यके होते हुए भी एक मौलिक अन्तर भी है। दिगम्बरोंके अनुसार श्वेताम्बर सम्पदाय (साधुओंका वस्त्र परिधान) कभी था ही नहीं, श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयसे ही उसका प्रारम्भ हुआ। किन्तु श्वेताम्बरोंके अनुसार जिनकल्प (दिगम्बरत्व) की प्रवृत्ति जम्बू स्वामी तक अविच्छिन्न रूपसे चली आती थी। उसके

१—'उवहिविभाग सोऊं सिवभूई अज्जकण्हगुरुमूले।
जिणकप्पियाइयाण गुरुकीस नेयाणि ॥२५५३॥
जिणकप्पोऽणुचरिजइ नोच्छिन्नोत्ति भणिए पुणो भणइ।
तदसत्तस्सोच्छिज्जउ वुच्छिज्जइ किं समत्थस्स ॥२५५४॥
—विशे० भा० ।

पश्चात् ही उसका विच्छेद हुआ, और शिवभूतिने उसे पुनः प्रचलित करके दिगम्बर सम्प्रदायकी सृष्टि की। अतः जब दिगम्बरोंके अनुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय नया है। तब श्वेताम्बरोंके अनुसार दिगम्बर पन्थ नया नहीं है किन्तु अति प्राचीन है। केवल बीचमें ही उसका विच्छेद हो गया था।

अतः श्वेताम्बर कथाके अनुसार भी दिगम्बर पन्थ नया प्रमाणित नहीं होता। किन्तु उसमें जो जम्बू स्वामीके पश्चात् ही जिनकल्पका विच्छेद तथा शिवभूतिके द्वारा उसकी पुनः प्रवृत्ति आदि बतलाई है उसका समर्थन अन्य स्रोतोंसे नहीं होता और न यह बात ही गले उतरती है कि आदर्श मार्गका एकदम लोप हो जाये तथा अपवाद मार्गका सार्वत्रिक चलन हो जाये। और फिर एक शिवभूतिके द्वारा, जो न तो ऐतिहासिक व्यक्ति ही है और न कोई प्रभावशाली पुरुष ही प्रतीत होता है, पुनः दिगम्बर मार्गका प्रचलन इतने जोरोंसे हो जाये। इन्हीं कारणोंसे किसी ऐतिहासज्ञ विद्वानने संघ भेदकी उत्पत्तिमें श्वेताम्बर कथाको प्रश्रय नहीं दिया जब कि दिगम्बर कथाकी घटनाको अनेक इतिहासज्ञोंने[1] स्थान दिया है।

१—नीचे कुछ इतिहासज्ञोंके मत दिये जाते हैं—

कैम्ब्रिज हिस्ट्रीमें भद्रबाहुके दक्षिणगमनका निर्देश करके आगे लिखा है—'यह समय जैन संघके लिये दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईस्वी पूर्व ३०० के लगभग महान संघभेद का उद्गम हुआ जिसने जैन संघको श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायोंमें विभाजित कर दिया। दक्षिणसे लौटे हुए साधुओंने, जिन्होंने दुर्भिक्ष कालमें बड़ी कड़ाईके साथ अपने नियमोंका पालन किया था, मगधमें

उक्त आपत्तियोंके अतिरिक्त उक्त कथामें एक बड़ी आपत्ति यह है कि वह कथा बोटिक सम्प्रदायकी उत्पत्तिसे सम्बद्ध है। उसमें बतलाया[१] है कि बोटिक शिवभूतिसे बोटिक सम्प्रदाय उत्पन्न

रह गये अन्य अपने साथी साधुओंके आचारसे असन्तोष प्रकट किया; तथा उन्हें मिथ्या विश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया'।

—कै० हि०, (संस्क० १६५५) पृ० १७७।

आर० सी० मजूमदारने लिखा है—'जब भद्रबाहुके अनुयायी मगधसे लौटे तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे किन्तु मगधके जैन साधुओंने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण भारतसे लौटे हुए जैन साधुओंने इसका विरोध किया; क्योंकि वे पूर्ण नग्नताको महावीरकी शिक्षाओंका आवश्यक भाग मानते थे। विरोधका शान्त होना असम्भव पाया गया और इस तरह श्वेताम्बर (जिसके साधु सफेद वस्त्र धारण करते हैं) और दिगम्बर (जिसके साधु एकदम नग्न रहते हैं) सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। जैन समाज आज भी दोनों सम्प्रदायोंमें विभाजित है।'—एशि० इं०. पृ० १७६।

श्री प० विश्वेश्वरनाथ रेऊने लिखा है—'कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटकसे जैन लोग वापिस लौटे तब उन्होंने देखा कि मगधके जैन साधु पीछेसे निश्चित किये गये धर्म ग्रन्थों-के अनुसार श्वेतवस्त्र पहनने लगे हैं। परन्तु कर्नाटकसे लौटनेवालोंने इस बातको नहीं माना। इससे वस्त्र पहनने वाले जैन साधु श्वेताम्बर और नग्न रहनेवाले दिगम्बर कहलाये।'

—भा० प्रा० रा०, भाग २, पृ० ४१।

इा० जै०—पृ० ११, हि० इं० लि०, (विन्टर) जि० २, पृ० ४३१-३२।

१—'बोडिय सिवभूईओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती'।

—विसे० भा०, गा० २५५२।

हुआ। वोटिकका अर्थ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय कैसे किया गया और कैसे 'वोटिक' शब्द निष्पन्न हुआ, यह हम नहीं जानते; क्योंकि श्वेताम्बर साहित्यमें इस विषयका कोई स्पष्टीकरण हमारे देखनेमें नहीं आया। शिवभूतिको भी वोटिक कहा गया है। शायद इसीसे उसके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायको भी वोटिक संज्ञा दी गई है। किन्तु ऐसी स्थितिमे शिवभूतिके द्वारा प्रवर्तित वोटिक सम्प्रदाय ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय है, यह कैसे कहा जा सकता है। इसके सम्बन्धमें जर्मन ओरियन्टल सोसायटीके जर्नलमें डा० याकोबीने एक विस्तृत लेख प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने लिखा है कि वोटिक संप्रदायकी उत्पत्ति दिगंबर संप्रदायके बहुत काल पश्चात् हुई है। तथा श्वेताम्बरोंसे दिगम्बरोंका पार्थक्य भद्रबाहुके समयसे क्रमशः हुआ है। खेद है कि जर्मन भाषामें होनेके कारण हम उस लेखके विषयसे पूर्ण रूपसे परिचित नहीं हो सके। फिर भ उसके उक्त सारांशसे यह स्पष्ट है कि जेकोबी वोटिक सम्प्रदाय को एक भिन्न सम्प्रदाय मानते थे। अतः श्वेताम्बर साहित्यकी उक्त कथासे दि० जैन सम्प्रदायकी उत्पत्ति प्रमाणित करना संभव नहीं है। और इसलिये उक्त आपत्तियोके प्रकाशमें प्रकृत विषय पर उक्त कथा असंगत ठहरती है। जब कि दिगम्बर साहित्यमें पाई जाने वाली कथा अनेक दृष्टियोंसे सुसंगत प्रतीत होती है।

संघभेदके मूल कारण वस्त्रपर विचार

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कथाओंसे तथा दोनोंके नामसे यह तो स्पष्ट है कि दोनों साधुओंके वस्त्र परिधान या नग्नताके विवादको ही संघ भेदका मूल कारण मानते हैं। अतः यहाँ साधुओंके वस्त्र परिधान के सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक है। इस समस्याको दो कालोंमें विभाजित कर देना उचित होगा—एक भगवान महावीर

तथा उनके पूर्वका समय और एक भगवान महावीरके पश्चात्‌का समय।

म० महावीर तथा उनके पूर्व वस्त्रकी स्थिति

कतिपय [1]विद्वानोंका ऐसा मत है कि भगवान् महावीर सुधारक थे—उन्होने भगवान पार्श्वनाथकी परम्परामें अनेक सुधार किये—चतुर्यामके स्थानमें पञ्चमहाव्रतकी परिपाटी प्रवर्तित की। इसी तरह पार्श्वनाथकी सचेल परम्पराके स्थानमें अचेल परम्पराको स्थापित किया। यह मत उत्तराध्ययनके केशी गौतम संवादके आधार पर ही स्थापित हुआ है।

पार्श्वनाथके चतुर्यामकी चर्चामें केशी गौतम संवादका एक अंश ही हमने उद्‌धृत किया था और दूसरा अंश जो सचेलता और अचेलतासे सम्बद्ध है, आगेके लिये छोड़ दिया था। वह अंश इस प्रकार है—केशी गौतमसे पूछता[2] है—'महावीरने अचे-

१—हा० जै०, पृ० ४६। से० बु० ई०, जि० ४५, प्रस्तावना पृष्ठ २२।

२—अचेलओ अ जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेणं पासेण य महामुणी॥ २९॥
एककज्जपवन्नाणं विसेसे किंनु कारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी! कहं विप्पच्चओ न ते॥३०॥
केसिं एवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं॥ ३१॥
पच्चयत्थं तु लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगपओयणं॥ ३२॥
अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणा।
णाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए॥ ३३॥
—उत्तरा०, २३ अ०।

लक धर्मका उपदेश दिया और पार्श्वनाथने 'संतरुत्तर' धर्मका उपदेश दिया। एक ही मोक्षकार्यके लिये दो प्रकारका लिंग बतलानेकी क्या आवश्यकता थी ?

गौतम उत्तर देते हैं—पार्श्वनाथ और महावीरने अपने अपने ज्ञानसे जानकर धर्मके साधन बतलाये हैं। तथा लोगोंके विश्वासके लिये, लोकयात्राके लिये और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये लिंगकी आवश्यकता होती है। निश्चयसे तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही मोक्षके साधन हैं।

गौतमके द्वारा केशीके प्रश्नका जो समाधान कराया गया है वह बहुत चलता हुआ सा है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कहनेसे पहले केशीके प्रश्न पर प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। केशीने भगवान महावीरके धर्मको अचेल बतलाया, सो ठीक ही है, इसके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। केशीने पार्श्वनाथके धर्मको 'संतरुत्तर' कहा है जिसका संस्कृत रूप 'सान्तरोत्तर' होता है। इस 'सान्तरोत्तर' शब्दकी व्याख्यामें भी टीकाकारोंने वही गड़बड़ी की है जो 'अचेल' शब्दकी व्याख्या में की गई है।

हमारे सामने उत्तराध्ययनकी दो टीकाएँ वर्तमान हैं और दोनों में 'सान्तरोत्तर' का अर्थ किया गया है—'सान्तर'[१] अर्थात् वर्धमान स्वामीके साधुओंकी अपेक्षा प्रमाण और वर्णमें विशिष्ट तथा

१—'सान्तराणि-वर्द्धमानस्वामियत्यपेक्षया मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि-महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः देशितः'। —उत्तरा०, टी० नेमिचन्द, पृ० २६६।

'उत्तर' अर्थात् महामूल्य होनेके कारण प्रधान, ऐसे वस्त्र जिसमें धारण किये जायें वह धर्म सान्तरोत्तर है। इसका आशय यह हुआ कि पार्श्वनाथके धर्ममें साधुओंको महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र पहननेकी अनुज्ञा थी। इस व्याख्याके अनुसार केशी अवश्य ही राजसी वस्त्रोंमें होंगे। फिर भी अचेल गौतमको पार्श्वनाथके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके उस आचार्यको देखकर रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ, यह आश्चर्य है।

असलमें टीकाकारोंने 'सतरुत्तर' का यह अर्थ 'अचेल' शब्दके अर्थको दृष्टिमे रखकर किया है। जब अचेलका अर्थ वस्त्राभावके स्थानमे क्रमशः कुत्सित चेल, अल्पचेल और अमूल्य चेल किया गया तो सतरुत्तर (सान्तरोत्तर) का अर्थ अपरिमित और महामूल्य वाले वस्त्र होना ही चाहिये था। किन्तु वह अर्थ करते समय टीकाकार यह शायद भूल ही गये कि आचारांग सूत्र २०९ मे भी 'संतरुत्तर' पद आया है और वहाँ उसका अर्थ क्या लिया गया है?

तीन वस्त्रधारी साधुके लिये आचारांगमे बतलाया है कि जब शीत ऋतु बीत जाये और ग्रीष्म ऋतु आ जाये तो वस्त्र यदि जीर्ण न हों तो कहीं रख दे, अथवा 'सान्तरोत्तर' हो जाये। टीकाकार आचार्य शीलांकने वहाँ सान्तरोत्तरका अर्थ किया[1] है-

---

१—'सान्तरमुत्तर-प्रावरणीय यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्वर्वर्ति बिभर्ति।'—आचा० सू० २०९, टीका।

डा० याकोबीने अपने उत्तराध्ययनके अनुवादमें 'अचेल और सन्तुरुत्तर' का अर्थ इस प्रकार किया है—'महावीरके धर्ममें वस्त्रका निषेध था किन्तु पार्श्वने एक अन्तर और एक उत्तर (एक अधोवस्त्र और एक ऊपरी वस्त्र) इस तरह दो वस्त्रोंकी आज्ञा दी थी।' (से० बु० ई०,

'सान्तर है उत्तर—ओढ़ना जिसका' अर्थात् जो आवश्यकता होने पर वस्त्रका उपयोग कर लेता है, नहीं तो पासमें रखे रहता है। आचार्यने उसका खुलासा करते हुए लिखा है—'शीत चले जाने पर वस्त्रको छोड़ देना चाहिये। अथवा यदि क्षेत्र ऐसा हो जहाँ अभी भी ठंढी हवा बहती हो तो शीतसे बचनेके लिये और अपनी शक्तिको तोलनेके लिये 'सान्तरोत्तर' हो जाये। अर्थात् वस्त्रका परित्याग न करके उसे पासमें रखे रहे, आवश्यकता हो तो उसका उपयोग कर ले।

केशीने जो पार्श्वनाथके धर्मको 'सान्तरोत्तर' बतलाया है वहाँ पर भी सान्तरोत्तरका यही अर्थ सुसंगत जान पड़ता है। उससे प्रकट होता है कि पार्श्वनाथके साधु सर्वथा अचेल विहार नहीं करते थे किन्तु पासमें वस्त्र रखते थे। आवश्यकता देखते थे तो उसका उपयोग कर लेते थे। और यह छूट उनके लिये इसलिये दी गई थी क्योंकि वे सरल हृदय और ज्ञानी थे। सुविधाके रहस्यको समझते थे—उसका दुरुपयोग करनेकी दुर्बुद्धि उनमें नहीं थी। इसीलिये पार्श्वनाथके धर्मको श्वेताम्बर साहित्यमें सचेल और अचेल दोनों बतलाया है। सान्तरोत्तरके उक्त अर्थके साथ उसकी संगति ठीक बैठ जाती है। जब पार्श्वनाथके साधु वस्त्रका उपयोग करते थे तो वे सचेल कहे जाते थे और जब वस्त्रका उपयोग नहीं करते थे तो वे अचेल कहे जाते थे। किन्तु उनका आदर्श अचेलता थी सचेलता नहीं। भगवान महावीरने अपने शिष्योंकी स्थितिको देखकर उसमें इतना सुधार कर दिया कि हमारे साधु

जि० ४५, पृ० १२३)। श्वेताम्बर टीकाकारोंके 'बहुमूल्य और अपरिमित वस्त्र' जैसे अर्थसे या० याकोबीका अर्थ अधिक सुसंगत प्रतीत होता है अन्तर और उत्तर वस्त्रसे सहित जो हो वह सान्तरोत्तर है।

अचेल ही रहेंगे। 'सान्तरोत्तर' वाली बात उन्होंने समाप्त कर दी। फिर भी पार्श्वनाथके साधुओंकी सरलता और समझदारीके कारण वस्त्रकी जो छूट सर्वसाधारणके लिये थी, भगवान महावीरने वह छूट केवल असमर्थ साधुओंके लिये ही रखी, और उसके साथ अनेक शर्तें लगा दीं, जिससे साधु वस्त्रको अपवाद मार्ग ही समझें उत्सर्ग मार्ग न समझ बैठें। किन्तु उनके शिष्योंकी 'वक्रजड़ता' ने काल पाकर अपना रंग दिखाया और उन्होंने ऐसी रचनाएँ रचीं कि उत्सर्ग मार्गको धता बताया और अपवाद मार्ग को उत्सर्ग मार्ग बना दिया। श्वेताम्बर साहित्यके परिशीलनसे उक्त तथ्य सामने आता है। इस विषयको और भी स्पष्ट करने वाले भगवान पार्श्वनाथके अनुयायी जो साधु भगवान महावीरके समयमें वर्तमान थे उनके विषयमें भी विचार करनेकी आवश्यकता है?

पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधु

श्वेताम्बरीय आगमोंमें पार्श्वनाथके अनुयायिओंके लिये 'पासावच्चिज्ज' शब्द आया है। जिसका संस्कृत रूप 'पार्श्वापत्यीय' होता है और अर्थ होता है—पार्श्वस्वामीके परम्परा शिष्य।

एक दूसरा शब्द भी पाया जाता है जो पार्श्वनाथके अनुयायिओंके लिये व्यवहृत होता था। वह शब्द है—पासत्थ। इसके दो संस्कृत रूप होते हैं—एक पार्श्वस्थ और एक पाशस्थ। पाशस्थ का अर्थ होता है 'पाशमें फँसा हुआ'। और पार्श्वस्थका अर्थ होता है—पार्श्वमें स्थित। यह 'पासत्थ' शब्द उत्तर कालमें शिथिलाचारी साधुके लिये व्यवहृत हुआ है। इस परसे ऐसा लगता है कि महावीर भगवानके समयमें पार्श्वके अनुयायी साधु शिथि-

लाचारी हो गये थे। अथवा पार्श्वके अनुयायी साधुओंको महावीरके अनुयायी शिथिलाचारी मानते थे।

और ऐसा होना कोई असंभव नहीं है। इस सम्बन्धमें डा० जेकोबीने ठीक ही लिखा है—'उत्तराध्ययन सूत्रके केशी-गौतम संवादसे अनुमान किया जाता है कि पार्श्व और महावीरके बीचमें मुनिधर्मकी नैतिक अवस्थामें पतन हुआ था और यह तभी संभव है जब अन्तके दोनों तीर्थङ्करोंके बीचमें काफी लंबा अन्तराल रहा हो। और इसका इस साधारण परंपरासे कि पार्श्वके २५० वर्ष बाद महावीरका अवतरण हुआ, पूर्ण रूपसे समर्थन होता है।' (से० बु० ई० जि० ४५, पृ० १२२-१२३)

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें पार्श्वस्थ शिथिलाचारी साधुका एक भेद है। भगवती आराधनामें कहा[1] है कि पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय, कषाय और विषयोंसे पराजित होकर चरित्रको तृणके समान समझता है अतः उससे भ्रष्ट हो जाता है। जो मुनि पार्श्वस्थ मुनिकी सेवा करते हैं वे भी पार्श्वस्थ बन जाते हैं।

व्यवहारसूत्र[2]में लिखा है—पार्श्वस्थ मुनि वसतिकारकका निषिद्ध भोजन करता है, वर्जित कुलोंमें जाकर भोजन करता है। आदि—

---

१ इंद्रिय कसायगुरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो।
णिद्धम्मो हु सविता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१३००॥

२ सेज्जायर कुल निस्सिय, ठवणाकुल पलोयणा अभिहडे य।
पुव्वि पच्छा संथव, निइ अग्ग पिंड भोइ पासत्थो ॥२३०॥

सूत्रकृतांग[1]में पार्श्वस्थोंको अनार्य, बाल और जिनशासनसे विमुख बतलाते हुए स्त्री आसक्त भी बतलाया है, और लिखा है कि वे ऐसा कहते हैं कि जैसे फुन्सी फोड़ेको मुहूर्त भर दबा देने से उसका मवाद निकलकर शान्ति मिल जाती है वैसे ही समागमकी प्रार्थना करने वाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे शान्ति मिलती है इसमें दोष क्या ? पहले हम लिख आये हैं कि पार्श्वनाथके धर्ममें चार यम थे—अहिंसा, सत्य, दत्तादान और अपरिग्रह। ब्रह्मचर्य अपरिग्रहमें ही गर्भित था, क्योंकि स्त्रीका ग्रहण किये बिना अब्रह्मसेवन नहीं किया जा सकता। किन्तु भगवान् महावीरने चतुर्यामके स्थानमें पञ्चमहाव्रत स्थापन किये और अपरिग्रहोंमें गर्भित ब्रह्मचर्यको स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट करनेके लिये एक पृथक् व्रतका स्थान दिया।

इस परिवर्तनके प्रकाशमें पार्श्वस्थोंके विषयमें सूत्रकृतांगके उक्त कथनका निरीक्षण करनेसे यह प्रकट होता है कि चार यमोंमें ब्रह्मचर्यका निर्देश न होनेसे पार्श्वस्थ मुनियोंमें दुराचारकी प्रवृत्ति भी चल पड़ी थी, और सम्भवतः इसीसे भगवान् महावीरको ब्रह्मचर्यका पृथक् निर्देश करना पड़ा था।

---

१ 'एवमेगे उ पासत्था पन्नवंति अणारिया।
इत्थीवसं गया वाला जिणसासणपरम्मुहा ॥६॥'

टी०—'सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः,
स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहजिताः।'
—सूत्रकृता० ३ अ०, ४ उ०।

'जहा गंडं पिलागं वा परिपीलेज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥१०॥'
—सूत्र०, ३अ० ४ उ०।

भगवती सूत्र आदि श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यसे ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथके अनुयायी साधुओंने भगवान महावीर तथा उनके अनुयायी स्थविरोंके पास जाकर पुनः प्रव्रज्या ग्रहण की। यहाँ उदाहरणके लिये कालास नामक पार्श्वापत्यकी प्रव्रज्याका वर्णन दिया जाता है।

पार्श्वापत्यीय कालास वेसियपुत्त (कालाश्य वैशिक पुत्र) नामक अनगार (साधु) जहाँ स्थविर थे वहाँ गया और बोला–श्री महावीर जिन के शिष्य सामायिक नहीं जानते, सामायिकका अर्थ नहीं जानते, संयम नही जानते, संयमका अर्थ नहीं जानते, संवरको नहीं जानते, संवरका अर्थ नहीं जानते, विवेक नहीं जानते, विवेकका अर्थ नहीं जानते, उत्सर्ग नहीं जानते, उत्सगका अर्थ नहीं जानते।

तब स्थविर कालास वेसियपुत्तसे इस प्रकार बोले–आर्य ! हम सामायिक जानते हैं। सामायिकका अर्थ जानते हैं, और सामायिकसे लेकर व्युत्सर्ग पर्यन्त सब जानते हैं। कालास वेसिकपुत्त पुनः बोला—यदि आर्य ! आप सामायिकको जानते हैं, और सामायिकसे व्युत्सर्ग तक सबका अर्थ जानते है तो बतलाइये इनका क्या अर्थ है ?

स्थविर बोले—आर्य ! आत्मा ही सामायिक है ·· ·· आत्मा ही व्युत्सर्ग है।

यह सुनकर कालासवेसिय पुत्तने पूछा—तो क्रोध मान माया लोभको त्याग कर उनकी गर्हा क्यों करते है ?

संयमके लिये।

गर्हा संयम है या अगर्हा ?

गर्हा संयम है। किन्तु केवल गर्हासे ही सब दोषोंका क्षय नहीं होता। सब मिथ्यात्व अविरति आदिको जानकर (उनका परित्याग करनेसे) आत्मा संयममें लगता है, संयममें जुटता है, संयममें स्थिर होता है।

यह सुनकर कालासवेसिय पुत्तने स्थविरकी वन्दना की उन्हें नमस्कार किया और बोला—भगवान्! न जानने न सुनने, न प्राप्त होने, विस्तारसे न समझाये जाने आदिके कारण अदृष्ट, अश्रुत, अविज्ञात, अव्याकृत, अव्युच्छिन्न और अनवधारित पदोंका न मैंने श्रद्धान किया, न प्रेम किया, न मैंने उनमें रुचि की। आप जैसा कहते हैं वैसा ही हो। तब भगवान् बोले—आर्य जो कुछ मैंने कहा है उसपर श्रद्धा करो, विश्वास करो, रुचि करो। तब कालासवेसिय पुत्तने भगवान्की वन्दना करके नमस्कार किया और बोला—मैं आपके पास चातुर्याम धर्मसे सप्रतिक्रमण पञ्च-महाव्रत धारण करना चाहता हूं। देव! इसमे रोके नहीं।

तब कालासवेसिय पुत्तने भगवान्की वन्दना की, उन्हें नमस्कार किया और चातुर्याम धर्मसे सप्रतिक्रमण पञ्चमहाव्रत धारण किया। और जिसके लिये नग्नपना, मुण्डितपना, अस्नान दन्त-धावन न करना, छाता न रखना, जूता न पहिरना, भूमि पर सोना, काष्ठपर काष्ठके तख्ते पर सोना, केश लोंच, ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास, परघर गमन, लाभालाभ, अनुकूल-प्रतिकूल, बाईस परीषह और उपसर्गको सहा जाता है उस अर्थ पर आरोहण करके कालासवेसिय पुत्त सिद्ध बुद्ध मुक्त और परिनिर्वृत्त हो गया।

—भ० सू० ७७, १ श०, ९ उ०।

इसी तरह एक और गांगेय[1] नामक पार्श्वापत्यीय अनगार

१—'तप्पभिई च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्च-

भगवान महावीरके पास जाकर उनसे नरक-स्वर्गमें उत्पत्तिको लेकर अनेक प्रश्न करता है और उनके उत्तरोंसे सन्तुष्ट होकर यह मान लेता है कि महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। तथा उनसे फिरसे प्रव्रज्या लेता है।

कालासवेसिय पुत्त तथा गांगेयके इस विवरणसे कई तथ्य प्रकट होते हैं। प्रथम, पार्श्वनाथके अनुयायी अनगारोंको यदि वे महावीरके अनुयायी बनना चाहते थे, तो पुनः दीक्षा लेनी पड़ती थी। पार्श्वनाथके धर्ममें दीक्षित होनेसे ही उन्हें भगवान महावीर नहीं अपना लेते थे। दूसरे, पार्श्वनाथके अनुयायी अनगारोंको धर्मकी परम्पराका ज्ञान नहीं रहा था, सामायिक आदिका स्वरूप और यथार्थ प्रयोजन अज्ञात और अश्रुत हो चले थे, उन्हें जानने और सुननेके साधन क्षीण हो गये थे। सम्भवतः इसीसे 'पासत्थ' शब्द जो यथार्थमें पार्श्व स्वामीमें स्थित अर्थात् पार्श्वस्वामीके अनुयायीका वाचक था, शिथिलाचारी और अज्ञानी साधुके लिये व्यवहृत होने लगा था।

किन्तु उस समय ऐसे भी पार्श्वापत्यीय संघ थे जो स्वतन्त्र विहार करते थे और भगवान महावीरके संघमें सम्मिलित नहीं हुए थे। इसके उदाहरणके रूपमें एक तो केशीको ही उपस्थित किया जा सकता है, जो श्रावस्तीके उद्यानमें संघ सहित ठहरा

भिजाणइ सव्वन्नु सव्वदरिसी, तए णसे गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदेइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते! तुज्झ अंतियं चाउज्जामाओ धम्माओ पंच महव्वइय। एवं जहा कालासवेसिय पुत्तो तहेव भाणियव्वं जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। सेवं भंते। सेवं भंते! (सूत्र ३७६)।

—भ० सू०, ९ शत०, ५ उ०।

हुआ था और गौतम स्वयं जिससे मिलनेके लिये गये थे। दूसरे एक ऐसे ही बड़े संघका निर्देश भगवती[1] में है, जिसमें ५०० अनगार थे। इन्हें बहुश्रुत बतलाया है। इससे यह कहा जा सकता है कि सभी पार्श्वापत्य अज्ञानी नहीं थे, ज्ञानी भी थे। और सम्भवतया इसीसे वे महावीरके पास नहीं गये।

इनके न जानेका एक कारण यह भी हो सकता है कि महावीर इन पार्श्वापत्यीय अनगारोंको पुनः दीक्षित करके ही अपने धर्ममे सम्मिलित करते थे। और इससे भगवान महावीरकी आचारके प्रति दृढ़ताका पता चलता है।

पार्श्वापत्यीयोंकी शिथिलाचारिता उनसे अज्ञात नहीं थी। 'सान्तरोत्तर' वस्त्रका दुरुपयोग देखकर ही उन्होंने 'अचेल' धर्म प्रतिष्ठित किया था और इसीसे पार्श्वापत्यीयोंको भी नग्नताकी दीक्षा लेना पड़ती थी। ये बात सब पार्श्वापत्यीयोंको रुचिकर नहीं हो सकती थी। इससे अनेक पार्श्वापत्यीय साधु भगवान महावीर के पास प्रव्रजित नहीं हुए। किन्तु आगे जाकर उन्होंने भी भगवान महावीरका धर्म अंगीकार किया, या वे ऐसे ही बने रहे इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। सम्भव है महावीरके पश्चात् उक्त पार्श्वापत्यीय अनगार भी महावीरके अनगारोंमे सम्मिलित हो गये हों और श्रावस्तीके उद्यानमें हुए केशी-गौतम संवादने उसकी भूमिका तैयार कर दी हो।

आश्चर्य इसी पर है कि केशीने गौतमसे जो पार्श्वनाथ और और महावीरके धर्ममें अन्तरको लेकर प्रश्न किये, ये प्रश्न किसीने

---

१ 'तेणं कालेणं पासावच्चिजा थेरा भगवंतो...बहुस्सुया बहु परिवारा पचहि अणगारसएहिं सद्धिं'।—भ० सू० १०७, २ श०, ५ उ०।

भी भगवान महावीर स्वामीसे क्यों नहीं किये ? अनेक पार्श्वापत्यीयोंके भी भगवानसे प्रश्न करनेका वर्णन भगवती आदिमें पाया जाता है। किन्तु ऐसे महत्वके प्रश्न भगवानसे किसीने नहीं किये, और न भगवानके श्रीमुखसे उनपर कुछ प्रकाश डाला गया। गौतमने भी भगवानसे बहुत से प्रश्न किये किन्तु उन्होने भी दोनों धर्मोके अन्तरके सम्बन्धम भगवान्से कोई प्रश्न नहीं किया। यह बात उत्तराध्ययनमे निर्दिष्ट केशी गौतम संवादके सम्बन्धमें सन्देह को उत्पन्न करती है।

फिर भी श्वेताम्बर साहित्यसे प्राप्त विवरणके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान पार्श्वनाथके धर्ममें साधुओंके लिये सान्तरोत्तर वस्त्रकी व्यवस्था थी—अर्थात् साधु वस्त्र पासमे रखते थे और आवश्यकताके समय उसे ओढ़ लेते थे। किन्तु यह स्थिति उस समयकी थी जब पार्श्वनाथके शिष्योंमें शिथिलाचार आ चुका था। अतः पार्श्वनाथ भगवानने साधुओंके वस्त्रके विषयमे वास्तवमें क्या यही नीति निर्धारित की थी यह निस्सन्देह रूपसे नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना मानकर चला जा सकता है कि वस्त्रके विषयमे जितनी कड़ी नीति भगवान महावीरने अपनायी, उतनी पार्श्वनाथने नहीं अपनाई। उन्हें अपने साधुओंकी सरलता और समझदारी पर विश्वास था। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे प्राप्त सुविधाके तथ्यको समझकर उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। किन्तु महावीर भगवानके समयमें स्थिति बदल चुकी थी। अतः उन्होने 'अचेल' को आवश्यक कल्प निर्धारित करना उचित समझा।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोंमें साधुओंके दस कल्प बतलाये हैं। कल्प व्यवस्था या सम्यक् आचारको कहते

हैं। ये कल्प स्थित और अस्थितके भेदसे दो प्रकारके हैं। श्वेताम्बर साहित्यके अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके अनुयायी साधुओंके लिये दसों कल्प स्थित कल्प हैं क्योंकि उन साधुओंको दसों कल्पोंका सतत सेवन करना होता है। वे दस कल्प[1] इस प्रकार हैं – १ आचेलक्य-अचेलपना, २ उद्दिष्ट त्याग, ३ वसतिकर्ताके पिण्डादिका त्याग, ४ राजपिण्डका त्याग, ५ कृति कर्म, ६ महाव्रत, ७ पुरुषकी ज्येष्ठता, ८ प्रतिक्रमण, ९ एक मास तक एक स्थान पर रहना और १० वर्षाकालमें चार मास तक एक स्थान पर रहना।

इन दस कल्पोंमें से आचेलक्य[2], उद्दिष्ट त्याग, प्रतिक्रमण, राजपिण्डका त्याग, मास और पर्युषणा ये छै कल्प मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके कालमें अस्थितकल्प हैं क्योंकि उनके अनुयायियोंके लिये इनका सतत सेवन करना आवश्यक नहीं है। उनके लिये केवल चार कल्प स्थित हैं—वसति कर्ताके पिण्डका त्याग, चतुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृति कर्म।

उक्त कथनका सारांश यह है कि आचेलक्य धर्म प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके साधुओंके लिये तो अवश्य आचरणीय है

१—आचेलक्कुद्देसिय सिज्जायर-रायपिंड किइकम्मे।
वय जेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जोसवण कप्पो॥
—बृ० क०, ४ उ०। भ० आ० गा० ४२१।

२—आचेलक्कुद्देसिय-पडिक्कमण रायपिंड-मासेसु।
पज्जुसणाकप्पम्मि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥८॥
सिज्जायर पिंडम्मिय चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
कितिकम्मस्स य करणे ठियकप्पो मज्झिमाणं वि ॥१०॥'
—पञ्चा०, विव० १७।

किन्तु मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके साधुओंके लिये अवश्य आचरणीय नहीं है। इसीसे प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल बतलाया है और शेष बाईस तीर्थङ्करोंका धर्म सचेल अचेल दोनों बतलाये हैं। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल ही बतलाया है वैसे मध्यके शेष बाईस तीर्थङ्करोका धर्म सचेल ही नहीं बतलाया। किन्तु अचेलके साथ साथ सचेल भी बतलाया है। अर्थात् जब कि प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके साधुओंके लिये अचेल रहना अनिवार्य था तब मध्यके बाईस तीथङ्करोंके साधुओंके लिये अचेल रहना अनिवार्य नहीं था, परिस्थितिवश वे सचेल भी रह सकते थे। इस भेद का कारण था उस समयके साधुजनोंकी मनोवृत्ति, जिसका निर्देश पार्श्वनाथके चतुर्यामका वर्णन करते समय किया गया है। फिर भी स्पष्टीकरणके लिये पञ्चाशकसे नटका दृष्टान्त उद्धृत किया जाता है।

प्रथम तीर्थङ्करका कोई साधु भिक्षाके लिये गया। मार्गमें नट का खेल देखकर देरसे लौटा। किन्तु चूंकि वह ऋजु—सरलहृदय था इसलिये उसने गुरुसे निवेदन कर दिया कि मैंने नटका खेल देखा है। आचार्यने उसे मना करते हुए कहा कि साधुको नटका खेल नहीं देखना चाहिये। उसने गुरुकी आज्ञा स्वीकार कर ली। दूसरे दिन वह पुनः भिक्षाके लिये गया और मार्गमें किसी बहुरुपियाका स्वांग देखकर लौटा और गुरुसे पूर्ववत् निवेदन कर दिया। गुरु बोले—हमने तो कल तुमसे मना किया था। वह बोला—आपने तो नटका खेल देखनेके लिये मना किया था, मैंने तो बहुरुपियेका स्वांग देखा है। उसे देखनेके लिये तो आपने मना नहीं किया था। तब आचार्यने इस प्रकारके सर्व विनोदोंको देखना त्याज्य बतलाया और साधुने स्वीकार करके फिर नह

देखा। इस तरह प्रथम जिनके साधु हृदयके सरल किन्तु बुद्धिके मन्द होते थे। जितना कहा जाता उतना ही सरलतासे मान लेते थे। आगे विचार नहीं करते थे। यही बात उस समयके गृहस्थों-की भी थी। अतः उन सबको ऋजु किन्तु जड़ कहा है।

मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके अनुयायी शिष्य सरल होनेके साथ साथ बुद्धिमान भी थे। अतः नटके खेल देखनेका निषेध करने पर अपनी बुद्धिसे ही वे समझ जाते थे कि इस प्रकारके सभी विनोद त्याज्य हैं। किन्तु अन्तिम जिन महावीरके शिष्य बुद्धिहीन होनेके साथ साथ कुटिलमति भी थे इसलिये उन्हें वक्रजड़[१] कहा है। वे यदि नटका खेल देखकर लौटते तो प्रथम तो कहते ही नहीं थे और देरसे लौटनेका कारण पूछने पर तरह तरहके बहाने बना देते थे। इसलिये प्रथम और अन्तिम जिनके साधुओंके लिये 'अचेल' अवश्य करणीय कहा गया था। किन्तु इतना स्पष्ट निर्देश करने पर भी उनकी तथोक्त वक्रजड़ताने 'अचेल' और नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दोंके अर्थमें भी परिवर्तन करके वस्त्र परिधानकी गुंजाइश ही नयी निकाली किन्तु आचेलक्य नामक स्थितिकल्पका एक तरहसे सफाया ही कर दिया।

भ० महावीरके पश्चात् वस्त्रकी स्थितिपर प्रकाश

प्रकृत विषय पर प्रकाश डालनेके लिये सबसे प्रथम हम

---

[१] —वंका उ ण साहंती पुट्ठा उ भणंति उएह कंटादी।
पाहुणग सद्ध ऊसव गिहिणो वि य वाउलंतेव ॥५३५८॥

'पश्चिमतीर्थंकरसाधवो वक्रत्वेन किमप्यकृत्यं प्रतिसेव्यापि न कथयंति नालोचयन्ति, जडतया च जानन्तोऽजानन्तो वा भूयस्तथैवापराधपदे प्रवर्तन्ते। एवं गृहिणोऽपि वक्रजड़तया साधून् व्यामोहयन्ति।'

—बृ० कल्प।

आचारांग सूत्रको ही लेना उचित समझते हैं क्योंकि उसमें मुनियों-के आचारका वर्णन है—

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि मुनियोंके दस कल्पोंमें एक कल्प आचेलक्य है और एक कल्प पञ्च महाव्रत है। हिंसाका त्याग, असत्यका त्याग, अदत्तका त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग ये पाँच महाव्रत हैं। आचेलक्यको परिग्रह त्यागसे अलग गिनाया है।

आचारांगके लोकसार नामक पाँचवें अध्ययनमे परिग्रहके त्यागका उपदेश देते हुए लिखा है—"लोकमे जितने परिग्रह वाले हैं उनकी परिग्रह अल्प हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रह वाले गृहस्थोंमे ही अन्तर्भूत होते हैं। इन परिग्रह वालोंके लिये यह परिग्रह महाभय का कारण है। संसारकी दशा जानकर इसे छोड़ो। जो इस परि-ग्रहको जानता भी नहीं है उसे परिग्रहसे होनेवाला भय नही होता[1]।'

आगे भी सूत्र १५२ में इसी बातका समर्थन किया है कि लोकमे जितने भी अपरिग्रही साधु हैं वे सब अल्प परिग्रहका भी त्याग कर देने पर ही अपरिग्रही होते है।

आचारांगके उक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि अपरिग्रही साधुके लिये थोड़ा सा भी परिग्रह रखना उचित नहीं माना गया। ऐसी

१—'आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती से अप्पं वा बहु वा अणु वा थूल वा चित्तमंत वा अचित्तमंत वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भय भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ॥१५०॥'

स्थितिमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो साधुके लिये अनेक प्रकारकी उपधियाँ बतलाई हैं इनकी संगति नहीं बैठ सकती। यह बात आचारांग चूर्णिके रचयिताको तथा टीकाकारको भी खटकी। अतः उन्होंने उक्त सूत्रकी अपनी अपनी व्याख्याओंमें इस आपत्ति को पूर्व पक्षके रूपमें रखकर उसका जो समाधान किया वह भी दृष्टव्य है।

आव० चू० में लिखा है—'यदि अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, चेतन या अचेतन वस्तुको ग्रहण करना परिग्रह है तो जो ये शरीर मात्र परिग्रह वाले और हस्तपुटमें आहार करने वाले हैं, वे ही अपरिग्रही हुए। जैसे बोटिग (दिगम्बर साधु) वगैरह क्योंकि उनके पास अल्प भी परिग्रह नहीं होती। और जब वे ही अपरिग्रही हैं तो शेष व्रत भी उन्हींके होंगे, व्रत होने पर संयम और संयम से मोक्ष भी उन्हींको होगा। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि बोटिकोंके पास जो जलपात्र और उनका शरीर है वही परिग्रह है। वही उनके भयका कारण है।

आचार्य शीलांकने उक्त सूत्रकी अपनी टीकामें भी आ० चू० की तरह ही शङ्का समाधान लिखा है—वोटिक भी पीछी रखते हैं शरीर रखते हैं, भोजन ग्रहण करते हैं। शायद कहा जाये कि ये सब चीजें धर्ममें सहायक हैं तो वस्त्र पात्र वगैरह भी धर्मके साधन हैं, अत: दिगम्बरका आग्रह रखना व्यर्थ है।

उक्त समाधानसे टीकाकारोंकी मनोवृत्तिका पता चलता है, सभीने प्रायः इसी प्रकारके कुतर्कका आश्रय लिया है। अस्तु,

आगे आ०चा० सू० (१८२) में अचेलताकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"इस प्रकार सु-आख्यात धर्मवाला और आचारका परिपालक जो मुनि कर्मबन्धके कारण कर्मोंको छोड़कर अचेल-वस्त्ररहित रहता है उस भिक्षुको यह चिन्ता नहीं सताती, मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है वस्त्र मागूँगा या जीर्ण वस्त्रको सीनेके लिये धागा मागूँगा, सूई मागूँगा, फटे वस्त्रको सीऊँगा, यदि वस्त्र छोटा हुआ तो उसमे अन्य वस्त्रको जोड़कर बड़ा करूँगा, बड़ा हुआ तो फाड़कर छोटा करूँगा तब उसे पहनूँगा या ओढूँगा। अथवा भ्रमण करते हुए उस अचेल भिक्षुको तृणस्पर्श होता है, ठंड लगती है गर्मी लगती है, डांस मच्छर काटते है। अचेलपनेमें लाघव मानता हुआ वह भिक्षु परस्परमें अविरुद्ध अनेक प्रकारकी परीषहोको सहता है। ऐसा करनेसे वह तपको भले प्रकार धारण करता है। जैसा भगवानने कहा है उसे ही सम्यक् जानो। इस प्रकार चिरकाल तक संयमका पालन करनेवाले महावीर भगवानने भव्यजीवोंको जो तृणस्पर्श आदिका सहन करना बतलाया है उसे सहन करो[१] ॥ सू० १८२ ।"

(१) "एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि। अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा, सव्वओ, सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा। एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणं पास अहियासियं ॥ सूत्र १८२ ॥"

इस प्रकार अचेलकतामें लाघव बतलाकर आगे विमोक्षाध्ययनमें वस्त्रका विधान करते हुए कहा है—

"जो भिक्षु तीन वस्त्र और चौथा पात्र रखता है उसे ऐसा नहीं होता है कि चौथा वस्त्र मागूँगा। (यदि उसके पास वस्त्र न हों और शीतकाल आ जाये तो उसे) एषणाके अनुसार ही वस्त्र माँगने चाहिये और जैसे मिलें वैसे ही रखने चाहिये। उन्हें धोना नहीं चाहिये, धोकर रँगे हुए वस्त्र नहीं रखने चाहिये। ग्रामान्तरको जाते हुए वस्त्रोंको छिपाना नहीं चाहिये। इस प्रकार वह अवमचेलक–अर्थात् अल्पवस्त्रवाला साधु होता है। यह वस्त्रधारी साधुकी सामग्री है॥ जब शीतकाल बीत जाय और ग्रीष्म ऋतु आजाय तथा वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हो तो उन्हें कहीं रख दे (और नग्न विचरण करे, यदि शीतकाल चले जाने पर भी ठंड पड़ती हो तो) वस्त्रोंको अपने पास रखे, जब आवश्यक हो तब ओढ़ले, आवश्यकता न हो तब उतार दे। अथवा तीनमें से दो वस्त्र रख ले, अथवा एक शाटक रख ले अथवा अचेल हो जाये[1]। सू० २०८, २०९॥"

इससे आगे दो वस्त्र रखने वाले भिक्षुके सम्बन्धमें भी यही विधान किया है और लिखा है कि जिस भिक्षुको यह मालूम हो कि मै अशक्त हूं और गृहस्थोंके घर जाकर भिक्षाचार नहीं कर

१ "जे भिक्खु तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए, पायचउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइ वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइ धारिज्जा, नो धोयरत्ताइ वत्थाइ धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एवं खु वत्थधारिस्स सामग्गिय।' 'अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले॥सू० २०८, २०९॥"

सकता उसको यदि कोई भोजन लाकर दे तो उसे लौटा देना चाहिये। आगेके सूत्रमें ऐसे रोगी साधुके लिये भक्तपरिज्ञाके द्वारा जीवन त्याग देना आवश्यक बतलाया है किन्तु आचार खण्डन करनेका निषेध किया है। आगे लिखा है—

'जो भिक्षु अचेल संयमको धारण करता है उसे यदि यह विचार आये कि मैं तृण स्पर्शकी बाधा सह सकता हूँ, शीत स्पर्श की बाधा सह सकता हूं, उष्ण स्पर्शकी बाधा सह सकता हूँ, डांस मच्छरकी बाधा सह सकता हूं किन्तु लज्जाके प्रच्छादनको छोड़नेमें असमर्थ हूं तो वह कटिबन्ध-लंगोटी धारण करता है'।'

इस तरह आचारांगमें वस्त्रधारी साधुके लिये भी मात्र शीत ऋतुमें तीन वस्त्रोंका विधान किया है और ग्रीष्मऋतुमें संतरुत्तर अथवा ओमचेल अथवा एकशाटक अथवा अचेल ही रहनेका निर्देश किया है।

स्थानांग²में पाँच बातोंको लेकर अचेलको प्रशस्त बतलाया है—१ प्रति लेखना अल्प होती है, २ प्रशस्त लाघव रहता है, विश्वास करने योग्य रूप है, तपकी अनुज्ञा है और विपुल इन्द्रिय निग्रहका कारण है।

तथा स्थानांग³में भी वस्त्र धारण करनेके तीन कारण बतलाये हैं—१ लज्जा निवारण, ग्लानि निवारण और परीषह निवारण—

१—सूत्र २२०।

२—पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। त जहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे। (सू० ४५५)—स्था० ५ ठा०, ३ उ०।

३—तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा। त०—हिरिपत्तियं, दुगुंछापत्तिय परीसहपत्तियं॥ १७१ सू०॥—स्था०।

शीत उष्ण डांस मच्छरकी परीषहसे बचना। इस सूत्रकी टीकामें एक गाथा¹ उद्धृत है, जिसमें बतलाया है कि लिंगके विकारोंको ढांकनेके लिये वस्त्र बतलाया है। सारांश यह है कि उक्त पाँच कारणोंसे प्रशस्त तो अचेल ही है किन्तु जो साधु शीत आदिके कष्टको सहन करनेमे असमर्थ हो, या लज्जाको जीतनेमें अशक्त हो, स्त्रीको देखकर जिसके अंगमे विकार उत्पन्न हो जाता हो या जिसका पुरुष चिन्ह ऐसा हो जिसे देखकर ग्लानि पैदा हो, तो उसके लिये ऋतु अनुसार तीन वस्त्रोंकी अनुज्ञा थी। यह आचारांग आदिके अवलोकनसे स्पष्ट होता है।

किन्तु तथोक्त प्राचीन उपलब्ध आगमोंमें पाई जानेवाली उक्त स्थितिको भी उत्तर कालके ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने भरसक भ्रष्ट करके वस्त्र पात्रवादके प्रचारको ही अपना लक्ष्य बनाया, और उसीके पोषणमें अपनी शक्ति और श्रद्धाका उपयोग किया। इसके लिये सबसे प्रथम जिनकल्प और स्थविर कल्पका आश्रय लिया गया। (किसी प्राचीन अंगमें इनका निर्देश मेरे देखनेमे नहीं आया। वृहत्कल्पसूत्र² मे ही मुझे उनका प्रथम निर्देश मिला है।) और आचारांगके अचेलकता प्रतिपादक उल्लेखोंको जिनकल्प का प्रतिपादक करार दिया गया। आगमोंमें जो कठोर आचरण वर्णित था वह सब जिनकल्पका आचार बतलाया गया। और फिर जिन कल्पके विच्छिन्न होनेकी घोषणा कर दी गई कि जम्बू

१—'आह च-वेउव्वि वाउडे वाइए य हिरि खद्ध पजणणे चेव। एसि अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥'

२—'छव्विहा कप्पठिई पन्नत्ता, तं जहा—जिण कप्प ठिई, थेर कप्पट्ठिइ त्ति बेमि ॥

स्वामीके मोक्ष जानेके पश्चात् कोई जिनकल्प धारण नहीं कर सकता।

इस घोषणाका श्रेय जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण महाराजको है उनके विशेषावश्यक भाष्यमें ही जिनकल्पका विच्छेद करनेवाली गाथा पाई जाती है। वस्त्रका जोरदार समर्थन भी उसीमे मिलता है। तथा अचेलक वास्तविक अर्थमे परिवर्तन भी उनकी कृतिमे देखा जाता है।

अचेलक और नाग्न्यके अर्थमें परिवर्तन

आचारांगके अचेलकता प्रतिपादक वाक्योंको जिनकल्पका करार देकर और जिनकल्पके विच्छिन्न होनेकी घोषणाके पश्चात् दूसरा कार्य यह किया गया कि अचेल और नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दोंके भी अर्थमे परिवर्तन कर डाला गया।

²बृहत्कल्पसूत्र और विशेषावश्यकभाष्यमें अचेलके दो भेद किये हैं—एक संताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) और एक असंत चेल (वस्त्राभाव होनेसे अचेल)। तीर्थङ्करोंको असंतचेल बतलाया है क्योंकि देवदूष्यके गिर जानेके पश्चात् उनके पास सर्वदा ही वस्त्रका अभाव रहता है। शेष सभी साधुओंको जिनमें जिनकल्पी भी आ जाते हैं, संताचेल कहा है क्योंकि उनके पास रजो-

१—'मण परमोहि-पुलाए आहारग-खवग उवसमे कप्पे।
संजमतिय केवलि सिज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥२५६३॥"
—वि० भा०

२—दुविहो होंति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगरा असंत चेला संताचेला भवे सेसा ॥—बृ० क०

हरण और मुँहपट्टी अवश्य रहती है अतः वे वस्त्र रहते हुए भी अचेल कहे जाते हैं। इस पर यह शङ्का की गई कि वस्त्र रहते हुए अचेल कैसे कहा जा सकता है? तो [1]उत्तर दिया गया कि शास्त्रमें, लोकमें, वस्त्रके रहते हुए भी अचेल कहनेकी रूढ़ि है।

सारांश यह है कि अचेलके दो भेद किये गये एक मुख्य और एक गौण। मुख्य अचेल केवल तीर्थङ्कर थे। आजकलके लोगोंके लिये मुख्य अचेलपना उपकारी नहीं हो सकता।

अतः जो मुनि एषणा समितिके द्वारा प्राप्त निर्दोष, जीर्ण, निस्सार और अल्प वस्त्र धारण करते हैं या कदाचित् वस्त्र धारण करते हैं वे सचेल होते हुए भी उपचारसे अचेल कहे जाते हैं। जैसे कोई मनुष्य नदीको पार करते समय अपने सब वस्त्र उतार कर सिर पर रख लेता है तो लोग वस्त्र होते हुए भी उसे नंगा ही कहते हैं वैसे ही वस्त्र रहते हुए भी मुनि अचेल कहे जाते हैं। तथा जैसे कोई स्त्री फटी हुई जीर्ण साड़ी पहिने हुए है। वह जुलाहेके पास जाकर कहती है—हे जुलाहे! मेरे लिये जल्दी

१—'सदसंत चेलगोऽचेलगो य जं लोगसमयसंसिद्धो।
तेणाचेला मुणओ संतेहि जिणा असंतेहि ॥२५९८॥
परिसुद्धजुण्णकुच्छिय थोवाऽनिययन्नभोगभोगेहिं।
मुणओ मुच्छारहिया संतेहि अचेलया होंति ॥२५९९॥
जह जलमवगाहंतो बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो।
भण्णइ नरो अचेलो तह मुणओ संतचेला वि ॥२६००॥
तह थोवजुण्णकुच्छियचेलेहि वि भण्णए अचेलोत्ति।
जह तुर सालिय लहुँदो बोत्ति नग्गिया मोत्ति ॥२६०१॥'
—विशे० भा०

साड़ी बुनकर दो, मैं नगी फिरती हूं। वैसे ही साधु भी अल्प, जीर्ण और निस्सार वस्त्र धारण करनेके कारण अचेल कहा जाता है।

इसी तरह 'दशवैकालिकमें एक गाथा आई है जिसमें बतलाया है कि नग्न साधुको आभूषणोंसे क्या प्रयोजन ? इस गाथा के 'नगिणस्स' शब्दका अर्थ चूर्णिकारने तो नग्न ही किया है। यथा—'नगिणो णग्गो भण्णइ'। किन्तु टीकाकार हरिभद्र[२] सूरिने नग्नके उचरितनग्न और निरुपचरित नग्न दो भेद करके कुचेलवान साधुको उपचरितनग्न और जिनकल्पीको निरुपचरित नग्न कहा है।

इस तरह अचेलका उपचरित अर्थ जीर्ण फटा हुआ और निस्सार कुचेल अर्थ करके इस प्रकारके वस्त्रधारी साधुको उपचार से अचेल कहा गया। किन्तु जब इस प्रकारका कुत्सित वस्त्र अरुचिकर प्रतीत हुआ तो अचेलका अर्थ अल्पमूल्यचेल (कम कीमती वस्त्र) कर दिया गया। अर्थात् जो न फटा हो, न जीर्ण हो, न कुत्सित हो, किन्तु कम कीमतका हो, ऐसे वस्त्रधारी साधु भी अचेल ही हैं।

इस तरह आचारांगसूत्र वृत्ति, स्थानांगसूत्रवृत्ति, उत्तराध्ययन्-सूत्रवृत्ति, विशेषावश्यक भाष्य सवृत्ति; वृहत्कल्प भाष्य, पञ्चाशक, जीतकल्प, प्रवचन सारोद्धार आदि सभी श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें अचेलताके आश्रयसे सचेलताका ही पोषण मिलता है, जो कि आचारांगके प्रतिकूल है। हम पहले लिख आये हैं कि आचारांग

१—नगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो।
मेहुण-उवसंतस्स किं विभूसाई कारिअ ॥६४॥

२—'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचरितनग्नस्य। निरुपचरित-नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्।'

के अनुसार अचेलका अर्थ वस्त्रका अभाव ही है; क्योंकि सूत्र २०६ में बतलाया है कि वस्त्रधारी साधु भी ग्रीष्म ऋतुमें या तो सान्तरोत्तर हो जाये, या ओमचेल हो जाये, या एक साटक हो जाये या अचेल हो जाये।

शीलांकने इन शब्दोंकी व्याख्या करते हुए लिखा[1] है—'शीत ऋतु बीत जाने पर वस्त्रोंको छोड़ देना चाहिये। अथवा क्षेत्र विशेषके कारण यदि ठंडी हवा चलती हो तो शीतकी परीक्षा और अपनी शक्तिको देखकर सान्तरोत्तर हो जाये—अर्थात् शीतकी आशङ्कासे वस्त्रका परित्याग न करके पासमें रक्खे। आवश्यकता होने पर ओढ़ ले। अथवा 'अवमचेल' हो जाये—एक वस्त्रको त्यागकर दो वस्त्र पास रखे, और धीरे धीरे शीतके चले जाने पर दूसरे वस्त्रको भी छोड़कर 'एकशाटक' हो जाये। अथवा शीतका अत्यन्त अभाव हो जाने पर उस एक वस्त्रको भी छोड़कर अचेल हो जाये। अचेलके मुखवस्त्र और रजोहरण मात्र उपधि होती है।

उक्त सूत्रके अनुसार निर्वस्त्र साधु अचेल, एक वस्त्रधारी एक शाटक, दो वस्त्रधारी अवमचेल और वस्त्रको पास रखकर

---

१ 'अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि, अथवा क्षेत्रादिगुणाद् हिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्—सान्तरमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्ति बिभर्ति शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयकल्पमपि परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृत्तः, अथवाऽऽत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति असौ मुखवस्त्रिकारजोहरणमात्रोपधिः।'—आचा० सू० वृत्ति, पृ० २५२।

भी आवश्यकताके समय ही उसका उपयोग करनेवाला सान्तरोत्तर कहलाता है।

अतः अचेलताके अर्थमें जो परिवर्तन किया गया वह आचारांगके प्रतिकूल है। तथा उत्तराध्ययनके भी प्रतिकूल है। उत्तराध्ययनमें अचेल परीषहका वर्णन करते हुए लिखा[1] है— मेरे वस्त्र जीर्ण हो गये हैं अतः इनके नष्ट हो जाने पर मैं अचेल रहूँगा अथवा सचेल रहूँगा (कोई मुझे वस्त्र दे दे तो) भिक्षुको यह चिन्ता नहीं करनी चाहिये। एक समय साधु अचेल तो एक समय सचेल रहता है अचेलताको धर्मका उपकारक जानकर ज्ञानीको विकल नही होना चाहिये।'

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमे साधुके लिये २२ परीषहोंको जीतना आवश्यक बतलाया है। परीषहका मतलब अचानक उपस्थित होने वाली बाधा या कष्ट है। उन बाईस परीषहोंमें शीतपरीषह, दंसमशक परीषह और अचेल या नाग्न्य परीषह भी है। वस्त्र रहते हुए भी वस्त्रके पर्याप्त न होनेपर शीत परीषह हो सकती है। उसी तरह पूरे शरीरको ढांकने लायक वस्त्र न होने पर डांस मच्छरका भी कष्ट हो सकता है। किन्तु नाग्न्य परीषह नग्न रहनेकी बाधा

---

१ 'परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामित्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं इति भिक्खू न चिंतए ॥१२॥
एगया अचेलए होइ, सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी णो परिदेवए ॥१३॥'
—उत्तरा०, २ अ०।

टीकाकार नेमिचन्दने भी यहाँ अचेलका अर्थ चेलविकल किया है—अल्प चेल आदि नहीं। ले०

तो तभी सता सकती है जब पुरुषेन्द्रिय भी निरावरण हो। किन्तु नाग्न्य परीषह जैसे स्पष्ट शब्दके अर्थमें भी जो खींचातानी की गई है उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

तत्त्वार्थ[1] सूत्रके व्याख्याकार श्री सिद्धसेन गणिने लिखा है— 'नाग्न्य परीषहका यह आशय नहीं है कि कोई उपकरण ही न रखा जाये, जैसे कि दिगम्बर साधु होते हैं। किन्तु प्रवचनमें कहे हुए विधानके अनुसार नाग्न्य होना चाहिये।' बीचमें शिष्य प्रश्न करता है कि साधुके दस कल्पोंमें 'आचेलक्य' कल्प भी तो आवश्यक है? उसका उत्तर देते हुए गणि जी कहते हैं—'तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु वह आचेलक्य जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार करना चाहिये। तीर्थङ्करकल्प-जिनकल्प एक भिन्न ही है, तीर्थङ्कर जन्मसे तीन ज्ञानके धारी होते हैं और चारित्र धारण करने पर चार ज्ञानके धारी होते हैं। इसलिये उनका पाणिपात्र भोजीहोना और एक देवदूष्य धारण करना उचित है। किन्तु साधु तो उसके द्वारा उपदिष्ट आचारका पालन करते हैं, जीर्ण, खण्डित, और समस्त शरीरको ढाकनेमें असमर्थ वस्त्र ओढ़ते हैं, इस प्रकार वस्त्र रखते हुए भी वे अचेलक ही हैं। जैसे नदी उतरते समय सिर पर कपड़ा लपेटे हुए मनुष्य सवस्त्र होने पर भी नग्न कहाता है वैसे ही गुह्य प्रदेशको ढांकनेके लिये चोलपट्ट धारण करने वाला साधु भी नग्न ही है।'

मालूम होता है गणि जीके समयमें चोलपट्ट धारण करनेकी परम्परा थी। इसीसे उन्होंने वस्त्रधारीके नग्न परीषहका समर्थन नहीं किया। किन्तु चोलपट्ट रहते हुए अन्य परीषह तो हो सकती हैं किन्तु नाग्न्य परीषह नहीं हो सकती। इसका समर्थन नाग्न्य

१—सूत्र ९-९ की व्याख्या।

परीषहके समर्थनमें दिये हुए आर्यरक्षितके उदाहरणसे भी होता है। कथा इस[1] प्रकार है—आचार्य आर्यरक्षितने अपनी माता, भार्या भगिनी आदि सभी स्वजनोंको साध्वी बना दिया किन्तु उसके पिताने समझाने पर भी लज्जावश साधु पद स्वीकार नहीं किया। वह कहता—कैसे श्रमण बनूं ? यहाँ मेरी पुत्रियाँ हैं, बहनें हैं, नातनी है। इनके आगे मैं नंगा नहीं हो सकता। जब आचार्यने बहुत कहा तो वह बोला—'यदि मुझे दो वस्त्र, कमंडल छाता, जूता और यज्ञोपवीतके साथ प्रव्रजित कर सकते हो तो मै साधु बननेके लिये तैयार हूँ।' आचार्यने उसकी बात मानकर उसे दीक्षा दे दी।

एक दिन आचार्य साधु संघके साथ चैत्य वन्दनाके लिये गये। वहाँ पहलेसे सिखाकर तैयार किये गये बालकोंने कहा–'इस छाते वाले साधुके सिवा हम सब साधुओंकी वन्दना करते हैं। वह वृद्ध बोला—इन्होंने मेरे पुत्र पौत्र सबकी वन्दना की। मेरी वन्दना नहीं की। क्या मैंने दीक्षा नहीं ली ? तब बालक बोले—दीक्षा ली होती तो छाता कमण्डलु वगैरह तुम्हारे पास कैसे होता ? वृद्धने आचार्यसे कहा—पुत्र ! बालक भी मेरी हँसी करते हैं। अतः मैं छाता नही रखूँगा। इसी तरह प्रयत्न करके धोतीके सिवाय सब चीजोंका त्याग वृद्धसे करा दिया गया। किन्तु किसी भी तरह वह धोती त्यागनेके लिये तैयार नहीं हुआ।

एक दिन एक साधुका स्वर्गवास हो गया। तब आचार्यने वृद्धसे धोतीका त्याग करानेके लिये अन्य साधुओंसे कहा—जो साधु इस मृत साधुको कन्धों पर उठायेगा, उसे बड़ा पुण्य होगा। वृद्धने पूछा—पुत्र ! क्या इससे बहुत निर्जरा होगी।

१—उत्त०, २ अ०, पृ० २३।

आचार्य बोले—इसमें बहुत उपसर्ग हो सकते हैं यदि सह सको तो ठीक है। उसने स्वीकार किया। सब साधु उसके पीछे हो गये। जब उस वृद्धने उस मृत साधुको अपने हाथोंमें उठा लिया तो सिखाये हुए बालकोंने साधुकी धोती खोल दी। लज्जासे पीड़ित होकर ज्योंही वह उस शवको नीचे रखने लगा तो दूसरे साधुओं ने कहा—नीचे मत रखो। इतनेमें किसीने तन्तु द्वारा एक चोलपट्टक उसकी कटिमें बाँध दिया। वह लज्जावश उस शवको द्वार तक ही पहुँचाकर लौट आया और आचार्यसे बोला—पुत्र! आज बड़ा उपसर्ग हुआ। तब आचार्य बोले—इन्हें धोती लाकर पहना दो। वृद्ध बोला—जो हुआ सो हुआ, धोती रहने दो, चोलपट्टक ही ठीक है'।

अतः चोलपट्टक मात्रके रहते हुए उपचरित नाग्न्य परीषह हो सकती है किन्तु दो तीन वस्त्रोंके रहते हुए तो उपचरित नाग्न्य परीषह भी संभव नहीं है, अस्तु।

इन्हीं आर्य रक्षितके स्वर्गवासके पश्चात् श्वेताम्बर सम्प्रदायमें धीरे धीरे उपधियोंकी संख्यामें वृद्धि हुई, यह बात श्वेताम्बर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। मुनि कल्याण विजय जीने लिखा[1] है—'आर्य रक्षितके स्वर्गवासके पश्चात् धीरे धीरे साधुओंका निवास बस्तियोंमें होने लगा। और इसके साथ ही नग्नताका भी अन्त होता गया। पहले बस्तीमें जाते समय बहुधा जिस कटिबन्धका उपयोग होता था वह बस्तीमें बसनेके बाद निरन्तर होने लगा। धीरे धीरे कटिवस्त्रका भी आकार प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीरका गुह्य अंग ही ढकनेका विशेष ख्याल रहता

१—श्र० भ० म०, पृ० २८२।

था पर बादमें सम्पूर्ण नग्नता ढांक लेनेकी जरूरत समझी गई और उसके लिये वस्त्रका आकार प्रकार भी बदलना पड़ा। फलतः उसका नाम कटिबन्ध मिटकर चुलपट्ट–छोटा वस्त्र पड़ा।'

यह तो हुआ वस्त्रके विषयमें। अन्य उपाधियोंके विषयमें वे लिखते हैं–'पहले प्रति व्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था। पर आर्य रक्षित सूरिने वर्षाकालमें एक मात्रक नामक अन्य पात्र रखनेकी जो आज्ञा दे दी थी उसके फल स्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोलीमें भिक्षा लानेका रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणोंकी वृद्धि हुई। परिणाम स्वरूप स्थविरोंके कुल १४ उपकरणोकी वृद्धि हुई, जो इस प्रकार है—१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्र स्थापन ४ पात्र प्रमार्जनिका ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८-९ दो चादरें, १० ऊनी वस्त्र(कम्बल) ११ रजोहरण, १२ मुख वस्त्रिका, १३ मात्रक और १४ चोलपट्टक। यह उपधि औधिक अर्थात् सामान्य मानी गई और आगे जाकर इसमें जो उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधिमें संस्तारक, उत्तर पट्टक, दंडासन और दंड, ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजके श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।'

आचार्य हरिभद्रने (ई० ७२०-७८०) अपने संबोध[१] प्रकरणमें अपने समयके चैत्यवासी कुगुरुओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे केशलोच नहीं करते, प्रतिमा धारण करते शरमाते हैं। शरीर परका मैल उतारते हैं, पादुकाएँ पहिनकर फिरते हैं और बिना कारण कटि-

१—'कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई।
सोवाहणो य हिंडइ बंधइ कटिपट्टयमकज्जे' ॥३४॥

वस्त्र बांधते हैं। उन्होंने उन्हें 'क्लीब' कहा है। इससे प्रकट होता है कि विक्रमकी सातवीं आठवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर साधु भी कारण पड़ने पर ही वस्त्र धारण करते थे। सो भी कटिवस्त्र। यदि कटिवस्त्र भी निष्कारण धारण किया जाता था तो धारण करनेवाले साधुको कुसाधु माना जाता था।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अशक्ति या लाचारी में ही वस्त्रका उपयोग करनेकी आज्ञा थी। उसीका दुरुपयोग करके वस्त्रका समर्थन किया गया और आपवादिक मार्गको औत्सर्गिक मार्गका रूप दे दिया।

मंखलिपुत्त गोशालकका जीवनवृत्त

किन्हीं विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि महावीरने जो अचेलकताको अपनाया, यह उनपर उनके शिष्य और बादको आजीविक सम्प्रदायके गुरु मखलिपुत्त गोसालकका प्रभाव है। अतः नीचे उसी पर प्रकाश डाला जाता है।

आजीविकोंका कोई साहित्य प्राप्त नहीं है जिसके आधार पर उनके विषयमें कोई जानकारी प्राप्त की जा सके। हाँ, श्वेताम्बर जैन और बौद्ध साहित्यमें आजीविक सम्प्रदायके संस्थापक मंखलिपुत्त गोशालकका वर्णन मिलता है। भगवती सूत्र (१५ श० १ उ०) में गोशालक की जीवनी विस्तारसे दी है। प्रथम यहाँ हम उसे दे देना उचित समझते हैं।

'वह मंखलि नामक एक मंख (चित्रपट दिखाकर जीवन निर्वाह करने वाला भिक्षुक) का पुत्र था। एक ब्राह्मणकी गोशाला

१—इन्साइ० इ० रि०, पृ० १५८ से २६८। से० बु० ई०, जि० ४५, प्रस्ता० पृ० २६।

में उसका जन्म हुआ था इसलिये उसे गोशालक कहते थे। जब गोशालक युवा हुआ तो वह भी अपने पिताकी तरह हाथमें चित्रपट लेकर अपना जीवन निर्वाह करने लगा।

उस समय भगवान् महावीर तीस वर्ष तक घरमें रहकर प्रव्रजित हो चुके थे। और प्रथम वर्षावास बिताकर द्वितीय वर्षावास नालन्दाके बाहर तन्तुवाय शालामे बिताते थे। उस समय मंखलिपुत्र गोशालक हाथमे चित्रपट लिये, गाँव गाँवमे भिक्षा मांगता हुआ वहाँ आया, और अन्यत्र स्थान न मिलनेसे उसी तन्तुवाय शालामें 'भाण्ड' रखकर ठहर गया।

एक मासके उपवासके पश्चात् भगवान महावीर पारणाके लिये राजगृही गये। वहाँ आहार होनेके उपलक्षमें पञ्चाश्चर्य हुए। सब लोगोंमे इसीकी चर्चा थी। गोशालकने भी यह बात सुनी, और उसकी सत्यताका निर्णय करनेके लिये वह राजगृही गया। वहाँसे लौटकर वह महावीर भगवानके पास आया और विधिपूर्वक नमस्कार करके बोला—आप मेरे गुरु हैं और मै आपका शिष्य हूं। भगवान् चुप रहे, कुछ उत्तर नहीं दिया।

एक दिन भगवान वहाँसे विहार कर गये। गोशालकने उन्हें सर्वत्र खोजा। न मिलने पर पुनः उसी तन्तुवाय शालामें आया और अपने वस्त्र, भाण्ड, जूते, चित्रपट वगैरह एक ब्राह्मणको दान कर दिये और दाढ़ी मूँछ तथा सिरके बाल मुँड़ा लिये।

वहाँसे निकलकर घूमता फिरता वह कोल्लाग सन्निवेशमे आया। उस समय महावीर यहीं ठहरे थे और सर्वत्र उनकी ही चर्चा थी। उसे सुनकर गोशालकने सोचा—धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीरकी जैसी ऋद्धि, युक्ति, यश, बल, वीर्य,

सत्कार, पुरस्कार, पराक्रम है वैसा किसी अन्य श्रमण अथवा ब्राह्मणका नहीं है। अतः यह चर्चा अवश्य उन्हींकी है। वह सोच कर वह खोजता खोजता उनके पास पहुँचा और विधिपूर्वक नमस्कार करके बोला—आप मेरे गुरु हैं, मैं आपका शिष्य हूं।

इसके पश्चात् गोशालक छै वर्ष तक महावीर भगवानके साथ रहा।

एक दिन शरदऋतुके प्रारम्भमें भगवान महावीर गोशालकके साथ सिद्धार्थ ग्रामसे कुर्मग्राम गये। मार्गमें एक हरे भरे तिलके पेड़को देखकर गोशालकने भगवानसे पूछा—भगवान! यह तिल वृक्ष निष्पन्न होगा या नहीं? तथा ये सात तिलपुष्प जीव यहाँसे निकलकर कहाँ उत्पन्न होंगे?

भगवान बोले—यह तिल वृक्ष निष्पन्न होगा। और ये सात तिलपुष्प जीव यहाँसे निकलकर इसी तिलवृक्षकी एक फलीमें सात तिलरूपसे उत्पन्न होंगे। गोशालकको भगवानके इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ। उसने वह तिलका पेड़ उखाड़ कर डाल दिया। अचानक उसी समय जोरकी वर्षा हुई। उससे वह तिल वृक्ष पुनः जम गया और वे सात तिलपुष्प जीव उसीकी फलिकामे सात तिल रूपसे उत्पन्न हुए।

जब दोनो कुर्मग्रामसे सिद्धार्थ ग्रामको लौटे तो उस तिल वृक्षको दोनोंने देखा। किन्तु गोशालकको तब भी विश्वास नहीं हुआ। उसने तिलकी फलीको फोड़कर देखा तो उसमें सात तिल थे। इस परसे गोशालकको यह हुआ कि इसी तरहसे सभी जीव मरकर पुनः लौटकर उसी शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। वह भगवान महावीरसे अलग हो गया। और श्रावस्तीमें एक कुम्हारीके आवासमें रहने लगा। तथा अपनेको 'जिन' कहने लगा।

एक बार भगवान महावीर विहार करते हुए श्रावस्ती पधारे। गौतम गणधरने उनसे यह बात कही। तब भगवानने गौतमसे गोशालकका उक्त चरित वर्णन किया। गोशालकके कानमें भी यह बात पहुँची। वह आजीविक संघके साथ महावीर स्वामीके पास आया और बोला—'आप ठीक कहते हैं कि मंखलिपुत्त गोशालक मेरा शिष्य है। किन्तु तुम्हारा वह शिष्य मरकर देवलोकमें उत्पन्न हुआ है और मैं गौतमपुत्र अर्जुनके शरीरको त्यागकर मंखलिपुत्त गोशालकके शरीरमें आ गया हूँ। यह मेरा सातवाँ शरीर प्रवेश है'।

भगवान महावीरने इसका प्रतिवाद किया और उसपरसे गोशालक रुष्ट हो उठा। बोला—मेरी तेजोलेश्याके प्रभावसे पित्तज्वरसे आक्रान्त होकर तुम छै मासमें ही मर जाओगे।

तब महावीर बोले—अभी मैं १६ वर्ष तक और विहार करूँगा। किन्तु गोशालक! तुम अपनी ही तेजोलेश्याके प्रभावसे ७ दिनके पश्चात् ही मर जाओगे।

गोशालकने भगवान पर तेजोलेश्याका प्रयोग किया। किन्तु वह तेजोलेश्या उनका कुछ भी बिगाड़ न कर सकनेके कारण गोशालकके लिये ही काल साबित हुई।

संक्षेपमें यह गोशालकका जीवन वृत्तान्त है। इसके अनुसार गोशालक भिक्षावृत्तिसे आजीविका करनेवाले एक मंखलि नामके भिक्षुका पुत्र था। युवावस्थामें अकेला ही भिक्षावृत्ति करता हुआ महावीरके पास आया। उस समय महावीर दूसरा वर्षावास कर रहे थे। और इसलिए उन्हें प्रव्रजित हुए पौने दो वर्ष हुए थे।

चूंकि श्वेताम्बर आगमोंके अनुसार भी महावीर केवल एक वर्ष तक चीवरधारी रहे थे। अतः जब गोशालकने उन्हें देखा तब वे अवश्य ही नग्न होना चाहिये। इसके विपरीत गोशालक[1] के पास उस समय वस्त्र कमण्डलु जूता आदि उपकरण थे। जिन्हें उसने महावीरका शिष्य बननेसे पूर्व किसी ब्राह्मणको दे दिया। महावीरको अनायास प्राप्त आहार तथा पूजा सत्कारने उसे उनकी ओर आकृष्ट किया। तत्पश्चात्[2] महावीरने ही उसे प्रव्रजित किया, मुण्डित किया, शिक्षित किया और बहुश्रुत बनाया। किन्तु कुछ बातोंको लेकर महावीरसे उनका मतभेद हो गया। और वह [3]श्रावस्तीमें एक कुम्हारीके घरमें रहने लगा। महावीरसे अलग होनेके कारण ही उसने आजीविकोंका सघ बनाया। और अपनेको 'जिन कहने लगा। उसके अन्दर महावीरकी तरह ही चौबीसवां तीर्थङ्कर बननेकी भावना थी। इसलिये अपने आजीविक संघका निर्माण भी उसने मोटे तौर पर उसी बाह्य भूमि पर किया होगा, जिसपर महावीरका निर्ग्रन्थ संघ स्थापित था। अतः गोशालककी नग्नता का प्रभाव महावीर पर प्रतीत नहीं होता किन्तु महावीरको नग्नता से प्रभावित गोशालकने अपने आजीविक सम्प्रदायके साधुओंको नग्न रहनेका नियम बनाया यही अधिक सम्भव है।

१—'साडिआओ य पाडिआओ य कुंडियाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेइ।' —भ० १५ श०, १ उ०।

२—'भगवया चेव पव्वाविए, भगवया चेव मुण्डाविए, भगवया चेव सेहाविए, भगवया चेव सिक्खाविए, भगवया चेव बहुस्सुई कए।' —भ०, १५ श०।

३—'तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते......सावत्थि णयरिं'''हाला-हलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीविय संघ सपरिवुडे '''विहरइ।' —भ० १५ श०।

बौद्ध उल्लेखोंसे भी प्रकट होता है कि अच्छी आजीविकाके लोभसे ही गोशालकने नंगा रहना पसन्द किया।

दीघनिकायकी टीकामें बुद्ध घोषने लिखा है कि—'गोशालका नाम मक्खलि था, गोशालामें पैदा होनेसे वह गोशाल कहलाया। एक दिन तेलपात्र टूट गया। मालिकने उसे पकड़नेके लिये उसका वस्त्र पकड़ लिया। वह वस्त्र छोड़कर भाग आया और नंगा रहने लगा, क्योंकि नंगे रहनेसे अच्छी आजीविका मिलनेकी आशा थी।'

बुद्धघोषके उक्त कथनसे भी हमारी ही बातका समर्थन होता है। आजीविकाके लोभसे ही उसने नंगा रहना स्वीकार किया। उसने महावीरको नग्न अवस्थामें अच्छा आहार और आदर सत्कार पाते देखा। अतः वह उसे जँच गई। और उसने भी नग्नताको ही आदर्श बनाया।

प्रकृत विषय पर और भी प्रकाश डालनेके लिये आजीविक सम्प्रदायके सम्बन्धमें प्रकाश डालना जरूरी है।

गोशाल और परिव्राजक ।

डा० याकोबीका कहना[1] है कि बौद्ध उल्लेख गोशालकको नन्द वक्ख और किस्स संकिक्के अचेलक परिव्राजक सम्प्रदायका, जो प्राचीन साधु सम्प्रदाय था उत्तराधिकारी बतलाते हैं।

1—'The Budhist records, however, speek of him as the successor of Nanda vkha, and kiss samkikka, and of his sect, the Achelaka paribb. gakas, as a longestablıshed order of monks' (से० बु० ई०, जि० ४५, प्रस्ता० पृ० २९)

डा० वरुआ[1] ने भी 'आजीविक' शीर्षक अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्धमें इसी बातका समर्थन विस्तारसे किया है। और इसीके आधार पर गोशालक तथा उनके आजीविक सम्प्रदायके सम्बन्धमें बहुत सा ताना बाना बुना गया है। अतः प्रथम उसपर प्रकाश डालना आवश्यक है।

केवल मज्झिमनिकायके महासच्चक सुत्तन्त (पृ० १४४) और और सन्दक सुत्तन्त (पृ० २६९) में उक्त तीनों नाम इस प्रकार आये हैं—

सच्चक निगंठपुत्त गौतम बुद्धके पास जाता है और वार्तालाप करता है। बुद्ध पूछते हैं—अग्निवेश तूने काय भावना सुनी है? तो सच्चक उत्तरमें कहता है—

'जैसे कि यह नन्दवात्स्य, कृश सांकृत्य, मक्खली गोशाल (मानते हैं)। भो गौतम! यह अचेलक (=नग्न), मुक्त आचार साप्ताहिक भी आहार करते हैं। ऐसे इस प्रकार बीचमें अन्तर देकर अर्धमासिक आहारको ग्रहण करते हैं।'

सन्दक सुत्तन्तमें सन्दक परिव्राजक और भिक्षु आनन्दमें हुए वार्तालापका वर्णन है। आनन्दके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर अन्तमें सन्दक कहता है—'यह आजीवक पूत तो अपनी बड़ाई करते हैं, तीनको ही मार्गदर्शक बतलाते हैं। जैसे कि, नन्दवात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खलि गोशाल।

इन दोनो ही बौद्ध उल्लेखोंमें सच्चक निर्ग्रन्थपुत्र और सन्दक परिव्राजक दोनोंने ही नन्दवात्स्य आदि तीनोंको आजीविकोंका मुखिया बतलाया है। सन्दकतो परिव्राजक था यदि

१—ज० डि० ले०, जि० २, पृ० १—८०।

नन्दवात्स्य और कृश सांकृत्य अचेल परिव्राजक सम्प्रदायके होते तो बुद्ध तो कमसे कम उन्हे आजीविकोंका मार्ग दर्शक न बतलाता। दूसरे, ऊपर तीनोंका जिस रूपमें निर्देश किया गया है उससे यह भी स्पष्ट नहीं होता कि नन्दवात्स्य और कृश सांकृत्य दोनो पूर्वमे हो चुके थे प्रत्युत 'यह' शब्दसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों भी उस समय वर्तमान थे। हाँ, मक्खलि गोशालका नाम अन्तमें होनेसे यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि वह उन तीनोंमें सम्भवतया लघु था। किन्तु बौद्ध पिटक साहित्यमे जहाँ कहीं भी बुद्धके विरोधी छै शास्ताओंका निर्देश किया गया है वहाँ मखलिगोशालका ही नाम आया है।

शायद कहा जाये कि नन्दवात्स्य और कृश सांकृत्यने आजीविक सम्प्रदायकी स्थापना की होगी और उसका उत्तराधिकारी मक्खलि गोशालक होगा। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसा कि हम आगे देखेंगे आजीविक सम्प्रदाय मक्खलि गोशालकसे प्राचीन नहीं है। उसीने उसकी स्थापना की थी। अतः नन्दवात्स्य और कृश सांकृत्यका अचेल परिव्राजक सम्प्रदायसे सम्बन्ध तथा मक्खलि गोशालका उनका उत्तराधिकारी होना प्रमाणित नहीं होता। प्रत्युत बौद्ध उल्लेखोसे ये तीनो साथी प्रतीत होते हैं। जैसा डा० हार्नलेने लिखा है। उन्होंने लिखा है—'बौद्ध साहित्यमें गोशालकके दो साथी बतलाये हैं—किस्स संकिच्च और नन्दवच्छ। महावीरसे अलग होनेके पश्चात् इन तीनोंने श्रावस्तीमे एक सम्प्रदायके नाते नेताके रूपमें एकाकी जीवन बिताना आरम्भ किया। (इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २६७)

इसके सिवा गोशालकके सम्बन्धमें बुद्ध घोषने दीघनिकायकी टीकामें जो कुछ लिखा है वह ऊपर लिख आए हैं।

इस तरह जैन और बौद्ध उल्लेख गोशालकका जन्म गोशाला मे बतलाते हैं। जैन उल्लेख उसे मंखलिका पुत्र बतलाते हैं किन्तु बौद्ध उल्लेख उसका नाम मक्खलि बतलाते हैं। दोनों यह बतलाते हैं कि उसने नंगे होकर आजीविका की[1] दोनोंके अनुसार उसका यह कार्य आजीविकाके लिये था। इसीसे उसका सम्प्रदाय आजीविक कहलाया।

'आजीविक' शब्द संस्कृत भाषाके 'आजीव' शब्दसे बना है। आजीवका अर्थ है—आजीविका, रोजी। यह आजीविक शब्द आजीव, आजीविय आजीविक आदि विभिन्न रूपोंमें कतिपय जैन आगमों और बौद्ध पिटक साहित्यमे मिलता है। किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्रके सिवाय ई० सन् तकके समस्त प्राचीन ब्राह्मण साहित्यमें नहीं मिलता।

डा० हार्नलेने लिखा है कि 'गोशालक साधुके आजीवके विषयमें अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता था। सम्भवतया इसीसे वह और उसके शिष्य 'आजीविक' कहलाये। किन्तु जैन और बौद्ध उल्लेख गोशालक पर अनैतिक आचरणका दोषारोपण करते हैं, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। इससे ऐसा लगता है कि उसकी धार्मिक तपस्या मोक्षके लिये नहीं थी किन्तु आजीविकाके लिये थी। अतः प्रारम्भमें आजीविक' नाम जीविकापरक था,

---

१ 'डा० बरुआने (भा० इं० पत्रिका, जि० ८, पृ० १८७) लिखा है कि यदि आजीविक शब्दका वही अर्थ है जो विरोधी सम्प्रदाय लेते हैं तो एक धार्मिक सम्प्रदायने, जो भले ही निरुद्देश्य स्वार्थी और दुराचारी रहो, उसे अपने सम्प्रदायके नामके रूपमें कैसे अपना लिया ? किन्तु इतिहासमें निश्चय ही ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं है, जहाँ कल्पित घृणासूचक नामोंने धीरे धीरे असली नामोंका स्थान ले लिया।

पीछेसे वह एक सम्प्रदायके रूपमें व्यवहृत होने लगा।'—इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २५९।

इस तरह जैन और बौद्ध उल्लेखोंसे तो गोशालकका अचेल परिव्राजक होना सिद्ध नहीं होता।

हम लिख आये हैं कि आजीविक सम्प्रदायका संस्थापक गोशालक जैनोंके कथनके अनुसार मंखलिका पुत्र था और बौद्धोंके अनुसार उसका ही नाम मक्खलि था। किन्तु गोशालकको मस्करी भी कहा जाता है। और पाणिनिके अनुसार मस्करीका अर्थ परिव्राजक होता है। इसी परसे डा० हार्नलेका कहना है कि यतः गोशालक मंखलिपुत्त या मक्खलि (मस्करी) कहलाता था अत. वह प्रथम एकदण्डा था पीछे उसने महावीरके साथ रहना शुरू किया, जैसा कि डा० याकोबीका भी कथन है।

किन्तु डा० हार्नले यह भी स्वीकार करते हैं कि मंखलि या मक्खलिका संस्कृत रूप मस्करी नहीं है। जैन आगमिक साहित्य में 'मंख' शब्दका प्रयोग भिक्षुक जातिके लिये हुआ है किन्तु 'मस्करी' के 'मस्क' शब्दका तो कोई अर्थ ही नहीं, वह तो मस्कर से बना है। अतः यहाँ इस सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

मस्करी और गोशालक

पाणिनि[1] ने अपने व्याकरणमें मस्करी शब्द परिव्राजकके अर्थमें सिद्ध किया है। इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार पतञ्जलिने लिखा[2] है कि मस्करी वह साधु नहीं है जो हाथमें मस्कर

१ 'मस्कर-मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६-१-१५४)।

२ 'न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि ? मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।'—भाष्य (६-१ १५४)।

या बांसकी लाठी लेकर चलता हो। फिर क्या है? मस्करी वह है जो यह उपदेश देता है कि कर्म मत करो, शान्तिका मार्ग ही श्रेयस्कर है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवालका कहना[1] है कि 'यहाँ मस्करीका का अर्थ मक्खलि गोशालसे है, जिन्होंने आजीवक सम्प्रदायकी स्थापना की थी। पतंजलिने स्पष्ट यही अर्थ लिया है।' किन्तु डा० बरुआका कहना[2] है कि पाणिनिकी व्याख्या-बांसका दण्ड लेने वाले परिव्राजकको मस्करी कहते हैं—केवल उन्हें ही लागू नहीं होती जिन्हें जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें आजीविक कहा है। यही बात पतञ्जलिके सम्बन्धमे भी है। अर्थात् डा० बरुआके अभिप्रायानुसार मक्खलि गोशालकके सिवाय अन्य परिव्राजक भी जो दण्डधारी थे मस्करी कहलाते थे। पतञ्जलिकी व्याख्यासे भी यही ध्वनित होता है।

पाणिनिने गोशालक[3] शब्दकी भी व्युत्पत्ति की है। जो गोशालामें जन्म ले वह गोशालक है। जैन और बौद्ध उल्लेखोंके अनुसार मक्खलि या मंखलिपुत्तका जन्म गोशालामे हुआ था। पाणिनि मस्करी और गोशालकसे परिचित थे यह स्पष्ट है। किन्तु उन्होंने दोनोंका सामानाधिकरण्य नहीं किया। अतः गोशालक ही मस्करी था या मस्करी शब्द गोशालक और उसके अनुयायिओंके लिये ही व्यवहृत होता था यह नहीं कहा जा सकता।

एक बात और भी ध्यान देनेकी है। जैन आगमोंमें गोशालक को मंखलिपुत्त कहा है और बौद्ध त्रिपिटकोंमें मक्खलि कहा

१ पा० भा०, पृ० ३७६।
२ भां० ई० पत्रिका, जि० ८, पृ० १८४।
३ गोशालायां जातः गोशालकः (४-३-३५)।

है। दोनोंमें गोशालकको मस्करी नहीं कहा। और मंखलि या मक्खलि और मस्करी ये दोनों शब्द स्वतन्त्र हैं। किन्तु दोनोंमें कुछ इस प्रकारका साम्य है, जिससे मंखलि या मक्खलि मस्करीका भ्रष्ट रूप लगता है और शायद इसीसे दोनोंको एक समझ कर गोशालकके लिये मस्करी शब्दका व्यवहार प्रचलित हो गया।

वराहमिहिर (ई० ५५०) ने अपने वृहज्जातक[1] (१५-१) और लघुजातक[2] (१२-१२) में ७ प्रकारके साधुओंका निर्देश किया है, जिनमें आजीविक भी हैं। वराहमिहिरके टीकाकार भट्टोत्पलने (ई० ६५०) कालिकाचार्यके एक पद्यके आधार पर आजीविकोंको एकदण्डी बतलाया है। उसने लिखा है कि एकदण्डी अथवा आजीविक नारायणके भक्त थे।

हर्षचरितमें बाणभट्टने मस्करिका निर्देश किया है। डा० बरुआका कहना[3] है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हर्षचरितका 'मस्करी' वराहमिहिरके आजीविकका ही स्थानापन्न है। जब कि टीकाकारके अनुसार मस्करी परिव्राजकका तुल्यार्थक है। किन्तु डा० अग्रवालका लिखना है कि 'वस्तुतः मस्करी भिक्षु ही उस समय पाशुपत थे। पाशुपत भैरवाचार्य और उनके शिष्यको बाणने मस्करी कहा है (ह० च०, पृ० १६१)। शीलांकने भी एकदण्डियोंको शिवभक्त बतलाया है। किन्तु पाँचवें उछ्वासमें

१ 'एकस्थैश्चतुरादिभिर्बलयुतैर्जाता पृथग्वीर्यगैः।
शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः॥'

२ 'तापस वृद्ध श्रावक रक्तपटाजीविभिक्षुचरकाणाम्
निर्ग्रन्थानां चार्कात् पराजितैः प्रच्युतिर्बलिभिः॥१२॥'

३ भां० इं० पत्रिका, जि० ८, पृ० १८४।

बाणने 'यथावदभिगतात्मतत्त्वाश्च संस्तुता मस्करिणः' लिखकर मस्करी साधुओंको आत्मतत्त्वको ठीक प्रकारसे जानने वाले और सम्यक् प्रकारसे स्तुत कहा है। इसका मतलब यह हुआ कि बाण के द्वारा उल्लिखित मस्करी साधु आत्मतत्वके यथावत् ज्ञाता और विशेष आदरणीय माने जाते थे। जहाँ तक हम जानते हैं मस्करी साधुओंके लिये इस प्रकारके सम्मानास्पद विशेषण अन्यत्र नहीं पाये जाते।

उक्त स्थलके अध्ययनमें डा० अग्रवालने लिखा है—'यहाँ बाणने स्वयं ही सम्प्रदायका नाम दे दिया है। पाणिनिने मस्करी परिव्राजकोंका उल्लेख किया है। कुछ इन्हें मंखलि गोशालकका अनुयायी आजीविक मानते हैं। बाणके समयमें इनके दार्शनिक मतोंमें कुछ परिवर्तन हो गया होगा। अपने मूलरूपमें मस्करी भाग्य या नियतिवादी थे। जो भाग्यमें लिखा है वही होगा, कर्म करना बेकार है, यही उनका मत था। किन्तु बाणने उनके मतका ऐसा कोई सकेत नहीं किया।'—ह० च०, पृ० ११२। बाणने एक' पांडरिभिक्षु' नामक सम्प्रदायका निर्देश किया है। डा० अग्रवाल पांडरिभिक्षुको आजीविक बतलाते हैं। वे लिखते हैं कि निशीथचूर्णि (ग्रन्थ ४, पृ० ८६५) के अनुसार आजीविकोंकी संज्ञा पाण्डरभिक्षु थी। ये लोग गोरसका बिल्कुल व्यवहार न करते थे। इससे बाणका यह कथन मिल जाता है कि उनके शरीर जलसे सींचे गये थे।—ह० च०, पृ० १०७।

किन्तु हर्षचरितके आठवें उछ्वासमें बाणने जो अनेक सम्प्रदायोंके नाम दिये हैं उनमें भी मस्करीका निर्देश है तथा पांडुरिभिक्षुका भी निर्देश है। यदि बाणभट्टके द्वारा उल्लिखित पांडुरिभिक्षु

आजीविक हैं तो निश्चय ही बाणभट्टके द्वारा निर्दिष्ट मस्करी आजीविक नहीं है।

उक्त बातोंको लक्ष्यमें रखते हुए डा० बरुआका यह कथन कि हर्षचरितमें निर्दिष्ट मस्करी वराहमिहिरके आजीविकका स्थानापन्न है, निस्सन्देह तो नहीं माना जा सकता।

इस तरह विभिन्न उल्लेखोंके प्रकाशमें मस्करी और मक्खलि गोशालककी तथा मस्करी और आजीविकोंकी एकरूपता भी सन्देह रहित नहीं है। इस विषयमें हम अपनी ओरसे कुछ न लिखकर आजीविकोंके विशिष्ट अभ्यासी डा० बरुआका मत ही लिख देना उचित समझते हैं। वह कहते हैं—'उक्त विषयमें जितने उदाहरण दिये गये हैं उनमें एकरूपता नहीं है। क्योंकि कुछ अन्य ब्राह्मण ग्रन्थोंमें, यथा जानकी हरण और भट्टिकाव्यमें आजीविकको मस्करी और एकदण्डीका तुल्यार्थक कहा है। किन्तु ये प्रयोग निराबाध नहीं है क्योंकि कतिपय जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें आजीविकोंको स्पष्ट रूपसे परिव्राजकों या परमहंसोंसे भिन्न बतलाया है। और परिव्राजकों या परमहंसोंके एकदण्डी और त्रिदण्डी दो मुख्य विभाग थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आजीविकों और परिव्राजकोंका पार्थक्य उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन मक्खलि गोशालकका समय है। और एक[1] बौद्ध ग्रन्थके अंशसे कोई भी इसका अनुमान लगा सकता है। कुछ अन्य बौद्ध निकायोंमें भी इस प्रकारके अंश पाये जाते हैं जिनमें बौद्धोंने स्वयं आजीविकोंको परिव्राजकों और त्रिदण्डियोंसे भिन्न बतलाया है।'—भा० इं० पत्रि०, जि० ८, पृ० १८५। आगे डा० बरुआने लिखा है—'एक दृष्टिसे प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें अत्यन्त समानता है

१—'एकूनपन्नास आजीवसते, एकूनपन्नास परिभाजकसते'—दीघ०।

जहाँ कहीं उनमें 'आजीविय' या 'आजीवक' नाम आता है, स्पष्ट रूपसे या निर्विकल्प रूपसे वह गोशालक और उसके शिष्यों अथवा अनुयायिओंसे सम्बन्ध रखता है।'

अतः प्रारम्भमें गोशालकके परिव्राजक सम्प्रदायके मुखिया होनेकी डा० याकोबीकी धारणा साधार प्रतीत नहीं होती।

क्या गोशालक पार्श्वापत्यीय था?

देवसेनके दर्शनसार (वि० सं० ६६०) में जैसे प्रारम्भमें बुद्धको पार्श्वनाथकी परम्पराके निर्ग्रन्थका शिष्य बतलाया है वैसे ही मस्करीपूरण साधुको भी पार्श्वनाथकी परम्परामें दीक्षित हुआ बतलाया है। लिखा[1] है—'महावीर भगवानके तीर्थमें पार्श्वनाथ तीर्थङ्करके संघके किसी गणीका शिष्य मस्करीपूरण नामका साधु था। उसने लोकमें अज्ञान मिथ्यात्वका उपदेश दिया। अज्ञानसे मोक्ष होता है। मुक्त जीवोंको ज्ञान नहीं होता। जीवोंका पुनरागमन नहीं होता वे मरकर भव भवमें भ्रमण नहीं करते।'

पं० आशाधरने अनगारधर्मामृतकी टीका (वि० सं० १३००। पृ० ६) में लिखा है—'मस्करीपूरण नामक एक ऋषि पार्श्वनाथके तीर्थमे उत्पन्न हुआ था। जब भगवान महावीरको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तो वह उनके समवसरणमें इस इच्छासे गया कि मेरे जानेसे इनकी वाणी खिरेगी। किन्तु वाणी नहीं खिरी। तब उसे यह ईर्षा हुई कि अपने शिष्य गौतमकी उपस्थितिमे तो

१—'सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससंघगणिसीसो।
मक्कडिपूरण साहू अण्णाणं भासए लोए ॥२०॥
अण्णाणादो मोक्खो णाणं णत्थीति मुत्तजीवाणं।
पुणरागमनं भमणं भवे भवे णत्थि जीवस्स ॥२१॥'—द०सा०।

महावीरकी वाणी खिरती है, मैं ग्यारह अङ्गोंका पाठी हूँ, फिर भी मेरे रहते हुए वाणी क्यों नहीं होती। यह सर्वज्ञ नहीं है। यह जानकर वह वहाँसे चल दिया और उसने अज्ञानसे मोक्ष होता है यह मत चलाया'।

दोनों उल्लेखोंमें साधुका नाम मस्करिपूरण लिखा है। बौद्ध ग्रन्थोंसे यह प्रकट है कि बुद्ध कालीन छै शास्ताओंमें से एक पूरण काश्यप था, और एक मक्खलि गोशालक था। गोशालकको तो मस्करी लिखा मिलता है किन्तु पूरण काश्यपको मस्करी लिखा कहीं नहीं देखा गया। संभव है मक्खलिको ही मस्करीपूरण समझ लिया हो। अनगार धर्मामृतमें जो महावीरके समवसरणमें मस्करीपूरणके जानेका निर्देश किया है उससे उक्त संभावनाकी ही पुष्टि होती है। क्योंकि पूरण काश्यप और महावीरके परिचयका निर्देश तो कहीं नहीं मिलता किन्तु महावीर और मक्खलि गोशालकका मिलता है। किन्तु उनके जिस अज्ञान मतका दर्शनसारमें उल्लेख है उससे उनके मतका ठीक स्पष्टीकरण नहीं होता।

बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकायके सामञ्ञ फलसुत्तमें पूरण काश्यपका मत दिया है। उसका सारांश इतना ही है कि न बुरे कर्म करनेसे पाप होता है और न अच्छे कर्म करनेसे पुण्य होता है। इसी सूक्तमें मक्खलि गोशालकका मत देते हुए उसे नियतिवादी कहा है।

किन्तु बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्नमें लिखा है कि सम्राट् मिलिन्द ने गोशालकसे पूछा 'अच्छे बुरे कर्म हैं या नहीं ? और अच्छे बुरे कर्मोंका फल है या नहीं ? गोशालकने उत्तर दिया—अच्छे बुरे कर्म भी नहीं है और उनके फल भी नहीं है। यह उत्तर पूरण-काश्यपके मतके ही अनुरूप है।

दीघनिकायकी टीकामें बुद्ध घोषने गोशालकका मत दिया है कि वह मनुष्योंको छै विभागोंमें विभाजित करता था। किन्तु अंगुत्तरनिकायमें उस मतको पूरण काश्यपका मत माना है। (इं० इ० रि, जि० १, पृ० २६२)

बौद्ध ग्रन्थोंके उक्त उल्लेखोंसे यह प्रकट होता है कि मक्खलि गोशालक और पूरण कश्यपके मतोंमें कुछ समानता थी। शायद इसीसे भ्रमवश दोनोंको एक समझ लिया गया।

मक्खलि गोशालकके जीवनके विषयमें बौद्ध साहित्यमें जो कथा मिलती है वह हम लिख आये हैं उससे मिलती जुलती हुई कथा पूरण काश्यपके जीवनके विषयमें भी मिलती है। लिखा है—'यह एक म्लेच्छ स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। उसका नाम काश्यप था। इस जन्मसे पहले वह ९९ जन्म धारण कर चुका था। वर्तमान जन्ममें उसने सौ जन्म पूर्ण किये थे, इस कारण लोग उसको पूरण काश्यप कहने लगे थे। उसके स्वामीने उसे द्वारपालका काम सौंपा था। परन्तु वह उसे पसन्द नहीं आया और वह नगरसे भागकर बनमें रहने लगा। एक बार चोरोंने उसके वस्त्र वगैरह छीन लिये। परन्तु उसने कपड़ोंकी परवाह नहीं की और वह नंगा ही रहने लगा। उसके बाद वह अपनेको पूरणकाश्यप बुद्धके नामसे प्रकट करने लगा और कहने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ। एक बार जब वह नगरमें गया तो लोग उसे वस्त्र देने लगे, परन्तु उसने लेनेसे इन्कार कर दिया और कहा—'वस्त्र लज्जा निवारणके लिये पहने जाते हैं और लज्जा पापका फल है। मैं अर्हत् हूँ और सब पापोंसे मुक्त हूँ इसलिये मैं लज्जासे अतीत हूँ।' लोगोंने काश्यपके कथनको ठीक माना और उसकी पूजा की। उनमेंसे पाँच सौ मनुष्य उसके शिष्य हो गये। सारे जम्बू

द्वीपमें यह घोषित हो गया कि वह बुद्ध है और उसके बहुतसे शिष्य हैं।

उक्त बातोंके प्रकाशमें गोशालक मस्करी और पूरणकाश्यपके जीवनवृत्तमें तथा कतिपय सिद्धान्तोंमें समानता प्रतीत होती है। इसीसे दोनोंके ऐक्यका भ्रम होना सम्भव है। नौवीं-दसवीं शताब्दीके कतिपय जैन ग्रन्थोंमें केवल मस्करीका निर्देश मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसार जीवकाण्डकी गा० १६ मे मस्करीको अज्ञानवादी बतलाया है तथा यह भी बतलाया है कि मस्करी मुक्तिसे पुनरागमन मानता था। यद्यपि मक्खलि गोशालकके मुक्ति सम्बन्धी विचार पूर्णतया ज्ञात नहीं है। तथापि तथोक्त अज्ञानवादी मस्करी मक्खलि गोशालक ही ज्ञात होता है। और दर्शनसारके अनुसार वह तथा सम्भवतया पूरण काश्यप भी प्रारम्भमें पार्श्वनाथके निग्रन्थ सम्प्रदायके साधु थे। श्वेताम्बरीय आगम में लिखा है कि गोशालकका पार्श्वपत्यीयोसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः गोशालक प्रारम्भमे पार्श्वनाथका अनुयायी रहा हो, यह संभव है।

महावीर और गोशालकके सम्मिलनका उद्देश्य तथा पारस्परिक आदानप्रदान

डा० याकोबीका अनुमान है कि महावीर और गोशालक अपने अपने सम्प्रदायोको मिलाकर एक कर देनेके इरादेसे मिले थे और चूँकि वे दोनो बहुत समय तक एक साथ रहे इसलिये उन दोनोंमे कुछ ऐकमत्य होनेका अनुमान करना स्वाभाविक है।

वे लिखते हैं—'मै पृ० २६ के टिप्पणमें बतला आया हूं कि 'सव्वे सत्ता, सव्वे पाना, सव्वे भूता, सव्वे जीवा' यह कथन गोशालक और जैनोंमें समान है। तथा टीकासे हम जानते हैं कि तिर्यञ्चो-

का एकेंद्रिय द्वीन्द्रिय आदिमें विभाजन, जो जैन ग्रन्थोंके लिये साधारण बात है, गोशालक भी मानता था। छै लेश्यावादका विचित्र जैन सिद्धान्त भी गोशालकके मनुष्योंको छै भागोंमें विभाजित करनेके सिद्धान्तसे बिलकुल मिलता जुलता है। इसके सम्बन्धमें मैं यह विश्वास करनेके लिये तैयार हूं कि जैनोंने इस सिद्धान्तको आजीविकोंसे लिया और अपना बना लिया।'

आदरणीय विद्वानके उक्त उद्गारोंको अस्वीकार करते हुए हमे बहुत ही संकोच होता है। दोनोंके कतिपय सिद्धान्तोंमें समानताका होना तो अवश्यंभावी था, क्योंकि दोनों एक साथ वर्षों तक रहे थे। किन्तु ऐसी स्थितिमें एकतरफा यह विश्वास कैसे किया जा सकता है कि इस सिद्धान्तको जैनोने आजीविकोसे लिया। प्राप्त प्रमाणोके आधार पर हमे तो इससे विपरीत स्थिति ही दृष्टिगोचर होती है। जैन सिद्धान्तके अभ्यासियोसे यह बात छिपी नहीं है कि समस्त जीवोंकी दशाओंका ज्ञान करानेके लिये १४ मार्गणाओं और १४ गुण स्थानोंका गम्भीर सांगोपांग वर्णन उच्च कोटिके जैन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। लेश्या मार्गणाओंका ही एक भेद है और जिन योग और कषायके मेलसे लेश्याकी निष्पत्ति होती है उन योग और कषायोंकी चर्चासे जैन सिद्धान्त भरा हुआ है।

यदि यही मान लिया जाये कि इस सिद्धान्तको जैनोंने आजीविकोसे लिया है तो आजीविकोने उसे किससे लिया। जिस अचेलक परिव्राजक सम्प्रदायका उत्तराधिकारी गोशालकको कहा जाता है, उसमें तो इस सिद्धान्तके होनेका कोई संकेत नहीं मिलता। तब गोशालकने इस सिद्धान्तको किससे लिया। उसका स्वयंका आविष्कृत तो हो नहीं सकता। इसके सम्बन्धमे डा० हार्नलेने जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी मननीय हैं। उन्होंने

लिखा है—'इस सम्बन्धमें यह उल्लेख करना मनोरंजक है कि बुद्धघोषने अपनी टीकामें जो गोशालकके मनुष्य जातिको छै भागोंमें विभाजित करनेवाले सिद्धान्तका कथन किया है वह अंगुत्तर निकायके आधार पर किया है और अंगुत्तर निकायमें इस सिद्धांतको पूरणकाश्यपका बतलाया है। यदि यह केवल मूल ग्रन्थसे सम्बन्धित भूल नहीं है तो यह प्रमाणित करती है कि मनुष्य विभाग वाला सिद्धान्त बुद्धके विरोधी छैओ शास्ताओंके लिये समान रूपसे मान्य था।'—इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २६२ ।

उक्त स्थितिमे इकतरफा निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी तरहकी कतिपय समानताओंको देखकर कुछ विद्वानोने जैन धर्मको बौद्ध धर्मकी एक शाखा समझ लिया था। उसका निराकरण करके डा· याकोवीने जैन धर्मको एक स्वतंत्र और बौद्ध धर्मसे प्राचीन सिद्ध किया। तब जैनों और आजीविकोकी कतिपय बातोंमे समानता देखकर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि जैनोने आजीविकोंसे अमुक बात ली है या महावीरके धर्म पर गोशालकका बड़ा प्रभाव पड़ा।

आचार सम्बन्घी नियम

महावीरके आचार सम्बन्धी नियमों पर गोशालकका प्रभाव बतलाते हुए डा० याकोवीने लिखा है—'आचार सम्बन्धी नियमोके सम्बन्धमें संगृहीत प्रमाण करीब करीब यह प्रमाणित करनेकी स्थितिमें हैं कि महावीरने अधिक कठोर आचार गोशालकसे लिये हैं क्योंकि उत्तराध्ययनमे (२३ अ० गा० १३) कहा है कि पार्श्वका धर्म 'सान्तरोत्तर' था—साधुको एक अन्तर वस्त्र और एक उत्तर वस्त्र धारण करनेकी अनुमति देता था। किन्तु महावीरके धर्ममें साधुके लिये वस्त्रका निषेध था। जैन सूत्रोंमें नंगे साधुके

लिये अचेलक शब्द बहुतायतसे आता है। किन्तु बौद्ध अचेलकों और निर्ग्रन्थोंमें भेद करते हैं। धम्मपदकी बुद्धघोषकृत टीकामें कुछ भिक्षुओंके सम्बन्धमें यह कहा है कि वे अचेलकोंसे निर्ग्रन्थों को प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि अचेलक बिल्कुल नग्न होते हैं। (सव्वसो अपतिक्खन्ना)। जब कि निर्ग्रन्थ मर्यादाकी रक्षाके लिये एक प्रकारके आवरणका उपयोग करते हैं। किन्तु उन भिक्षुओंने गलत[1] समझ लिया बौद्ध अचेलकके द्वारा मक्खलि गोशाल और उसके पूर्वज किस संकिक्ष और नन्दवक्खके अनुयायिओंका निर्देश करते हैं और मज्झिम निकायमें उनके नियमोंका विवरण देते हैं'।

उत्तराध्ययनके जिस उल्लेखकी चर्चा डा० याकोबीने ऊपरकी है उसके सम्बन्धमें हम पहले लिख आये हैं। इसमें पार्श्वनाथकी परम्पराके केशी श्रमण पार्श्वनाथके धर्मको सान्तरोत्तर और महावीरके धर्मको अचेलक बतलाते हैं। 'सान्तरोत्तर' का एक अधोवस्त्र और एक उत्तरवस्त्र अर्थ जो डा० याकोबीने किया है वह श्वेताम्बरीय टीकाकारोंके अर्थोंको देखते हुए तो बहुत ही उचित है। किन्तु आचारांग सूत्रमें उसके प्रयोगको देखते हुए यह[2] भी

१—टिप्पणीमें डा० याकोबीने लिखा है—'सेसक पुरिमसमप्पिता व पतिक्खादेंति' यह शब्द बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। किन्तु भेदसे उसका आशय स्पष्ट हो जाता है। मेरा विश्वास है कि पालि 'सेसक' शब्द शिश्नकके लिये आया है। यदि यह ठीक है तो उक्त पदका अर्थ इस प्रकार होगा। 'वे (अपने शरीरके) अग्र भागके लगभग (एक वस्त्र) धारण करके अपने गुप्त अंगको ढांक लेते हैं।

२. आचार्य शीलाङ्कने अपनी टीकामें यही अर्थ किया है—सान्तर मुत्तरं-प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति, क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति' ।—आचा० सू० टी० (सू० २०९)।

अर्थ होता है कि वस्त्रको पास रखे और आवश्यकता हो तो उसका उपयोग कर ले। ऐसा अर्थ करनेसे श्वेताम्बरीय[1] ग्रन्थोंमें ही जो पार्श्वनाथके धर्मको सचेल और अचेल दोनों बतलाया है उसकी संगति भी बैठ जाती है। तथा क्यों पार्श्वनाथने 'सान्तरोत्तर' और महावीरने अचेलक धर्म रखा, इसका जो समाधान गौतमने किया, उसकी संगति बैठ जाती है।

आचारांग सूत्रके अनुसार वस्त्रधारणके तीन कारण बतलाये हैं—परीषह सहनेमे असमर्थता, इन्द्रियविकार और लज्जाशीलता। ऐसे असमर्थ साधुओंको गुह्य प्रच्छादनकी या वस्त्रधारणकी आज्ञा पार्श्वनाथके धर्ममें रही हो यह संभव माना जा सकता है। क्योंकि बौद्ध उल्लेखोंसे भी निर्ग्रन्थोंके सवस्त्र होनेका समर्थन मिलता है। किन्तु हमें यह न भुला देना चाहिये कि महावीरके समयमें पार्श्वपत्यीयोंमें शिथिलाचारने ही नहीं, किन्तु दुराचार तकने प्रवेश कर लिया था। डा० याकोबीने भी इसे मान्य किया था। इसका वर्णन पीछे किया भी जा चुका है। अतः महावीरके समयमें वर्तमान पार्श्वापत्यीयोंके आचरणके आधार परसे यह नहीं कहा जा सकता कि पार्श्वनाथने उसी आचार धर्मका नियम अपने साधुओंके लिये रखा था। और बौद्ध पिटक साहित्यमें जिन निर्ग्रन्थोंकी चर्चा है, डा० याकोबीके अनुसार भी वे प्रायः पार्श्व-नाथीय परम्पराके निर्ग्रन्थ थे।

किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंमें ही ऐसे भी निर्ग्रन्थोंका उल्लेख है जो नंगे रहते थे। यहाँ हम कतिपय बौद्ध उल्लेखोंको देते हैं—

१—'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाणं होई सचेलो अचेलो य ॥१२॥' पञ्चा०।

अंगुत्तर निकायमें तो 'निग्गंठा एकसाटका' लिखकर निर्ग्रन्थों को एकशाटक बतलाया है। किन्तु बुद्धघोषने दीघनिकायकी टीकामें तथा धम्मपदकी टीकामें, जिसका उल्लेख डा० याकोबीने अपने लेखमें किया है, निर्ग्रन्थोंको गुह्यांग मात्र ढाकने वाला बतलाया है।

डा० याकोबीने ही अपने 'महावीर और उसके पूर्ववर्ती' शीर्षक लेखमें बतलाया है कि बुद्धघोषने धम्मपदकी टीकामें लिखा है कि जो निर्ग्रन्थ नग्न रहते हैं वे उत्तम निर्ग्रन्थ माने जाते हैं।

स्पेंस हार्डीने अपनी पुस्तक 'ए मैन्युअल आफ बुद्धिज्म' (पृ० २३१) मे लिखा है कि श्रावस्तीका मृगार सेठ निर्ग्रन्थोंका भक्त था। उसने अपनी पुत्रवधू विशाखाको जो बुद्धकी भक्त थी, अपने निर्ग्रन्थोंके दर्शनार्थ बुलाया। जब उसने नंगे निगंठोको देखा तो वह अचकचा कर लौट गई।

बुद्धचर्या (पृ० ३२९) में राहुल जीने इस घटनाका वर्णन करते हुए नंगे निगंठोका निर्देश किया है।

इस तरह प्राचीन बौद्ध साहित्यमें निर्ग्रन्थोंके दो रूप मिलते हैं, नंगे और कौपीनधारी या एकशाटक। उनमें पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्र को लेकर पार्श्वनाथ और महावीरके धर्ममें कितना अन्तर था? तथा पार्श्वनाथके अनुयायिओं द्वारा ग्राह्य और महावीरके द्वारा त्याज्य वस्त्रकी क्या स्थिति थी।

पीछे, भगवान बुद्धसे पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदायका अस्तित्व सिद्ध करते हुए, मज्झिम निकायके महासीहनादसुत्तसे बुद्धकी पूर्वचर्याका वर्णन दे आये हैं और यह बतला आये हैं कि बुद्धने निर्ग्रन्थोंकी चर्याका भी पालन किया था क्योंकि उसमें उन्होंने

अपने नंगे रहने, केश लोच करने और हाथमें भोजन करनेका निर्देश किया है और ये सब आचार दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुके हैं। अतः बुद्धके समयमे तथा उससे पहले भी नंगे निर्ग्रन्थ थे, यह प्रमाणित होता है।

मज्झिम निकायके महासच्चक सुत्तंत (पृ० १४४) में सच्चक निगंठपुत्तने ठीक वही आचार जो बुद्धने पाला था—आजीविकोका बतलाया है। जिसके सम्बन्धमे डा० याकोबी यह संभावना करते हैं कि महावीरने उन नियमोंको अचेलको अथवा आजीविकोसे लिया। आजीविकोंके सम्बन्धमें प्रकाश डालते हुए यह बतलाया है कि बौद्ध साहित्यमें जहाँ कहीं आजीविकोंका वर्णन है वहाँ आजीविकोसे गोशालकके अनुयायी अभिप्रेत है। गोशालक ही आजीविक सम्प्रदायका संस्थापक था और वह बुद्धका समकालीन था। अतः बुद्धने अपने जीवनके पूर्व भागमे यदि उक्त कठोर तपश्चरण किया था तो निश्चय ही उन्होंने आजीविकोको प्रव्रज्या नहीं ली थी, क्योकि उस समय आजीविक नही थे। किन्तु निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्धसे पहले भी वर्तमान था। और एक जैन उल्लेखके अनुसार बुद्धने उस निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके एक आचार्यसे प्रव्रज्या धारण की थी।

यदि जरा देरके लिये यह मान लिया जाये कि उक्त कठोर आचरण आजीविकोंका था तो प्रश्न होता है कि उन्होंने यह कठोर आचार किससे लिया, क्योंकि डा० याकोबीने जैन सूत्रोंकी प्रस्तावनामें (सं० बु० ई०, जि० २२, पृ० ३४ आदि) यह लिखा है कि जैनों और बौद्धोंने अपने साधु धर्मके आचार गौतम धर्म सूत्र और बौद्धायन धर्म सूत्रसे लिये हैं।

उक्त धर्मसूत्रोंके नियमोंमें न तो नग्न रहनेका विधान है, न

हस्तभोजन है और न केशलुंच हैं। उसके कतिपय नियम निम्न प्रकार हैं—

१ एक साधुको कुछ भी संचय नहीं रखना चाहिये। अर्थात् अपरिग्रही होना चाहिये।

२ ब्रह्मचारी होना चाहिये।

३ वर्षाऋतुमें उसे अपना स्थान परिवर्तन नहीं करना चाहिये।

४ उसे केवल भिक्षाके लिये ही ग्राममें जाना चाहिये।

५ मनुष्योंके भोजन कर चुकनेके पश्चात् ही उसे भिक्षा माँगनी चाहिये। (जैन मुनि पहले जाते है)।

६ सब प्रकारकी इच्छाओंको रोकना चाहिये।

७ उसे अपनी नग्नता छिपानेके लिये एक वस्त्र धारण करना चाहिये।

८ बौद्धायनके अनुसार उसे एक पीतपट पहिनना चाहिये।

९ उसे पौधों और वृक्षोंका कोई भाग नहीं लेना चाहिये, सिवाय उसके जो स्वतः अलग हो गया हो।

१० एक गाँवमें एक ही रात रहना चाहिये।

११ उसे या तो बाल कटाना चाहिये या जटाजूट रखना चाहिये।

१२ उसे बीजोंको नष्ट नहीं करना चाहिये।

१३ जल छाननेका वस्त्र रखना चाहिए।

१४ एक लकड़ी रखना चाहिये।

१५ जो भोजन, बिना कहे, बिना पूर्व तैयारीके, अचानक प्राप्त हो जाये वही साधुको ग्रहण करना चाहिये और उतना ही ग्रहण करना चाहिये जितना जीवन धारणके लिये आवश्यक हो।

गौतम धर्मसूत्र और बौद्धायन धर्मसूत्र बुद्धसे प्राचीन हैं ऐसा कतिपय विद्वानोंका मत है। इसलिये बौद्धधर्मने उनका अनुकरण

किया हो, यह संभव है। किन्तु जब पार्श्वनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति तथा जैन धर्मका, जो कि प्राचीनतम साधु धर्मोंमें से माना जाता है, संस्थापक माना जाता हो, जो निश्चय ही उक्त सूत्रोंसे पूर्व हुए थे ; तब यह कैसे कहा जा सकता है कि जैनोने अपने नियमोंमे उक्त नियमोंका ही अनुकरण किया है।

हम पहले लिख आये हैं कि वैदिक धर्ममे चार आश्रमकी व्यवस्था बहुत बादमें आई है और चौथे संन्यास आश्रमके प्रति उसकी उतनी आस्था नहीं रही है। तथा श्रमणोंकी परम्परा बहुत प्राचीन है और आश्रम शब्द भी उसी धातुसे निष्पन्न हुआ है, जिससे श्रमण। अतः आश्रमोंका सम्बन्ध श्रमणोके साथ ही जान पड़ता है। और इस तरह उक्त नियम श्रमण परम्पराके साधारण नियम हो सकते है।

किन्तु हमे तो यहाँ यह बतलाना है कि केशलोंच, नग्नता और हस्त भोजन तथा भोजन सम्बन्धी अन्य कड़े आचार उक्त नियमोमें नही है, जिन्हें बुद्धने एक समय पालन किया था। ऐसी स्थितिमें यह सम्भावना नहीं की जा सकती कि महावीरने कठोर नियम गोशालकसे लिये। प्रत्युत गोशालक और महावीरका जिस प्रकारका सम्बन्ध बतलाया गया है उससे यही प्रमाणित होता है कि गोशालकने अपने आजीविक सम्प्रदायकी स्थापना महावीरके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके आधार पर की।

डा० याकोबीने एक उपपत्ति यह दी है कि :सच्चकने निर्ग्रन्थ पुत्र होते हुए भी अचेलक आजीविकोंकी काम भावनाका तो निर्देश किया किन्तु निर्ग्रन्थोंकी काम भावनाका निर्देश नहीं किया जब कि जैन साधुओंकी कतिपय क्रियाएँ अचेलक आजीविकोके तुल्य हैं। इस परसे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सच्चक

पार्श्वनाथका अनुयायी निर्ग्रन्थ था और पार्श्वनाथके अनुयायी निर्ग्रन्थोंमें कठोर आचार नहीं पाला जाता था।

यह हम पहले बतला आये हैं कि पार्श्वनाथके अनुयायी शिष्योंमें भगवान महावीरके समय तक धीरे धीरे शिथिलाचार आ गया था और वे सुखशील भी बन गये थे। सच्चक निर्ग्रन्थ भी उनमेसे हो सकता है। दूसरी बात यह है कि सच्चक गौतम बुद्धके सामने ऐसे श्रमण ब्राह्मणोंकी चर्चा करता है जो या तो केवल कायिक भावनामे तत्पर हो विहरते हैं या केवल चित्तकी भावनामें हो विहरते हैं। वह कहता है—

'भो गौतम! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण कायिक भावनामें तत्पर हो विहरते हैं, चित्तकी भावनामें नही। वह शारीरिक दुःखमय वेदनाको पाते है।··· भो गौतम! यहॉ कोई श्रमण ब्राह्मण चित्त-की भावनामे तत्पर हो विहरते हैं कायाकी भावनामें नहीं। भो गौतम वह चैतसिक दुःखवेदनामें पड़ते हैं।' (बु॰ च॰, पृ॰ १४४)

जो केवल काय भावनामे तत्पर हो विहरते हैं उनमे उसने मक्खलि गोशाल और उसके अनुयायिओंको रखते हुए उनकी बुराई की है कि वे खूब खाते पीते और मौज भी करते हैं। चित्त भावनाके विषयमे पूछने पर सच्चक मौन रह जाता है। जब बुद्ध उसे भावितकाय और भावित चित्त कैसे हुआ जाता है यह बत-लाते हैं तो सच्चक कहता है—'भो गौतम! मेरा विश्वास है कि आप गौतम भावितकाय और भावितचित्त हैं?'

तब गौतम कहते हैं—'जरूर, अग्निवेश! तूने तानेसे यह बात कही है।'

उक्त वार्तालापसे प्रकट होता है कि सच्चक केवल काय भावना वालों और केवल त्तिच भावना वालोंका मखोल करनेके लिये बुद्ध

के पास आया था और कायभावनामें आजीविकोंको और केवल चित्तभावना वालोंमें गौतम बुद्धको मानता था। आनन्दके कथन से यह भी स्पष्ट है कि वह बकवादी और पंडितमानी था। अतः प्रथम तो निर्ग्रन्थोकी बुराई करना उसे इष्ट नहीं हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि वह निर्ग्रन्थोंको भावितकाय और भावित-चित्त मानता हो। इसलिये उसने निर्ग्रन्थोंकी कायभावनाकी चर्चा न करके उनके विरोधी आजीविकोंकी चर्चा की हो। अतः उसके वार्तालाप परसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि पार्श्वनाथके धर्ममे कठोर आचार नहीं था और महावीरने ही उसे स्थान दिया। हाँ, पार्श्वनाथके अनुयायी निर्ग्रन्थोमें जो शिथिलाचार आ गया था, उसे दूर करनेके लिये महावीरने अपने निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके लिये कठोर आचारकी व्यवस्था की हो यही सम्भव प्रतीत होता है किन्तु वे नियम गोशालकसे लिये हो, यह तो किसी भी तरह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

डा० याकोवीने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध 'महावीर और उसके पूर्ववर्त्तियों पर' के अन्तमे स्वयं यह बात स्वीकार की है कि दिगम्बर प्राचीन है और उस समयके सर्व शास्ताओ पर जैनधर्म-का प्रभाव था। वह लिखते[1] हैं—'छै तीर्थङ्कर शीर्षक 'जेम्स डी

1—In James d'alwis praper on the 'six Tirthakas' the 'Digambaras' appear to have been regarded as an old order of ascetics, and all of those heretical teachers betray the influence of jainism in their doctrines or religious practices, as we shall now point out.

—Ind. Ant. जि० ६।

अलविस के लेखसे प्रकट है कि 'दिगम्बर' साधुओंके एक प्राचीन सम्प्रदायके रूपमें माने जाते रहे हैं। तथा सभी विरोधी धर्मगुरु अपने सिद्धान्तों और धार्मिक आचरणों पर जैन धर्मके प्रभावको अपनाये हुए हैं जैसा कि अब हम बतलायेंगे। गोशाल मक्खलि पुत्त एक रईसका दास था। उसके मालिकने उसे उसके वस्त्रोंसे बांध दिया। वस्त्र ढीले थे, इससे गोशालक उनसे छूटकर नंगा भाग खड़ा हुआ। इस स्थितिमें वह दिगम्बर जैनोंके या बौद्धोंके पास गया। अपना एक सम्प्रदाय कायम किया। जैनोंके अनुसार वह महावीरका शिष्य था फिर उससे स्वतन्त्र हो गया।... पूरणकश्यपने यह सोचकर कि दिगम्बर रहनेसे मेरी विशेष प्रतिष्ठा होगी, कपड़े पहनना स्वीकार नहीं किया। अजित केश कम्बली वृक्षोंमें जीव मानता था...। पकुद्ध कात्यायन पानीमें जीव मानता था।...इस तरह उस समयके चार तीर्थङ्कर जैनधर्मके सिद्धान्तोसे प्रभावित थे। इससे प्रकट होता है कि जैन विचार और आचार महावीरके समयमे अवश्य ही प्रचलित रहे हैं। इससे भी पता चलता है कि निर्ग्रन्थ महावीरसे बहुत पहलेसे चले आते थे।'

डा० याकोबीके ही उक्त शब्दोंके प्रकाशमें हमें उनके अभिमत के विरुद्ध कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नही रह जाती।

डा० बुहलरने भी महावीरके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायका महत्व बतलाते हुए लिखा है— बुद्धके प्रतिद्वन्दी अन्य सम्प्रदायोंका वर्णन करते हुए बौद्ध ग्रन्थोंमे लिखा है कि उन्होने निर्ग्रन्थोंकी नकल की है और वे नंगे रहते हैं। अथवा लोग उन्हें निर्ग्रन्थ समझते हैं क्योकि उन्हें घटनावश वस्त्र त्यागना पड़ा है। यदि वर्धमानका सम्प्रदाय महत्वशाली न होता तो इस प्रकारके उद्गारोंका प्रकटीकरण शक्य न होता। (इं० से० जै० पृ० ३६)

अतः डा० याकोवीका यह कथन कि महावीरने गोशालकका अनुसरण किया ठीक नहीं प्रतीत होता।

'महावीर और गोशालकके मिलनका उद्देश्य'

डा० याकोवीने लिखा है—'महावीरने जो आजीविकोंके कतिपय धार्मिक विचारों और क्रियाओंको अपनाया, इसे हम एक प्रकारका उपहार मानते हैं जो गोशालक और उनके शिष्योंको अपने वशमें करनेके लिये दिया गया था। ऐसा लगता है कि यह कुछ समय तक तो सफल हुआ, किन्तु अन्तमें दोनों परस्परमें झगड़ गये। और यह अनुमान करना शक्य है कि झगड़ा इस बात पर हुआ कि सम्मिलित सम्प्रदायका प्रमुख कौन बने? गोशालकके साथ अस्थायी सन्धि कर लेनेसे महावीरकी स्थिति दृढ़ हो गई। यदि हम जैनोंके विवरण पर विश्वास करें तो गोशालकका दुखद अन्त उसके सम्प्रदायके लिये अवश्य ही भयानक आघात हुआ।' (से० बु० ई०, जि० ४५, पृ० ३०)

उक्त कथनसे यही प्रकट होता है कि महावीरने गोशालकको प्रसन्न करनेके लिये उसके कुछ आचार अपनाये और गोशालकके साथ अस्थायी सन्धि करनेसे महावीरकी स्थिति दृढ़ हो गई।

प्रथम बातके सम्बन्धमें हम प्रकाश डाल चुके हैं। अतः यहाँ दूसरीके सम्बन्धमें डालते हैं। डा० याकोवीने जैन सूत्रोंकी अपनी उसी प्रस्तावनामें, जिसमें उक्त बात कही है, लिखा है कि 'जब बौद्ध धर्म स्थापित हुआ उस समय निर्ग्रन्थ एक प्रमुख सम्प्रदायके रूपमें वर्तमान थे। तथा अन्यत्र बौद्ध ग्रन्थोंमें निर्ग्रन्थोंका बहुतायतसे उल्लेख तथा इसके विपरीत जैन आगमोंमें बौद्धोंका किञ्चित भी निर्देश न देखकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि

बौद्ध निगन्थोंको एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे जब कि जैन अपने विरोधियोंकी परवाह नहीं करते थे।

यह तो हुई बुद्धके समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदायकी स्थिति जिसके प्रमुख निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर थे। महावीरके सम्बन्धमें डा० याकोबीने जैन सूत्रोंके प्रथम भागकी अपनी प्रस्तावनामें उनके मातृकुल और पितृकुलका परिचय देते हुए लिखा है कि यह हम इसलिये दे रहे हैं कि हम इसके ज्ञानसे यह जान सकनेमें समर्थ हो सके कि महावीर अपने मिशनमें सफलता कैसे प्राप्तकर सके।

जहाँ तक ज्ञात होता है पितृकुल और मातृकुलके सम्बन्धों-की दृष्टिसे महावीरकी लौकिक स्थिति बुद्धसे यदि इक्कीस नहीं थी तो उन्नीस भी नहीं थी। तथा वह प्राचीन निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके तीर्थङ्कर थे। बौद्ध निकाय ग्रन्थोंमें यत्र तत्र उनकी चर्चा करते हुए लिखा है कि बड़ी भारी निर्ग्रन्थोंकी परिषद्के साथ निगंठ नाटपुत्त अमुक जगह वास करते थे। इसके विपरीत गोशालक कुलकी दृष्टिसे हीन था, मांगता खाता फिरता था। जब वह महा-वीरके पास आया तब उसकी कोई स्थिति नहीं थी। बौद्ध निकाय ग्रन्थोंमें यद्यपि छै शास्ताओंमे उसका नाम भी सर्वत्र आता है, किन्तु मुझे तो एक भी ऐसा उल्लेख नहीं मिला, जहाँ उसे भी आजीविकोंकी बड़ी परिषद्के साथ वास करता बतलाया हो, उत्तरा० सूत्र० के आर्द्रक और गोशालक संवादमे गोशालक महावीर भगवानपर यह आरोप लगाता है कि पहले महावीर एकाकी रहते थे और अब बहुतसे निर्ग्रन्थोंके साथ रहते हैं। इस पर डा० हार्नलेने लिखा है कि—गोशालक-के साथ भी बहुतसे आजीविक रहते थे। अतः संघके प्रमुखका बहुतसे साधुओसे घिरे रहना कोई दोष नहीं है। किन्तु इस

आरोपसे यह प्रकट होता है कि महावीरने बुद्धकी तरह निर्ग्रन्थों का एक संघ स्थापित कर लिया था। महावीरके अनुयायी छोटे या बड़े समुदायोंमे विभिन्न स्थानोंमें फैले हुए थे, जो एक संघ एक नियम और एक नेताके अधीन थे। इसके विपरीत गोशालक के अनुयायी संख्यामें थोड़े थे और उसीके साथ रहते थे। अन्य भी आजीविक संघ थे किन्तु वे नन्दवत्स्य और कृश सांकृत्यके अधीन थे। निर्ग्रन्थो और बौद्धोंकी तरह आजीविकोंका एक संघ नहीं था। ...अपने अत्यधिक सफल प्रतिद्वन्दीके विरुद्ध गोशालक का उक्त दोषारोपण उसकी अपनी अयोग्यताको ही बतलाता है।'

—(इं० इ० रि०)

ऐसी स्थितिमे मैं नहीं समझता कि महावीरको गोशालकको प्रसन्न करनेकी क्या आवश्यकता थी? गोशालककी स्थिति तो ऐसी जान पड़ती है कि जिसके साथ स्नेह होजानेसे आदर मिलनेकी संभावना नही, और विद्वेष होजानेसे भयकी सम्भावना नहीं।

डा० याकोबीकी अपेक्षा डा० हार्नलेका मत ही इस विषयमें अधिक साधार प्रतीत होता है। वे लिखते हैं–'महावीरसे मिलनेमें गोशालकका क्या उद्देश्य था यह निश्चय कर सकना कठिन है। यह हो सकता है कि उस धार्मिक उत्साही महावीरकी संगतिसे गोशालकके स्वभावमें अपेक्षाकृत उत्तम सहज ज्ञान अस्थायी रूपसे जाग्रत हुआ हो। अथवा यह हो सकता है कि, जैसाकि जैन विवरण बतलाता है, गोशालकने महावीरसे अपने व्यवसायके लिये उपयोगी शक्तिशाली उपायोंको सीखनेकी आशा की हो।

डा० वरुआने[1] 'आजीविक' सम्बन्धी अपने निबन्धमें बतलाया

१—भां० इं० पत्रिका, जि० ८, पृ० १८३-।

है कि आजीविक शब्दका प्रयोग भारतीय साहित्यमें इन तीनके लिये किया गया है—

(१) विस्तृत अर्थमें परिव्राजकोंके लिए (२) संकुचित अर्थमें पूरणकस्सप, मक्खलि गोशाल आदि पांच तीर्थकोंके धार्मिक सम्प्रदायोंके लिए। और (३) अत्यन्त संकुचित अर्थमें मक्खलि या मक्खलि पुत्र गोशालके शिष्यों और अनुयायिओंके लिये। तथा भ रतीय साहित्यमें जिन विभिन्नरूपोंमें आजीवकोंका उल्लेख पाया जाता है उन्हें चार श्रेणियोमें रखा जा सकता है—(१) अचेलक साधु, जो अचेल, अचेलक खपणइ, क्षपणक, नग्न, नग्नपव्वजित नग्नक, नग्नक्षपणक कहे जाते थे। (२) एक परिव्राजकोंका समुदाय जो अपने साथ एक वांसकी लकड़ी या एक लकड़ी रखता था। और मस्करी एदण्डी, एकदण्डी, लट्ठीहत्थ, और वेणु परिव्राजक कहा जाता था। (३) सिरमुंडे वैरागी, जो घर २ भिक्षा मांगते हैं और जिन्हें मुण्डियमुण्ड या 'घर मुडनिय समण' कहा है। (४) सन्यासियोकी एक श्रेणी, जिनके जीवनका व्यवसाय भिक्षावृत्ति था जो नग्नताको अपनी स्वच्छता और त्यागका एक बाह्य चिन्ह बनाये हुए थे, किन्तु अन्तरंगमें एक गृहस्थसे अच्छे नहीं थे। उन्हें आजीव, आजीवक, आजीविय, आजीविक और जीवसिद्धी क्षपणक कहा है।

कहना न होगा कि ऊपर का नम्बर तीन और नं.चेका चार परस्परमें सम्बद्ध हैं। अर्थात् गोशालकके अनुयायी या शिष्य, जो आजीविक कहे जाते थे, यद्यपि संन्यासी थे, किन्तु जीविकाके खोजी मात्र थे। और संन्यासके आवरणमें एक गृहस्थसे अच्छे नहीं थे जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायेगा। ऐसे गोशालककी संगतिसे महावीर

और उसके सम्प्रदायको लाभ पहुँचनेकी कोई संभावना नहीं की जा सकती। और इसलिये गोशालक महावीरको आदर पूर्वक भिक्षा मिलते देखकर उनके साथ रहनेके लिये उत्सुक हुआ हो, यही संभव प्रतीत होता है।

अब प्रश्न रहा, महावीरसे गोशालक पृथक् क्यो हुआ ? डा० याकोबीका कहना है कि सम्मिलित संघका प्रमुख कौन बने इसको लेकर इन दोनोमे झगड़ा हुआ जान पड़ता है। भगवती सूत्र तो उनके भेदका कारण सैद्धान्तिक मतभेदका होना बतलाता है। तिलके पौदेवाली घटनाके बादसे उनमे वैमनस्य पैदा हुआ किन्तु पृथक् होनेके पश्चात् गोशालकने श्रावस्तीमे एक कुम्हारीके घरमे रहकर अपना पृथक् संघ बनाया और अपनेको चौबीसवां तीर्थङ्कर कहना शुरू किया। इससे यह भी स्पष्ट है कि उसके मन में तीर्थङ्कर बननेकी अभिलाषा थी। और महावीरसे पृथक् होकर वह उनसे पहले तीर्थङ्कर बन गया, क्योंकि भ० सू० के अनुसार जब महावीरको जिन दीक्षा लिये पूरे दो वर्ष भी नहीं हुए थे, तभी गोशालक उनके पीछे लग गया और छै वर्ष तक साथ रहा। महावीर स्वामीने लगभग तीस वर्षकी अवस्थामे जिन दीक्षा ली, और बारह वर्षके तपश्चरणके पश्चात् उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही साथ तीर्थङ्कर पद प्राप्त हुआ। इस तरह उन्हे ४२ वर्षकी अवस्थामे तीर्थङ्कर पद प्राप्त हुआ। और जब वह ३८ के थे, तभी गोशालकने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और अपना संघ कायम कर दिया। इस घटनाके पश्चात् श्रावस्तीमें ही उनकी भेंट हुई। उस समय महावीरको तीर्थङ्कर हुए चौदह वर्ष बीते थे। और गोशालकके आजीविक संघको स्थापित हुए १६ वर्ष हो चुके थे।

किन्तु तीर्थङ्कर पदको लेकर कलह सम्बन्धविच्छेदका मूल

कारण नहीं जान पड़ता। उसके मूलमें कुछ अन्य कारण भी हैं, जैन और बौद्ध उल्लेखोंसे जिनका समर्थन होता है।

डा० हार्नलेने लिखा है कि इस जैन वक्तव्यकी, कि गोशालक एक कुम्हारीके घरमे रहा था, सत्यतामे सन्देह करनेका कोई कारण प्रतीत नहीं होता। यह कार्य गोशालकके वास्तविक चरित्र पर प्रकाश डालता है और गोशालकके प्रति बुद्धके घृणा भावसे भी उसका समर्थन होता है'—इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २६०। वे और भी कहते हैं—'गोशालकका एक स्त्रीके स्थानको अपना मुख्य आवास बनाना बतलाता है कि गोशालकका मतभेद सैद्धान्तिक नहीं था, किन्तु चरित्र विषयक था। पार्श्वके चार यामोंमें परिवर्तन करके महावीरने ब्रह्मचर्यको पृथक् स्थान दिया था। इससे मालूम होता है कि पार्श्वके कमजोर साधुओंमें अनैतिकता प्रवेश कर गई थी। इसी बात परसे गोशालक महावीरसे पृथक् हो गया।'

पार्श्वपत्यीय और गोशालक

डा० हार्नलेके उक्त कथनका स्पष्टीकरण करनेके लिये पार्श्वपत्यीयों और गोशालकके पारस्परिक सम्बन्धमे प्रकाश डालना आवश्यक है।

भगवती सूत्रमें (१५-१) लिखा है कि एक समय गोशालकके समीप छै दिशाचर आये। टीकाकारने दिशाचरोंको पार्श्वस्थ और चूर्णिकारने पार्श्वापत्यीय बतलाया है। अर्थात् वे पार्श्वनाथकी परम्पराके थे। वे छहो अपनी बुद्धिसे पूर्वगत आठ महा निमित्तोंका विचार करते थे। वे आठ महानिमित्त हैं—दिव्य, उत्पात, आन्तरिक्ष, भौम, स्वर, अंग, लक्षण और व्यंजन। इनसे प्राणियों

के जीवन मरण, सुख दुःख और लाभ अलाभकी जानकारी होती है। ये ज्योतिषसे सम्बद्ध हैं। इन्हींके आधार पर गोशालकने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सब प्राणियोंके लिये ये छै बातें अनतिक्रमणीय हैं—जीवन मरण, सुख दुःख, लाभ अलाभ। इनको टाला नहीं जा सकता, जिसके भाग्यमे जो बदा है वह होता है। यही गोशालकका प्रसिद्ध दैववादका सिद्धान्त है। सम्भवतः अपने इस सिद्धान्तको अपने जीवन व्यवहारमें उतारनेके कारण ही उस पर अब्रह्मचर्यावासका दूषण जैन और बौद्ध दोनोंने लगाया है जो साधार प्रतीत होता है। क्योंकि शुद्ध दैववादके सिद्धान्तका परिणाम 'अनैतिक आचरण' है। जब पाप पुण्य केवल दैवाधीन हैं, पुरुषका उसमे कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, तब नैतिक होनेका प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही क्या है?

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि चूंकि गोशालकके दैववादका सिद्धान्त पूर्वोंसे लिया गया था इसलिये महावीर और गोशालकमे सैद्धान्तिक मतभेद नही था, जैसा कि डा० हार्नलेका कथन है। जैन धर्ममे इस प्रकारके दैववादको कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जैन धर्ममे यद्यपि 'कर्म' का महत्त्व है किन्तु पुरुषार्थके द्वारा पूर्वकृत कर्मोको परिवर्तित ही नहीं, किन्तु नष्ट भी किया जा सकता है। अस्तु, ऊपरके उल्लेखसे स्पष्ट है कि गोशालक पार्श्वापत्यीयोके भी संसर्गमे था।

अब हम सूत्र कृतांगसे कुछ उदाहरण और देते हैं जिनसे भी उक्त बातका समर्थन होता है—

सूत्रकृतांगसे पता चलता है कि तिलके पौदेको लेकर गोशालकने जिस प्रकारकी आपत्ति की थी, उसी प्रकारका कुतर्क पार्श्वापत्य भी करते थे।

सूत्र० (२ श्रु० ७ अ०) में बतलाया है कि उदक पेढालपुत्र नामक पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ गौतम स्वामीसे आकर बोला—हे गौतम ! कुमारपुत्र नामके आपके एक निर्ग्रन्थ नियम ग्रहण करनेके लिये आये हुए श्रावकोंसे इस प्रकार त्याग कराते हैं—

'राजा आदिके अभियोगोंको छोड़कर त्रस प्राणियोंको दण्ड देनेका त्याग है। यह त्याग कराना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकारसे त्याग करानेवाले पुरुष अपनी प्रतिज्ञाका उल्लंघन करते हैं। और इसका कारण यह है कि प्राणी परिवर्तनशील है इसलिये स्थावर प्राणी भी कभी त्रसप्राणी हो जाता है और त्रसप्राणी स्थावर रूपमे उत्पन्न होता है। अतः जब वे त्रसप्राणी स्थावर रूपमें उत्पन्न होते हैं तो वे त्रसकायको दण्ड न देनेकी प्रतिज्ञा करने वालोंके द्वारा घात करनेके योग्य हो जाते हैं। अतः उनका त्याग ठीक नहीं कहलाया; क्योंकि जिसको घात न करनेका उन्होंने नियम लिया था, वे ही त्रसजीव स्थावर पर्यायमें उनके द्वारा घाते जाते हैं।'

उक्त शंकाका समाधान करने पर उदक पुनः उसी प्रश्नको प्रकारान्तरसे पूछता है—हे गौतम ! ऐसी एक भी पर्याय नहीं है जिसके घातका त्याग श्रावक कर सके; क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील है, कभी स्थावर त्रस हो जाते हैं और कभी त्रस स्थावर हो जाते हैं। वे सबके सब जब स्थावर कायमें उत्पन्न हो जाते हैं तो श्रावकोंके घातके योग्य होते हैं।

इस प्रकारके प्रश्न पार्श्वापत्यीयोंकी उस प्रकृति और स्थिति पर प्रकाश डालते हैं जो गोशालककी मनःस्थितिसे मिलती हुई है। अब प्रकृत स्त्री भोगके विषयमें पार्श्वस्थोंकी वाचालताका

नमूना देखिये—सूत्र०[1] (१ श्रु०, ३ अ०, ४ उ०) में प्रारम्भमें शीतल जल, बीज और हरी वनस्पतिका भक्षण करनेवालोंकी चर्चा करके लिखा है कि स्त्रीके वशमें रहने वाले और जैन शास्त्रसे विमुख मूर्ख अनार्य पार्श्वस्थ ऐसा कहते हैं—जैसे फोड़ेको दबा देना चाहिये वैसे ही समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करना चाहिये। इसमें दोष क्या है ? जैसे भेड़, पक्षी बिना हिलाये जल पीते हैं वैसे ही समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेमें क्या दोष है ? इस प्रकार मैथुन सेवनको निरवद्य बतलाने वाले मिथ्यादृष्टि अनार्य पार्श्वस्थ हैं। प्रारम्भमे जो शीत उदक, हरे बीजका सेवन करनेवालोकी चर्चा की है, वह स्पष्ट ही गोशालकका मत है और अन्तमे जो पार्श्वस्थो का स्त्री विषयक मन्तव्य दिया है, वह भी गोशालकके अनुकूल है। अतः गोशालक प्रारम्भमे पार्श्वनाथकी परम्परामें दीक्षित हुआ हो यह सम्भव है। तथा वह पार्श्वापत्यीयोंके प्रभावमे हो यह बहुत कुछ सम्भव जान पड़ता है।

आजीविक सम्प्रदाय नग्न रहताथा, इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है। किन्तु उत्तरकालके कतिपय लेखकोंने तो नग्नताको

---

१ आहंसु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥
\+ \+ \+ \+
एवमेगे तु पासत्था, पन्नवति अणारिया।
इत्थीवस गया बाला जिणसासणपरम्मुहा ॥६॥
जहा गंडं पिलागं वा परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु दोसो तत्थ कओ सिआ ॥१०॥
—सू०, १ श्रु०, ३ अ०, ४ उ०।

आजीविकोंके साथ ही बांध दिया है और जो नग्न सो आजीवक' ऐसी व्याप्ति सी बनाकर दिगम्बर जैनोंको ही गोशालकका अथवा आजीविकोंका उत्तराधिकारी सिद्ध कर डाला है।

आजीविक और दिगम्बर

आजीविकों और दिगम्बरोंमें तीन बातोंको लेकर समानता पाई जाती है - दोनों नग्न रहते थे, दोनों हस्तभोजी थे और दिगम्बरोंकी तरह शायद आजीविक भी केशलुंच करते थे। इस नग्नताके कारण किन्हीं किन्हीं ग्रन्थकारोंको भी दोनोंकी एकतामें भ्रम हो गया, ऐसा प्रतीत होता है। और उसी भ्रमके आधार पर कल्पनाओं और अनुमानोंका ताना बाना बुनकर बीसवीं शतीके कतिपय अन्वेषक विद्वानोंने आजीविकोंको दिगम्बर जैनोंका पूर्वज मान लिया, जिनमे डा० हार्नलेका नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है कि सूत्र कृतागंकी टीकामें शीलांकने आजीविकों त्रैराशिकों और दिगम्बरोंको एक बतलाया है। किन्तु उनका यह कथन भ्रमपूर्ण है। शीलाकंके दो वाक्य इस प्रकार हैं—

१ आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणयाह—

२ ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा ''''''„—अ० ३,—उ० ३, गा० १७ की टीका।

पहले वाक्यका अर्थ है—'आजीविक' आदि परतीर्थिकों और दिगम्बरोंके असदाचारका निरूपण करनेके लिये कहते हैं।'

इस वाक्यमें स्पष्ट ही आजीविकों और दिगम्बरोंको एक नहीं बतलाया। यदि 'परतीर्थकानां' पदको 'दिगम्बराणां'के साथ भी लगाया जाये तो अर्थ होगा— 'आजीविक आदि और दिगम्बर परतीर्थिकोंके'। सूत्र कृतांगके हिन्दी टीकाकारने यही अर्थ किया

है। यद्यपि मुझे अपना उक्त अर्थ ही अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। शीलांक आजीविकोंको परतीर्थिक बतलाता है, दिगम्बरोंको नहीं, तथापि यदि दूसरा अर्थ ही ठीक मान जाये तो भी आजीवक और दिगम्बर एक नहीं ठहरते। 'च' शब्दके होनेसे आजीवकादि और दिगम्बरमें विशेषणविशेष्य भाव इष्ट नहीं है। इसीतरह दूसरे वाक्यमे जो 'वा' शब्द बीचमें पड़ा है वह 'च' का स्थानापन्न है। अतः उसका अर्थ होता है— 'वे गोशालक मतावलम्बी तथा दिगम्बर सम्प्रदायवाले'। इस वाक्यमें 'गोशालकमतानुसारी' पद पूर्व वाक्यके 'आजीविकादि' पदका स्थानापन्न है। अतः दोनो वाक्योंके द्वारा शीलाङ्कने आजीविक आदि गोशालक मतानुसारियों और दिगम्बरोको एक नहीं माना है। और यदि माना है तो शीलाङ्कका उक्त लेख भी भ्रान्त है और उससे कोई भी बुद्धिमान[1] सहमत नहीं हो सकता; क्योंकि आजीविको और दिगम्बरोंमें मौलिक सैद्धान्तिक भेद है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

शीलांकने जिस गाथा[2] १२ की टीकाके प्रारम्भमे 'आजीवकादीनां परतीर्थिकानां' आदि लिखा है, उस गाथामें जैनमुनि आजाविक आदि परतीर्थिकोसे कहता है कि तुम लोग कांसा आदिके पात्रोमे भोजन करते हो, रोगी साधुके लिये गृहस्थाके द्वारा आहार मंगाते हो। इस प्रकार तुम लोग बीज और कच्चे जलका उपभोग करते हो और उद्दिष्ट भोजन करते हो'।

१—'भारतीय विद्या' जि० ३ पृ० ३६ में गोपाणिका 'आजीविक सेक्ट' शीर्षक लेख।

२ 'तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि वा। तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं ॥१२॥

यहाँ चार आरोप आजीविकों पर लगाये हैं— शीत जलका व्यवहार, बीज भक्षण, उद्दिष्ट भोजन और बीमार रोगीके लिये गृहस्थके पात्रमें आहार लाकर उसे खिलाना।

गोशालक आर्द्रक संवादमें, जिसका पीछे उल्लेख किया है, गोशालक कहता है कि शीतोदक बीज काय, उद्दिष्ट भोजन तथा स्त्री सेवन करनेसे हमारे साधुको पाप नहीं लगता। यहाँ गोशालकने उक्त चार बातोंमें से तीन कहीं है, पात्र भोजन नहीं लिया है, उसके स्थान पर स्त्री सेवन रखा है।

इसका मतलब यह है कि आजीविक साधु उक्त ४ चीजोंका सेवन करनेमें दोष नहीं मानते थे। और चुंकि इसकी उत्थानिकामें शीलांकने दिगम्बरोंको भी सम्मिलित कर लिया है, अतः शीलाङ्क के अनुसार दिगम्बरोंमें भी शीतल जल वगैरहके व्यवहारमें दोष नहीं माना जाता था। संभवतः इसी से डा० हार्नलेने दोनोंको एक मान लिया जान पड़ता है।

डा० हार्नले साहब का कहना है कि 'वास्तवमें दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें भी उक्त चार बातोंको लेकर ही मत भेद है। शीतल जल और बीजके भक्षण पर रोक किसी भी प्रकारके जीवकी सुरक्षाके लिए है। किन्तु कहा जाता है कि दिगम्बर केवल पशु-पक्षी वगैरहकी सुरक्षाकी ओर ही ध्यान देते हैं जब कि श्वेताम्बर जीव मात्रकी सुरक्षाके पक्षपाती हैं। ब्रह्मचर्यके दोनों पक्षपाती हैं किन्तु श्वेताम्बर भिक्षा पात्र रखते हैं, दिगम्बर नहीं रखते। नग्नताको लेकर विरोध तो दोनोंके नामोंसे ही स्पष्ट है'। (इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २६७)

दिगम्बर मुनि आजीविकोंकी तरह शीतल जल और बीज कायका सेवन करते हैं तथा वे केवल पक्षी पशु आदि स्थूल जीवों

की सुरक्षा पर ही विशेष ध्यान देते हैं, ये बातें बतलाती हैं कि डा० हार्नलेने दिगम्बर ग्रन्थोका अवलोकन नहीं किया था तथा संभवतया शीलांककी टीकाके आधार पर उक्त बातें लिख दी है। अपने मतके उत्तराधके समर्थनमें उन्होंने Jas, Burgess के एक लेख 'दिगम्बर जैन एकोनो ग्राफी' (इं० ए०, जि० ३२, पृ० ४६०) का उल्लेख किया है। वर्गेसने अपने लेखमें लिखा है कि 'श्वेताम्बर लोग सब प्रकारके प्राणियोंके जीवनके प्रति अत्यन्त सावधान होते हैं, जबकि दिगम्बर केवल परिमित रूपसे ही वैसे होते है।

इस लेखकने ऐसा किस आधार पर लिखा हम नहीं कह सकते; क्योंकि उसने अपने उक्त लेखमें अपने कथनके समर्थनमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। दिगम्बर परम्परामे श्रावकके ग्यारह भेद हैं। थोड़ासा हेरफेरके साथ श्वेताम्बर परम्परामे भी उक्त भेद गिनाये हैं। उन्हे श्रावक प्रतिमा कहते है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार तो प्रतिमारूप श्रावक धर्म विच्छिन्न हो गया, किन्तु दिगम्बर परम्परामें उसकी प्रवृत्ति आज भी है। श्रावकके उन ग्यारह भेदोंमे पाँचवां भेद सचित्त[1] त्याग है। श्वेताम्बरोंमें इसका स्थान सातवां हैं। इसका पालक श्रावक सचित्त जल, पत्र पुष्प, बीज वगैरह का सेवन नहीं करता। ऐसी स्थितिमें जब पञ्चम

---

१ 'मूल फल शाक शाखा करीर कन्द प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥
—रत्न० श्रा० ॥

"हरिताङ्करबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्।
जाग्रतकृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥
—सागार० ७ अ० ८ श्लो०

श्रावकके लिए भी शीतल जल और बीजका सेवन वर्जित है, तब मुनिका तो कहना ही क्या है ?

दिगम्बर जैन साधु ४६ दोषोंको बचाकर आहार करता है। उन दोषोंमें एक दोषका नाम उन्मिश्र' है। पृथिवी, अप्रासुक जल, हरित काय, बीज और त्रसोसे मिश्रित आहारको उन्मिश्र कहते हैं। अर्थात् यदि भोजनमें शीतल जल और बीजका मिश्रण हो जाये तो वह आहार उन्मिश्र दोषसे युक्त होनेके कारण दिगम्बर जैन साधुके लिये अग्राह्य है। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि दिगम्बर जैन साधु शीतल जल और बीजोको ग्रहण करते हैं, बिल्कुल निराधार और असत्य है। इससे भी भयानक एक दूसरी भूल है।

डा० हार्नलेने लिखा है कि दिगम्बर साधु ५ फीट ऊँचा एक दण्ड हाथमे लिये रहते हैं, यह उनके आजीविक होनेका दूसरा प्रमाण है, क्योंकि आजीविक एकदण्डी थे। (ई० इ० रि०, पृ०-२६७)

दिगम्बर साधु एक मयूरके पंखोके पीछी और कमण्डलुके सिवाय और कोई उपकरण अपने पास नहीं रखते। जिस ५ फिट ऊँचे दण्डको हाथमे लिए रहनेका निर्देश डा० हार्नलेने किया है, वह श्वेताम्बर साधुओंका उपकरण है, दिगम्बर जैन साधुओंका नहीं। यदि यह दण्ड आजीविकोकी देन है तो श्वेताम्बर साधुओं को भी आजीविक मानना होगा क्योंकि जैनोमें वे ही एकदण्डी

१ "पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा।
पंचेहि तेहि मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥४७२॥ मूलाचा०'

" पृथ्व्या ऽ प्रासुकया ऽ द्भिश्च बीजेन हरितेन यत्।
मिश्रं जीवत्त्रसैश्चान्न महादोषः स मिश्रकः ॥३६॥"

—अनगार०, अ०५।

हैं। अतः यदि आजीविकोंके नग्न रहनेसे दिगम्बरोंको आजीविकों का उत्तराधिकारी माना जाता है तो आजीविकोंके एक दण्डी होने से दण्डधारी श्वेताम्बरोको भी आजीविकोंका उत्तराधिकारी बतलाना होगा। किन्तु यह सब भ्रान्त कल्पनाएँ हैं। और उनके आधार पर आजीविकों और दिगम्बरोंका ऐक्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

खेद है कि आजके कोई कोई लेखक स्वयं अध्ययन न करके उक्त प्रकारकी भ्रान्त धारणाओंके आधार पर ही कागज काले करते हुए पाये जाते है। इसका एक उदाहरण श्री रामघोषका वह लेख है जो उन्होने ओरियन्टल कांफ्रेसके द्वितीय अधिवेशनमें पढ़ा था। उस लेखका शीर्षक है— 'अशोकका धर्म'। यह लेख डा० हार्नलेके उक्त लेखको सामने रखकर ही लिखा गया है। श्री घोषने भी लिखा है कि दिगम्बर साधु ५ फीट ऊँचा दण्ड रखते हैं, शीतल जल और बीज ग्रहण करते है'। यदि दिगम्बर जैनोंके साहित्यका अध्ययन करके श्री घोषने अपना लेख लिखा होता तो डा० हार्नलेकी भ्रान्तियोंका ही पिष्टपेषण करनेका कष्ट उन्हे न उठाना पड़ता। डा० हार्नले विदेशी थे और उन्होने अपना लेख १९वीं शती के अन्तमें उस समय लिखा था जब दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशमे नहीं आया था। किन्तु श्रीघोषने तो अपना लेख उससे चौथाई शताब्दी पश्चात् १९२२ मे लिखा है, जब दिगम्बर जैन साहित्य काफी प्रकाशित हो चुका था।

उपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्यका आरम्भ ईसाकी प्रथम शताब्दीसे होता है। उसमे आजीविकोंकी छाया तकका संकेत नहीं मिलता और ऋषभ देवसे लेकर वर्धमान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करोका ही एकमात्र गुणगान आदि किया गया है। हां भोजनके

४६ दोषोंमें से एक दोषका नाम 'आजीव' भी है। अपनी जाति कुल, शिल्पकर्म, तपस्या, प्रभुत्व आदिको बतलाकर भोजन प्राप्त करना 'आजीव'[१] नामका दोष है। यह पहले लिखा ही है कि 'आजीव' से ही आजीविक शब्द निष्पन्न हुआ है। और आजीविक साधु आजीव या आजीविकाके विषयमें अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखते थे। सम्भव है कि वे अपनी जाति आदिका बखान करके भोजन प्राप्त करते हो। और उनकी उस वृत्तिके आधार पर आजीव नामक दोषकी रचना हुई हो। किन्तु यह दोष यदि आजीविकोंकी वृत्तिसे संबन्ध रखता है तो उससे दिगम्बर जैनों और आजीविकोका वैमत्य ही प्रकट होता है, ऐक्य या एकमत्य नहीं प्रकट होता।

यहाँ यह बतला देना भी उचित होगा कि श्वेताम्बर साहित्यमें भी 'आजीव' नामक भोजन दोष गिनाया है। असलमे दिगम्बर और श्वेताम्बरोमें मुख्य भेद वस्त्र परिधानका है, उनके अन्य आचारो और विचारोमे यत्किंचित् अन्तर होते हुए भी प्रायः ऐक्य ही है। मूल सिद्धान्तोंमे, तत्त्व व्यवस्थामे कोई अन्तर नही हैं, और इसका कारण यह है कि दोनों महावीरके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व-परम्पराको मानते हैं। यदि दिगम्बर सम्प्रदाय आजीविकोंसे निकला होता या आजीविक ही आगे चल कर दिगम्बर जैन सम्प्रदायके रूपमें परिवर्तित हो गये होते तो आजीविक सम्प्रदायके संस्थापक गोशालकको विचारधाराका कुछ अंश तो उसमें अवश्य ही परिलक्षित होता।

१–जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीव।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥३१॥
—मूलाचा०, पिण्ड०।

ऐतिहासिक अभिलेखोंसे यह स्पष्ट है कि गोशालकके पश्चात् भी उसका आजीविक सम्प्रदाय जीवित रहा। आजीविकोंका सबसे प्राचीन उल्लेख गयाके निकट बारबर पहाड़ियों पर निर्मित गुफाओंकी दीवारो पर अङ्कित है। उसमे लिखा है कि प्रियदर्शी अशोकने अपने राज्यके १३ वें वर्षमे यह गुफा आजीविकोंको प्रदान की। अशोकके स्तम्भो पर अङ्कित लेखामे भी आजीविकोंका निर्देश पाया जाता है। अशोकके उत्तराधिकारी दशरथने भी नागार्जुन पहाड़ी पर आजीविकोंके लिये गुफाएँ निर्मित कराई थीं। इस तरह बारबर पहाड़ीकी दो गुफाओं और नागार्जुन पहाड़ीकी तीन गुफाओंमे उन्हे आजीविकोंके लिये प्रदान किये जानेका लेख अङ्कित है। इससे स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व दूसरी शती तक गोशालकका आजीविक सम्प्रदाय प्रवर्तित था, क्योंकि उसके लिए गुफाएँ प्रदानकी गई थीं। इसके पश्चात् इस प्रकारका कोई उल्लेख न मिलनेसे यह अनुमान किया जाता है कि ईस्वी पूर्व दूसरी शतीके अन्तमे भारतवर्षसे एक सम्प्रदायके रूपमे आजीविकोंका लोप हो गया। किन्तु मुझे इससे सन्देह है क्योंकि १३ वीं शती तकके साहित्यमे आजीविकोंका निर्देश पाया जाता है।

डा० हार्नलेका कहना है कि शीलांकने अपनी टीकामें और हलायुधने अपनी अभिधानरत्न मालामें दिगम्बरों और आजीविकोंको एक बतलाया है। तथा प्राचीन तमिल साहित्यमे जैनके लिये आजीविकका प्रयोग पाया जाता है इस लिए ६ठी ईस्वी शताब्दीसे जबकि बराह मिहिरने आजीवक शब्दका प्रयोग किया, यह शब्द दिगम्बर जैनोका सूचक था (इं० इ० रि०, जि० १, पृ० २६६)।

डा० हार्नलेका उक्त कथन भी सुसंगत प्रतीत नहीं होता। यह हम पहले लिख आये है कि शीलांकने अपनी टीकामें आजीविकों

और दिगम्बरोंको स्पष्ट रूपसे एक नहीं बतलाया। हां, हलायुधने[1] अपनी अभि० र० (२-१९०) में नग्नाट, दिगम्बर, क्षपणक, श्रमण जैन, आजीव, और निर्ग्रन्थको एकार्थवाची अवश्य बतलाया है। तथा [2]रजोहरणधारी और श्वेतवासको सिताम्बर कहा है।

हलायुधके द्वारा प्रयुक्त शब्दोंको देख कर हमें ऐसा लगता है कि नंगे साधुओंके लिये प्रयुक्त होने वाले शब्दोंको उन्होंने एकार्थ-वाची मान लिया है। इससे उनके द्वारा प्रयुक्त 'आजीव' शब्दको दिगम्बरोंके वाचकके रूपमें गम्भीरताके साथ नहीं लिया जा सकता।

दूसरे, हलायुधके समकालीन भट्टोत्पलने, जो कि वराह मिहिर का टीकाकार है, कालिकाचार्यके एक प्राकृत पद्यके आधार पर आजीविकोंको एक दण्डी बतलाया है। भट्टोत्पल (ई० ९५० के लगभग) ने लिखा है एक दण्डी अथवा आजीविक नारायणके भक्त थे। शीलांकने एक दण्डियोंको शिवका भक्त बतलाया है। अतः हलायुधका आजीविको और दिगम्बर जैनोको एकार्थवाची बत-लाना प्रमाण कोटिमें लिये जानेके उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। तथा वराहमिहिरने प्रव्रज्या योग बतलाते हुए जिन सात प्रकारके साधु-ओका निर्देश किया है उनके नाम बृहज्जातकमें इसप्रकार है—शाक्य[3], आजीविक, भिक्षु, वृद्ध, चरक, निर्ग्रन्थ और वन्याशन।

१–'नग्नाटो दिग्वासाः क्षपणः श्रमणश्च जीवको जैनः।
आर्जवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः ॥१९०॥'

२–'रजोहरणधारी च श्वेतवासाः सिताम्बरः ॥१८१॥'

३—'शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः—बृ० जा० (१५-१)

और लघुजातकमें हैं तापस[1]- वृद्धश्रावक, रक्तपट आजीविक भिक्षु; चरक और निर्ग्रन्थ। यहाँ शाक्य और रक्तपट एक है तथा वन्याशन और तापस एक हैं। इसलिये वृहज्जातक और लघुजातकके नाम निर्देशमें कोई अन्तर नहीं है।

लघुजातक (१२-१२) की टीकामें उद्धृत एक श्लोकमें भी प्रव्रज्यायोगके लिये सात प्रकारके साधुओंका निर्देश किया है जो इस प्रकार[2] है— वानप्रस्थ, कापाली, बौद्ध, एकदण्डी त्रिदण्डी, योगी और नग्न। यहां तापससे वानप्रस्थ, वृद्धश्रावकसे कापालिक, रक्तपटसे बौद्ध, आजीविकसे एकदण्डी, भिक्षुसे त्रिदण्डी, चरकसे योगी और निर्ग्रन्थसे नग्नका ग्रहण किया गया है। और यही अर्थ वराहमिहिरको भी मान्य था। अतः उन्होने निर्ग्रन्थसे दिगम्बर जैनोका ग्रहण किया है न कि आजीविकोंसे, उनके वृहत्संहिता नामक ग्रन्थके अवलोकनसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वृ॰ सं॰ के प्रतिमा प्रतिष्ठापनाध्यायमें वराहमिहिरने बतलाया है कि कौन किस देवताका भक्त है। लिखा[3] है—भागवत विष्णुके

१—'तापस-वृद्ध-श्रावक-रक्तपटाजीवि-भिक्षु-चरकाणां।
निर्ग्रन्थानां चार्कात् पराजितैः प्रच्युतिर्बलिभिः॥
—ल॰जा॰ १२-१२',

२—'वानप्रस्थोऽथ कापाली, बौद्धः स्यादेकदण्डिनः।
त्रिदण्डी योगिनो नग्नः प्रव्रज्यार्कादितः क्रमात्॥

३—'विष्णो र्भागवतान् मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्
मातृणामपि मण्डलक्रमविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः।
शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदुः
ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्याः क्रियाः॥१९॥'
—वृ॰ सं॰, ६०

मग, सूर्यके, भस्माङ्कित द्विज शम्भुके, मातृमण्डलवेत्ता माताओंके, शाक्य बुद्धके, और नग्न जिनके उपासक या प्रतिष्ठापक होते हैं। यहाँ नग्न शब्द निर्ग्रन्थोंके लिये ही आया है, आजीविकोंके लिये नहीं आया। क्योंकि यद्यपि गोशालकने अपनेको जिन, कहलाना चाहा था इसलिये यह कहा जा सकता है कि आजीविक भी जिन के उपासक थे, किन्तु प्रथम तो आजीविकोंके विषयमें यह कहीं नहीं लिखा कि वे जिनके उपासक थे। दूसरे आजीविकोके जिनोंकी प्रतिमा बनाकर पूजनेका कोई निर्देश नहीं मिलता, न उनके मन्दिर और मूर्तियाँ ही मिलती हैं।

इसके सिवाय वराहमिहिरने बृ० सं० के प्रतिमालक्षणाध्यायमें विष्णु, बलदेव, शाम्ब, प्रद्युम्न, ब्रह्मा, स्कन्द, शम्भु, बुद्ध और जिनकी प्रतिमाका लक्षण बतलाया है। यहाँ उन्होंने जिनका निर्देश 'अर्हतां देव' 'आर्हतोंका देव' रूपसे किया है। लिखा[1] है—अर्हन्त देवकी प्रतिमाके दोनों बाहू जानुपर्यन्त होने चाहिएँ, उनके वक्षस्थल श्रीवत्ससे अंकित होना चाहिये, मूर्ति प्रशान्त हो, तथा नग्न, तरुण और रूपवान होना चाहिये।

ये सब लक्षण दिगम्बर जैन मूर्तियोमें आज भी पाये जाते हैं। यही सच्चा निर्ग्रन्थ रूप है। अतः निर्ग्रन्थ[2], नग्न और अर्हत् शब्दोका प्रयोग वराहमिहिरने एक ही अर्थमे किया है। वह अर्थ है दिगम्बर जैन। उस समय तक श्वेताम्बरोंमें भी सवस्त्र मूर्तियोंका

१—आजानु लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्क प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥४५॥

२—भट्टोत्पलने बृहज्जातक (१५-१) की टीकामें जहाँ आजीविकका अर्थ एकदंडो भिक्षु किया है, वहाँ निर्ग्रन्थका अर्थ नग्न क्षपणक किया है। यथा—'निर्ग्रन्थः नग्नः क्षपणकः प्रावरणरहितः'।

चलन नहीं हुआ था- यह भी वराहमिहिरके उक्त उल्लेख से प्रकट होता है।

प्रश्न होता है कि जैन सम्प्रदायके लिये प्रसिद्ध प्राचीन निर्ग्रन्थ शब्दके होते हुए भी डा० हार्नलेने वराहमिहिरके द्वारा प्रयुक्त आजीवक शब्दसे ही क्यों दिगम्बर जैनोंका ग्रहण किये जानेकी कल्पना की ? जहाँ तक हम जान सके हैं इसके दो कारण हो सकते हैं प्रथम, डा० हार्नले निर्ग्रन्थोंको सवस्त्र मानते हैं इसलिये उनके अभिप्रायानुसार निर्ग्रन्थोसे दिगम्बर जैनोका ग्रहण नहीं हो सकता। दूसरे उनकी मान्यताके अनुसार वराहमिहिरके समयमें आजीविक सम्प्रदाय लुप्त हो गया था, फिर भी उन्होने आजीविकोंका ग्रहण किया, इससे भी शायद डा० हार्नलेको यह हुआ कि उस समय पाये जाने वाले दिगम्बर जैन साधुओके लिये ही आजीविक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रथम कारणके सम्बन्ध मे हम पहले भी लिख चुके हैं कि महावीर, जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रधान थे, नग्न रहते थे और अपने समयमे पाये जाने वाले पार्श्वापत्योंको पुनर्दीक्षा देकर ही अपने संघमे सम्मिलित करते थे। उनका वस्त्रपरित्यागका नियम ढुलमुल नहीं था। अतः महावीरके निर्ग्रन्थ साधु अवश्य ही नग्न होने चाहियें। फिर वराहमिहिरके समयमे तो दिगम्बर जैन साधुके लिये ही निर्ग्रन्थ शब्दका व्यवहार होता था।

डा० बुलहरने लिखा है कि चीनी यात्री हुएन्त्सांगके वर्णनसे जो निर्ग्रन्थोंको 'लि-ही' लिखता है प्रकट है कि ईसाकी सातवीं शतीके आरम्भमें भी वे अपने नियमोंके प्रति जागरूक थे। हुएन्त्सांगने लिखा[1] है—'कि लि-ही (निर्ग्रन्थ) अपने शरीरको नग्न रखते

1 The LI-HI (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked and pull-

हैं, केशोंका लोंच करते हैं। उनके शरीरका समस्त चर्म फटा हुआ था, उनके पैर कठोर और चपटे हैं जैसाकि नदी किनारेके वृक्ष होते हैं'।

अतः छठी शताब्दीके मध्यके विद्वान् वराहमिहिरने निग्रन्थोंका निर्देश अवश्य ही दिगम्बर जैनोंके लिये किया है। इसलिये प्रथम कारणसे आजीविक शब्दका प्रयोग दिगम्बर जैनोंके अर्थमें प्रयुक्त किया जाना उचित प्रतीत नहीं होता।

इसके सिवाय ईसाकी सातवीं शतीके आरम्भके विद्वान् कवि बाणभट्टने अपने [2]हर्षचरितमें जैनोंके लिये 'आर्हत' शब्दका प्रयोग किया है, जो इस बातको पुष्ट करता है कि वराहमिहिरके समयसे जैन लोग अथवा महावीरके निग्रन्थ सम्प्रदायके अनुयायी तथा भक्त आर्हत (अर्हन्त देवके उपासक) कहे जाने लगे थे क्योंकि वराहमिहिरने 'अर्हतां देवः' के द्वारा जैनोका निर्देश किया है। तथा बाणने मोरपिच्छ रखनेवालोंको क्षपणक[3] और नग्नाटक[4] कहा है। मोरकी पीछी केवल दिगम्बर जैन साधु ही रखते है, और वे नंगे ही भ्रमण करते हैं। अतः बाणके द्वारा प्रयुक्त

ing out their hair. Their skin is all cracked, their feet are hard and chapped, like rotling trees that one sees near rivers. —इं० से० जै०, पृ० २, का टि० न० २।

२ 'जैनैः आर्हतैः पाशुपतैः पाराशरिभिः'—ह० च० पृ० १३६।

३ 'शिक्षित क्षपणकवृत्तय इव मयूरपिच्छचयान् उच्चिन्वन्तः'—ह० च० पृ० १०४।

४ 'अभिमुख माजगाम शिखिपिच्छलाञ्छनो नग्नाटकः'—ह० च०, पृ० ३२७।

क्षपणक और नग्नाटक शब्द भी दिगम्बर जैन साधुके लिये ही आया है। वराहमिहिरने भी 'नग्नान् जिनानां' पद्यमे इन्हीं नंगे साधुओंका निर्देश किया है। तत्कालीन तथा उत्तरकालीन साहित्य में जैन साधुओंको क्षपणक और नग्नाटक कहे जानेके अन्य भी अभिलेख मिलते हैं। वराहमिहिरसे पूर्वमे हुए दिगम्बर जैनाचार्य समन्तभद्रने एक पद्यमें अपनेको 'नग्नाटक' और 'मलमलिनतनुः' कहा है। बाणने भी शिखिपिच्छलाञ्छन नग्नाटकको 'उपचित बहलमलपटलमलिनिततनुः' बतलाया है, क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि नग्न रहनेके साथ ही स्नान भी नहीं करते। अतः उनके शरीरका मलसे मलिन हो जाना स्वाभाविक है।

'ज्योतिर्विदाभरण'[1] ग्रन्थके एक पद्यमें राजा विक्रमादित्यकी एक सभाके नवरत्नोंके नाम गिनाये हैं जिनमें वराहमिहिर आदिके साथ एक क्षपणकको भी गिनाया है किन्तु उस क्षपणकका नाम नही लिखा। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषणने (हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक पृ० ५) लिखा है कि जिस क्षपणकको हिन्दू लोग विक्रमादित्यकी सभाको भूषित करने वाले नवरत्नोंमें से एक समझते हैं वह सिद्धसेन जैनाचार्यके सिवाय दूसरा नहीं; क्योंकि बौद्ध ग्रन्थोंमे भी जैन साधुओंको 'क्षपणक' नामसे अंकित किया है। प्रमाणके लिये विद्याभूषण महाशयने अवदान कल्पलताके दो पद्य भी उद्धृत किये हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि जैन साधुको क्षपणक भी कहते थे।

उक्त उल्लेखोंके आधारसे भी यही प्रमाणित होता है कि वराहमिहिरने आजीविकोंका निर्देश दिगम्बर जैनोंके लिये न करके

---

१ 'धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह-शंकुर्वेताल भट्टघट-खर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ॥'

आजीविकोंके लिये ही किया है। आजीविक सम्प्रदायके वर्तमान न रहते हुए भी उसकी प्रव्रज्याका योग बतलानेका कारण यह हो सकता है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें योग चर्चित होगा। उसीको वराहमिहिरने अपने ग्रन्थमे भी निबद्ध कर दिया, क्योंकि उन्होंने अपने जातक[१] ग्रन्थोंके प्रारम्भमें यह बात स्वीकार की है कि पूर्व शास्त्रोंको देखकर मैंने अपने ग्रन्थोको रचा है। वराहमिहिरके पश्चात् भी १३ वीं शती तकके दूसरे साहित्यकारोंके द्वारा आजीविकोंका निर्देश उसी रूपमे किया हुआ देखा जाता है। उदाहरणके लिये दिगम्बर जैन ग्रन्थोमें ही हम आजीविक सम्प्रदायका निर्देश पाते हैं। वराहमिहिरसे एक शताब्दीके पश्चात् होनेवाले दिगम्बर जैनाचार्य अकलंकने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें (४-२०-१०) तापसो, परिव्राजकोके साथ आजीविकोंका भी निर्देश किया है और बतलाया है कि परिव्राजक मरकर पाँचवें स्वर्गमे और आजीविक मर कर बारहवें स्वर्ग तक जन्म लेता है उससे ऊपर निर्ग्रन्थ ही जा सकते हैं। दसवीं शतीके जैनाचार्य नेमिचन्द्रने अपने त्रि० सा० (गा० ५४७) में भी उक्त कथन करते हुए आजीविकोका निर्देश किया है। जैनाचार्य वीरनन्दिके आचारसारमें (११-१२८) उक्त कथनको दोहराते हुए आजाविकोका निर्देश किया है। इस तरहसे आजीविकोंका आजीविक रूपमें ही ईसाकी बारहवीं शती तकके दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है। अतः आजीविकों और दिगम्बर जैनोके ऐक्यकी कल्पना भ्रमजन्य है। इस तरहका भ्रम नया नहीं है। डा० वरुआने अपने उक्त लेखमें लिखा है कि कौटिल्यार्थशास्त्रमें बौद्धोंको आजीविक बतलाया है, तथा दिव्याव-

---

१ 'होराशास्त्रं वृत्तैर्मया निबद्धं निरीक्ष्य शास्त्राणि।
यत्तस्याप्यार्याभिः सारमहं संप्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥'—ल० जा०।

दानमें जैनोंको आजीविक बतलाया है। इस भ्रमका विश्लेषण करते हुए डा० वरुआने लिखा है कि पुण्ड्रवर्धनमें जैन और आजीविक दोनों सम्प्रदाय साथ साथ रहते थे और दोनोंके विचारोंमें तथा बाह्य रूपमें इतना कम अन्तर था कि एक बौद्ध दर्शकके लिये दोनोंमें भेद कर सकना कठिन था। (ज० डि० ले०, जि० २, पृ० ७५)।

हम डा० वरुआके उक्त विश्लेषणसे सहमत होते हुए भी वह माननेमें असमर्थ हैं कि जैनो और आजीविकोंके विचारोंमे भी बहुत कम अन्तर था और इसका स्पष्टीकरण गत विवेचनसे हो जाता है। हाँ बाह्य रूपमें विशेष अन्तर न था और इससे किसी दर्शकको दोनोके ऐक्यका भ्रम होना स्वाभाविक था। किन्तु दोनों सम्प्रदायोंके बीचमे साम्प्रदायिक खिंचाव अवश्य था, भगवती और सूत्रकृतांगका गोशालक सम्बन्धी विवरण इसका सूचक है ही, उत्तरकालीन दिगम्बर जैन ग्रन्थोंके आजीविक सम्बन्धी उल्लेख भी उसके पोषक हैं।

अतः आजीविकों और दिगम्बर जैनोके ऐक्यकी कल्पनामे कोई सार प्रतीत नहीं होता। नाग्न्य आदिको लेकर भ्रम वश ही किन्हीं लेखकोंने दोनोंको एक मान लिया है। जैन आधारोंसे तो जैनों और आजीविकोंमें पारस्परिक विरोधका ही आभास मिलता है तथा उसका समर्थन शिलालेखोंसे भी होता है। जिसकी विस्तृत चर्चा डा० बनर्जी शास्त्रीने अपने आजीविक शीर्षक लेखमें (ज० बि० उ० रि० सो०, जि० १२, पृ० ५३) की है। उसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

गयाके निकट जो बाराबर पहाड़ियाँ हैं, ईसाकी छठी-सातवीं शतीमें मौखरि अवन्तिवर्माके समयमे प्रवर पहाड़ियाँ कही जाती

थीं। मध्यकालमें उनका नाम गोरथगिरि भी था. यह बात श्री जैक्सनके द्वारा खोज निकाले गये दो लेखोंसे प्रमाणित हुई है। कलिंग चक्रवर्ती खारवेलके हाथी गुफावाले शिलालेखका पुनः अध्ययन करनेसे यह नाम प्रकाशमें आया है। उस शिलालेखमें लिखा है कि अपने राज्यके आठवें वर्षमें खारवेलने एक बड़ी सेनाके द्वारा गोरथगिरि पर आक्रमण किया। सात गुफाओं मेंसे बारबर पहाड़ीकी दो और नागार्जुन पहाड़ीको तोन गुफाएँ अशोक तथा उसके उत्तराधिकारी दशरथके द्वारा आजीविकोंके लिये प्रदान की गई थीं। यह बात गुफाओमें अंकित शिलालेखमे निबद्ध है। किन्तु तीन शिलालेखोंमेसे 'आजीविक' शब्दको छेनीसे काटकर मिटा दिया गया है, जबकि अन्य किसी शब्दको छुआ नहीं गया है। यह किसने किया—बौद्धोंने जैनोंने या ब्राह्मणोने।

Hultzsch का मत है कि मौखरि अवन्तिवर्माने यह कार्य किया। किन्तु बनर्जीका कहना है कि यह मत ठीक नही है क्योंकि प्रथम तो ६–७ वीं शतीका अवन्तिवर्मा ईस्वी पूर्व तीसरी शतीकी अशोक ब्राह्मी लिपिसे परिचित था, इसके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरे, उस समय आजीविक विष्णु और कृष्णके भक्त माने जाते थे। अत. हिन्दू आजीविकोंसे क्यों घृणा करेंगे ? यदि उन्हें ऐसा करना ही था तो अशोकका नाम 'देवानांप्रिय' भी मिटाना चाहिये था। अतः हिन्दुओंका यह कार्य नहीं है। बौद्ध लोग अपने ही एक धर्मप्रेमी राजाकी कृतिको बिगाड़नेकी चेष्टा करें ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये।

शेष रहते हैं जैन। जैनों और आजीविकोंका पारस्परिक विद्वेष इस निश्चयकी ओर ले जाता है कि यह काम जैनोंका है। निर्णय करनेके लिये केवल एक ही बात रहती है कि यह कार्य किसी भटकते हुए जैनका है अथवा किसी ऐतिहासिक व्यक्तिका

है ? इसका उत्तर हमें हाथी गुफाके शिलालेखसे मिलता है। जिन भगवानका अनुयायी खारवेल अशोक-दशरथके कालके पश्चात् ही अपने राज्यके आठवें वर्षमें गोरथगिरि पर गया था। और एक धार्मिक जैनके रूपमें उसने गोशालकके अनुयायी आजीविकोंका नाम वहाँसे मिटानेका प्रयत्न किया था।

डा० राधाकुमुद मुकर्जीने उक्त घटनाके सम्बन्धमें शास्त्रीके उक्त मतका समर्थन करते हुए लिखा है—'डा० बनर्जी शास्त्रीने एक अधिक निर्णयात्मक कल्पना सामने रखी है। उन्होने उक्त कृत्य जैन राजा खारवेलका बतलाया है क्योंकि उसके सम्प्रदायका आजीविकोंके साथ परम्परागत विरोध था। और इस तरह उक्त घटना मंखरिके समयसे, जब कि अशोककालीन ब्राह्मी लिपि प्रायः भुला दी गई थी, बहुत पहले घटित प्रमाणित होती है।' (अशोक, पृ० २०६)

पुरातत्त्वके क्षेत्रमें घटित उक्त घटनासे भी आजीविकोंके प्रति जैनोंके विरोधी दृष्टिकोणका ही समर्थन होता है। अतः आजीविकों और दिगम्बर जैनोंके ऐक्यकी कल्पना या आजीविक सम्प्रदायसे दिगम्बर जैनोंकी उत्पत्तिकी कल्पनामें कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता।

अतः महावीरकी नग्नता विषयक मान्यतामें गोशालकका प्रभाव परिलक्षित नहीं होता।

नग्नता प्राचीन परम्परासे सम्बद्ध है

प्रकृत विषय 'नग्नता' पर यदि इतिहास और पुरातत्त्वकी दृष्टिसे विचार किया जाये तो भी निर्वस्त्रताका ही समर्थन होता है।

आज हिन्दू देवी देवताओंकी नग्न मूर्तियाँ नहीं बनाई जातीं और नंगे देवताओंको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है, यद्यपि शिव-

लिंगकी पूजा प्रचलित है। किन्तु एक समय हिन्दुओंमें भी नग्न[1] मूर्तियोंका एकदम अभाव नहीं था।

डा० डी०आर० भण्डारकरके Some aspects of ancient Indian culture' से पता चलता है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसामें शिवको नग्न ही अंकित करनेकी परिपाटी रही है, चाहे शिवका रूप नटराजका हो, या पार्वती परिणयका हो या अर्धनारीश्वरका हो। बंगालके पहाड़पुरमें जो शिवकी प्रतिमा है, और उड़ीसाके चौदुर (Chaudwar) में जो उमामहेश्वरकी प्रतिमा है उनमें उर्ध्वलिंग अंकित है। दक्षिणमें तथा भारतके अन्य भागोंमें पाई गई लकुलीशकी मूर्तियाँ भी इसी रूपमें मिलती हैं।

इसी तरह बालकृष्णकी भी नग्न मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इस तरहकी एक पीतलकी मूर्ति बम्बईके संग्रहालयमे है, एक मद्रासके संग्रहालयमे है। बेलूरके एक मन्दिरमे रति-कामकी नग्न मूर्ति पाई जाती है। यक्षियोंकी भी नग्न मूर्तियाँ पाई जाती हैं। प्रश्न होता है कि नग्न मूर्तियोंकी परम्पराका उद्भव कबसे है और क्यों इस परम्पराका लोप हिन्दुओंमे होगया।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगाकि 'शिव' द्राविण अथवा अनार्य देवता था। उसे आर्योंने पीछेसे अपने देवताओंमें सम्मिलित कर लिया। इस विषयमें हम पहले लिख आये हैं।

अपनी उक्त पुस्तकमें डा० भण्डारकरने कृष्णको भी अनार्य प्रमाणित किया है उसके विस्तारमें हम जाना नहीं चाहते। सिन्धु घाटी सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी। मोहेजोदड़ो और हड़प्पासे प्राप्त सीलों और पाषाणों पर अंकित मूर्तियाँ प्रायः नग्न हैं। वहाँसे प्राप्त

१—भां० इं० पत्रिका, जि० २३, पृ० २१४ आदि।

जिन मूर्तियोंको योगीकी अथवा शिवकी कहा जाता है वे सब नग्न हैं। अतः यह स्पष्ट है कि द्रविड़ सभ्यतामें नग्न मूर्तियोंका प्रचलन था। और नग्न मूर्तियोंकी परम्परा द्रविड़ सभ्यताकी देन है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि सिन्धुघाटीसे जितनी नग्न मूर्तियाँ प्राप्त हुई है उतनी नग्न मूर्तियाँ सिन्धुघाटी सभ्यताके पश्चात्से लेकर अब तकके कालमें भी प्राप्त नहीं हुई। इससे प्रकट होता है कि आर्योंके आगमनके पश्चात्से नग्न मूर्तियोंमें कमी आनी शुरु हो गई। सम्भवत. आर्योंने द्रविड़ देवताओंको अपने देवताओंमें सम्मिलित करनेके साथ ही उन्हें अपने ढंगसे वस्त्र वेष्ठित भी करना शुरु कर दिया।

देवमूर्तियोंकी तरह द्रविड़ यति भी नग्न ही रहते थे। संन्यास आश्रमको स्वीकार करलेनेके पश्चात् आर्योंने उनमें भी वस्त्रका प्रवेश करा दिया। किन्तु नग्न मुनियोंकी, जिन्हें परमहंस कहा गया है, मान्यतामें कमी नहीं आई।

बुद्धके समकालीन छै विरोधी शास्त्राओंमें से महावीर, गोशालक और पूरणकाश्यप नग्न रहते थे, यह सिद्ध है। बुद्धने भी अचेलक तपस्वीका मार्ग अंगीकार किया था। पीछे उसे छोड़ दिया। प्रारम्भमें बुद्धने भी अपने भिक्षुओंको वस्त्रके विषयमे इतनी सहूलियते नहीं दी थी। अट्ठकथामें लिखा है कि भगवानके बुद्धत्व प्राप्तिसे बीस वर्ष तक किसी भिक्षुने गृहपति चीवर (गृहस्थके द्वारा दिया गया वस्त्र) धारण नहीं किया। सब पांसुकूलिक[1] ही रहे (विनय पि०, पृ० २७३)। जीवक कौमार भृत्यकी प्राथना पर ही उन्होंने गृहपति चीवर तथा कम्बलकी अनुज्ञा दी थी। इस अनुज्ञा के पश्चात्से ही भिक्षु संघमें चीवरोंकी बाढ़ आ गई और चीवरोंके

१—मार्गमें फेंके गये चिथड़ोंको धारण करनेवाले।

संग्रह, भण्डार, बंटवारा, रंगाई, धुलाई आदिके लिये व्यवस्थापक नियुक्त करने पड़े। बौद्ध भिक्षुओंकी इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंका भी प्रभाव मगधवासी सुखशील जैन साधुओं पर अवश्य पड़ा।

जैन मूर्तिकलासे भी नग्नताका ही समर्थन होता है। एक भी प्राचीन जैन मूर्ति ऐसी नहीं मिली है जो सवस्त्र हो अथवा जिसके गुह्य प्रदेशमें वस्त्रका चिन्ह अंकित हो। मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त सभी मूर्तियाँ नग्न हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री वीसेण्ट स्मिथने 'दी जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीकुटीस् आफ मथुरा' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें बहुत सी जिन प्रतिमाओंके चित्र भी दिये हैं, जिनमें कुछ प्रतिमाएँ बैठी हुई हैं और कुछ खड़ी हुई हैं। बैठी हुई मूर्तियों पर वस्त्रका कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु खड़ी मूर्तियाँ स्पष्ट रूपसे नग्न हैं, और उनपर अंकित लेखोंमें जो गण गच्छ आदि दिये हुए हैं वे श्वेताम्बर ग्रन्थ कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार दिये हुए हैं। उनसे भी पूर्वकी मौर्यकालीन जो जैन मूर्ति पटनाके संग्रहालयमें सुरक्षित है, वह भी नग्न है। यह मूर्ति हड़प्पासे प्राप्त एक मूर्तिकी हूबहू प्रतिकृति है। हड़प्पासे प्राप्त मूर्ति अकृत्रिम यथाजात नग्न मुद्रा वाले एक सुदृढ़ युवा की मूर्ति है। भारत सरकारके पुरातत्त्व विभागके संयुक्त निर्देशक श्री टी० एन्० रामचन्द्रन्का इसके विषयमें कहना[1] है कि 'हड़प्पाकी मूर्तिकाके उपरोक्त गुण विशिष्ट मुद्रामें होनेके कारण यदि हम उसे जैन तीर्थङ्कर अथवा ख्यातिप्राप्त तपोयुक्त जैन सन्त की प्रतिमा कहें तो इसमें कुछ भी असत्य न होगा'।

अतः जैन मूर्तिकलाकी दृष्टिसे भी जैन परम्परामें नग्नताका ही प्रचलन प्रकट होता है। यदि जैन धर्म वैदिक धर्मसे प्राचीन

१—अनेकान्त, वर्ष १४, कि० ६, पृ० १५८।

सिन्धुघाटी सभ्यतासे सम्बद्ध है तो वह अवश्य ही नग्नताका उपासक होना चाहिये।

संघ भेदका काल

संघ भेदके कारण वस्त्रकी समस्या पर विस्तारसे प्रकाश डालने के पश्चात् हम पुनः संघ भेदके कालकी ओर आते हैं।

श्रीमती स्टिवेन्सनने (हा० जै०, पृ० ७६) लिखा है–'संभावना यह है कि जैन समाजमें सदासे दो पक्ष रहे हैं— एक वृद्धों और कमजोरोंका, जो पार्श्वनाथके समयसे वस्त्र धारण करते आते हैं और जिसे स्थविरकल्प कहते है। यह स्थविरकल्पी पक्ष श्वेताम्बर सम्प्रदायका पूर्वज है और दूसरा पक्ष जिनकल्प है, जो नियमोंका अक्षरशः पालन करता था, जैसाकि महावीरने किया था, यह पक्ष दिगम्बरोंका अग्रज है।'

श्रीमतीजीकी इस संभावनामें हमे भी सत्यांश प्रतीत होता है क्योंकि उत्सर्ग अपवाद सापेक्ष्य होता है। अतः उत्सर्ग मार्गमें वृद्ध और कमजोरोंके लिये कुछ अपवादोंकी छूट होना संभव है। किन्तु जैसा उत्सर्ग अपवाद सापेक्ष्य होता है वैसे ही अपवाद भी उत्सर्ग सापेक्ष्य होता है। परन्तु यदि अपवादको ही उत्सर्ग मान लिया जाये और उत्सर्गकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाये तो उत्सर्ग और अपवाद मार्गियोंमें अलगाव होजाना ही अधिक संभव है। और यही संभावना जैनसंघके भेदके मूलमें जान पड़ती है।

श्वेताम्बर साहित्यके आधारसे यह बतला आये हैं कि भगवान महावीरके समयमें जो पार्श्वनाथकी परम्पराके साधु थे वे प्रायः शिथिलाचारी हो गये थे और उनमेंसे अनेकोंने महावीरके सन्मुख चतुर्याम धर्मसे पञ्च महाव्रत रूप धर्मको अंगीकार किया

था, जिनमें पार्श्वनाथकी परम्पराके केशी आचार्य भी थे। किन्तु कुछ पार्श्वापत्यीय ऐसे अवश्य थे, जो महावीरके संघमें सम्मिलित नहीं हुए थे। फिर भी उन्होंने भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीरके धर्ममें कोई अन्तर पाकर ऐसा सम्प्रदाय भेद नहीं उत्पन्न किया जो केवल पार्श्वनाथको या केवल महावीरको ही अपना धर्मगुरु मानता हो, और दूसरे तीर्थङ्करको अपना धर्मगुरु न मानता हो। इसका कारण भगवान महावीर जैसे समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था, जिन्होंने युवावस्थासे ही कठोर संयमी जीवन बिताकर 'निर्ग्रन्थ' नामको सार्थक बनाया था और सुखशील निर्ग्रन्थोंको भी सच्चा निर्ग्रन्थ बननेकी भावनाको जागृत किया था। भगवान महावीरके ही अनुपम आदर्श तथा प्रभावके कारण उनके निर्वाणके पश्चात् भी किसी तरहका मत भेद उत्पन्न नहीं हो सका और गौतम गणधर, सुधर्मा स्वामी तथा जम्बू स्वामी तक भगवान महावीरका जैनसंघ अखण्ड रूपसे प्रवर्तित हुआ। जम्बू स्वामीके पश्चात् किसी प्रकारके अलगावका भाव उत्पन्न हुआ हो तो असंभव नहीं है; क्योंकि भगवान महावीरके इन तीनों उत्तराधिकारियों को दोनो सम्प्रदाय अपना धर्मगुरु मानते हैं। यद्यपि इतना अन्तर अवश्य प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा गौतम गणधरको ही विशेष महत्त्व देती है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा सुधर्माको विशेष महत्त्व देती है। सुधर्माके शिष्य जम्बू स्वामी थे। जम्बू स्वामीके पश्चात् कोई अनुबद्ध केवलज्ञानी नहीं हुआ। और इस तरह केवल ज्ञानियोंकी परम्पराका अन्त होगया।

जम्बू स्वामीके पश्चात्से ही दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा की गुर्वावलिमें अन्तर पड़ता है और उनमें एक श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें दोनों मान्य करते हैं। इसपरसे ऐसा

संशय होना स्वाभाविक है कि क्या जम्बू स्वामीके पश्चात् ही कोई ऐसा विवाद खड़ा हुआ था, जिसके कारणसे दोनों परम्पराके आचार्योंकी नामावलीमे अन्तर पड़ गया? दिगम्बर साहित्य तथा पट्टावलियोंके अनुसार जम्बू स्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दि-मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली हुए और श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र संभूति विजय और भद्रबाहु ये पांच चतुर्दशपूर्वी हुए। संभूति विजय और भद्रबाहु ये दोनो यशोभद्रके शिष्य थे। इनमेंसे सभूति-विजयके शिष्य स्थूल भद्र हुए और उनसे श्वेताम्बरोंकी गुर्वावलि चली।

यह हम पहले लिख आये हैं कि श्वेताम्बर साहित्यमें जम्बू स्वामीके पश्चात् जिन दस बातोंका विच्छेद बतलाया गया है उनमें एक जिनकल्प भी है। विशेषावश्यकमे उस उल्लेखको भाष्यकार जिनभद्रने जिनवचन बतलाया है।

वि० भा० मे यह चर्चा शिवभूतिकी कथाके प्रकरणमें आई है। जब शिवभूति जिनवर द्वारा निर्दिष्ट होनेसे जिन कल्प धारण करनेके लिये उद्यत ही हो गया और किसी भी तरह नहीं माना

१—'उत्तम धिइसंघयणा पुन्न विदोऽतिसइणो सया कालं।
जिणकप्पिया वि कप्पं कयपरिकम्मा पवज्जंति ॥२५६१॥
तं जइ जियवयणाओ पवज्जसि; पवज तो स छिन्नोत्ति।
अत्थित्ति कहं पमाणं कह वुच्छिन्नोत्ति न पमाणं ॥२५६२॥
मणपरमोहि पुलाए आहारग खवग-उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥२५६३॥
—वि० भा०।

तब उससे कहा गया कि यदि जिनवरका वचन होनेसे तुम जिन-कल्पको अंगीकार करते हो तो यह भी अंगीकार करो कि जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्पका विच्छेद हो गया क्योंकि जिनवरने ऐसा कहा है ?

श्वेताम्बरीय आगमोके विद्वान पं० बेचरदास जीने जिनकल्प-के विच्छेदकी उक्त घोषणाके विषयमें लिखा था—यह बात मैं विचारक पाठकोंसे पूछता हूँ कि जम्बू स्वामीके बाद कौन सा २५वां तीर्थङ्कर हुआ कि जिसका वचन रूप यह उल्लेख माना जाय ? इस उल्लेखका एक ही उद्देश्य हो सकता है—जम्बू स्वामी के बाद जिनकल्पका लोप बतलाकर जिनकल्पके आचरणको बन्द कराना और जो उस ओर प्रवर्तित हों, उन्हें उस प्रकारका आचरण करनेसे रोकना। पं० बेचरदास जी के मतानुसार इसीमें श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्वके विषवृक्षकी जड़ समाई हुई है, तथा इसके बीजारोपणका समय भी वही है जो जम्बू स्वामीके निर्वाणका समय है (जै० सा० वि०, पृ० १०२-१०५)।

जिनकल्पका विच्छेदवाला उल्लेख कबका है और किसने इसे रचा है इसका निर्णय करना तो शक्य नहीं है फिर भी इसे देवर्द्धिगणिके समयका माना जा सकता है। यह भी संभव है कि इस प्रकारका आशय पहलेसे चला आता हो और इसीसे सूत्र ग्रन्थोंमें भी इसे देवर्णिगणिने समाविष्ट कर दिया हो. ऐसा पं० बेचरदास जीका कथन है। जो कुछ हो, पर उक्त बातोंसे यह स्पष्ट है कि जम्बू स्वामीके बादसे ही सुखशील शिथिलाचारी पक्ष-ने अँगड़ाई लेना शुरू कर दिया था और भद्रबाहुके समयमें बारह वर्षके भयंकर दुर्भिक्षके थपेड़ोंने तथा श्रुतकेवली भद्रबाहुकी दक्षिण यात्राने उसे उठकर बैठनेका अवसर दिया। तथा बौद्ध साधुओंके

मगधमें बढ़ते हुए प्रभावने[1] और उनके आचार विचारने उसे खड़ा कर दिया। और इस तरह भद्रबाहुके कालमें ही संघभेदका बीज बोया गया।

भद्रबाहुके समयमे जैनसंघमें विवाद होनेकी चर्चा श्वेताम्बर परम्परामें भी मिलती है। और जैनसंघका वह विवाद श्रुतकेवलि भद्रबाहुके कारण उन्हींसे हुआ था। परि० प०, सर्ग ६ श्लोक ५५-७६ में लिखा है कि—'भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर साधु संघ निर्वाहके लिये समुद्रके तटकी ओर चला गया। इस कालमें अनभ्यासवश साधुओंके हृदयमे स्थित श्रुत विस्मृत हो गया। दुष्कालका अन्त होने पर पाटलीपुत्रमे संघ सम्मिलित हुआ और जिसको जिस अंगका जो अध्ययन या उद्देश स्मृत था वह संकलित किया गया। इस तरहसे श्री संघने ग्यारह अंगोंका सकलन किया और दृष्टिवादके लिये विचार करने लगा। उसे ज्ञात हुआ

१ 'महावीर निर्वाणके बाद जम्बू स्वामी तकके समयमें बुद्धदेवके मध्यम मार्गने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी और सम्राट अशोकके समयमें तो वह प्रायः सर्वव्यापी हो चुका था। उस समय चारों ओर बौद्धमठ स्थापित किये गये। बौद्ध श्रमण लंका आदि देशोंमें प्रचारार्थ गये। इस मध्यममार्गकी प्रवृत्ति जितनी लोकोपयोगी थी, उतनी ही भिक्षुओंके लिये सरल और सुखद थी। श्री वर्धमान स्वामीके कठिन त्यागमार्गसे खिन्न हुए जैन साधुओं पर बौद्धोंके इस सरल और लोकोपयोगी मध्यममार्गका असर होना सहज बात है। जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्प विच्छिन्न होनेके कथनका अभिप्राय यह हो सकता है कि पूर्वके कठोर मार्गमें नरमाई आई और धीरे धीरे वनवासीसे चैत्यवासी बन गये। देखो—जै० सा० वि०, पृ० १८२-१८६। जै० सा० इ० (गु०) पृ० ६४।

कि चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु नेपालदेशके मार्गमें विराजमान हैं। संघने उन्हें लिवा लानेके लिये दो मुनियोंको भेजा। मुनियोंने जाकर निवेदन किया कि संघने आपको पाटलीपुत्र आनेका आदेश दिया है। भद्रबाहुने कहा—मैंने महाप्राण नामक ध्यानको आरम्भ किया है वह बारह वर्षोंमें समाप्त होगा। उसके पश्चात् ही मैं आऊँगा। मुनियोंने जाकर संघसे सब वृत्तांत कहा। तब संघने दूसरे दो मुनियोंको बुलाकर आदेश दिया—तुम जाकर आचार्य भद्रबाहुसे कहना कि जो श्री संघका शासन नहीं मानता उसे क्या दण्ड देना चाहिये। जब वे कहें कि उसे संघसे बहिष्कृत कर देना चाहिये तो आचार्यसे जोर देकर कहना कि तुम इसी दण्डके योग्य हो'। मुनियोंने जाकर भद्रबाहुसे उक्त बात कही और उन्होंने वही उत्तर दिया। पीछे भद्रबाहुने कुछ मुनियों को अपने पास भेजने पर उन्हें वाचना देना स्वीकार किया। संघने पाँच सौ साधुओंको उनके पास भेजा, जिनमेंसे केवल एक स्थूलभद्र ही वहाँ रुके, शेष सब उद्विग्न होकर चले आये। महाप्राण ध्यान पूरा होने तक स्थूलभद्रने कुछ कम दस पूर्वोंका अध्ययन समाप्त किया। इसके पश्चात् भद्रबाहु पाटलीपुत्र लौट आये। स्थूलभद्रसे कुछ गल्ती हो गई जिसके कारण फिर उन्होंने शेष पूर्वोंका ज्ञान स्थूलभद्रको नहीं दिया और पूर्वज्ञान किसी अन्यको देनेसे भी मना कर दिया।'

तित्थोगाली पइन्नय (गा० ७३०-७३३) में लिखा है कि भद्रबाहुके उत्तरसे नाराज होकर स्थविरोंने कहा—संघकी प्रार्थना का अनादर करनेसे तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा, इसका विचार करो। भद्रबाहुने उत्तर दिया—मैं जानता हूँ कि संघ इस प्रकारके वचन बोलनेवालेका बहिष्कार कर सकता है। तब स्थविर बोले—तुम

संघको प्रार्थनाका अनादर करते हो''''' इसलिये श्रमण संघ तुम्हारे साथ बारहों प्रकारका व्यवहार बन्द करता है'' ।

उक्त उल्लेखोंसे जहाँ एक ओर संघके साथ भद्रबाहुकी खींच-तान होने पर प्रकाश पड़ता है वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाटलीपुत्रकी वाचनामें भद्रबाहु उपस्थित नहीं थे। इसपरसे डा० जेकोबीने लिखा था कि पाटलीपुत्र नगरमें जैनसंघने जो अंग संकलित किये थे वे केवल श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही थे, समस्त जैन संघके नहीं थे, क्योंकि उस जैन संघमें भद्रबाहु सम्मिलित नहीं थे (से० बु० ई०, जि० २२, की प्रस्ता० पृ० ४३) ।

हमारा विचार है कि भद्रबाहुकी अनुपस्थितिमें की गई प्रथम वाचनाने संघभेदकी नींवमें रोड़ा डालनेका काम किया और वल्भीमें किये गये अंगोंके लेखन कार्यने संघभेदकी दीवारको स्थायी कर दिया। संभवतया इसीसे दिगम्बर कथामें श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति वल्भी नगरीमें हुई बतलाई है। अतः विवादको बढ़ाने मे अंगसंकलनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान होना संभव है, क्योंकि जब तक किसी नई प्रवृत्तिके पीछे शास्त्रबल नहीं रहता, तब तक उस नवीन प्रवृत्तिको एक तो बल नहीं मिलता, दूसरे अपर पक्ष भी उसे परम्परा विरुद्ध मानकर उधरसे 'किनाराकशी' करके बैठ जाता है। किन्तु जब उस नवीन प्रवृत्तिको शास्त्रोंके द्वारा भी पोषा जाता है तो विवादका उग्ररूप धारण कर लेना स्वाभाविक है। और ऐसे शास्त्रोंके मूर्तरूप धारण कर लेने पर तो विवादका स्थायी न होना ही आश्चर्य कारक है।

अतः दिगम्बर कथाओंमें जो भद्रबाहुके समयमें संघभेदकी उत्पत्ति और वल्भीमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है, उसके मूलमें अन्य बातोंके साथ अंगोंकी संकलना भी अवश्य

प्रतीत होती है। यद्यपि दिगम्बर साहित्यमें पाटलीपुत्र या वलभीमें होने वाली किसी भी परिषद्का संकेत तक भी नहीं है, तथापि वलभीमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलानेसे यह स्पष्ट है कि वलभीमें हुई वाचनामें जो संकलित आगम ग्रन्थोंको पुस्तकारूढ़ किया गया उससे श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद स्थायी होगया। वलभी वाचनाका समय वीर निर्वाण सं० ९८० और वाचनान्तरसे[1] ९९३ है जो वि० सं० ५१० और ५२३ होता है

किन्तु दोनों सम्प्रदायोंमें दिगम्बर श्वेताम्बर भेदका काल[2] वि० सं० १३६-१३ बतलाया है। और उक्त वलभी वाचना उससे लगभग पौने चार सौ वर्ष बाद हुई। तथा श्वेताम्बर कथाका कोई भी ऐतिहासिक आधार न होनेसे तदनुसार विक्रमकी द्वितीय शताब्दीमें दिगम्बरोकी उत्पत्ति होनेके भी किन्हीं चिन्होंका पता लगना शक्य नहीं है।

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेष कनिष्क, और हुविष्क और वासुदेवके समयके हैं जिनका समय ईसाकी प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी माना जाता है। वहाँसे प्राप्त शिलालेखोंके सम्बन्धमें डा० बुलहरने लिखा है कि—'शिलालेखोंमें जो आचार्यों और उनके गण-गच्छोंका उल्लेख मिला है वह जैनोके इतिहासके लिये कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शिलालेखोंका कल्पसूत्रके साथ मेल खाजाना एक तो यह प्रमाणित करता है कि मथुराके जैन

१—'वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसई:—कल्पसूत्र।

२—छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥११॥ —दर्शनसार

श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे और दूसरे जिस संघभेदने जैन सम्प्रदाय को परस्पर विरोधी दो सम्प्रदायोंमे विभाजित कर दिया वह ईस्वी सन्के प्रारम्भ होनेसे बहुत पहले हो चुका था।' (इं० से० जै०, पृ० ४४)

इसका मतलब तो यही होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें ही संघभेद हुआ, जैसाकि दिगम्बर कथाओंमें बतलाया गया है। क्योंकि ईस्वी सनके प्रारम्भसे बहुत पहले तो वही समय ऐसा आता है। ऐसी स्थितिमें देवसेनने अपने दर्शनसारमें जो वि० सं० १३६में वलभी नगरीमें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति होनेका निर्देश किया है उसका क्या आधार है, हम नहीं कह सकते, क्योंकि उस समयमें वलभीमें कोई ऐसी घटना होनेका संकेत तक भी नहीं मिलता। वलभी वाचनासे लगभग डेढसौ वर्ष पूर्व वि० सं० ३५७-३७०के मध्यमे तो मथुरामें वाचना होनेका निर्देश श्वेताम्बर साहित्यमे पाया जाता है। मथुराके पश्चात् ही श्वेताम्बर सम्प्रदायका जोर सौराष्ट्रमे हुआ था। जैसाकि हमने पहले भी लिखा है 'बृहत्कथाकोश और दर्शनसारकी रचनाके समय वलभीके सम्मेलनको हुए केवल चार पांच शताब्दियाँ ही बीती थीं, तथा उसीमें अन्तिम रूपसे निर्णीत होकर श्वेताम्बरीय जैन आगम पुस्तक रूप धारण करके सर्वत्र प्रसारित हुए थे। शायद इसीसे वलभीमें श्वेताम्बर संघके उत्पत्ति होनेका निर्देश दिगम्बर कथाओंमें किया है। किन्तु वि० सं० १३६ या १३९में जो संघभेदका उल्लेख मिलता है, उसके लिये और भी अन्वेषणकी आवश्यकता है।

संघभेदका प्रभाव और विकास

दिगम्बर और श्वेताम्बरके रूपमें प्रकट हुए संघभेदका प्रभाव यदि किसी पर विशेष रूपसे पड़ा अथवा संघभेदके कारण यदि

किसीकी गम्भीर-क्षति पहुँची तो वह प्राचीन जैन साहित्य है, जिसे जैन परम्परामें अङ्ग या आगम कहते हैं। दोनों सम्प्रदायोंके साहित्यमें अङ्गोंके विस्तारका जो महत् परिमाण दिया है, उसे पढ़कर सखेद आश्चर्य होता है। यदि उसका शतांश भाग भी शेष रहता तो आज जैन साहित्य सर्वोपरि होता और उसके द्वारा न जाने कितने ऐतिह्य और तथ्य प्रकाशमें आते। उसके साथ ही जैन परम्पराका बहुत सा इतिहास, यहाँ तक कि भगवान महावीर का बहुत सा जीवन वृत्तान्त भी लुप्त हो गया और उसमें भी सम्प्रदाय गत मतभेद उत्पन्न हो गये।

अतः अखण्ड जैन परम्पराके अन्तिम गुरु और भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण द्वादशांगके अन्तिम उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहुके अवसानके साथ ही साथ एक तरहसे जैन श्रुत परम्पराका ही अवसान हो गया। और दिगम्बर परम्पराका तो एकमात्र धनी-धरोहरी ही जाता रहा। इसीसे उनके अभावमें पाटलीपुत्रमें जो प्रथम आगमवाचना हुई कही जाती है, उसे सम्पूर्ण जैन परम्पराका समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। और भद्रबाहुके पश्चात् दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्पराकी गुर्वावलियाँ सर्वथा भिन्न हो गई। और इस तरह दोनोंका साहित्य भी जुदा जुदा हो गया।

किसी भी धर्मके मूल आधार तीन होते हैं—देव, शास्त्र और गुरु। इन तीनोंके भेदसे सम्प्रदायगत अथवा धर्मगत भेदकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् जिस धर्म या सम्प्रदायके ये तीनों आधार भिन्न होते हैं वह एक पृथक् धर्म अथवा सम्प्रदाय होता है। जैन परम्परामें प्रारम्भिक मतभेद वस्त्रको लेकर उत्पन्न हुआ। नग्न गुरुओंका उपासक सम्प्रदाय दिगम्बर कहलाया और सवस्त्र गुरुओंका उपासक सम्प्रदाय श्वेतांबर कहलाया। अतः दोनों

सम्प्रदायोंके गुरु भिन्न भिन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदायने सवस्त्र गुरुओंको मान्य नहीं किया तो श्वेताम्बर सम्प्रदायने नग्न गुरुओं को मानना छोड़ दिया। दिगम्बर आचार्योंने यह घोषणा[1] की कि सवस्त्र साधुको मुक्ति लाभ नहीं हो सकता तो श्वेताम्बर[2] आचार्यों ने कहा कि वस्त्र धारण किये बिना कोई मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इस तरह दोनोंके गुरु भिन्न भिन्न हो गये।

शास्त्रभेद तो श्वेताम्बरीय वाचनाओंके एकपक्षीय होनेसे ही स्पष्ट है। किन्तु गुरुभेद पूर्वक ही शास्त्र भेद हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि जब गुरु भिन्न हो गये तो जिस गुरुको नहीं मानते उसके वचनोंको मान्य कैसे किया जा सकता है।

किन्तु गुरु और शास्त्रभेद होने पर भी दोनो बहुत समय तक एक ही प्रकारकी मूर्तिकी उपासना करते रहे। और इस तरह दोनोंके आराध्य चौबीस तीर्थङ्करोंकी मूर्तियां अभिन्न रही। किन्तु वस्त्रवादके बढ़ते हुए पोषणने अन्तमे मूर्तियोंको भी अपना शिकार बनाकर ही छोड़ा। और इस तरह गुरु और शास्त्रके साथ देवमूर्तियां भी भिन्न हो गईं।

इस प्रकार संघभेदकी तीनों सीढ़ियाँ क्रमशः स्थापित हुईं। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात्से गुरु भेद स्थायी रूपसे स्थापित हो गया। एकपक्षीय आगमवाचनासे प्रारम्भ हुआ शास्त्रभेद वलभी- में आगमोंकी संकलना और पुस्तकारूढ़ताके साथ स्थायी हो

१—'ण वि सिज्झई वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥—सूत्र प्रा०।

२—जै० सा० वि०, पृ० ५६।

गया। तथा देवमूर्तियोंमें पहले वस्त्रका और फिर अँग रचनाका समावेश करके देवको भी पृथक् कर दिया गया और इस तरह संघभेदका चिरस्थायी कर दिया गया।

फिर भी यह सन्तोषकी बात है कि बौद्ध धर्मके अन्तर्गत सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक भेदोंकी तरह जैन धर्मके अन्तर्गत तात्विक भेदोंके आधार पर दार्शनिक सम्प्रदायोंकी सृष्टि नहीं हुई। और समन्तभद्र सिद्धसेन और अकलंक जैसे दार्शनिकोंने समान भावसे अपनाया। यह कम प्रसन्नताकी बात नहीं है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु पर्यन्त अखण्ड जिन शासनकी वैजयन्ती फहराती रही। उसके पश्चात् जिन शासन विभक्त हुआ और जैन साहित्यकी सुरक्षा तथा निर्माणकी चिन्ताने श्रुतधरों श्रुत प्रेमियोंको आन्दोलित किया।

उसके फलस्वरूप जो कुछ किया गया उसीका वर्णन आगे किया जाता है।

❀

४ श्रुतावतार

भगवान महावीरके उपदेशोंको सुनकर उनके गणधरोंने जो ग्रन्थ रचे हैं उन्हें श्रुत[1] कहते हैं। 'श्रुत' का अर्थ है—'सुना हुआ'। अर्थात् जो गुरु मुखसे सुना गया हो वह श्रुत है। भगवान महावीरके उपदेशोंको उनके मुखसे उनके गणधरोंने श्रवण किया और उनके गणधरोंसे उनके शिष्योंने और उन शिष्योंसे उनके प्रशिष्योंने श्रवण किया। इस तरह श्रवण द्वारा प्रवर्तित होनेके कारण ही उसे श्रुत कहा जाता है। श्रुतकी यह परम्परा बहुत समय तक इसी तरह श्रुति द्वारा प्रवर्तित होती रही। सम्पूर्ण श्रुतके अन्तिम उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उनके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और संघभेदका सूत्रपात हो गया।

आगम संकलना

श्वेताम्बरीय मान्यताके अनुसार दुर्भिक्षका अवसान होने पर पाटलीपुत्रमें एक साधु सम्मेलन हुआ और उसमें जिन जिन श्रुतधरोंको जो जो श्रुत स्मृत था उसका संकलन किया गया। इसे पाटलीपुत्री[2] वाचना कहते हैं।

१—'निरावरणज्ञानाः केवलिनः। तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त-गणधरानुस्मृतं ग्रन्थरचनं श्रुतं भवति।'—सर्वार्थ०, अ० ६, सूत्र १३।
'गुरुसमीपे श्रूयते इति श्रुतम्'—अनु०।

२—पाटलीपुत्री वाचनाका वर्णन तित्थोगाली पइन्नामें, हेमचन्द्रकृत परिशिष्ट पर्वके नौवें सर्गमें तथा स्थूलभद्रकी कथाओंमें मिलता है।

मगधमें मौर्य साम्राज्यके पतन और शुंगवंशी पुष्यमित्रके उदयके पश्चात् जैन धर्मका वहां से स्थानान्तर होना स्वाभाविक था। मगधसे हटनेके पश्चात् जैनधर्मका केन्द्र मथुरा बना। कुशानवंशी राजाओंके समयमें वहां जैनधर्मका अच्छा स्थान था। वीर निर्वाण सम्वत् ८२७ और ८४० के मध्यमें मथुरामें एक वाचना होनेका[1] उल्लेख मिलता है। इसके प्रमुख स्कन्दिल सूरि थे। ज्ञात होता है कि स्कन्दिल सूरिके पश्चात् मथुरासे भी जैन संस्कृतिका प्राधान्य उठ गया। इसीसे तीसरी वाचना सुदूर वलभी नगरीमें की गई।

यह वाचना पाटलीपुत्री वाचनासे आठ सौ वर्षोंके पश्चात् देवर्द्धि गणिकी प्रमुखतामें हुई थी। उस समय भी बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिससे बहुत सा श्रुत नष्ट तथा विच्छिन्न हो गया था। इस वाचनाकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पहलेकी वाचनाओंकी तरह इसमें केवल वाचना नहीं हुई, किन्तु उसके द्वारा संकलित और व्यवस्थित सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ़ करके उन्हें स्थायित्व प्रदान किया गया और इस तरह एक हजार

देखो—धर्मघोष कृत ऋषिमण्डल प्रकरण पर पद्म मुन्दिर रचित वृत्तिमें, शुभशील कृत भरतेश्वर बाहुबलिकी वृत्तिमें, हरिभद्र कृत उपदेशपदकी मुनिचन्द्र सूरि रचित वृत्तिमें स्थूलभद्र कथा तथा जयानन्द सूरिकृत स्थूल भद्र चरित्र तथा आवश्यक कथा।

१—'बारस संवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णओ हिंडियाणं गहण-गुणणाणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुभिक्खे काले जाए महुराए महंते साहुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो जं संभरइत्ति एवं संघडियं कालियसुयं। जम्हा एवं महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ।' —जिनदासमहत्तर कृत नन्दि चूर्णि।

वर्षसे जो सिद्धान्त स्मृतिके आधारपर प्रवाहित होते आते थे, उन्हें मूर्त रूप मिल गया। शायद इसीसे वलभीका नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें भी स्मृत रहा क्योंकि हरिषेण कथाकोश वगैरहमें वलभीमें ही श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है। सिद्धान्तोंके पुस्तकारूढ़ हो जानेके पश्चात् फिर कोई वाचना नहीं हुई क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही। वर्तमान श्वे० जैन आगम उसी वाचना की उपज है।

समय सुन्दर गणिने अपने समाचारी शतकमें देवर्द्धि गणिके उक्त सत्प्रयत्नका वर्णन इस प्रकार किया है—'श्री[1] देवर्द्धि गणि क्षमा श्रमणने, द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कारण बहुतसे साधुओंका मरण तथा अनेक बहुश्रुतोंका विच्छेद हो जानेपर श्रुतभक्तिसे प्रेरित होकर भावि जनताके उपकारके लिए वीर निर्वाण सम्वत् ६८० में श्री संघके आग्रहसे बचे हुए सब साधुओंको वलभी नगरी मे बुलाया। और उनके मुखसे विच्छिन्न होनेसे अवशिष्ट रहे कमती बढ़ती, त्रुटित, अत्रुटित आगम पाठोंको अपनी बुद्धिसे क्रमानुसार संकलित करके पुस्तकारूढ़ किया। इस तरह यद्यपि मूलमें सूत्र गणधरोंके द्वारा गूंथे गये थे, तथापि देवर्द्धिके द्वारा पुनः संकलित

१—"श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशतकवर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधुव्यापत्तौ च जातायां ....भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाःकृताः। ततो मूलतो गणधरभावितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धि गणिक्षमाश्रमण एव जातः।"

किये जानेसे देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ही सब आगमोंके कर्त्ता हुए।'

गणिजीका उक्त कथन वर्त्तमान जैन आगमोंके विषयमें वास्तविक स्थित हमारे सामने रखता है। यथार्थमें एक हजार वर्ष तक जो सिद्धान्त स्मृतिके अधारपर प्रवाहित होते आए हों, उनकी संकलना और सुव्यवस्थामें इस प्रकारकी कठिनाइयोंका होना स्वाभाविक है। आज भी जीर्ण शीर्ण प्राचीन प्रतिके आधारपर किसी ग्रन्थका उद्धार करनेवालोंके सामने इसी प्रकार की कठिनाइयां आती हैं। प्राचीन शिलालेखोंका सम्पादन करने वाले अस्पष्ट और मिट गये शब्दोंकी संकलना पूर्वापर सन्दर्भके अनुसार करते देखे जाते हैं। अतः देवर्द्धिने भी त्रुटित आदि पाठोंको अपनी बुद्धिके अनुसार संकलित करके पुस्तकारूढ़ किया होगा। इसपरसे यदि उन्हे समस्त आगमोंका कर्ता न भी कहा जाये तौ भी आज जो आगम उपलब्ध हैं, उनको यह रूप देनेका श्रेय तो उन्हें ही प्राप्य है।

किन्तु मुनि श्री कल्याण विजयजी देवर्द्धिगणिको यह श्रेय देनेके लिये तैयार नहीं हैं, वह उन्हें केवल लेखकके रूपमें देखते हैं। अपने 'वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना' शीर्षक विद्वत्तापूर्ण निबन्धमें मुनिजीने इस विषयपर विस्तारसे लिखा है।

देवर्द्धिके कार्यके सम्बन्ध में नया मत

मलयगिरि ने ज्योतिष्करण्डकी[१] टीका (पृ० ४१) में और

१—'दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा एको वलभ्यां, एको मथुरायां, तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परवाचनाभेदो जातः।' —ज्योति० टी०, पृ० ४१

विनय विजयने लोकप्रकाशमें[1] उक्त वाचनाओंका निर्देश किया है। उससे व्यक्त होता है कि दुर्भिक्षके पश्चात् एक साथ दो सम्मेलन हुए एक मथुरामें और एक वलभीमें। लोकप्रकाशमें इतना विशेष लिखा है कि वलभी सम्मेलनके प्रमुख देवर्द्धि थे और मथुरा सम्मेलनके प्रमुख स्कन्दिलाचार्य थे। किन्तु श्वेताम्बर स्थविरावलीके अनुसार देवर्द्धिसे स्कन्दिलाचार्य बहुत पहले हुए थे। अतः दोनोंकी समकालीनता संभव नहीं है।

भद्रेश्वर की कथावलीमे इनसे कुछ भिन्न ही उल्लेख मिलता है उसमे लिखा है—'मथुरामे श्रुतसमृद्ध स्कन्दिल नामक आचार्य थे और वलभी नगरी मे नागार्जुन नामक आचार्य थे। दुष्काल पड़ने पर उन्होंने अपने साधुओको भिन्न-भिन्न दिशाओंमें भेज दिया। सुकाल होने पर वे पुनः मिले। और जब अभ्यस्त शास्त्रोंका परावर्तन करने लगे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वे पढ़े हुए शास्त्रोंको प्रायः भूल चुके हैं। श्रुतका विच्छेद न हो, इसलिये आचार्योंने सिद्धान्तका उद्धार करना शुरू किया। जो विस्मृत नहीं हुआ था, उसे वैसे ही स्थापन किया और जो भूला जा चुका था वह स्थल पूर्वापर सम्बन्ध देखकर व्यवस्थित किया गया।'

१—'ततः सुभिक्षे संजाते संघस्य मेलकोऽभवत्।
वलभ्यां मथुरायां च सूत्रार्थघटनाकृते॥
वलभ्यां संगते संघे देवर्द्धिगणिरग्रणीः।
मथुरायां संगते स्कन्दिलाचार्योऽग्रणीरभूत्॥''
''ततश्च वाचनाभेदस्तत्र जातः क्वचित् क्वचित्।
विस्मृतस्मरणे भेदो जातु स्यादुभयोरपि॥''
—लो० प्र०

आगे कथावलीमें कहा है कि 'सिद्धान्तोंका उद्धार करनेके बाद स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि परस्परमें मिल नहीं सके, इस कारणसे इनके उद्धार किए हुए सिद्धान्त तुल्य होने पर भी उनमें कहीं कहीं वाचना भेद रह गया, जिसको पिछले आचार्यों ने नहीं बदला और टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें नागार्जुनीय ऐसा पढ़ते हैं इत्यादि उल्लेख करके उन वाचना भेदोंको सूचित किया है। ('वी० नि० सं० जै० का०, पृ० ११०—१११ से उद्धृत)।

इस परसे मुनिजी वलभी वाचनाको देवर्द्धिगणिकी नहीं, किन्तु नागार्जुन की वाचना मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'जिस कालमें मथुरामें आर्य स्कन्दिलने आगमोद्धार करके उनकी वाचना शुरू की उसी कालमें वलभी नगरीमें नागार्जुन सूरिने भी श्रमणसंघ इकट्ठा किया और दुर्भिक्षवश नष्टावशेष आगम सिद्धान्तोंका उद्धार किया।......... इस सिद्धान्तोद्धार और वाचनामें आचार्य नागार्जुन प्रमुख स्थविर थे, इस कारणसे इसे नागार्जुनी वाचना भी कहते हैं।' (पृ० ११०-१११)

ऐसी स्थितिमें यदि वलभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्द्धिगणिने वलभीमें क्या किया, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। मुनि जीका कहना है कि—'उपर्युक्त वाचनाओंको सम्पन्न हुए करीब डेढ़ सौ वर्षसे अधिक समय व्यतीत हो चुका था, उस समय फिर वलभी नगरीमें देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमणकी अध्यक्षतामें श्रमण संघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओंके समय लिखे गये सिद्धान्तोंके उपरान्त जो जो ग्रन्थ प्रकरण मौजूद थे, उन सबको लिखाकर सुरक्षित करनेका निश्चय किया। इस श्रमण समवशरणमें दोनों वाचनाओंके सिद्धान्तोंका

परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका भेद भाव मिटाकर उन्हें एक रूप कर दिया और जो जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठान्तरके रूपमें टीका-चूर्णियोंमें संग्रहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रन्थ जो केवल एक ही वाचनामें थे वैसे के वैसे प्रमाण माने गये। उपर्युक्त व्यवस्थाके बाद स्कन्दिलकी माथुरी वाचनाके अनुसार सब सिद्धान्त लिखे गये, जहाँ जहाँ नागार्जुनी वाचनाका मतभेद और पाठभेद था वह टीकामें लिख दिया गया, जिन पर पाठान्तरोंको नागार्जुनानुयायी किसी तरह छोड़नेको तैयार न थे, उनका मूलसूत्रमें भी 'वायणंतरे पुण' इन शब्दोंके साथ उल्लेख कर दिया।" (पृ० ११३-११७)

संक्षेपमें मुनिजीका मत यह है कि—'स्कन्दिलाचार्यके समयमें वलभीमें मिले हुए संघके प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे और उनकी दी हुई वाचना ही वालभी वाचना कहलाती है। देवर्धिगणिकी प्रमुखतामें भी जैन श्रमण संघ इकट्ठा हुआ था, यह बात सही है। पर उस समय वाचना नहीं हुई, पर पूर्वोक्त दोनों वाचनागत सिद्धान्तोंका समन्वय करनेके उपरान्त वे लिखे गये थे, इसीलिये हम इस कार्यको देवर्द्धिगणिकी वाचना न कहकर 'पुस्तक लेखन' कहते हैं।'

मुनिजीने इस अवसर पर संघर्ष भी होनेकी संभावना व्यक्त करते हुए लिखा है—'यद्यपि देवर्द्धिके पुस्तक लेखनके कार्यका विशेष प्रकाश करनेवाला कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि कार्यकी गुरुता देखते हुए यह कहना कुछ भी असंभावित नहीं होगा कि इस कार्यसंघटनके समयमें दोनों वाचनानुयायी संघोंमें अवश्य ही संघर्षण हुआ होगा। अपनी-अपनी परम्परागत वाचनाको ठीक मनवानेके लिये अनेक कोशिशे

हुई होगी और अनेक काट छांट होनेके उपरान्त ही दोनों संघोंमें समझौता हुआ होगा। हमारे इस अनुमानको पुष्टिमें निम्न-लिखित[1] गाथा उपस्थितकी जा सकती है—जिसका भाव यह है कि—युग प्रधानतुल्य गंधर्व वादिवेताल शान्तिसूरिने वालभ्यसंघके कार्यके लिये वलभी नगरीमें उद्यम किया।' (पृ० ११७)

यह ठीक है कि कतिपय आगमोंमें वाचनान्तरका निर्देश पाया जाता है और टीकाकारोंने उन्हें नागार्जुनीयोंकी वाचना कहा है। तथा भद्रेश्वरने भी उन टीका ग्रन्थोंको देखकर ही अपनी कथावलीमें वैसा लिख दिया है। किन्तु वलभीमें होने वाली उक्त नागार्जुनीय वाचनाका निर्देश किसी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं मिलता। जबकि जिनदास महत्तर कृत नन्दि चूर्णिमें तथा हरिभद्र कृत नन्दि टीकामें माथुरी वाचनाका कथन मिलता है। नागार्जुनकी वालभी वाचना सम्बन्धी उक्त सभी उल्लेख विक्रमकी १२ वीं शतीसे पश्चात् के हैं।

दूसरे, वादि वेताल शान्ति सूरिको वलभीमें नागार्जुनीयोंका पक्ष उपस्थित करनेवाला बतलाया है। प्रभावक चरित (पृ० १३३-१३७) में लिखा है कि शान्त्याचार्य को राजा भोजने वादिवेतालका विरुद दिया था। अतः वे राजा भोजके समकालीन थे। उनकी मृत्यु वि० सं० १०९६ में हुई। ऐसी स्थितिमें देवर्द्धिके

१—'वालब्भ संघकज्जे उज्जमिअं जुगपहाणतुल्लेहिं।
गंधव्ववाइवेयालसंतिसूरीहिं वलहीए॥ २॥

यह गाथा एक दुषमा संघ स्तोत्रयंत्र की प्रति के हाशिये पर लिखी हुई है।—पृ० ११७।

समय वलभीमें उनका होना असंभव ही है। और इसलिये उस परसे वलभीमें भी जिस संघर्षकी सम्भावना मुनिजीने की है, वह निराधार ही प्रतीत होती है।

तीसरे, यदि इस तरहका संघर्ष हुआ होता तो मूल सूत्रोंमें 'वायणंतरे पुण'के स्थानमें 'णागज्जुणीया उण एवं पढंति' लिखा हुआ मिलता। 'वाचनान्तर' जैसा साधारण निर्देश तो बिना किसी संघर्षके कोई भी ईमानदार संकलयिता कर सकता है क्यों कि इससे उसकी प्रामाणिकताका पोषण होता है। दूसरे, माथुरी वाचनानुगत आगमोंमें और उनमें निर्दिष्ट वाचनान्तरके मतोंमें कोई ऐसा महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता जिसको लेकर पारस्परिक संघर्षकी परिस्थिति पैदा होनेकी संभावना की जा सके। फिर भी हमारा उससे विशेषप्रयोजन न होनेसे हम इस संघर्षके संघर्षसे विरत होते हैं और मुख्य मुद्देकी ओर आते हैं।

मुनिजीके मतानुसार उस समय पहले तो उक्त दोनों वाचनाओं (माथुरी और नागार्जुनकी वलभी वाचना) के समय लिखे गये सिद्धान्तोंके उपरान्त जो जो ग्रन्थ प्रकरण मौजूद थे उन सबको लिखाकर सुरक्षित करनेका निश्चय किया गया। तत्पश्चात् दोनों वाचनाओंके सिद्धान्तोंका परस्पर समन्वय किया गया और जहां तक हो सका भेद भाव मिटाकर उन्हें एक रूप कर दिया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठान्तरके रूपमें चूर्णियोंमें संगृहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रन्थ जो केवल एक वाचना में थे वैसे के वैसे प्रमाण माने गये।'

आगे मुनिजी लिखते हैं।–'उपर्युक्त व्यवस्थाके बाद स्कन्दिल

की माथुरी वाचनाके अनुसार सब सिद्धान्त लिखे गये। जहाँ जहां नागार्जुनी वाचनाका मतभेद और पाठ भेद था वह टीकामें लिख दिया गया पर जिन पाठान्तरोंको नागार्जुनानुयायी किसी तरह छोड़नेको तैयार न थे उनका मूलसूत्रमें भी 'वायणंतरे पुण' इन शब्दोंके साथ उल्लेखकर दिया।' (वी० नि० जै० का० पृ० ११४–११७)

मुनिजीके उक्त कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि सब सिद्धान्त माथुरी वाचनाके अनुसार लिखे गये और जहां जहां नागार्जुनी वाचनाका पाठ भेद या मतभेद था वह टीकामें लिख दिया गया तो फिर दोनों वाचनाओंके सिद्धान्तोंका परस्पर समन्वय करने और भेदभाव मिटाकर एक रूप करनेकी बात नहीं रहती। और यदि उक्त प्रकारसे समन्वय किया गया तो यह नहीं कहा जा सकता कि सब सिद्धान्त माथुरी वाचनाके अनुसार लिखे गये। दोनों वाचनाओंका समन्वय करके और भेद भाव मिटाकर जो वस्तु तैयार की गई उसे उभयवाचनानुगत कहना होगा न कि किसी एक वाचनानुगत।

उदाहरणके लिये आजकल अनेक प्रतियोंको सामने रखकर किसी एक ग्रन्थका सम्पादन कार्य किया जाता है। उसमें आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतिके अनुसार एक प्रतिको आदर्श मानकर उसे मूल ग्रन्थका रूप देते हैं और अन्य प्रतियोंके पाठान्तरोंका निर्देश टिप्पणमें कर देते हैं। कुछ सम्पादक ऐसा भी करते हैं कि उन्हें जहाँ जिस प्रतिका जो पाठ शुद्ध प्रतीत होता है वहाँ वह पाठ मूल में दे देते हैं और इस तरह सब प्रतिओंके आधार से अपने मूल ग्रन्थका रूप देते हैं। इस रूपको किसी एक प्रतिका अनुसारी नहीं कहा जा सकता। उसे तो सबका समन्वित रूप

ही कहा जा सकता है। देवर्द्धि गणिका तथोक्त सम्पादन प्रकार इन्हीं दोमेंसे एक प्रकारका हो सकता है। एक साथ दोनों प्रकार तो संभव नहीं हो सकते।

मुनिजीके लेखानुसार मथुरा और वलभीमें जो वाचनाएं हुई उनमें सब प्रकरणोंको लिपिबद्ध कर लिया गया था और वे ग्रन्थ प्रकरण देवर्द्धिगणिके सामने उपस्थित थे। उन्हें ही उन्होंने लिखाकर सुरक्षित किया।

जहां तक हम जान सके है मुनिजीके इस लेखका समर्थन हेमचन्द्राचार्य विरचित योग शास्त्र वृत्तिके सिवाय अन्यत्रसे नहीं होता। हेमचन्द्रने अपनी उक्त वृत्तिमे यह अवश्य लिखा[1] है कि 'दुषमा कालवश जिन वचनको नष्ट प्राय समझकर भगवान नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य प्रमुखने उसे पुस्तकोंमे लिखा। किन्तु जिनदासकी नन्दि चूर्णिके प्राचीन उल्लेखमें[2] इस बातका कतई निर्देश नहीं है। उसमे उन्होने केवल इतना ही लिखा है कि स्मृतिके आधारपर कालिक श्रुत संकलित किया गया। हरि-

---

१—'जिनवचनं च दुषमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्,"—योग०, ३, पृ० १०७।

२—'वारस' संवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अरणरणतो हिंडियाणं गहणगुणणाणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुभिक्खे काले जाए मथुराए महंते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो अ समरइत्ति इव संघडिय कालियसुयं। जम्हा एव महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ।

भद्रकृत और मलयगिरिकृत[1] नन्दि टीकामें भी यही लिखा हुआ है।

मलयगिरिकी ज्योतिष्करण्डकटीकामें भी, जिसमें मथुरा और वलभीमें वाचना होनेका निर्देश है, दोनों वाचनाओंमें सूत्रार्थ संघटन होनेका ही उल्लेख है, लिपिबद्ध किये जानेका नहीं। भद्रेश्वरकी कथावलीमें भी इसका निर्देश नहीं है। किन्तु मुनिजीने उसका अर्थ इस प्रकारसे किया है जिससे यह प्रतीत हो सकता है कि माथुरी वाचनाके पहले भी आगम पुस्तकें थीं। कथावलीमें केवल इतना वाक्य है—'जाव सज्झायंती ताव खंडुखुरुडीहूयं पुव्वाहियं'। अर्थात् सुभिक्षके पश्चात् जब वे साधु पुनः मिले और स्वाध्याय करने लगे तो उन्हें प्रतीत हुआ कि पहले का सब अभ्यस्त अस्तव्यस्त हो गया है—भूल गया है। मुनिजी ने अर्थ किया है—'सुभिक्षके समयमें फिर वे इकट्ठे हुए और अभ्यस्त शास्त्रोंका परावर्तन करने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि प्रायः वे पढ़े हुए शास्त्रोंको भूल चुके हैं।' अतः भद्रेश्वरके उल्लेखमें संकलित शास्त्रोंको लिख लेनेकी बात नहीं है। भद्रेश्वरने आगे लिखा है कि 'टीकाकारोंने 'नागज्जुणीया उण एवं पढन्ति' इस प्रकारसे वाचना भेदोंका उल्लेख आचारांग आदि में कर दिया।' यह लिखते समय भद्रेश्वरके सामने आचारांग आदि की टीकाएँ थीं, यह स्पष्ट है; क्योंकि भद्रेश्वर नवांगवृत्तिकार शीलांकसूरिके पश्चात् हुए हैं और उनकी टीकाओंमें 'नागार्जुनीयास्तु एवं पठन्ति' आदि उल्लेख मिलते हैं। मुनि जीने भी अपनी पुस्तककी (पृ० ११६)

१—'यो यत्स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुत पूर्वगतं च किञ्चिदनुसन्धाय घटितम्'—नन्दि० गा० ३३।

टिप्पणीमें भद्रेश्वरके उक्त कथनके समर्थनमें शीलाङ्ककी टीकासे कुछ उद्धरण दिये है। किन्तु मुनिजीने भद्रेश्वरके इस कथनको भी देवर्द्धिगणिके समयमें हुए कार्यके साथ जोड़ दिया है। यथा—'जहां जहां नागार्जुनी वाचनाका मतभेद और पाठ-भेद था वह टीकामे लिख दिया गया' ॥'' ये टीकायें देवर्द्धिगणिके पहले बन करके तैयार हो चुकी थीं, या उसी समय वलभीमें ही तैयार हुई, यह मुनि जी और स्पष्ट कर देते तो पढ़नेवालोंको भ्रम पैदा न होता। अस्तु

अतः देवर्द्धिगणिकालीन वलभी सम्मेलनमे वाचना नहीं हुई, केवल पुस्तक लेखन हुआ, यह कथन निराधार है; क्योंकि इससे पूर्व हुई माथुरी वाचना और वालभी वाचनाके समय संकलित किये गये आगमसूत्रोंको लिपिबद्ध कर लेनेका कोई उल्लेख नही मिलता है और न यही उल्लेख मिलता है कि देवर्द्धिगणिके सम्मेलनमे सब आगमग्रन्थ लिखित रूपमें उपस्थित थे। प्रत्युत इसके विरुद्ध यही कथन मिलता है कि जिस प्रकार पहलेकी वाचनाओंमे दुर्भिक्षके कारण नष्टावशिष्ट श्रुतको साधुओंकी स्मृतिके आधार पर संकलित किया गया उसी तरह देवर्द्धि कालीन वलभी वाचनामें भी दुर्भिक्षके कारण विनष्ट हुए श्रुतकी रक्षाका प्रयत्न पूर्ववत् किया गया। किन्तु पहलेकी वाचनाओंसे इसमे एक विशेषता यह थी कि उस संकलित श्रुतको पुस्तकारूढ़ भी कर दिया गया। इससे पहले कोई आगम सूत्र लिखा ही नहीं गया, ऐसा हमारा आग्रह नहीं है, हो सकता है कि व्यक्तिगत रूपसे साधु लोग अपनी सुविधाके लिये किसी सूत्रग्रन्थको लिपिबद्ध कर लेते हों। किन्तु देवर्द्धिसे पहले सामूहिक रूपसे आगम ग्रन्थोंको लिपिबद्ध

करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ, यह निश्चित है और इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इससे पहले आगम ग्रन्थों का कोई एक रूप निर्धारित नहीं हो सका था जो पूरे सम्प्रदाय को मान्य हो और ऐसी स्थितिमें उन्हें लिपिबद्ध करना सम्प्रदाय-भेदका जनक हो सकता था।

मुनि जीने अनुयोगद्वारसूत्र और निशीथ चूर्णिसे दो उद्धरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि देवर्द्धिगणिके पहले भी लिखे हुए आगम होते थे। निशीथ चूर्णिमें कालिक श्रुत और कालिक श्रुत निर्युक्तिके लिये पाँच प्रकारकी पुस्तकें रखने का अधिकार साधुको दिया है। निशीथ चूर्णिसे पहले ही वलभी में आगम ग्रन्थोंका लिखना जारी हो चुका था। अतः उसके इस उल्लेखसे देवर्द्धिगणिके पूर्वमें आगम ग्रन्थोका लिपिबद्ध होना प्रमाणित नहीं होता। हॉ अनुयोग द्वारको आर्यरक्षित की कृति माना जाता है और आर्यरक्षितका समय विक्रमकी प्रथम द्वितीय शताब्दी कहा जाता है। अनुयोगद्वारमे पुस्तकमे लिखितको द्रव्य श्रुत कहा है। इस परसे मुनि जीने यह संभावना की है कि—'कोई आश्चर्य नहीं है, यदि उन्होंने (आर्यरक्षितजीने) उसी समय मन्द बुद्धि साधुओंके अनुगृहार्थ अपवाद मार्गसे आगम लिखने की भी आज्ञा दे दी हो (पृ० १०६)। मुनिजीकी इस संभावनासे हम सहमत हैं। हमारी आपत्ति माथुरी वाचना और प्रथम वलभी वाचनामें सब आगमोंके लिपिबद्ध किये जाने पर है; क्योंकि उसका समर्थन एक हेमचन्द्रके सिवाय अन्य किसी स्रोतसे नहीं होता। यदि नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्यने अपनी अपनी प्रमुखतामें संकलित जैनसूत्रोंको तत्काल लिपि बद्ध करा लिया होता और वह सब श्रुत पुस्तक रूपमें उपलब्ध

होता तो देवर्द्धि गणिको वलभीमे मथुराकी तरह सम्मेलन बुलानेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शायद कहा जाये कि वाचना भेदोंको व्यवस्थित करनेके लिये श्रमण सम्मेलन बुलाया गया। किन्तु जब माथुरी वाचनाके अनुसार ही सब सिद्धान्त लिखे गये तो समन्वयवाली बात नहीं रहती।

इसके सिवाय यदि उक्त दोनों वाचनाओंके पुस्तकारूढ़ सूत्र देवर्द्धि गणिके सम्मेलनमे उपस्थित होते और यदि दोनों वाचनानुयायी संघोमें संघर्ष हुआ होता तो श्वेताम्बरोंमे ही दो प्रकारके सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध होते, फिर वालभ्य आचार्य अपने पाठ भेदोंको केवल टीकाओंमे निर्दिष्ट कराकर शान्त न होते। अतः श्वेताम्बरोंमे जो देवर्द्धिगणिके समयमें होनेवाली वलभी वाचनाकी ही परम्परा प्रचलित है, वह निस्सार नहीं है और समय सुन्दर गणिने अपनी सामाचारीमें जो देवर्द्धि गणिके महत्कार्यका स्पष्टीकरण किया है वह उसी परम्पराका साक्षी है।

नन्दि स्थविरावलीकी स्कन्दिलाचार्यसम्बन्धी गाथाके व्याख्यानमे मलयगिरिने माथुरी वाचना क्यों स्कन्दिलाचार्यकी कही जाती है इसका स्पष्टीकरण करते हुये लिखा[१] है कि वह

१—सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धि प्रापितेति तदनुयोगः तेषामाचार्याणा सम्बन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत् किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्ततेस्म। केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधरा ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म। ततस्तै दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तितः इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषा माचार्याणामिति।"—नन्दि०, गा० ३३ टीका।

वाचना उस समयके युग प्रधान स्कन्दिलाचार्यको अभिमत थी और उन्हींके द्वारा अर्थरूपसे शिष्य बुद्धिको प्राप्त हुई थी इस लिये वह अनुयोग उनका कहा जाता है।' आगे उन्होंने 'अपरे' करके एक मत और दिया है जो इस प्रकार है— दूसरोंका कहना है कि दुर्भिक्षके वश कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ था, सब श्रुत वर्तमान था। किन्तु अन्य सब प्रधान अनुयोगधर कालके गालमें चले गये केवल एक स्कन्दिलसूरि शेष बचे। उन्होने दुर्भिक्ष चले जानेपर मथुरामे पुनः अनुयोगका प्रवर्तन किया इसलिये उसे माथुरी वाचना कहते हैं और वह अनुयोग स्कन्दिलाचार्यका कहा जाता है।

इस तरह जब स्कन्दिलाचार्यके द्वारा पुनः प्रवर्तित होने मात्रसे भी माथुरी वाचनाके अनुयोगको स्कन्दिलाचार्यका कहा गया है। तब देवर्द्धिगणिने तो वलभीमें आगमको अन्तिम रूप देकर और उन्हें पुस्तकारूढ़ करके सर्वदाके लिये अनुयोग प्रवर्तित कर दिया। अतः यदि उन्हे मात्र पुस्तक लेखक न कहकर वर्तमान आगमोका रचयिता भी कहा जाये—जैसा कि समय सुन्दर गणिने कहा है—तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

स्व० डा० याकोवीने जैन सूत्रोंकी अपनी प्रस्तावनामे देवर्द्धि-गणिके कार्यके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। डा० याकोवीका मत भी हीनाधिक रूपमें मुनिर्जाके ही अनुकूल है अतः उसे भी यहां दे देना उचित होगा। डा० याकोवीने लिखा है—

'सर्व सम्मत परम्पराके अनुसार जैन आगम अथवा सिद्धांतोंका संग्रह देवर्द्धिकी अध्यक्षतामें वलभी सम्मेलनमें हुआ। कल्पसूत्रमे उसका समय वीर निर्वाण ९८० या ९९३

(४५४ या ४६७ ई०) दिया है। परम्परा कथन है कि सिद्धान्तके नष्ट हो जानेके खतरेको जानकर देवर्द्धिने उसे पुस्तकोंमें लिखाया। इससे पूर्व गुरुजन अपने छात्रोंको सिद्धान्त पढ़ाते समय पुस्तकोका उपयोग नहीं करते थे। किन्तु इसके पश्चात् उन्होंने पुस्तकोंका उपयोग किया। इस कथनका उत्तरभाग स्पष्ट रूपसे सत्य है, क्योंकि प्राचीन कालमे पुस्तकोका उपयोग नहीं किया जाता था। पुस्तकोंकी अपेक्षा स्मृतिपर अधिक विश्वास करनेका ब्राह्मणोंमें रिवाज था। और इसमे कोई सन्देह नहीं है कि इस विषयमे जैनो और बौद्धोने उनका अनुसरण किया। किन्तु आजकल यतिगण अपने शिष्योंको जब पवित्र सूत्र पढ़ाते है तो पुस्तकोका उपयोग करते है। मैं इसमे कोई कारण नहीं पाता कि हमें इस परम्परा पर क्यों नही विश्वास करना चाहिये कि शिक्षणके ढंगमे इस परिवर्तनको लानेका श्रेय देवर्द्धिगणिको है क्योंकि यह घटना बहुत महत्वपूर्ण थी। प्रत्येक गणि अथवा उपाश्रयको आगमोकी प्रतियाँ प्रदान करनेके लिये देवर्द्धिगणिने सिद्धान्तोंका एक वृहत संस्करण अवश्य कराया होगा। देवर्द्धिके द्वारा सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ़ करानेके परम्परागत कथनका सम्भवतः यही अभिप्राय है; क्योंकि यह बात कठिनतासे विश्वसनीय है कि इसके पहले जैन साधु जो कुछ कण्ठस्थ करते थे उसे लिख लेनेका प्रयत्न नहीं करते थे। ब्राह्मण भी अपने धर्मशास्त्रोकी पुस्तकें रखते थे यद्यपि वे वेद पढ़ाते समय उसका उपयोग नहीं करते थे। ये पुस्तकें गुरुओंके व्यक्तिगत उपयोगके लिये होती थीं। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि जैन साधु भी इस प्रथाका विशेष रूपसे पालन करते थे क्योंकि ब्राह्मणोंकी तरह प्रतियों पर विश्वास न करनेकी प्रथासे वे प्रभावित नहीं थे।

किन्तु अपने धर्म ग्रन्थोंका उत्तराधिकार मौखिक रूपसे सौंपनेकी प्रचलित प्रथाके प्रभावसे प्रभावित थे। किन्तु मैं यह नहीं मानता हूँ कि जैनोंके आगम मूलतः पुस्तकोंमें लिखे गये थे क्योंकि बौद्धोंके पुस्तक न रखनेके सम्बन्धमें जो युक्ति दी जाती है कि उनके पवित्र पिटकोंमें, जिनमें प्रत्येक छोटी से छोटी और महत्त्वहीन गार्हस्थिक चीजों तकका उल्लेख मिलता है, पुस्तकोंका उल्लेख नहीं है, वही युक्ति जैनोंके सम्बन्धमें भी दी जा सकती है। कम से कम जब तक जैन साधु भ्रमणशील थे तब तक उनमें पुस्तकोंकी प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु जबसे जैन साधु अपने अपने उपाश्रयोंमें रहने लगे, वे अपनी पुस्तकें रख सकते थे जैसा कि वे आजकल रखते हैं। इस तरह जैन आगमोंको लेकर देवर्द्धिगणिके सम्बन्धमे साधारणतया जो विश्वास किया जाता है उससे हमें एक भिन्न ही बात प्रतीत होती है। सम्भवतया उन्होंने मौजूदा प्रतियोंको एक आगमके रूपमे सुव्यवस्थित किया और जिनकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हुई उन्हे विद्वान् आगमज्ञोंके मुखसे गृहण किया। उस आगमकी बहुत सी प्रतियाँ प्रत्येक शिक्षालयमें देनेके लिये तैयार कराई गईं क्योंकि धार्मिक शिक्षणके ढंगमें नवीन परिवर्तनके कारण उनकी आवश्यकता थी। अतः देवर्द्धिके द्वारा सिद्धान्तोंका सम्पादन पवित्र पुस्तकोंका, जो पहलेसे ही लगभग उसी रूपमें मौजूद थीं, केवल नवीन संस्करण करना मात्र है।"—से० बु० ई०, जि० २२, प्रस्तावना पृ० ३७–३९।

मान्य विद्वानके उक्त विचारोंके सम्बन्धमें दो शब्द कहनेसे पूर्व उसकी पृष्ठ भूमि बतला देना आवश्यक होगा। उस समय यूरोपियन स्कालरोंमें दो ग्रूप थे। एक ग्रूप जैन धर्मको स्वतन्त्र धर्म न मानकर उसे बौद्ध धर्मकी शाखा मानता था और दूसरा

प्र.प जैन धर्मको बौद्ध धर्मसे स्वतन्त्र धर्म मानता था। स्व० याकोबी दूसरे प्र.प के थे और उन्हींकी शोधोंके फलस्वरूप दूसरे प्र.पकी मान्यताको बल मिला। प्रथम प्र.पमें एक मि० बार्थ थे उन्होंने अपनी पुस्तक 'धर्मोका इतिहास' मे जैन धर्मके सम्बन्धमें यह तो स्वीकार किया था कि 'नाटपुत्त' के रूप मे एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व छिपा हुआ है। किन्तु उनकी आपत्ति यह थी कि उसके सम्बन्धमे जिन जैन आगमोंसे सबल तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे ईसा की पाँचवीं शतीके हैं अथवा यह कहना चाहिये कि सम्प्रदायकी स्थापना होनेके लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् के हैं। उनका यह भी कहना था कि जैन परम्पराका निर्माण बौद्ध परम्पराकी नकल है। उन्हीको उत्तर देते हुए स्व० याकोबीने जैन आगमोके संबन्धमे उक्त विचार प्रकट किये थे।

मुनिजीकी तरह उन्होंने भी प्रारंभमे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि परम्परा कथन तो यही है कि जैन आगमोंका संकलन वलभीमे देवर्धिकी प्रधानतामे हुआ। किन्तु वह अपनी कल्पना और तर्कके आधार पर उक्त परम्पराका उक्त अर्थ निकालते हैं। उक्त परम्पराकी आधारभूत प्राचीन गाथा[1] तो इतना ही

१—विलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ नवसय असीआओ वीराओ॥
—वी० नि० सं० जैनका०, पृष्ठ १०८ पर उद्धृत।

दूसरा पाठ इस प्रकार है—
वलहिपुरंमि नयरे देवड्ढिपमुहसयलसंघेहिं।
पुव्वे आगमु लिहिउ नव सय असीआणु वीराउ॥
—जै० सा० इ० (गु०) पृ० १४२ में उद्धृत।

बतलाती है कि वीर निर्वाणके ९८० वें वर्ष में वलभी पुरी नगरीमें देवर्द्धि प्रमुख सकल संघने या श्रमण संघने पुस्तकों पर आगमको लिखा ? प्रश्न होता है कि क्यों लिखा तो प्राप्त उल्लेखों से प्रकट होता है कि दुर्भिक्षवश श्रुतकी रक्षा करनेके लिये लिखा। कैसे लिखा। तो पता चलता है कि उपस्थित श्रमण संघकी स्मृतिके आधार पर लिखा। और श्रमण संघकी स्मृति का आधार परम्परागत माथुरी वाचना थी। फिर भी जैसे यह कहना कि वलभीमें वाचना नहीं हुई और जो कुछ लिखा गया वह केवल प्राप्त पुस्तकोंके आधार पर ही लिखा गया, एकान्त पक्ष है वैसे ही यह कहना भी कि वलभी सम्मेलनसे पहले व्यक्तिगतरूपसे भी पुस्तकों पर आगम लिखा ही नहीं गया था और वलभी सम्मेलनमें ही पहले पहले आगमोंको लिखनेकी प्रथा प्रवर्तित हुई, एकन्तपक्ष है। सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वलभीमें देवर्द्धि गणिकी प्रमुखतामें उपलब्ध साधनोंके आधार पर आगमोंको व्यवस्थित करके उन्हे पुस्तकारूढ़ कर दिया गया और तबसे सार्वजनिक रूपसे उनका लेखन कार्य होने लगा। डा० जेकावीका यह अर्थ कि पठन पाठनमें पुस्तकोंके उपयोगकी प्रवृत्तिको प्रसारित करनेके लिये देवर्द्धि ने आगमोंकी बहुत सी प्रतियाँ तैयार कराई, एक सुधारवादी दृष्टिसे भले ही उचित लगे किन्तु शोधक दृष्टिसे तो उचित नहीं ही जँचता, अतः हम भारतीय साहित्यके इतिहासके लेखक डा० विन्टरनीट्सका इस सम्बन्धमें मत देते हैं—वह लिखते हैं—

"आगमोंकी प्राचीनता और प्रामाणिकताके सम्बन्धमें स्वयं श्वेताम्बर जैनोंमें नीचे लिखी परम्परा पाई जाती है—

'मूल सिद्धान्त चौदह पूर्वोमें सुरक्षित थे। महावीरने स्वयं

अपने शिष्य गणधरोंको उनकी शिक्षा दी थी। किन्तु उन पूर्वोका ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो गया। महावीरके शिष्योंमेंसे केवल एकने उस ज्ञानकी परम्पराको आगे चलाया। किन्तु वह केवल छै पीढ़ी तक ही चल सकी। महावीर निर्वाणकी द्वितीय शताब्दीमें मगध देशमे भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा, जो बारह वर्षमें जाकर समाप्त हुआ। उस समय मौर्य चन्द्रगुप्त मगधका राजा था और स्थविर भद्रबाहु जैन संघके प्रधान थे। दुर्भिक्षके कारण भद्रबाहु अपने अनुयायिओंके समुदायके साथ दक्षिण भारतके कर्नाटक प्रदेशमें चले गये और स्थूलभद्र, जो चौदह पूर्वोको जानने वाले अन्तिम व्यक्ति थे, मगधमें रह जाने वाले संघके प्रधान हो गये। भद्रबाहुकी अनुपस्थितिके कारण यह प्रत्यक्ष था कि पवित्र सूत्रोंका ज्ञान विस्मृति के गर्त मे चला जाता। इसलिए पाटलीपुत्रमें एक सम्मेलनका आयोजन किया गया। उसमे ग्यारह अंगोका संकलन हुआ और चौदह पूर्वोंके अवशेषोको बारहवें अंग दृष्टिवादके रूपमें निबद्ध कर दिया गया। जब भद्रबाहुके अनुयायी मगधमें लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि दक्षिणको चले जाने वाले और मगधमें रह जाने वालोंके बीचमे एक बड़ी खाई पैदा होगई है। मगध मे रह जाने वाले जैन साधु सफेद वस्त्र पहिननेके अभ्यस्त हो गये थे जब कि दक्षिण प्रवासी साधु महावीरके कठोर नियमोंके अनुसार नग्न रहते थे। और इस तरह दिगम्बरो और श्वेताम्बरोंका महान संघ भेद हुआ। फलतः दिगम्बरोंने पाटलीपुत्रमें सकलित आगमोको मानने से इंकार कर दिया और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अंग और पूर्व नष्ट हो गये। सुदीर्घ कालवश श्वेताम्बरोंके आगम अस्त व्यस्त हो गये और उनके एक दम नष्ट हो जानेका खतरा पैदा हो गया। अतः महावीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् (ईसाकी ५ वीं शताब्दीके मध्य

में या छटी शताब्दीके आरम्भ में) गुजरातकी वलभी नगरी में पवित्र आगमोंके संकलन तथा लेखनके लिए एक सम्मेलन हुआ, जिसके प्रधान देवर्द्धि क्षमाश्रमण थे। बारहवां अंग, जिसमें पूर्वोको अवशिष्टांश संकलित थे, उस समय तक नष्ट हो चुका था। इसीसे हम केवल ग्यारह अंगों को पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि वर्तमानमें उपलब्ध ग्यारह अंग वही हैं जिन्हें देवर्द्धिने संकलित किया था। इस तरह हम देखते हैं कि स्वयं श्वेताम्बर जैनोंकी परम्पराके अनुसार उनके पवित्र आगमोंकी अधिकारिता ईसाकी पांचवी शतीसे पूर्व नहीं जाती। यह ठीक है कि वे मानते हैं कि वलभी सम्मेलनमें जो आगम लिखे गये उनका आधार पाटलीपुत्रमें संकलित आगम थे और वे आगम महावीर और उनके शिष्योंसे सम्बद्ध थे। कहा जाता है कि गणधरो ने, जो महावीर के शिष्य थे, उनमें भी मुख्य रूपसे आर्य सुधर्माने महावीर स्वामीके वचनोंको अंगो और उपागोंमें निबद्ध किया। परम्परासे कुछ खास ग्रंथोंको बादके ग्रन्थकारोंका भी कहा जाता है। उदाहरणके लिये, चौथा उपाङ्ग आर्य श्यामाचार्यका बतलाया जाता है जिनका समय महावीर निर्वाणसे ३७६ या ३८६ वर्ष पश्चात् माना जाता है। चौथे छेद सूत्र पिण्ड निर्युक्ति और ओघ निर्युक्तिको भद्रबाहुकी (वीर निर्वाणकी २ री शताब्दी) और तीसरे मूलसूत्रको सय्यंभवका, जिन्हें महावीर निर्वाणके पश्चात् चौथा युग प्रधान गिना जाता है, कहा जाता है। तथा नन्दिसूत्रको महावीर निर्वाणकी दशवीं शताब्दीमें होने वाले, वलभी सम्मेलनके प्रधान देवर्द्धिका कहा जाता है। दिगम्बर भी यह बात स्वीकार करते हैं कि महावीरके प्रथम गणधर चौदह पूर्वों और ग्यारह अंगों को जानते थे। किन्तु वे कहते हैं कि प्राचीन समय में केवल चौदह पूर्वोका ही ज्ञान लुप्त नहीं हुआ,

बल्कि महावीर निर्वाण के ४३६ वर्ष पश्चात् ग्यारह अगों का ज्ञाता अन्तिम व्यक्ति मर गया, उसके जो उत्तराधिकारी आचार्य-क्रमसे हुए, जैसे समय बीतता गया वैसे ही उनमें भी उत्तरोत्तर अंगोंका ज्ञान क्रमसे कम होता गया और अन्तमें महावीर निर्वाण से ६८३ वर्ष पश्चात् अंगोका ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।

यद्यपि स्वयं जैनोंकी परम्परा उनके आगमोंके बहुत प्राचीन होनेके पक्षमे नहीं है तथापि कम से कम उनके कुछ भागोंको अपेक्षाकृत प्राचीन कालका माननेमे और यह मान लेनेमें कि देवर्द्धिने अंशत. प्राचीन प्रतियोंकी सहायतासे और अंशतःमौखिक परम्पराके आधार पर आगमोको संकलित किया, पर्याप्त कारण है'—हि० ई० लि०, जि०२, पृ. ४३१-४३४।

डा० विन्टरनिट्सका उक्त मत बहुत सन्तुलित है और वह हमारे उक्त मतका पोषक है।

उपलब्ध अंगसाहित्यके विषयमें प्राप्त उल्लेखोसे यह स्पष्ट रूपसे विदित होता है कि वीर निर्वाणकी दूसरी शताब्दीसे अंग श्रुतकी छिन्न भिन्नता प्रारम्भ हो गयी थी और आगे भी वह जारी रही। दो और भयानक दुर्भिक्षोंके कारण श्रुतको गहरी हानि पहुँची। सुदीर्घ कालके अतिक्रमणके साथ ही साथ सुदूर देशों का भी उसे अतिक्रमण करना पड़ा। फिर एक पक्ष ने उसे मान्य ही नहीं किया। जिस पक्षके द्वारा अंग साहित्य संकलित किया गया, उसपर बौद्धोंके मध्यममार्गका भी प्रभाव पड़ा। इन सब स्थितियों का अंग साहित्य पर प्रभाव न पड़ा हो, यह संभव प्रतीत नहीं होता। अतः यह कहना कि पाटलीपुत्रमें जो अंग साहित्य संकलित किया गया था उसमें और उसके आठसौ

वर्ष पश्चात् वलभीमें जो पुस्तकारूढ़ किया गया उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा, या मामूलीसा अन्तर पड़ा, पूर्ण सत्य नहीं है। आगमोंके विशिष्ट अभ्यासी पं० बेचर दास जीका तो यह कहना है कि वलभीमें संगृहीत अंग साहित्यकी स्थितिके साथ श्री वीरसमयके अंग साहित्यकी तुलना करने वालेको दो सौतेले भाईयोंके बीच जितना अन्तर होता है उतना भेद मालूम होना सर्वथा संभव है"—जै० सा० वि० पृ० ८३।

इसके विषयमें वास्तविक स्थितिका पता तो तभी लग सकता था जब वीर भगवानके समयमें गणधरके द्वारा ग्रथित हुआ अंग साहित्य उपलब्ध होता और उसके साथ वर्तमान अंग साहित्यकी तुलनाकी जाती, किन्तु यदि वैसा होता तो दूसरा रूप सामने ही क्यों आता। फिर भी सब घटनाओंको दृष्टिमें रखकर वस्तु स्थितिका विचार करने पर पं० बेचर दासजीकी उक्ति ही सत्यके अधिक निकट प्रतीत होती है।

भारतके धार्मिक साहित्यकी रूपरेखाका चित्रण करते हुये श्री जे एन फरक्यूहर (J. N.FARQUHAR) ने जैन आगमोंके सम्बन्धमें लिखा है—"अङ्गोंके द्वारा स्थापित समस्या बहुत ही जटिल स्थितिमें है। उनकी भाषा मूल मागधी नहीं है जिसमें वह ईस्वी पूर्व तीसरी शतीमें पटनामें संकलित किए गये थे। किन्तु उसपर पश्चिम का, जहां वह ईस्वी सन् की पांचवीं शतीमें लिखे गये, प्रभाव है। इस बातके स्पष्ट प्रमाण हैं कि संकलन कालसे ही उनमें विस्तृत रूपमें परिवर्तन होते आये हैं। इस सबसे जटिल समस्याको सुलझानेके लिये आगमोंका तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया। यह संभव है कि पटनामें कुछ अंग संकलित किये गये। किन्तु

यह कोई नहीं कह सकता कि वर्तमान आगमोंका उन मूल आगमोंके साथ क्या सम्बन्ध है? वेबरका मत है कि मौजूदा आगम दूसरी और पांचवीं शताब्दीके बीचमे रचे गये। किन्तु जेकोबीका झुकाव है कि उनका कुछ भाग पटना से ही अपेक्षाकृत थोड़ेसे परिवर्तनके साथ आया है।'—आउट रि० लि० इ०, पृ० ७३।

आगे वह लिखते है—"किन्तु यह अधिक सम्भव है कि प्राचीन साहित्य अंशतः सुरक्षित रहा हो। यद्यपि यह निस्सन्देह है कि संघभेदके समयसे अर्थात् ई० ८० से श्वेताम्बर साधुओंके द्वारा अपने सम्प्रदायके अनुकूल उसमें संशोधनकी प्रवृत्ति चालू रही ...। आगमोंमे श्वेताम्बरोंकी इस प्रवृत्तिके स्पष्ट चिन्ह पाये जाते है।' (पृ० १२०-१२१)

देवर्द्धिगणिके पश्चात्की स्थिति

वर्तमान जैन आगमोंके सम्बन्धमे विचार करते समय देवर्द्धि गणिके पश्चात्कालीन स्थितिको भी दृष्टिमे रखना आवश्यक है। प्रायः विद्वानोंका मत है कि देवर्द्धि गणिके पश्चात् भी आगमोंमे परिवर्तन हुआ और उसके प्रमाण पाये जाते है। डा० जेकोबीका मत पहले दे आये है। उससे पहले कल्पसूत्रकी प्रस्तावनामें उन्होने इस सम्बन्धमें जो मत व्यक्त किया था उसे यहाँ दिया जाता है—

'प्राचीन मान्यताके अनुसार जैनसूत्रोंका पुस्तकाधिरोहण वीर नि० सं० ९८० में देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण ने किया। × × जिन प्रभ मुनि और पद्म सुन्दर गणि लिखते हैं कि जब देवर्द्धिगणि ने ४५ आगमों को विनाशोन्मुख देखा तब उन्होंने

वलभी पुरके संघके सहयोगसे उन्हें पुस्तकारूढ़ किया। यह कहा जाता है कि प्राचीन कालमें आचार्य पुस्तककी सहायताके बिना अपने शिष्योंको सूत्र पढ़ाते थे। किन्तु पीछे पुस्तकोंकी सहायता से शिक्षण देना आरम्भ हुआ। जैन उपाश्रयोंमें यह प्रथा आज भी चली आती है। इस वृद्ध सम्प्रदायका यह अभिप्राय नहीं है कि देवर्द्धि गणिने प्रथम बार जैन आगमोंको पुस्तकारूढ़ कराया। किन्तु उसका इतना ही मतलब है कि प्राचीन कालमें आचार्य लिखित पुस्तकोंकी अपेक्षा अपनी स्मृतिके ऊपर ज्यादा निर्भर रहते थे। जैनधर्मके बुद्धघोष देवर्द्धि गणिने खास करके समग्र साम्प्रदायिक जैन साहित्यको जो उन्हें उस समय पुस्तकोंमें से तथा विद्यमान आचार्योंके मुखसे प्राप्त हो सका आगमोंके रूपमें निबद्ध किया। यह कार्य बहुत अधिक कठिन था क्योंकि उस समय बहुतसे आगम तो त्रुटित हो गये थे और उनका अमुक अमुक त्रुटित भाग शेष बचा था। इन त्रुटित भागोंको देवर्द्धि गणिने, जो उन्हें उचित लगा, तदनुसार अनुसन्धान करके एकत्र किया। बहुतसे आगमोंमें जो असम्बद्ध और अपूर्ण वर्णन मिलते हैं, उनका कारण हम उक्त स्थितिकी कल्पनाके द्वारा समझ सकते हैं। विद्यमान जैन आगमोंकी रचना मुख्य रूपसे

---

१. सन् ४१० और ४३२के बीचमें बुद्धघोषने बौद्ध पिटकों और अर्थकथाओंको पुस्तकोंमें लिखाया था। सिलोनमें बौद्ध ग्रंथ और गुजरातमें जैनग्रन्थ लगभग समान कालमें पुस्तकारूढ हुए। उसके ऊपरसे ऐसा अनुमान हो सकता है कि जैनोंने बौद्धोंकी इस प्रवृत्तिका अनुकरण किया। हिन्दुस्थानमें ईस्वी पाँचवी शताब्दीसे साहित्यके लिये लेखन कलाका बहुत उपयोग होने लगा।

उसके सम्पादक देवर्द्धि गणिको आभारी है। उन्होंने ही उन्हें अध्यायों और अध्ययनोंमे विभक्त किया। और ग्रन्थ गणना (३२ अक्षरका एक श्लोक इस प्रकार श्लोक प्रमाण) की पद्धति चालूकी। इस ग्रन्थ गणनाके अनुसार सौ सौ और हजार हजार श्लोकोंकी संख्या सूचक अंक हस्त लिखित प्रतियोंमे सर्वत्र एक ही रूपमे लिखे हुए हैं। मार्गको नापनेके लिये खड़े किये गये मीलके पत्थरोंके समान इन संख्या सूचक अंकोको देनेका उद्देश्य यह था कि मूलसूत्रोंमे पुनः घटा बढ़ी न हो सके। परन्तु वास्तवमें यह उद्देश्य सफल हुआ हो, ऐसा नही लगता। देवर्द्धि गणिके पश्चात् जैन आगमोंमे बहुत फेरफार हुआ प्रतीत होता है। आधुनिक हस्तलिखित प्रतियोंमें अनेक पाठान्तर तो मिलते ही हैं, किन्तु जुदी २ लेखन पद्धतिके कारण उन पाठान्तरोंकी उत्पत्ति हुई हैं। इसके सिवाय वे पाठान्तर बहुत उपयोगी अथवा बहुत प्रामाणिक भी नहीं हैं। किन्तु पुराने समयमें कुछ जुदी ह' स्थिति होनी चाहिये। क्योंकि टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमे अनेक पाठान्तरों का निर्देश किया है, जो हालकी हस्तलिखित प्रतियोंमें नही पाये जाते। इससे हमारा मत है कि वर्तमानमे जो सूत्रपाठ मूल प्रतियोंमे पाया जाता है तथा अर्वाचीन टीकाकारोंने जिसे अपनी टीकाओंमे लिखा है वह टीकाकारोंके द्वारा निर्णीत किया गया पाठ है। कल्पसूत्रके सम्बन्धमें तो यह बात निश्चित है। यह मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ। सूत्रोंकी जो जो टीकायें आज विद्यमान हैं वे सब सीधे या परम्परा रूपसे प्राकृत भाषामें रची प्राचीन चूर्णियों अथवा वृत्तिओंके आधार पर लिखी गई हैं। ये चूर्णियाँ तथा वृत्तियाँ या तो नष्ट हो गई हैं अथवा कहीं मौजूद हैं। प्राचीन टीकाकारोंने मूलसूत्रोंको बहुत अधिक अव्यवस्थित रूपमें पाया था; क्योंकि उन्हे उनके बहुतसे पाठान्तरोंको नोट

करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उनमेंसे बहुतसे पाठान्तरों को पीछेके टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें उल्लिखित किया है। कुछ टीकाकारोंने केवल एक ही पाठको स्वीकार करके उसीको अपनी टीकाका आधार बनाया है। उदाहरणके रूपमें उत्तराध्ययन सूत्रके टीकाकार देवेन्द्र गणीको लिया जा सकता है। दूसरे कुछ टीकाकार पाठान्तरोंको देखनेकी इच्छावालोंको उसकी चूर्णीको देखनेकी सूचना देते हैं। प्रमाणके रूपमें कल्पसूत्रके सबसे प्राचीन टीकाकार; जिनकी टीकाको प्राप्त करनेमें मैं सफल हुआ हूं, जिनप्रभमुनिको लिया जासकता है। इस लिये वर्तमान विवेचकोंका उद्देश्य तो प्राचीन टीकाकारोंने जो सूत्र पाठ स्वीकार किया था, केवल उसीका पुनरुद्धार करनेका होना चाहिये। साक्षात् देवर्द्धि गणिके द्वारा पुस्तकारूढ़ किया गया पाठ तो आज मिलना ही अशक्य' है।'[१]

देवर्द्धि गणिके पश्चात् भी जैनसूत्रोंमे जो फेरफार वगैरह हुआ, वह ऊपरके उद्धरणसे स्पष्ट हैं।

श्री वेबरने अंगसाहित्यके विषयमें एक अध्ययनपूर्ण विस्तृत निबन्ध लिखा था, उसका अंग्रेजी अनुवाद इण्डियन एण्टिक्वेरीमें प्रकाशित हुआ था। डा० वेबर उस ग्रूपके विद्वान थे जो जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा मानता था। अतः उनका मत भी यहाँ दे देना उचित है। उन्होंने लिखा है—

'डा० बुहलर की सूचीमें अंकित ४५ आगमोंको देवर्द्धिगणिने संकलित किया था ऐसा डा० जेकोबीका विश्वास है (कल्प, पृ० ६) यदि हम इस पर अब अधिक विचार न

---

१. यह अंश जैन साहित्य संशोधन भाग १ में प्रकाशित गुजराती अनुवाद के आधारसे दिया गया है. ले०।

करना चाहें तौ भी हमें एक सत्यके रूपमें यह स्वीकार करना होगा कि सम्भवतया देवर्द्धिगणिने उन्हे जिस रूपमे संकलित किया था, वर्तमानरूप वह नहीं हो सकता। मूल सिद्धान्त ग्रन्थोंसे वर्तमान सिद्धान्त ग्रन्थोंमे अन्य भी भेद मौजूद है। सिद्धान्त ग्रन्थोंमें से न केवल वाक्यों और विभागोंको ही नष्ट किया गया ......जो कि प्राचीन टीकाओंके समयमें वर्तमान थे, बल्कि बड़ी संख्यामें क्षेपकोंको भी सम्मिलित किया गया, जो स्पष्ट प्रतीत होते हैं। क्या, समस्त सम्भावनाओंके अनुसार मूल सिद्धान्त ग्रन्थोंमे पूरी तरहसे परिवर्तन किया गया है। मेरा अनुमान है कि इस परिवर्तनके कारणोंको श्वेताम्बर सम्प्रदायकी कट्टरताके प्रभावमे देखा जा सकता है, जो विभिन्न अवान्तर सम्प्रदायोंके अनुयायिओंके प्रति दिन पर दिन अधिक कठोर होती गई। मौजूदा आगम केवल श्वेताम्बरोंके है। दृष्टिवादका एकदम नष्ट हो जाना, निस्सन्देह मुख्य रूपसे इस तथ्यसे सम्बद्ध है कि इसमे संघभेदमूलक सिद्धान्तों का सीधा उल्लेख था। यह घटना अन्य अंगोंमे किये गये परिवर्तन, परिवर्द्धन और लोपके लिए व्याख्या रूप हो सकती है। अन्य तीर्थिको और निन्हवोंके विरुद्ध वादियोंकी कठोरता इतनी तीक्ष्ण और काट करने वाली है कि उसपरसे हम ऐसे निष्कर्ष निकालनेमे समर्थ हैं जो जैन साहित्यके इतिहासके लिए महत्त्वपूर्ण है।' (इण्डि० एण्टि०, जि०१७, पृ० २८६)

डा० वेबरके मतानुसार सूक्ष्म निरीक्षणसे यह प्रकट होता है कि आगमोंकी रचना व्यक्तिके कल्याणकी भावनाकी अपेक्षा साम्प्रदायिक कल्याणकी भावनाको लिए हुए हैं। इसके उदाहरणके रूपमे उन्होंने 'नग्नता'को लिया है। उन्होंने लिखा है—'ब्राह्मणोंने

(वराहमिहिरने भी) नग्नताको जैनोंकी मुख्य विशेषता बतलाया है। और बौद्ध उल्लेखोंके अनुसार बुद्धने नग्नताका दृढ़तासे विरोध किया था। किन्तु आगमोंमें नग्नताकी स्थिति महत्वपूर्ण नहीं है। तथा कम से कम नग्नताको आवश्यक तो नहीं बतलाया है, जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय उसे सिद्धान्तके रूपमें मानता है। श्वेताम्बरोंने[1] (विशेषतया कल्पसूत्रमे) दिगम्बरोंके विरुद्ध जो घृणाभाव प्रदर्शित किया है, यदि उसे विचार कोटिमे लिया जाये तो यह निर्णय करना अदूरदर्शितापूर्ण न होगा कि इस विषयमें सम्बद्ध अनेक प्राचीन परम्पराओं को श्वेताम्बरीय आगमोंसे हटा दिया गया। तथापि श्वेताम्बर भी इससे इन्कार नहीं करते कि जिन स्वयं नग्न रहते थे। किन्तु वे दृढ़ता पूर्वक यह भी कहते हैं कि जो चीज उस समयके लिये उचित थी, वह वर्तमान समयके लिए उचित नहीं है।'

जैन परम्परामें दिगम्बर और श्वेताम्बरकी तरह एक यापनीय संघ भी था। यह संघ यद्यपि नग्नताका पक्षपाती था तथापि श्वेताम्बरीय आगमोंको मानता था। इस संघके एक आचार्य अपराजित सूरिकी संस्कृतटीका भगवती आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थपर है, जो मुद्रित हो चुकी है। उसमें नग्नताके समर्थनमें श्री अपराजित सूरिने आगम ग्रन्थोंसे अनेक उद्धरण दिये हैं जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमोंमें नहीं मिलते। यहाँ दो एक उद्धरण दिये जाते हैं—

१—'देशविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गेनाभेदिनो निन्हवाः।
बोटिकास्तु सर्वविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गितोऽपि भिन्नाः॥'

—आव० टी०, मलय०।

'तथा चोक्तमाचाराङ्गे-'सुदं में आउस्सन्तो भगवदा एवमक्खादं-इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जादा हवंति। तं जहा-सव्वसमण्णागदे णोसव्वसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिणा हत्थपाणीपादे सव्विदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहेगेण इति।'

इसमें बतलाया है कि पूर्ण श्रामण्यके धारीको, जिसके हाथ पैर सक्षम होते हैं और सब इन्द्रियां समग्र होती है-उसे प्रतिलेखन के सिवाय एक भी वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये।' यह उद्धरण वर्तमान आचारांगमें नहीं मिलता। जबकि अन्य उद्धरण उसमें मिलते हैं।

इसी तरह उत्तराध्ययनसे भी कुछ पद्य उद्धृत किये गये हैं जिनमेंसे कुछ वर्तमान उत्तराध्ययनमे नहीं मिलते। वे पद्य नीचे लिखे हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखो वावि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चिंतए॥

इनमें बतलाया है कि वस्त्रको त्यागकर पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। और जिन रूपधारी भिक्षुको सदा अचेल रहना चाहिए। वस्त्रधारी सुखी होता है और वस्त्रत्यागी दुःखी होता है, अतः मै सचेल रहूंगा ऐसा भिक्खुको नहीं सोचना चाहिए।

अपराजित सूरिने कल्प सूत्रसे भी अनेक पद्य उद्धृत किये हैं, जो मुद्रित कल्पसूत्रमें नहीं मिलते। श्री आत्मानन्द जैन सभा

भावनगरसे प्रकाशित कल्पसूत्र भाग छकी प्रस्तावनामें मुनिवर पुण्यविजयजीने लिखा है "कि स्थविर अगस्त्यसिंह विरचित प्रस्तुत दश वैकालिक चूर्णिग्रन्थ ऐसा अलभ्य या दुर्लभ्य ग्रन्थ है कि जो वलभीमें श्रीदेवर्द्धि गणी क्षमाश्रमणने संघ एकत्र करके पाठ निर्णय किया उससे पहलेके प्राचीन कालमें जैन आगमोंके पाठोंमें कितनी विषमता हो गई थी, उसका थोड़ा बहुत विचार हमें देता है। आज भी वृहत्कल्पसूत्र, निशीथ सूत्र, भगवतीसूत्र वगैरहकी जो प्राचीन आदर्श प्रतियां अपने सामने वर्तमान हैं, उनको देखनेसे पाठभेदोंकी विविधता और विषमताका तथा भाषा-स्वरूपकी विचित्रताका ध्यान आ सकता है।....अपनी वर्तमान निर्युक्तियोंमें पीछेसे कितना प्रक्षेप हुआ है यह जाननेके लिए अगस्त्यसिंहकी चूर्णि अति महत्त्वका साधन है। स्थविर अगस्त्यसिंहकी चूर्णिमें दशवैकालिकके प्रथम अध्ययनकी निर्युक्ति गाथाएं केवल चौवन हैं, जबकि आचार्य श्री हरिभद्रकी टीकामें प्रथम अध्ययनकी निर्युक्तिगाथाएं एकसौ छप्पन हैं। समस्त दशवैकालिक सूत्रकी निर्युक्तिगाथाओंकी संख्याका यदि विचार किया जाये तो आचार्यहरिभद्रकी टीका में गाथा संख्या अधिक हैं"।

अतः यह निश्चित है कि वलभी वाचनाके पश्चात् भी आगम साहित्यमें बहुत रद्दोबदल की गई है।

वर्तमान जैन आगम और दिगम्बर परम्परा

आज जो जैन आगम या अंग साहित्य उपलब्ध है उसे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मान्य नहीं करता, यह सबको विदित

है। साधारणतया [1]विद्वानोंकी ऐसी धारणा रही है कि जब भद्रबाहुके अनुयायी साधु दक्षिणसे लौटकर मगधमें आये तो उन्होंने पाटलीपुत्र परिषदमें कोई भाग नहीं लिया और यह घोषणा कर दी कि मूल आगम एकदम नष्ट हो गये। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। किसी भी प्राचीन दिगम्बर जैन साहित्य, पट्टावली या अभिलेख वगैरहमें श्वेताम्बरीय अंग साहित्यके सम्बन्धमें या उनकी वाचनाओंके सम्बन्धमें कोई संकेत तक मेरे देखनेमें नहीं आया। जिन कथाओंमें संघभेदकी चर्चा है, उनमें भी अग साहित्यकी संकलनाके विषयमें कुछ भी नहीं कहा गया है। अतः यदि यह कहा जाये कि दिगम्बर जैन परम्परा इस विषयमें एकदम मूक है, तो अत्युक्ति न होगी। यद्यपि अपवाद रूपसे उन पर छींटाकसी करनेका संकेत[2] मिलता है किन्तु वह संकेत भी इतना गम्भीर है, कि हर किसीकी दृष्टि वहाँ तक नहीं पहुंच सकती। अतः उक्त धारणा ठीक नहीं है।

भगवान महावीरके पश्चात् अंगज्ञानकी परम्परा किस प्रकार गुरु शिष्य परम्पराके रूपमें प्रवर्तित होते-होते लुप्त हुई, इसका स्वतंत्र वर्णन तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला टीका तथा श्रुतावतार आदिमें है। तदनुसार दिगम्बर परम्परामें वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त अंगज्ञानकी परम्परा प्रवर्तित रही है किन्तु उसे संकलित करने या लिपिबद्धकरनेका कभी कोई सामूहिक प्रयत्न किया गया हो, ऐसा आभास नहीं मिलता।

---

१ कै० हि० इं०, जि० १, पृ० १४८, जै० नॉ० इ० पृ० २२१।
२ 'मॉसभक्षणाद्यभिधानं श्रुतावर्णवादः।'
—सर्वा०, अ० ६, सू० १३।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब दिगम्बर सम्प्रदायमें श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् भी अंगज्ञानकी परम्परा ५०० वर्ष तक चालू रही तो श्वेताम्बरोंकी तरह दिगम्बरोंने उनके संकलनादिका प्रयत्न क्यों नहीं किया। इस प्रश्नके समाधानके लिये दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्पराके दृष्टिकोणमें जो मौलिक मतभेद हमें प्रतीत हुआ उसे हम नीचे देते हैं।

द्वादशांग के ग्रथक में मतभेद

दोनों परम्परायें भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट द्वादशांग वाणीको आद्य जैन साहित्य मानती हैं। द्वादशाङ्गके नाम भी दोनों परम्पराओंमे एक ही हैं। किन्तु अन्तर यह है कि दिगम्बर परम्पराके अनुसार भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट वाणीको उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अंगोंमें गूँथा और अपने उत्तराधिकारी सुधर्मा गणधरको सौंप दिया। सुधर्माने जम्बू स्वामीको सौंप दिया। इस तरहसे दिगम्बर परम्पराकी गुर्वावलियों[1] में आद्य स्थान गौतम गणधरको प्राप्त है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराकी गुर्वावलि गौतम गणधरसे शुरू न होकर सुधर्मासे शुरू होती है।

कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें लिखा[2] है कि 'भगवान महा-

---

१ ज० ध०, भा० १, पृ० ८४।

२ 'सव्वे वि णं एते समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चउदसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधारगा रायगिहे नगरे मासिएण भत्तेण अपाणएण काल गया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा, थेरे इंदभूई थेरे अज्ज सुहम्मे य सिद्धिगए महावीरे

वीरके ये सभी ग्यारह गणधर द्वादशांगी, चतुर्दशपूर्वी और समस्त गणिपटकके धारक थे। राजगृहीमें मासिक निर्जल भक्तके द्वारा कालगत होकर ये सभी सब दुःखोंसे मुक्त हो गये। स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर सुधर्मा ये दोनों महावीरके निर्वाणके पश्चात् मुक्त हुए। आज पर्यन्त जो ये श्रमण निर्ग्रन्थ विहार करते हैं ये सब आर्य सुधर्माकी सन्तान हैं शेष सब गणधर निःसन्तानी हुए।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् स्थविरावली भगवान महावीर के शिष्य सुधर्मासे प्रारम्भ होती है। यही बात नन्दीसूत्रके आरम्भमें दी गई स्थाविरावली में भी पाई जाती है वह भी सुधर्मासे ही शुरू होती है। इस तरह श्वेताम्बर परम्परामें आज जो अङ्ग साहित्य पाया जाता है वह सुधर्मा के द्वारा उस परम्पराको प्राप्त हुआ था, गौतम गणधरके द्वारा नहीं।

हमने इस बातको खोजना चाहा कि जैसे दिगम्बर परम्पराके अनुसार प्रधान गणधर गौतमने महावीरकी देशनाको अङ्गोंमें गूंथा वैसे श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार महावीरकी वाणीको सुनकर उसे अङ्गोंमें किसने निबद्ध किया? किन्तु खोजने पर भी हमें किसी खास गणधरका निर्देश इस सम्बन्धमें नहीं मिला। प्राप्त उल्लेखोंसे साधारणतया यही प्रतीत हुआ कि सभी

पच्छा दुण्णि वि थेरा परिनिव्वुया। जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा. अवसेसा निरवच्चा वुच्छिन्ना ॥४॥'—पट्टा० स० पृ० २।

१ 'तव नियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥

गणधर, वाणीको सुनकर उसे अङ्गोंमें निबद्ध करते हैं। शायद इसीसे गणधरोंकी वाचनामें भी भेद[1] होनेका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परामें पाया जाता है। सेन प्रश्नमें यह प्रश्न किया है कि तीर्थङ्करके गणधरोंमें वाचना भेद होने पर भी सांभोगिकपना (एक साथ भोजन व्यवहार) होता है या नहीं, तथा उनमें सामाचारी (साधुओंका आचार) कृत भेद रहता है या नहीं? इसका उत्तर दिया है कि तीर्थङ्करके गणधरोंमें परस्पर वाचना भेद होनेसे सामाचारीमें भी कितना ही भेद रहता है और सामाचारीमें भेद रहनेसे कुछ असंभोगिकत्व भी रहता है। इसका आशय यह है कि तीर्थङ्करके गणधरोंकी वाचनाएं भिन्न२ होती हैं और वाचना भिन्न होनेसे उनके आचारमें भी भेद रहता है और आचारमें भेद रहनेसे परस्परमें एक साथ खान पान करनेमें भी रुकावट होना संभव है।'

तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियं गथंति तओ पवयणट्ठा ॥१०९५॥"

'तां च ज्ञानकुसुमवृष्टिं बुद्धया निर्वृतो बुद्धिमयस्तेन विमलबुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो ग्रहीतुं गृहीत्वाऽऽदाय निरवशेषां सम्पूर्णां, ततः तीर्थंकरभाषितानि कुसुमकल्पानि भगवदुक्तानि विचित्रप्रधानकुसुममालावद् ग्रथ्नन्ति।'—विशेषा० भा०।

१ 'तीर्थंकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि सांभोगिकत्वं भवति न वा? तथा सामाचार्यादिकृतो भेदो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—गणभृतां परस्परं वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदः संभाव्यते तद्भेदे च कथंचिदसांभोगिकत्वमपि संभाव्यते।" –सेन०, उल्लास २, प्रश्न८१।

कल्प[1] सूत्रमें लिखा है कि भगवानके गणधर तो ग्यारह थे, किन्तु गण नौ ही थे। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उसमें लिखा है कि वाचना भेदसे गणभेद होता है। और एकही प्रकारकी वाचना लेनेवाले साधु समुदायको गण कहते हैं। अतः गणधरोंकी संख्या ग्यारह होते हुए भी गण नौ ही थे। अन्तिम चार गणधरों मेसे दो दो गणधरोंकी एक ही वाचना थी। ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति पांचसौ शिष्योंको वाचना देते थे, इसी तरह अग्निभूति, वायुभूति आर्य व्यक्त, आर्य सुधर्मा, पांच सौ पांचसौ शिष्योंको वाचना देते थे। मण्डित पुत्र और मौर्य पुत्र साढ़े तीन सौ श्रमणोंको वाचना देते थे। इन सातोंकी वाचना पृथक् पृथक् थी। शेष चारमे से अकम्पित और अचलभ्राताकी एकही वाचना थी। ये दोनो छ सौ शिष्योको वाचना देते थे। इसी तरह मेतार्य और प्रभासकी भी एक ही वाचना थी। ये दोनो भी छसौ शिष्योंको वाचना देते थे।

इस मान्यता और संभावनाके प्रकाशमें जब हम श्वेताम्बर परम्परामे गौतम गणधरकी शिष्य परम्पराका अभाव और सुधर्माकी शिष्य परम्पराका सद्भाव पाते हैं तो मनमे यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि शायद वाचना भेद और सामाचारी भेदके कारण ही तो गौतम गणधरको दिगम्बर परपरामे और सुधर्माको श्वेताम्बर परम्परामे अग्रस्थान नहीं मिला है ?

किन्तु श्वेताम्बर[2] परम्परामे कोई आगमवाक्य ऐसा नहीं

---

१ 'तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नवगणा इक्कारस गणहरा हुत्था।' —कल्प०, ८ व्या०।

२ 'श्वेताम्बर परम्परामें गौतम गणधरके द्वारा अंगोंके रचे जानेका कोई निर्देश नहीं है। सुधर्माके द्वारा ही रचे जानेका निर्देश है—गु० जै० सा० इ०,' पृ० २२।

है जिसे गौतम गणधरकी कृति कहा गया हो। किन्तु [1]दिगम्बर परम्परामें ऐसे आगम वाक्य हैं जो गौतम गणधरकी कृति कहे गये हैं। इस परसे यह संभावनाकी जा सकती है कि गौतम गणधर का वारसा दिगम्बर परम्पराको प्राप्त हुआ था। यद्यपि दिगम्बर परम्पराके अनुसार अंगज्ञानका प्रवाह गौतम गणधरसे ही सुधर्मा को और सुधर्मासे जम्बूको प्राप्त हुआ था और इस तरह गौतम गणधर और सुधर्मामें न कोई वाचना भेद होना संभव है और न सामाचारी भेद ही होना संभव है। किन्तु दोनों सम्प्रदायोंमें एक एक गणधरको ही प्रमुखता दिये जानेसे और श्वेताम्बर साहित्य के उक्त उल्लेखोंमे एक अन्वेषकके मनमें उक्त संभावना हो सकती है। और आगे हुए संघ भेदमे इसका भी कुछ प्रभाव रहा हो, ऐसी भी संभावनाकी जा सकती है। अस्तु,

किन्तु इसके साथही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वर्तमान आगमोंको देखनेसे पता चलता है कि उनमेंसे कुछ आगमोंका निर्माण इन्द्रभूति गौतमके प्रश्नोंका आभारी है। भगवतीसूत्रमें तो इन्द्रभूतिके द्वारा भगवानसे पूछे गये प्रश्नोका

---

१ षट् खण्डागमके कृति अनुयोग द्वारके प्रारम्भमें सूत्रकार भूतबलिने 'णमो जिणाणं' आदि ४४ सूत्रोंसे मंगल किया है। ठीक यही मंगल योनि प्राभृत ग्रन्थमें गणधर वलय मंत्रके रूपमें पाया जाता है। इन मंगल सूत्रोंकी टीकामें वीरसेन स्वामीने यह लिखा है कि ये मंगल सूत्र गौतम गणधरने महाकर्म प्रकृति प्राभृतके आदिमें कहे हैं। यथा—'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभंडारएण वेयणखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तदो आणेदूण ठविदस्स'—षट् खं०-पु० ९, पृ० १०३।

ही बाहुल्य है। बड़े आश्चर्यकी बात यह हैकि सुधर्माकी परम्पराका संघ विद्यमान होते हुए भी, और प्रस्तुत आगमोंकी वाचना सुधर्माकी परम्परासे प्राप्त होनेकी मान्यता होते हुए भी समस्त आगमोंमें सुधर्माके द्वारा भगवानसे पूछे हुए एकभी प्रश्नका निर्देश नहीं है। यद्यपि आगमोंमें इन्द्रभूति गौतमके पश्चात् दूसरे नम्बर पर किसी गणधरका वर्णन मिलता है तो वह आर्य सुधर्मा हैं। आर्य सुधर्माका गुण वर्णन भी इन्द्रभूति गौतम जैसा ही है।

गुर्वावली की पद्धतिमें भिन्नता

दिगम्बर[१] परम्परा मे भगवान गौतम गणधरसे लेकर वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त हुए अंग ज्ञानियोंके क्रमसे गुरुनामावली दी गई है। क्योंकि महावीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त ही दिगम्बरोमे अंगज्ञानियोंकी परम्परा चालू रही। उसके पश्चात् उस परम्पराका विच्छेद हो गया। यद्यपि परम्परासे होने वाले आचार्योंमे अंगज्ञान उत्तरोत्तर घटता गया तथापि आंशिक ज्ञानकी परम्परा ६८३ वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न चलती रही।

श्वेताम्बरीय स्थविरावलियोंमे जो नामावली दी गई है वह युग प्रधान आचार्योंके क्रमके अनुसार दी गई है। उसमें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् स्थूल भद्रको अन्तिम श्रुतधर बतलाया है और लिखा है कि उन्हें ग्यारह अगों और चौदह पूर्वोंका ज्ञान था। स्थूलभद्रके पश्चात् कोई चतुर्दशपूर्वी नहीं हुआ। अन्तिम दसपूर्वी वज्र स्वामी थे। वज्रस्वामीके शिष्य आर्य रक्षितको साढ़े नौ पूर्वोंका ज्ञान था। इस तरह क्रमशः श्वेताम्बर परम्परामे भी पूर्वोंका लोप हो गया। किन्तु

१ ज० ध०, भाग १, पृ० ८३–८४।

ग्यारह अंगोंका ज्ञान बना रहा। किन्तु दिगम्बरोंकी तरह काल क्रमसे होनेवाले अंग ज्ञानियोंकी परम्पराका कोई निर्देश श्वेताम्बर परम्परामें नहीं मिलता। हां, भिन्न २ समयोंमें अंगोंका संकलन करनेकेलिये जो तीन वाचनाएँ हुईं उनका निर्देश अवश्य मिलता है और उस परसे यही व्यक्त होता है कि श्वेताम्बर परम्परामें अग ज्ञानका वारसा गुरुशिष्य परम्पराके क्रमसे एक ही व्यक्ति में समाविष्ट नहीं माना जाता था। किन्तु विभिन्न व्यक्तियोंमें विप्रकीर्ण रहता था—फुटकर फुटकर प्रसंग विभिन्न व्यक्तियोंको ज्ञात रहते थे। इसीसे उन सबको एकत्र करनेके लिये विभिन्न कालोंमें तीन वाचनाएँ की गईं। बौद्धों में भी बुद्ध के उपदेशोंको संगृहीत करनेके लिए इसी प्रकार तीन संगीतियाँ हुई थीं।

पहले लिखा गया है कि बौद्धोंके मध्यम मार्गका प्रभाव जैन साधुओं सुखशील पक्ष पर पड़ा। अतः दोनोंकी वाचनाओंकी समसख्या देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि जैन वाचनाएँ बौद्ध संगीतियोंकी ही प्रतिकृति तो नहीं हैं। अतः दोनोंको तुलनाके लिए बौद्ध संगीतिका विवेचना किया जाता है।

बौद्ध संगीति और जैन वाचना

बौद्ध परम्पराकी तीनों संगी-तियाँ किसी दुर्भिक्षके कारण पिटकधरोंके स्वर्गवास हो जानेके कारण नहीं हुईं, जैसा कि श्वेताम्बरीय जैन वाचनाएँ हुईं। प्रथम संगीतिका कारण बतलाते हुए लिखा है—"उस समय आवुसो! सुभद्र वृद्ध प्रव्रजितने कहा—अच्छा आवुसो! हम धर्म और नियमका संगान (साथ पाठ) करें, सामने अधर्म प्रकट होरहा है, धर्म हटाया जा रहा है, अविनय प्रकट होरहा है, विनय हटाया

जा रहा है, अधर्मवादी बलवान हो रहे हैं, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं, विनयवादी हीन हो रहे हैं।"—बुद्ध च, पृ. ५४८।

इस तरह धर्म और विनयका ह्रास होनेके कारण प्रथम[1] संगीतिकी गई।[2] दूसरी संगीति भी इसी कारणसे हुई। उस समय वैशालीके वज्जिपुत्तक भिक्षु उपोसथके दिन कांसेकी थालीको पानीसे भरकर और भिक्षुसंघके बीचमें रखकर आने जानेवाले वैशालीके उपासकोंसे उसमें सोना, चाँदी, सिक्का डालनेके लिये कहते थे और फिर संचित द्रव्यको आपसमें बाँट लेते थे। आयुष्मान यशने इस अकार्यका विरोध किया। इसपर से देश-देशान्तरोंके स्थविरोंको एकत्र करके संगीति की गई।—बु. च. पृ. ५५६।

तीसरी संगीति अशोकके राज्यकालमें पाटलिपुत्रमें हुई। उस समय अशोकाराममें भिक्षुओंने उपासथ करना छोड़ दिया था

१ भगवान बुद्धके प्रियशिष्य आनन्दको भगवानके सब सूत्रान्त कण्ठस्थ थे। उनकी स्मृति प्रबल थी इसः कारणसे प्रथम संगीतिमें आनन्दने धर्म (सूत्रान्त) का पाठ किया। इसी कारणसे सूत्रान्त इस वाक्यसे आरम्भ होते हैं—'एवं मे सुतं' (ऐसा मैंने सुना)।

२—इस दूसरी संगीतिके समय बौद्ध संघमें भेद हो गया और स्थविर तथा महासांघिक इस प्रकार दो भेद हो गये। वसुमित्र के अनुसार स्थविर और महासांघिकका भेद अशोकके राज्यकालमें पाटली-पुत्रमें हुआ था। चुल्लवग्ग के अनुसार निर्वाणके १०० वर्षके पश्चात् सभामें भेद हुआ। इस संगीतिके पूर्व पश्चिमके भिक्षुओंने अपनी एक सभा मथुराके पास अहोगगमें की थी,—बौ० ध० द०, पृ० ३५।

और सात वर्षतक उपोसथ नहीं हुआ था। तब अशोकने स्थविरों-को आमंत्रित करके यह मामला उनके सामने रखा और तब तीसरी संगीति हुई, जिसमे नौ मास लगे। इस संगीतिके पश्चात् अशोकका पुत्र महेन्द्र लंका गया और 'त्रिपिटककी पाली (पंक्ति) और उसकी अट्ठकथा, जिन्हे पूर्वमें महामति भिक्षु कण्ठस्थ करके लंका लेगये थे, प्राणियोंकी (स्मृति-) हानि देखकर भिक्षु-ओंने एकत्र हो, धर्मकी चिरस्थिति के लिये, पुस्तकोंमें लिखाया' (बु० च०, पृ० ५८०)। और इस तरह तीन संगीतियों के पश्चात् लंकामे त्रिपिटकोंको पुस्तकारूढ़ किया गया।

बौद्ध संगीतिका परिचय करानेके पश्चात् अब हम जैन परम्पराकी ओर आते हैं—

विज्ञोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि जैसे महावीरके ग्यारह गणधर थे, जो महावीरके उपदेशोंको संकलित करके अंगोंमें निबद्ध करते थे, वैसे बुद्धके कोई गणधर नहीं थे। बुद्ध समय-समयपर उपदेश देते थे, किन्तु उनके उपदेशोको तत्काल ग्रथित करनेका भार किसीके सपुर्द नहीं था; हाँ सतत साथ रहनेवाले उनके शिष्य साथ रहते-रहते उनके उपदेशोंको जानें और याद रक्खें यह बात भिन्न है।

प्रथम संगीतिके समय बुद्धके अन्यतम अनुयायी आनन्द स्थविर भी उपस्थित थे। जब संगीतिके लिये स्थविर भिक्षुओंका चुनाव होने लगा तो भिक्षुओंने महाकश्यपको कहा—'भन्ते! यह आनन्द यद्यपि शैक्ष्य (अन्-अर्हत्) है तो भी छन्द (राग) द्वेष, मोह, भय अगति (बुरे मार्ग) पर जानेके अयोग्य है। इन्होंने भगवान् बुद्धके पास बहुत धर्म (सूत्र) और विनय प्राप्त किया है इसलिये भन्ते! स्थविर आयुष्मान्को भी चुन लें।'—बु० च०,

पृ३ ५४८। अतः बुद्धके पश्चात् इस प्रकारके स्थविर भिक्षुओंको एकत्र करके धर्म और विनयके रूपमें बुद्धके उपदेशोंका सङ्कलन करना उचित था।

किन्तु महावीर भगवानके तो एक दो नहीं, ग्यारह गणधर थे—जिनका मुख्य काम भगवानके उपदेशोंको स्मरण रखकर तत्काल अंगोमे ग्रथित करना था। और ग्रथित करनेके पश्चात् किसी योग्य शिष्यको सौंपकर उसकी परिपाटीको कायम रखना भी एक मुख्य कार्य था। इसी परिपाटीके अनुसार द्वादशांग श्रुत अविकल रूपमे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुको प्राप्त हुआ। दिगम्बर मान्यताके अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुका स्वर्गवास दक्षिणमे हुआ और उनका उत्तराधिकार उनके शिष्य गोवर्धनाचार्यको प्राप्त हुआ। यद्यपि सकल श्रुतज्ञानका विच्छेद तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथही होगया, तथापि गौतम गणधरसे जो परम्परा चालू हुई थी कि अंगश्रुतको प्रवाहित करनेके लिये उसे उसके योग्य उत्तराधिकारीको सौंप दिया जाये, वह ६८३ वर्ष पर्यन्त तक चालू रही।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार श्रुतकेली भद्रबाहुके जीवित रहते हुए भी उनकी अनुपस्थितिमे ही ग्यारह अंगोंका सङ्कलन पाटलीपुत्रमें किया गया। और चूंकि चौदह पूर्वोंका ज्ञान भद्रबाहु के सिवाय अन्य किसीको नही था इसीसे पूर्वोका ज्ञान प्राप्त करने केलिये उनके पास कुछ साधुओंको भेजा गया।

इसपरसे यह शंका होती है कि यदि भद्रबाहु श्रुतकेवली जीवित थे और उन्हें द्वादशांग श्रुत अविकल रूपसे प्राप्त था तो साधुसंघको एकत्र करके उसकी स्मृतिके आधारपर ग्यारह अङ्गोंको संकलित करनेकी जल्दी क्यों की गई और दुर्भिक्षके कारण

बहुतसे साधुओंके स्वर्गत होजाने पर भी श्रुतकेवली भद्रबाहुके रहते हुए श्रुतविच्छेदका भय कैसे संभव था? यह भय तो उनके स्वर्गवास होनेपर ही सम्भव है। इसके सिवाय श्रुतकेवलीके जीते हुए भी उसकी उपेक्षा करके अन्य आंशिक श्रुतधरोंकी स्मृतिके आधार पर अङ्गोंका संकलन करना स्पष्ट ही श्रुतकेवलीकी अव-हेलना है। और इस प्रकारसे संकलित किये गये अङ्गोंको प्रमाण ही कैसे माना जा सकता है?

दिगम्बर तथा विशेषतया श्वेताम्बर साहित्यसे यह प्रकट होता है जैसाकि आगे बताया जायगा–कि अङ्गोंकी अपेक्षा पूर्वोका विशेष महत्त्व था। श्वेताम्बर साहित्यके अनुसार तो पूर्वोसे ही अङ्गोंका निकास हुआ है। और उस समय पूर्वधर केवल एक श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। पूर्वोकी वाचनाको लेकर ही उनका पाटलीपुत्रके संघ से मनमुटाव हुआ था।

कल्पसूत्र-स्थविरावलीके अनुसार यशोभद्रके दो शिष्य थे सम्भूत विजय और भद्रबाहु। तथा सम्भूतविजयके शिष्य स्थूलभद्र थे। पाटलीपुत्री वाचना से पूर्व सम्भूति विजयका स्वर्गवास हो चुका था और इसलिये भद्रबाहु ही युग प्रधान थे। स्थूल भद्र तो एक तरहसे शैक्ष्य थे। क्योंकि पाटलीपुत्री वाचनाके पश्चात् पूर्वोका अध्ययन करनेके लिए जो साधु समुदाय श्रमण संघने भद्रबाहुके पास भेजा था उसमें स्थूल-भद्र भी थे, और उन्होंने ही उनसे दस पूर्वोका अविकल ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु स्थूलभद्रने ग्यारह अङ्गोंका ज्ञान किससे प्राप्त किया यह स्पष्ट नहीं होता। यदि उस समय स्थूलभद्र ग्यारह अङ्गोंके वेत्ता थे तौभी अंगोंका संकलन करनेके लिये पाटलीपुत्री वाचनाकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि स्थूलभद्रको उनका

अविकल ज्ञान था। और यदि स्थूलभद्रने अपने गुरु सम्भूति विजयसे ग्यारह अङ्गोंका भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया था तो स्पष्ट ही वह पाटलीपुत्रमें संगृहीत किये गये ग्यारह अङ्गोंके ही पाठी थे—परम्परासे प्रवाहित एकादशांग वेत्ता नहीं थे।

स्थूलभद्रको लेकर इतना लिखनेकी आवश्यकता इसलिये हुई कि जैसे श्वेताम्बर परम्परामें गौतम गणधरकी शिष्य परम्पराका अभाव है वैसे ही श्रुतकेवली भद्रबाहुकी शिष्य परम्पराका भी अभाव है। सम्भूतिविजयके पश्चात उनकी स्थविरावली स्थूलभद्रसे ही प्रचलित होती है। 'ऋषिमण्डलसूत्रमें' भद्रबाहुको स्तुति एक ही गाथाके द्वारा की गई है किन्तु उनके उत्तराधिकारी स्थूलभद्रकी स्तुति बीस गाथाओंके द्वारा की गई है।

भद्रबाहुकी स्तुतिमें उन्हें 'अपच्छिम सयलसुयनाणि' कहा है।[1] जिसका सीधा अनुवाद 'अन्तिम श्रुतकेवली' होता है। किन्तु 'अपच्छिम'का अनुवाद 'पश्चिम–अन्तिम-नहीं' ऐसा भी किया जा सकता है क्योंकि श्वेताम्बर परम्परामे स्थूलभद्रको[2] भी श्रुतकेवली माना है। अतः भद्रबाहुको उपान्त्य (अन्तिमसे पहला) श्रुतकेवली गिना जाता है। स्थूलभद्रने पूर्वोका ज्ञान श्रुतकेवली भद्रबाहुसे किस प्रकार प्राप्त किया था, इसका वर्णन हेमचन्द्रने परिशिष्ट पर्वके नवम सर्गमें किया है। उसका सार यह है कि

---

१. दसकप्पववहारा निज्जूढा जेण नवम पुव्वाओ। वंदामि भद्दबाहुं तमपच्छिमसयलसुयनाणिं॥"

२. 'शय्यंभवो यशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्रःश्रुतकेवलिनो हि षट्॥'—अभि० चि०, का० १, श्लोक० ३३–३४।

'पाटलीपुत्रमें संघने ग्यारह अङ्गोंका संकलन करनेके पश्चात् बारहवें दृष्टिवाद अङ्गको प्राप्त करनेके लिए ५०० साधुओंको भद्रबाहुके पास भेजा, जो उस समय नैपालमे थे। उन साधुओं में स्थूलभद्र भी थे। भद्रबाहुने उस समय 'महाप्राण' नामक व्रत धारण किया था इसलिये वह अपने शिष्योंको पूर्वोंकी बहुत थोड़ी वाचना दे पाते थे। तथा पूर्व कठिन भी थे और विस्तृत भी थे। इन कारणोंसे एक स्थूल भद्रके सिवाय शेष सब साधु वहाँसे चले गये। केवल स्थूलभद्र ने दस पूर्वोका अध्ययन किया। किन्तु उसके एक सदोष व्यवहारसे असन्तुष्ट होकर भद्रबाहुने उन्हे चार पूर्वोंकी वाचना देनेसे इन्कार कर दिया। जब स्थूलभद्र ने बहुत प्रार्थना की और अपने दोषोंकी क्षमा मांगी तब भद्रबाहु ने उन्हे चार पूर्वोंकी केवल सूत्ररूपसे वाचना दी; उनका अर्थ नहीं बतलाया। अतः स्थूलभद्र[1] सम्पूर्ण श्रुत ज्ञानी नहीं थे। खरतर गच्छकी पट्टावलीमे भी लिखा है कि स्थूलभद्रने दो वस्तु हीन दस पूर्वोको तो सूत्र और अर्थ रूपसे पढ़ा था किन्तु अन्तके चार पूर्वोंको अर्थ रूपसे नहीं पढ़ा था। प्राचीन परम्पराके अनुसार भद्रबाहु ही अन्तिम श्रुत केवली थे। पीछेसे स्थूलभद्रको भी श्रुत केवलियोमे गिना जाने लगा।

इस तरह स्थूलभद्रने भद्रबाहुसे जो पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त किया, वह तो आगे चलकर लुप्त हो गया और शेष ग्यारह अंगोंका

---

१. 'समस्तगणि पिटकधारकाः, गणोऽस्यातीति गणी-भावाचार्यः तस्य पिटकमिव-रत्नकरण्डकमिव गणिपिटकं-द्वादशांगी, तदपि न देशतः स्थूलभद्रस्येव, किन्तु ? समस्तं-सर्वाक्षरसन्निपातित्वात् तद्धारयन्ति सूत्रतोऽर्थतश्च ये ते तथा।'—कल्प० सुबो०, पृ० १८५।

उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया, वह पाटलीपुत्री वाचनामें संकलित किये गये ग्यारह अंग थे। उनमे अन्तिम सकल श्रुतज्ञानी भद्रबाहुका कोई योगदान नहीं था। अतः वे अनधिकारी श्रुत-धरोंके द्वारा सकलित होनेसे मान्य कैसे किये जा सकते थे। उन्हींके आधारसे श्वेताम्बर परम्परामें आगे चलकर वर्तमान आगम संकलित किये गये।

हमें तो उक्त आशंकाओके प्रकाशमें पाटलीपुत्रमें हुई वाचनाकी बात केवल बौद्ध संगीतिका अनुकरण मात्र प्रतीत होती है, क्योकि जैन संघ और बौद्ध संघकी व्यवस्थामें प्रारम्भसे ही मौलिक अन्तर रहा है। प्रथम बौद्ध संगीतिका वर्णन करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेवने लिखा है—

"जहाँ पहले संघका अधिकार था, वहाँ अब प्रमुखका अधिकार हो गया। संघ त्रिरत्नोंमें से एक था। भिक्षु और उपासक संघमें शरण लेते थे, न कि किसी आचार्य या प्रमुख में। प्रमुखको संघके निर्णयोंको कार्यान्वित करना पड़ता था, वह अपने मन्तव्योंको संघ पर लाद नहीं सकता। अतः दीपवंशमे संघ स्वयं संगीतिके सदस्योंको चुनता है। किन्तु दीपवंश और चुल्लवग्गके अनुसार महाकाश्यपने ५०० अर्हतोंको प्रवचनका संग्रह करनेके लिये चुना। अशोकावदानमें भी प्रमुख आचार्योंका चुनाव संघ नहीं करता है...किन्तु एक आचार्यसे दूसरे आचार्यको अधिकार हस्तान्तरित होते हैं। पुराने समयमें संघका जो आधिपत्य था वह जाता रहा और प्रमुखोंका अधिकार कायम हो गया।"—बौ० ध० द० पृ० १२ १३।

किन्तु जैन परम्परामें प्रारम्भसे ही प्रमुख आचार्यका चुनाव संघके द्वारा न होकर आचार्यसे ही दूसरे आचार्यको अधिकार

हस्तान्तरित किया जाता था। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी यही परम्परा रही है। सुधर्मा स्वामीने अपने शिष्य जम्बूको, जम्बूने प्रभवको, प्रभवने शायंभव को, और शायंभवने यशोभद्रको स्वयं ही अपना उत्तराधिकारी चुना था। किन्तु पाटलीपुत्र-वाचनामें हम संघका ही प्राधान्य पाते हैं। उस वाचनाका कोई प्रमुख नहीं था—जब पूर्वोकी वाचना देनेके ऊपर भद्रबाहुसे कुछ संघर्ष हो गया तो संघकी ओरसे ही उनके पास दण्ड-विधानकी आज्ञा प्रेषित की गई थी। इसके निर्णयके लिये आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली पइन्ना और परिशिष्ट पर्व आदिको देखा जा सकता है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें अंगज्ञानका उत्तराधिकार गुरु शिष्य परम्पराके रूपमें ही प्रवाहित होता हुआ माना गया है। उसके अनुसार अंगज्ञानने कभी भी सार्वजनिक रूप नहीं लिया। आवलिक्रमसे गुरुके द्वारा जिसे उसका उत्तराधिकार प्राप्त हुआ, वही उसका प्रामाणिक अधिकारी समझा गया। उसने इस विषयमें जन-जनकी स्मृतिको प्रमाण नहीं माना। इसीसे दिगम्बर परम्परामें अंगज्ञानको सामूहिक रूपसे संकलित करनेका न कभी प्रयत्न किया गया और न ऐसे प्रयत्नको सराहा गया।

उक्त विश्लेषणसे पाठक समझ सकेंगे कि दिगम्बर परम्परामें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी तरह अंगोंके संकलनका सामूहिक प्रयत्न क्यों नहीं किया गया और क्यों दिगम्बरोंने उक्त रीतिसे संकलित आगमोंको मान्य नहीं किया। इससे यद्यपि उनकी अपार क्षति हुई।

श्रुतपरिचय

अब हम श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय साहित्यके आधार पर द्वादशांग श्रुतका अर्थात् श्रुतके बारह अंगोंका परिचय देते हैं।

नाम

इनका मूल नाम तो अंग है, उनकी संख्या बारह होनेसे उन्हें द्वादशाङ्ग[1] कहते हैं। वैसे शरीरके अवयवों को अंग कहते है। साधारणतया शरीरमे आठ अंग माने गये हैं—दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पृष्ठ, छाती, सिर। किन्तु बारह अङ्गो का भी उल्लेख मिलता है अतः श्रुतरूप[2] परम पुरुष के अङ्गोंके तुल्य होनेसे द्वादशाङ्ग कहते है। दिगम्बर[3] साहित्यमें इन्हे श्रुत देवताका अङ्ग कहा है।

१—"नलया बाहू य तहा नियम्ब पुट्ठी उरो य सीसो य।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं॥"
—कर्मकाण्ड गो०।

२—"श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्याङ्गानिवाङ्गानोआचाराङ्ग दीनि यस्मिन् तत् द्वादशाङ्गम्।"—नन्दी० टी० पृ-१६३ पूर्वा०।

३—'बारह अङ्गङ्गिज्झा वियलियमलमूढदंसणुत्तिलया।
विविहवरचरणभूसा पसियउ सुयदेवया सुइरं॥
—धव०, पु० १ पृ० ६

अंगगंगवज्झणिम्मी अणाइमज्झतणिम्मलंगाए।
सुयदेवयअंबाएँ णमो सया चक्खुमइयाए॥ ४॥
ज० ध० भा० १, पृ० १।

अङ्गोंको आगम[1] भी कहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायके वर्तमान ग्यारह अङ्ग आजकल आगमके नामसे ही प्रसिद्ध हैं। जो परम्परासे[2] चला आया हो उसे आगम कहते हैं। अनुयोग द्वार सूत्रमें आगमके तीन भेद किये हैं—आत्मागम अनन्तरागम और परम्परागम। तीर्थङ्कर केवलज्ञानके द्वारा स्वयमेव सब पदार्थोंको जानते हैं इस लिए उनके अर्थको आत्मागम कहते हैं। गणधरोंके द्वारा रचे गये सूत्रोंको सूत्रागम कहते हैं। उन सूत्रोंका ज्ञान गणधरोंके लिये आत्मागम है क्योंकि उन्होंने स्वयं उनकी रचना की है। किन्तु उन सूत्रोंमें निबद्ध अर्थ का ज्ञान अनन्तरागम है क्योंकि उस अर्थका ज्ञान उन्हें तीर्थङ्करके उपदेशसे प्राप्त होता है। इसी तरह गणधरोंके शिष्योंका सूत्रज्ञान अनन्तरागम है, क्योंकि वह उन्हें गणधरोंसे प्राप्त होता है। तथा उनके अर्थ का ज्ञान परम्परागम है क्योंकि तीर्थङ्करोंसे अर्थका ज्ञान गणधरों को प्राप्त होता है, और गणधरोंसे उनके शिष्योंको प्राप्त होता है। इस लिये परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसे परम्परागम कहते हैं। गणधरोंके शिष्योंसे जो अर्थ ज्ञानकी परम्परा चलती है वह न तो आत्मागम है और न अनन्तरागम है। वह सब परम्परासे प्राप्त होनेके कारण परम्परागम है।

व्यवहार सूत्रमें प्रथम आचारांगसूत्रसे लेकर अष्टम पूर्व पर्यन्त अङ्गों और पूर्वोंको तो श्रुत कहा है और नवम आदि शेष छै पूर्वोंको आगम कहा है। इस भेदका कारण यह बतलाया

१—से किं तं आगमे ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—लोइए अलोउत्तरिए अ।.......से किं तं लोउत्तरिए ?.......दुवालसंगं गणिपिडगं।'—अनु०, पृ० १९२।

२—'गुरुपारम्पर्येणागच्छतीति आगमः'।—अनु० टी०, सू० १४७।

है कि जिससे अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान हो उसे आगम कहते हैं। यद्यपि नवम आदि पूर्व भी श्रुत हैं किन्तु केवल ज्ञानकी तरह अतीन्द्रिय पदार्थोंका विशिष्ट ज्ञान करानेमें कारण होनेसे उन्हें आगम ही कहते है। प्रथम आचारांगसे लेकर अष्टम पूर्व पर्यन्त शेष श्रुतके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका वैसा ज्ञान नहीं होता। इसलिये उसे केवल श्रुत कहते हैं। इस तरह श्रुतसे आगमका विशेष महत्व बतलाया[1] है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि समस्त आगमिक साहित्यको श्रुत' भी कहते है। 'श्रुत'[2] का अर्थ होता है 'सुना हुआ'। अर्थात् तीर्थङ्करोंसे सुनकर गणधर आगमोंकी रचना करते हैं। अतः मूलतः 'श्रुत' होनेके कारण वह 'श्रुत'[3] कहलाया। इसके विषयमें पहले विशेष प्रकाश डाला गया है।

ऊपर कहा गया है परम्परासे आनेके कारण आगम कहते हैं। तो प्रश्न होता है परम्परासे आगत वस्तु शब्दरूप है अथवा

---

१ 'आगम्यन्ते अतीन्द्रियाः पदार्था येन स आगम इति व्युत्पत्तेः, नवम पूर्वादीनां श्रुतत्वाविशेषे केवलज्ञानादिवदतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमत्वेनैव व्यपदेशः। शेषश्रुतस्य तु नातीन्द्रियार्थेषु तथाविधोऽवबोधस्ततोऽस्मिन् श्रुतव्यवहारः।'

—अभि० रा०, 'आगम' शब्द।

२ 'तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयतेऽनेनेति तत् शृणोति, श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।'—सर्वार्थ०, अ० १-६ सू०। 'श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि कस्मिंश्चिद् ज्ञानविशेषे वर्तते।'—सर्वा०, १-२०।

३ 'केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।१३।—तत्वार्थ०, अ० ६।

अर्थरूप। अर्थात् तीर्थङ्कर जो उपदेश देते हैं क्या गणधरोंके द्वारा ग्रथित अंगोंमें वही उपदेश अक्षरशः रहता है अथवा उस उपदेशमें प्रतिपादित अर्थको लेकर गणधर उसे भाषाका रूप देकर निबद्ध करते हैं ?

धवला[1] में कर्ताके दो भेद बतलाये हैं—अर्थकर्ता और ग्रंथकर्त्ता। भगवान महावीरने जो अर्थका कथन किया उसे इन्द्रभूति गौतम गणधरने तत्काल बारह अंगो और चौदह पूर्व-रूप ग्रन्थोंमें रचा। अतः भावश्रुतके और अर्थ पदोंके कर्ता तो महावीर भगवान हुए और ग्रन्थरूप श्रुतके कर्ता गौतम गणधर हुए। इस तरह ग्रन्थ रचनाकी परम्परा प्रवर्तित हुई।

विशेषावश्यक[2] मे लिखा है कि तीर्थङ्कररूपी कल्पवृक्षसे जो ज्ञानरूपी पुष्पोंकी वृष्टि होती है उन्हें लेकर गणधर मालामें गूँथ देते हैं। इस पर यह प्रश्न[3] किया गया कि ऐसी स्थिति में तो तीर्थङ्करके कथनको ही श्रुत कहना चाहिए। गणधरके द्वारा रचित सूत्रोंमें उससे कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती ?

---

१ 'एवंविधो महावीरो अत्थकर्ता।......तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोतमो परिणदोत्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादा।'—धव०, पु०१, पृ० ६४-६५।

२ 'तं नाण कुसुम बुट्ठि घेत्तुं बीयाइबुद्धओ सव्वं। गंथंति पवय-णट्ठा माला इव चित्तकुसुमाणं ॥१११॥ विशे० भा०।

३ 'जिणभणियाइ च्चिय सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ ? ते तदविक्खं भासइ, न उ वित्थरओ सुयं किंतु ॥११८॥ विशे० भा०।

उत्तर दिया गया कि तीर्थङ्करका कथन संक्षिप्त होता है। वह द्वादशांगरूप नहीं होता। उसको लेकर गणधर सूक्ष्म पदार्थोंका विवेचन करने वाले और महार्थ द्वादशांगकी रचना करते हैं।[1]

इसीसे द्वादशांगको सूत्र भी कहते हैं, क्योंकि जो[2] गणधरके द्वारा कहा गया हो वह सूत्र है। उसी प्रकार जो प्रत्येकबुद्धोंके द्वारा, श्रुतकेवलियोंके द्वारा या अभिन्न दसपूर्वियोंके द्वारा कहा गया हो उसे भी सूत्र कहते हैं। चूँकि द्वादशांगकी रचना गणधर करते हैं इस लिए उन्हे सूत्र कहते हैं।

जयधवलामे इस पर यह शंका की गई है कि–'जिसमे अल्प अक्षर हो, सन्देहोत्पादक न हो, जिसमे सार भर दिया हो, जिसका निर्णय गूढ़ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्य-

---

१ 'तो सुत्तमेव भासइ अत्थपच्चायग, न नामत्थं। गणहारिणो तं चिय करेति को पडिविसेसोऽत्थ ॥११२१॥ सो पुरिसाविक्खाए थोवं भणइ न बारसंगाइ। अत्था तदविक्खाए सुत्त चिय गणहराणं तं ।११२२। अ गाइ सुत्तरयणा निरवेक्खो जेण तेण सो अत्थो। अहवा न सेसपवयणहियउत्ति जह बारसंगमिणं ॥११२३॥ पवयणहिय पुण तयं जं सुहगहणाइ गणधरेहिंतो। बारसविहं पवत्तइ निउणं सुहुमं महत्थं च ॥११२४॥' —विशे० भा०

२ 'सुत्त गणधरगथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च। सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वगधिदं च ॥३४॥' —भ० आरा०।

३ 'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।' एदं सव्वं वि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमल विणिग्गय अत्थपदाणं चेव संभवइ ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए तत्थ महापरिमाणुत्तवलंभादो; ण सक्क (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्त पडि विरोहाभावादो।' —ज० ध०, भा० १, पृ० १५४।

भूत हो, उसे विद्वान सूत्र कहते हैं।' यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो तीर्थङ्करके मुखसे निकले हुए अर्थपदोंमें ही संभव है, गणधरके मुखसे निकली हुई ग्रन्थ रचनामें नहीं, वह तो बड़ी विस्तृत और विशाल होती है।

इसका यह समाधान किया गया है कि गणधरके वचन भी सूत्रके समान ही होते हैं इसीलिए उन्हें भी सूत्र कहनेमें कोई विरोध नहीं आता।

षट् खण्डागमके कृति अनुयोग द्वारकी धवला[1] टीकामें वीरसेन स्वामीने तीर्थङ्करके मुखसे निकले हुए बीज पदोंको तो सूत्र कहा है क्योंकि उनमें सूत्रका उक्त लक्षण घटित होता है और गणधर देवके श्रुतज्ञानको सूत्रसम कहा है क्योंकि वह उन बीज पदरूपी सूत्रोंसे उत्पन्न होता है।

अङ्गों और पूर्वोंको सिद्धान्त भी कहते हैं। जेकोबी, वेबर आदि विदेशी लेखकोंने अपने लेखोंमे श्वेताम्बरीय आगमोंका निर्देश 'सिद्धान्त' शब्दसे ही किया है।

इस प्रकार अङ्गों और पूर्वोंको आगम, परमागम, सूत्र, सिद्धान्त[2] आदि नामोंसे पुकारा गया है।

श्वेताम्बर आगमोंमे एक नाम नया मिलता है और वह नाम

---

१ 'इदि वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गय बीजपदं सुत्तं। तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदित्ति गणहरदेवम्मि ट्ठिद सुदणाण सुत्तसमं।
—धवला, पु० ९; पृ० २५९।

२—'तथा सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य'।
—सागार० टी० अ० ७, श्लो० ५०।

है 'गणिपिडग'। 'दुवालसंगं[1] गणिपिडगं' निर्देश उपांगोंमें प्रायः मिलता है। गणी गणधरको कहते हैं और 'पिडग' कहते हैं पिटारेको। अत: 'गणि पिडग'का अर्थ है–गणधरका पिटारा या पेटी।

बौद्ध पालिनिकायको त्रिपिटक[2] कहते हैं। त्रिपिटक शब्द प्राचीन है। प्रथम शताब्दीके शिलालेखोंमें 'तेपिटक' शब्दका प्रयोग है। पिटकका अर्थ है 'पिटारा'। तीन पिटक होनेसे त्रिपिटक कहे जाते हैं। जैन अङ्गोंके लिए 'गणिपिटक' शब्दका प्रयोग उसीकी अनुकृति प्रतीत होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय पर बौद्धोंका प्रभाव पड़ा, यह हम पहले बतला आये हैं। बौद्धोंकी तरह ही श्वेताम्बरोंमे भी तीन वाचनाएं हुईं। और बौद्ध त्रिपिटकोंके पुस्तकारूढ़ होनेके १०० वर्ष पश्चात् वलभीमें श्वेताम्बर आगम पुस्तकारूढ़ किये गये। इन सबको यदि अनुकृति न भी माना जाये तौ भी पिटक शब्द तो अवश्यही उनकी अनुकृति प्रतीत होता है। दिगम्बरपरम्परामें इस नामका संकेत तक भी नहीं मिलता।

इन सब नामोमें सबसे प्राचीन नाम अङ्ग ही प्रतीत होता है क्योंकि खारवेलके शिलालेख[3]की १६वीं पंक्तिमे 'मुरियकालवोचिनं च चोयट्ठी अंग सतिकं तुरीयं'का उल्लेख है जो मौर्यकालमें विच्छिन्न हुए अङ्गका सूचक है।

१—'इच्चेइयमि दुवालसंगे गणिपिडगे'–नन्दि०, पृ० २४६। 'कइ विहे णं भंते गणिपिडए णं पण्णत्ते ? गोयमा! दुवालसंगे गणिपिडए पण्णत्ते।' —भग० २५ श० ३ उ०।

२ बौ०ध०द०, पृ० २७। ३–ज०बि०उ०रि०सो०, जि० पृ० २३६।

बारह अंगोंके नाम

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद, ये बारह अंगोंके नाम दोनों सम्प्रदायोंमें समान हैं। इन बारह अंगोंमेंसे जो अन्तिम बारहवाँ अंग था, वह उक्त ग्यारहों अंगोंसे बहुत विशाल तो था ही, महत्त्वपूर्ण भी था। उसीके पाँच भेदोंमेंसे एक भेद पूर्व था और पूर्वके चौदह भेद थे। इन पूर्वोंका महत्त्व शेष ग्यारह अंगो से बहुत अधिक था और इन्हींके कारण बारहवाँ अंग दृष्टिवाद सबसे महत्त्वशाली माना जाता था।

दृष्टिवादका महत्त्व

भगवान महावीरके समयमें भी संस्कृत भाषाका प्रचार था। वेद और वैदिक साहित्यकी भाषा संस्कृत ही है। इसीसे धर्मकी भाषा संस्कृत ही मानी जाती थी। किन्तु महावीर और बुद्धने लोक भाषाको ही अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया, जिसे सब कोई सुगम रीतिसे समझ सकता था। फलतः जैन अंगो और पूर्वोंकी भाषा प्राकृत थी।

श्वेताम्बर साहित्यमें यह प्रश्न उठाया गया है कि जैन सिद्धान्त प्राकृत भाषामें ही क्यों रचे गये ? उत्तरमें कहा गया है कि बाल, स्त्री, और मन्द बुद्धियोंके अनुग्रहके लिये जैन सिद्धान्तों की रचना प्राकृतमें की गई है। विज्ञोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जिन तीन मुख्य बातों को लेकर मतभेद है, उनमेंसे एक स्त्री मुक्ति है। दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्रियोंकी मुक्ति नहीं मानता अर्थात् स्त्री मुक्तिलाभ नहीं कर

सकती। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रियोको भी मुक्तिका अधिकारी मानता है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमे[१] स्त्रियोंको दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके अध्ययनका अधिकार नहीं था। दृष्टिवादको छोड़कर शेष ग्यारह अंगोंको स्त्री, बालक आदि सब पढ़ सकते हैं। बल्कि दृष्टिवादका पठन निषिद्ध होनेसे स्त्रियोंको भी कुछ श्रुत प्रदान करनेकी भावनासे ही ग्यारह अग रचे गये।

इससे दृष्टिवादका महत्त्व और शेष ग्यारह अंगोंकी स्थिति पर अपूर्व प्रकाश पड़ता है। दिगम्बर परम्परामे ग्यारह अंगोसे बारहवे अंग दृष्टिवादका महत्त्वका नही प्रकट किया गया है किन्तु ग्यारह अंगोंकी अपेक्षा चौदह पूर्वोका अपना एक विशिष्ट स्थान अवश्य बतलाया गया है। और चौदह पूर्वोके कारण ही दृष्टिवादका वास्तवमे महत्त्व था।

पूर्वोंका महत्त्व

दिगम्बर परम्परामे आचार्य श्री कुन्दकुन्दने[२] श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयघोष करते हुए उन्हें बारह अंगों और चौदह पूर्वोका

---

१. 'मुत्तूण दिट्ठिवायं कालिय-उक्कालियंग सिद्धतं। थी-बालवायणत्थं पाइयमुइयं जिणवरेहिं।' —आचार दिनकरमें उद्धृत।

'ननु स्त्रीणां दृष्टिवादःकिमिति न दीयते? इत्याह—

"तुच्छा गारव बहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए। इय अइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो थीणं॥ ५५२॥

टीका—...अनुग्रहार्थं तासामापि किञ्चित् श्रुतं देयमित्येकादशाङ्गादिविरचनं सफलमिति गाथार्थः।—विशे० भा०।

२. 'बारस अङ्गवियाणं चौदस पुव्वंग विउलवित्थरणं। सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरू भयवओ जयऊ॥६२॥—बोध पा० (षट् प्राभृतादि०)।

ज्ञाता कहा है। इसी तरह आचार्य यति[1] वृषभने भी भगवान महावीरके पश्चात् होनेवाले पाँच श्रुतकेवलियोंको चउदसपुव्वी और बारस अंगधर कहा है। इन दोनों प्राचीन महान् दिगम्बराचार्योंके द्वारा बारस अंगधर'के साथ 'चउदस पुव्वी' का पृथक् उल्लेख न केवल ग्यारह अंगोंसे, अपितु बारहवें अङ्ग दृष्टिवादमें भी पूर्वोंका महत्त्व स्थापन करता है। ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वोंके ग्रहणसे भी द्वादशांगका ग्रहण हो सकता है और उससे भी पूर्वोंका महत्त्व व्यक्त होता है। किन्तु द्वादशांगका ग्रहण करके भी पूर्वोंका पृथक् ग्रहण करना पूर्वोंके स्वतन्त्र अस्तित्व, स्वतन्त्र महत्त्व और स्वतन्त्र वैशिष्ट्यको व्यक्त करता है।

आचार्य यति वृषभने श्रुतकेवलियोंके पश्चात् होनेवाले ग्यारह आचार्योंको 'दसपुव्वी' कहा है। इसका मतलब यह है कि वे आचार्य ग्यारह अङ्गों और दसपूर्वोंके वेत्ता थे। इससे यह प्रकट होता है कि जो पूर्ववेत्ता होता था वह ग्यारह अङ्गोंका वेत्ता होता ही था। संभवतया ग्यारह अङ्गोंके ज्ञानदानके पश्चात् ही पूर्वोंका ज्ञान दिया जाता था। और इसीलिये महत्त्वशाली होते हुए भी पूर्वोंकी गणना अन्तमें की गई है।

षट्खण्डागमके वेदना खण्ड के कृति अनुयोगद्वार के प्रारम्भ मे सूत्रकार भूतबलिने 'णमो जिणाणं' आदि ४४ सूत्रोंसे मंगल किया है। ठीक यही मंगल योनिप्राभृत ग्रन्थमें गणधर वलयमन्त्र के रूपमें पाया जाता है। यह ग्रन्थ धरसेनाचार्यने अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलिके लिये रचा था ऐसा कहा जाता है। उक्त ४४ मंगल सूत्रोंमेंसे दूसरे मंगल सूत्र 'णमो ओहिजिणाणं'

---

१ — 'पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा। ते बारस अङ्गधरा तित्थे सिरि वड्ढमाणस्स ॥१४८२॥' —ति० प० अ० ४।

की उत्थानिकामें टीकाकार श्री वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि महाकर्म प्रकृति प्राभृतके आरम्भमें गौतम गणधरने ये मंगल सूत्र रचे थे। इन मंगल सूत्रोमेसे दो सूत्र इस प्रकार हैं— णमो दस पुव्वियाणं ॥१२॥' और "णमो चोद्दस पुव्वियाणं ॥१३॥" इनमें दसपूर्वियों और चतुर्दशपूर्वियोंको नमस्कार किया है। इन दोनों सूत्रोंकी धवलाटीकामें यह प्रश्न उठाया गया है कि सभी अङ्ग और पूर्व जिनवचन होनेसे समान हैं। तब सबका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया, दस पूर्वियों और चतुर्दश पूर्वियोंको ही नमस्कार क्यों किया? इसका उत्तर देते हुए लिखा[1] है कि यद्यपि जिनवचन रूपसे सभी अङ्ग और पूर्व समान हैं, तथापि दशवें विद्यानुप्रवाद और चौदवे लोकबिन्दुसार पूर्वोंका विशेष महत्व है, क्योंकि इनका धारी देवपूजित होता है तथा चौदह पूर्वोंका धारक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता और न उस भवमें असंयमको ही प्राप्त होता है।[2]

णमो दस पुव्वियाणं' ॥ १२ ॥ सूत्रकी धवला टीकामे दस पूर्वीके दो भेद किये हैं—एक भिन्न दसपूर्वी और एक अभिन्न दस पूर्वी। आगे लिखा है कि 'ग्यारह अंगोंको पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका, इन पांच अधिकारोमे निबद्ध दृष्टिवादको पढ़ते समय उत्पाद पूर्व आदिके क्रमसे पढ़ने वालोंके दशम पूर्व विद्यानुप्रवादके समाप्त होने पर सात सौ क्षुद्र विद्याओंसे अनुगत रोहिणी आदि पांच सौ महा-

१—'जिणवयणत्तणेण सव्वागपुव्वेहि सरिसत्ते संतेवि विज्जाणुप्पवाद-लोगबिंदुसाराण महल्लमत्थि एत्थेव देवपूजोवलभादो। चोद्दस पुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि, तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि, एसो एदस्स विसेसो'। —षट्खं पु० ९ पृ० ७१।

२—षट्खण्डा०, पु० ९ पृ० ६९।

विद्याएँ 'भगवन्! क्या आज्ञा है, ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओंके प्रलोभनमें जो आ जाता है वह भिन्न दसपूर्वी है। किन्तु जो कर्मक्षयका अभिलाषी होकर प्रलोभनमें नहीं आता वह अभिन्न दसपूर्वी कहलाता है। यहाँ अभिन्न दसपूर्वियोंको नमस्कार किया गया है क्योंकि भिन्न दस पूर्वियोंके महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।

इस तरह दिगम्बर परम्परामें भी ग्यारह अंगोसे पूर्वोंका विशेष महत्व माना जाता था।

श्वेताम्बर परम्परामें ग्यारह अंगोसे दृष्टिवाद का वैशिष्ट्य पहले बतला आये हैं। अतः पूर्वोका महत्त्व तो स्पष्ट ही है। 'नन्दि सूत्रमें भी लिखा है कि चतुर्दश पूर्वी और अभिन्न दस पूर्वी का जो द्वादशांग ज्ञान है वह सम्यक् श्रुत है, अन्यों का द्वादशांग ज्ञान सम्यक् भी होना संभव है और मिथ्या भी होना संभव है। बारह वर्षके भयानक दुर्भिक्षके पश्चात् जब पाटलीपुत्रमें अंगों का संकलन किया गया तो ग्यारह अंगों का तो संकलन हो गया किन्तु पूर्वोंका किञ्चित् अंश भी संकलित नहीं हो सका; क्योंकि उस समय श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय कोई अन्य पूर्वज्ञाता नहीं था। जब संघ की प्रार्थना पर भद्रबाहुने पूर्वोंकी वाचना देना स्वीकार किया तब पांच सौ साधु उनके पास पूर्व पढ़नेके लिये भेजे गये। एक स्थूल भद्रके सिवाय शेष सब साधु घबराकर भाग खड़े हुए। अकेले एक स्थूलभद्र डटे रहे। यह पहले लिखा है।

१—'इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा, से तं सम्मसुअं ॥ ४१ ॥—नन्दि०, पृ० १६३।

दस पूर्वोका अध्ययन करनेके पश्चात् ध्यान समाप्त होनेसे भद्रबाहु स्वामी पाटली पुत्र आ गये। उनके साथ स्थूलभद्र भी आ गये। स्थूलभद्र की भगिनी अन्य आर्यिकाओंके साथ अपने भाईसे मिलने गई। किन्तु स्थूलभद्रके स्थान पर एक सिंहको बैठे देखकर डरकर भागी। इस तरह दस पूर्वी होनेके पश्चात् स्थूलभद्र विद्याओंके प्रलोभनमें आ गये। जैसा कि ऊपर भिन्नदस पूर्वी के लिये कहा है। इसीसे भद्रबाहुने उन्हें शेष चार पूर्वोकी वाचना देना बन्द कर दिया। पीछे स्थूलभद्रके क्षमा मांगने पर वाचना दी।

पूर्व नाम क्यों ?

श्वेताम्बर साहित्यमें पूर्वोको पूर्व नाम देनेका कारण बतलाते हुए लिखा है कि सबसे प्रथम गणधर पूर्वोकी रचना करते हैं इसलिये उन्हें[1] पूर्व कहते हैं। ऐसा भी उल्लेख मिलता[2] है कि तीर्थङ्कर जब तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं तो सबसे प्रथम पूर्व-

---

१—'पूर्वं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधरः इत्यागमे श्रूयते, पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यभिधीयते।'

—विशे. भा. गा. ५५१ की उत्थानिका (टीका हेम.)

'समस्तश्रुतात् पूर्वं करणात् पूर्वाणि।' स्था. टीका, सूत्र २६३।

२—अथ किं तत् पूर्वगतम् ? उच्यते-यस्मात् तीर्थङ्कराः तीर्थप्रवर्तनाकाले गणधराणां सर्वश्रुतधारित्वेन पूर्वगतसूत्रार्थं भाषते, तस्मात् 'पूर्वाणि' इति भणितानि। गणधराः पुनः श्रुतरचना विदधानाः आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च—

'सर्वाङ्गेभ्यः पूर्वं तीर्थकरैरभिहितत्वात् पूर्वाणि'—अभि.चि.टी., २-१६०।

गत सूत्रों का अर्थ करते हैं। इस लिये उन्हे पूर्व कहते हैं। कल्प[१] सूत्र मे लिखा है कि 'पूर्व (प्रथम) रचे जानेके कारण, महा प्रमाण वाले होनेके कारण तथा अनेक विद्या और मंत्रोंका भण्डार होनेके कारण पूर्वोंका प्राधान्य है। इस तरह अखण्ड जैन परम्परा मे दृष्टिवाद तथा पूर्वोंका विशेष महत्त्व था।

दृष्टिवादका लोप

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परामें श्रुतकेवली भद्रबाहु पर्यन्त द्वादशाङ्ग अविकल रूपसे सुरक्षित थे। भद्रबाहुके अवसानके साथ ही पूर्वोका लोप होना प्रारम्भ हुआ। दिगम्बर परम्पराके अनुसार श्रुत केवली भद्रबाहुके पश्चात् कोई चतुर्दश-पूर्व ज्ञाता नहीं हुआ। भद्रबाहुके उत्तराधिकारी विशाखाचार्य केवल दसपूर्वी थे। अन्तके चार पूर्व श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ ही लुप्त हो गये। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा मे भद्रबाहु श्रुत-केवलीके पश्चात् स्थूलभद्रको भी छठा श्रुतकेवली माना है। इसके विषय में पहले लिख आये हैं। तथापि उनके साथ चार पूर्व विच्छिन्न हो गये।

दिगम्बर साहित्यके अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् गुरुशिष्यपरम्पराके क्रमसे १८३ वर्षमें ग्यारह आचार्य दस पूर्वी हुए। अर्थात् वे ग्यारह अंगों और दस पूर्वोके ज्ञाता थे तथा शेष चार पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे। इनके बाद दो सौ

१—'द्वादशाङ्गित्वं' इत्येतेनैव चतुर्दशपूर्वित्वे लब्धे यत्पुनरेतदुपादान तदङ्गेषु चतुर्दश पूर्वाणां प्राधान्यख्यापनार्थं, प्राधान्य च पूर्वाणां पूर्वं प्रणयनात् अनेकविद्यामन्त्राद्यर्थमयत्वात् महाप्रमाणत्वाच्च।'

—कल्प. सुबो., पृ. १८५।

बीस वर्ष में पाँच आचार्य सम्पूर्ण ग्यारह अंगों के तथा चौदह पूर्वोंके एक देश के ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् एक सौ अट्ठारह वर्ष में चार आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के साथ ही साथ शेष अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता हुए। इस तरह छ सौ तिरासी वर्ष पर्यन्त अर्थात् विक्रमकी द्वितीय शताब्दीके पूर्वार्ध तक दिगम्बर परम्परामे अंगोंके साथही साथ पूर्वोंका भी एक देशज्ञान प्रवर्तित रहा। और अन्तमे धरसेन स्वामीने पूर्वोंका विशकलित ज्ञान भूतबलि और पुष्पदन्तको दिया,' जिन्होंने षट्खण्डागम सूत्रोंको निबद्ध किया। श्वेताम्बर परम्परामे स्थूल भद्रके पश्चात् महागिरी सुहस्तीसे लेकर वज्रस्वामी पर्यन्त दसपूर्वी हुए। वज्रस्वामीके पश्चात् कोई दसपूर्वी नहीं हुआ। स्थविरावलीके अनुसार वि० सं०११४ में वज्रस्वामी स्वर्गवासी हुए। तत्पश्चात् दुब्बलिया (वि० सं० १४६) के समय ९॥ पूर्व शेष थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र और उनके गुरु आर्य रक्षितको नौ पूर्वी कहा है। जिस समय (वि० नि० ९८०) वल्भीनगरीमे देवर्द्धि गणि ने अंगोंको पुस्तकारूढ़ किया उस समय केवल एक पूर्व शेष था। पश्चात् वह भी लुप्त हो गया। इस तरह श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वीर निर्वाणके एक हजार वर्ष बीतने पर पूर्वोंका लोप हो गया। और पूर्वोंके साथ ही बारहवा अंग दृष्टिवाद भी लुप्त हो गया।

क्या दृष्टिवादका लोप जान बूझकर किया गया ?

डा० वेबर ने श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यके विषयमें एक विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखा था जिसका अनुवाद

१—महागिरि सुहस्त्याद्या वज्रान्ता दशपूर्विणः ॥' ३४ ॥'—अभि० चि०, १ का०।

इण्डियन एण्टीक्वेरीमें प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह लिखा है कि दृष्टिवादका लोप जान बूझ कर किया गया। यहाँ उसके सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है।

यद्यपि श्वेताम्बरोंके[1] छठे, आठवें और दसवें अंगोंमें चौदह पूर्वोंका उल्लेख मिलता है, तथापि दृष्टिवादका उल्लेख चौथे [2]समवायांगके सिवाय अन्य अंगोंमें नहीं मिलता। हां, उपांगोंसे वारह अंगोंका अस्तित्व अवश्य प्रकट होता है। यद्यपि ८ से १२ तक[3] उपांगों में, जो अन्य उपांगोंसे प्राचीन माने जाते हैं, ११ अंगों का ही उल्लेख है। किन्तु प्रथम उपांग औपपातिक[4] में चउद्दसपुव्वी, और 'दुवालसंगिनो पद आता है, तथा चतुर्थ उपांग के आरम्भमें दिट्ठीवाअ' और 'पुव्वमुयं' पद आया है। इनके सिवाय उपांग ५ और ७, पूर्वोका पाहुड़ों में विभाजन बतलाते हैं तथा उपांग ६ के अनुसार पूर्वोका वस्तुओंमें विभाजन था। अत: अंगोंकी अपेक्षा उपांगोंसे पूर्वोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

श्वेताम्बर परम्परा बारह अङ्गोंको तरह बारह[5] उपांग

१—'नवरं सामाइयमाइआइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ'—अन्तगड०, पृ० ७।

२—'दुवालसंगे गणि पिडगे ... 'दिट्ठीवाए।'-समवा०, पृ०१३६।

३—'सामाइयमाइयाइं एक्कारस अङ्गाइं-निरया०, पृ० ३१,

४—'दुवालसंगिणो समत्तगणिपिडगधरा,-ओप०, सू० १६।

५—औपपातिक; रायपसेणी, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा ये बारह उपाग हैं। नं ८ से १२ तकको निरयावली कहते हैं।

भी मानती है और अङ्गोंका उपांगोंके साथ घनिष्ट सम्बन्ध भी स्वीकार करती है। इस परसे डा० वेबर ने यह अनुमान किया था कि जिस समय वर्तमान बारह उपांगो की स्थापना की गई, अर्थात् ग्यारह अङ्गोको पुस्तकारूढ़ करते समय वी० नि० रू० ६८० में बारहा अङ्गोका अस्तित्व था। फलतः दृष्टिवाद भी उस समय वर्तमान था अथवा वर्तमान माना जाता था।

डा० वेबरने लिखा है कि 'पूर्वोंके लोपकी उक्त सूचनाके बावजूद भी समवायांग तथा नन्दिसूत्रमें हम दृष्टिवादकी विस्तृत विषयसूची पाते हैं। सम्भवतया समवायांगमें यह अश पीछेसे जोड़ा गया है और नन्दिसूत्रसे ही लिया गया जान पड़ता है।'

'समवायांग और नन्दिसूत्रके सिवाय महानिशीथ, अनुयोग द्वार और आवश्यक निर्युक्तिमे भी 'दुवालसंगं गणिपिडगं'का उल्लेख प्रायः आया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थोंके समयमें दृष्टिवाद वर्तमान था, तथा अखण्ड था; क्योंकि उसके खण्डित होनेका कोई निर्देश उनमे नहीं है। परम्पराके अनुसार वीर निर्वाणके १७० वें वर्षमें भद्रबाहु स्वर्गवासी हुए। किन्तु दो ग्रन्थोंमें, जिनमें 'दुवाल संगं गणि पिडगं' निर्देश मिलता है, ऐसे कालका उल्लेख है जो ४०० वर्ष पश्चात्का है, अतः डाक्टर वेबरका कहना है कि पाटलीपुत्रमें अंगोंके संकलन आदि की समस्त परम्परा मुझे बौद्धोंके अशोक द्वारा बुलाई गई संगीति आदिकी अनुकृति मात्र ही लगती है, और इसलिए उसकी विश्वसनीयताका दावा कोई मूल्य नहीं रखता[1]।' इस विषयमे हम

1—'Where as in two of the tescts, which mention the'DUVALSNGAMGANIPID AGAM'

अपने विचार पहले लिख आये हैं। उपांग छै जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीकामें टीकाकार शान्तिचन्द्रने कुछ प्राचीन[1] गाथाएँ दी हैं जो डा० वेबरने अपने लेखमें उद्धृत की हैं। उन गाथाओंमें केवल छै अंगों और तीन छेद सूत्रोंका निर्देश करके यह

---

there are contained dates which refer to a period later by 400 years. The whole legend appears to me after all to be nothing more than an imitation of the Budhist legend of the council of Ashok etc. And thus to have little claim to credence. इ० ए० जि० १७ पृ० २७६.।

१—'तिवरिसपरियागस्स उ आयारपकप्पनाममज्झयणं।
चऊवरिसस्स य सम्मं सूयगडं नाम अंगं ति ॥ १ ॥
दसकप्पववहारा संवच्छरपणगदिक्खियस्से वा।
थाणं समवाओ चिय अंग एते अट्ठवासस्स ॥ २ ॥
दसवासस्स विवाहो एगारसवासगस्स इमे उ।
खुड्डियविमाणमाए अज्झयणा पंच णायव्वा ॥ ३ ॥
वारसवासस्स तहा अरुणोवायाइ पंच अज्झयणा।
तेरसवासस्स तहा उट्ठाण सुयाइया चउरो ॥ ४ ॥
चोद्दस वासस्स तहा आसीविसभावणं जिणा वेंति।
पन्नरसवासगस्स य दिट्ठाविसभावनं तहा य ॥ ५ ॥
सोलसवासाईसु य एगुत्तरवुड्ढिएसु जह संखं।
चारण भावणमह सुविण भावणा ते अगनिसग्गा ॥६॥
एगूण वासगस्स दिट्ठिवाओ दुवाल संगं।
संपुन्नवीसवरिसो अणुवाई सव्वसुत्तस्स त्ति ॥ ७ ॥'

बतलाया है कि दीक्षा लेनेके कितने वर्षोंके पश्चात् किस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये।

हमें व्यवहार सूत्रमें उसी प्रकारका कथन मिला है। जिसका आशय इस प्रकार है'—तीन वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको आचार प्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। चार वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको सूत्रकृतांग पढ़ाना उचित है।

१—'तिवास परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आयारकप्प नाम अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥ २१ ॥ चउवास० कप्पइ सुयगडे नाम अंगे उद्दिसित्तए ॥ २२ ॥ पंचवास परियायस्स० कप्पति दसाकप्प-ववहारा ओद्दिसित्तए वि ॥ २३ ॥ अट्ठवास परियायस्स० ठाण-सवमवाए उद्दिसित्तए ॥ २४ ॥ दसवास परियागस्स० विवाहे नामं अंगं उद्दि० ॥ २५ ॥ एक्कारस वास परियागस्स० खुड्डिया विमाण-विभत्ति महल्लिया विमाणपवित्ती अङ्गचूलिय वंगचूलिया विवाह-चूलिया नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥ २६ ॥ बारसवास परिया-गस्स० अरुणोववाए गरुलोववाए वरुणोववाए वेसमणोववाए वेलधरोववाए नाम अज्झयण उद्दिसिउं ॥ २७ ॥ तेरसवास परियागस्स० उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए देविंदोववाए णाग परिया-वणियाए ॥ २८ ॥ चउदसपरियागस्स० सुमिणभावण नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥ २९ ॥ पण्णरसवासपरियायस्स० चारण-भावना नामज्झयणमुद्दिसित्तए ॥ ३० ॥ सोलसवासपरियायस्स० तेअनिसग्गा नाम अज्झयणमु० ॥ ३१ ॥ सत्तरसवासपरियायस्स० आसीविसभावणा० ॥ ३२ ॥ अट्ठारसवास० दिट्ठिविसभावण नाम-मज्झयणमुद्दिसित्तए ॥ ३३ ॥ एगुणवीसवास० दिट्ठिवाय नामग उद्दिसित्तए ॥ ३४ ॥ विसतिवास परियाए समणे निग्गंथे सव्वसुया-णुवाती भवति ॥ ३४ ॥'—व्यवहार० सू०, १०३.।

पांच वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको दसा-कल्प-व्यवहार पढ़ाना उचित है। आठ वर्षके दीक्षित् निर्ग्रन्थ श्रमणको स्थानांग, समवायांग पढ़ाना उचित है। दस वर्षके दीक्षित श्रमणको व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक अंग पढ़ाना उचित है। ग्यारह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको क्षुद्र विमान विभक्ति, महाविमान विभक्ति, अंग-चूलिका, वंग (वर्ग) चूलिका, और विवाह चूलिका नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। बारह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, वेलंधरोपपात, और वैश्रमणोपपात नामक पांच अध्ययनोंको पढ़ाना उचित है। तेरह वर्ष के दीक्षित् निर्ग्रन्थ श्रमणको उत्थान श्रुत, समुत्थान श्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका पढ़ाना उचित है। चौदह वर्षके दीक्षित् निर्ग्रन्थ श्रमणको स्वप्न भावना नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। पन्द्रह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको चारण भावना नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। सोलह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको तेजोनिसर्ग नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। सतरह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको अशीविष भावना नामक अध्ययन पढ़ाना उचित है। अट्ठारह वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको दृष्टि विषभावना पढ़ाना उचित है। उन्नीस वर्षके दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमणको दृष्टि वाद नामक अङ्ग पढ़ाना उचित है। इस प्रकार बीसवर्षका दीक्षित निर्ग्रन्थ श्रमण समस्त श्रुतका पाठी होता है।

शान्तिचन्द्रके द्वारा उद्धृत गाथाओंमें तथा उक्त सूत्रोंमें आचार सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद नामक केवल छै अङ्गोंका ही निर्देश किया गया है—शेष का नहीं किया गया। उनके सिवाय जिनका निर्देश किया गया है, दोनोंके निर्देशों में उनको लेकर कुछ अन्तर है। गाथाओंके अनुसार चौदह वर्षके

दीक्षितको आशीविषभावना, पन्द्रह वर्षके दीक्षितको दृष्टिविष-भावना और सोलह वर्षके दीक्षितको चारण भावना, सतरह वर्षके दीक्षितको महास्वप्न भावना और अट्ठारह वर्षके दीक्षितको तेजो निसर्ग भावना, पढ़ाना उचित है। किन्तु व्यवहार सूत्रके अनुसार चौदह वर्षके दीक्षितको स्वप्न भावना, पन्द्रह वर्षके दीक्षितको चारण भावना, सोलह वर्षके दीक्षितको तेजोनिसर्ग भावना, सत्रह वर्षके दीक्षितको आसीविष भावना और अट्ठारह वर्षके दीक्षित को दृष्टिविष भावना पढ़ाना उचित है। इस अन्तरका कारण क्या है हम नहीं कह सकते।

डा० वेबरका कहना है कि उक्त गाथाओंमें अङ्गोंके सिवाय जो आठ नाम पाये जाते हैं वे नन्दिसूत्रमें नहीं हैं। अतः इन गाथाओंका निर्माण उस समय हुआ था, जब वर्तमान आगमोंके अवशिष्ट भाग उनमें सम्मिलित नहीं किये गये थे और उनका स्थान लुप्त हुए उन आठ अध्ययनोंने ले रखा था, जिनका निर्देश उक्त गाथाओंमे पाया जाता है।

हम नहीं समझते कि डा० वेबर जैसे बहुदर्शी विद्वानने यह कैसे लिखदिया कि उक्त गाथाओंमे छै अङ्गोके सिवाय जो अन्य आठ नाम दिये हैं, वे नन्दीसूत्रमें नहीं हैं। आगे हम नन्दिसूत्रके अनुसार श्रुतके भेदोंका विवेचन करेंगे। उनमें कालिक श्रुतके भेदोंमें प्रायः उक्त सभी नाम दिये हुए हैं। ये सब अङ्ग साहित्य न होकर अङ्गबाह्य साहित्य था।

इसी तरह डा० वेबरने उक्त गाथाओंको प्राचीन बतलाया है क्योंकि उनमें दृष्टिवाद नाम आया है और इस लिए गाथाओंके रचना कालके समय दृष्टिवादका अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु उक्त गाथाएँ हरिभद्रसूरिके पञ्चवस्तुक नामक ग्रन्थसे

उद्धृतकी गई है। शान्तिचन्द्रने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी टीकामें 'इति पञ्चवस्तुक सूत्रे' लिखकर स्वयं इस बातको स्वीकार किया है। हरिभद्र सूरिका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी सुनिश्चित है उस समय दृष्टिवाद नहीं था। फिर भी हरिभद्र सूरिने जो पञ्चवस्तुक की उक्त गाथाओंमें उक्तग्रन्थोंके पठन पाठनका काल बतलाया है वह अवश्य ही उन्हें परम्परा प्राप्त होनेसे प्राचीन होना चाहिए। उन्होंने स्वयं उसे[1] स्वीकार किया है।

श्वेताम्बर साहित्यमें अङ्गोंका निर्देश करने वाले वाक्योंके कई रूप मिलते हैं। किन्तु डा० बेवर ने दो का ही निर्देश करते हुए लिखा है–जहाँ कहीं बारह अङ्गों के नाम गिनाये हैं तो पहला अङ्ग का नाम 'आचार' दिया गया है। किन्तु जब अङ्गों का निर्देश संख्यापरक न होकर साधारण रीति से किया गया है तब उनका निर्देश 'सामायिक, आदि करके किया गया है। यथा–'सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव विंदुसाराओ (आव० नि० ९३)। अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र और नन्दिसूत्र में 'दुवाल संग गणि पिडगं' का वर्णन करते हुए आचार को प्रथम स्थान दिया है। कहीं पर भी प्रथम अङ्ग का नाम सामायिक नहीं बतलाया, आचार ही सर्वत्र बतलाया है'। इस तरह से दो प्रकार का निर्देश देखकर डा० वेबर को बड़ा आश्चर्य हुआ था। उन्होंने लिखा[2] है कि 'सामायिकको आदि लेकर ग्यारह अङ्गोंका निर्देश करनेवाले वाक्य यदि आचारको लेकर बारह अङ्गोंका कथन करने वाले वाक्यों से प्राचीन है तो यह स्वतः सिद्ध है कि ग्यारह अंगों

१—काल कमेण पत्तं, संवच्छर माइणाओ जं जम्मि। तं तम्मि चेव धीरो वा पञ्जासोय कालो यं॥ ५८१॥—पञ्चव०

२— इं० एं०, जि०, १७, पृ० २८१ आदि।

में बाद को बारहवाँ अंग मिलाया गया है। वास्तव में तो बारहवाँ अंग बहुत पहले नष्ट हो चुका था। केवल इस स्थिति से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दृष्टिवाद तथा शेष ग्यारह अंगों के मध्य मे एक प्रकार का विरोध तथा एक सुनिश्चित असम्बद्धता थी। उसी के कारण दृष्टिवाद को लुप्त होना पड़ा। अपने इस कथन के समर्थन में हमारे सन्मुख आज भी प्रमाण हैं।'

दृष्टिवाद और शेष ग्यारह अंगों के मध्य में स्थित विरोध और असम्बद्धता का प्रदर्शन करने से पहले हम उक्त दो प्रकार के वाक्यों के सम्बन्ध मे थोड़ा सा प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं।

आव० नि० मे (गा० ९३ मे) उक्त वाक्यमे श्रुतज्ञान को सामायिक से लेकर विन्दुसार पर्यन्त बतलाया है। श्रुतज्ञानमे सम्पूर्ण श्रुत का समावेश होता है। श्रुत के दो भेद है– एक अंग पविट्ठ और दूसरा अणंग पविट्ठ या अंग बाह्य। इन दोनों मे अंग पविट्ठ' को ही द्वादशांग श्रुत ज्ञान कहते हैं। वह गणधरो के द्वारा ग्रथित होता है उसके अविकल ज्ञाता श्रुत केवली कहलाते हैं। दूसरा भेद अणंग पविट्ठ या अंग बाह्य–अपने

२—'त जहा–अंगपविट्ठ अगबाहिरं च। से किं तं अंगबाहिरं? अंग बाहिरं दुविहं पणत्त, त जहा–आवस्सयं च आवस्सय-वइरित्तं च। से कि तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णतं। तं जहां–सामाइयं चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाण, सेत्तं आवस्सयं..।'–नन्दी, सू. ४४। 'श्रुतं मति पूर्वं द्वयनेक द्वादश भेदम् ॥ २० ॥ तत्वा० सू० अ० १। 'सुत्तावास गमादी चोद्दस पुव्वीण तह जिणाणं च ॥१८५॥'—व्य० सू०, ६ उ०।

नामके अनुसार द्वादशांगसे बाह्य होता है और उसकी रचना आरातीय पुरुष करते हैं। इस तरह श्रुत के भेदों में मुख्य अंग पविट्ठ ही है। किन्तु वर्णन करते समय पहले अणंग पविट्ठ या अंग बाह्यको स्थान दिया गया है, तत्पश्चात् क्रमशः अंग पविट्ठ को स्थान दिया गया है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो सम्प्रदायोंके साहित्यमें प्रायः यही क्रम देखनेमें आता है।

श्वेताम्बर परम्परामें अंगबाह्यके दो मूल भेद हैं आवश्यक और आवश्यक अतिरिक्त। तथा आवश्यक के छै भेद हैं जिनमें प्रथम भेद का नाम सामायिक है। अब यदि अंगबाह्य का कथन किया जाये तो वह सामायिक आवश्यकसे प्रारम्भ होगा। उधर अंग पविट्ठ के बारह भेदों में अन्तिम बारहवाँ भेद दृष्टिवाद है। और दृष्टिवादके पाँच भेदोंमें प्रमुख चौदह पूर्व हैं। और अन्तिम चौदहवें पूर्व का नाम लोक बिन्दुसार है जिसका संक्षिप्त नाम बिन्दुसार भी है। अतः श्रुत[१] सामायिक से लेकर बिन्दुसार पर्यन्त जानना चाहिये। उसमे अंग बाह्य और अंगपविट्ठ दोनोंका समावेश हो जाता है।

१—'तत् श्रुत ज्ञानं सामायिकमादिर्यस्य तत् सामायिकादि यावत् बिन्दुसारात्—बिन्दुसारं यावत्, बिन्दुसाराख्य चतुर्दशपूर्व-पर्यन्तमित्यर्थः।' आव० म० टी०, पृ० ११६। 'तच्च श्रुत ज्ञानं सामायिकादि वर्तते, चरयाप्रतिपत्तिकाले सामायिक-स्यैवादौ प्रदानात्। यावद् बिन्दुसारादिति बिन्दुसाराभिधानं चतुर्दश पूर्वपर्यन्त मित्यर्थः।—विशेषा० भा०, हे० टी०, गा० ११२६।

दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका[1] धवला और जयधवला[2] मे श्रुतका वर्णन सामायिकसे लेकर बिन्दुसार पर्यन्त ही क्रमसे किया गया है। अतः डा० वेबर ने आव० नि० की जिस गाथांश को उद्धृत किया है उसमें श्रुत ज्ञान को लेकर निर्देश किया गया है। तथा जहाँ द्वादश गणि पिडगका निर्देश है वहाँ आचारांगको आदि लेकर निर्देश है, क्योंकि बारह अंगों में प्रथम अंग आचार और अन्तिम अंग दृष्टिवाद ही सर्वत्र बतलाया है। आवश्यकनि०मे जो सामायिकको आदि लेकर कथन किया है, सो वहाँ सामायिक आचारका स्थानापन्न नहीं है, जैसा कि डा० वेबर ने समझा है। किन्तु जैसे द्वादशांग मे आचारकी मुख्यता होने से उसे प्रथम स्थान दिया गया है वैसे ही अङ्ग बाह्यमें सामायिक आदि षडावश्यकों की मुख्यता है और षडावश्यकों में भी सामायिक की मुख्यता है क्यों कि आचार धारण करते समय सर्व प्रथम सामायिक संयम ही धारण किया जाता है।

हां, निरयावलीमें सामायिक आदिसे लेकर भी एकादशांग पर्यन्त ही ग्रहण किया है, दृष्टिवादको छोड़ दिया है, किन्तु उसका कारण वह नहीं है जो डा० वेबरने समझा है। वहाँ दृष्टिवादको ग्रहण न करनेका कारण शास्त्रीय परम्परा है। उस वाक्यमें बतलाया है कि-'पद्म नामका अनगार (मुनि) भगवान

१—'अत्थाहियारो दुविहो, अंगबाहिरो अंगपइट्ठो चेदि। तत्थ अंगबाहिरस्य चोद्दस अत्थाहियारा तं जहा सामाइयं। —षटखं०, पु०, १, पृ० ९६। अंगमणंग मिदि बे अत्थाहियारा, सामाइयं...चोद्दसविहमणंगसुदं"—षटख०, पु० ९, पृ० १८८—। २—क० पा०, भा० १, पृ० ९७।

महावीरके अनुयायी स्थविर अनगारोंके पास सामायिकको आदि लेकर ग्यारह अङ्गोंको पढ़ता था।' यह घटना महावीरके समयकी है। यह हम पहले लिख आये हैं कि श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार एकादशांगको सब कोई पढ़ सकते थे अतः उनका ज्ञान सबको रहता था, किन्तु दृष्टिवादका अध्ययन और ज्ञान सबके लिए सुलभ नहीं था। शायद इसीसे निरयावलीमें बिन्दुसार पर्यन्त का ग्रहण न करके एकादशांगका ही ग्रहण किया है। अतः दृष्टिवादको पीछेसे सम्मिलित किये जानेका जो अनुमान डा० वेबरने किया था, वह ठीक प्रतीत नहीं होता। जैन सिद्धान्तमें भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे भिन्न२ स्थानों पर विभिन्न प्रकारसे कथन करनेकी परम्परा है। उन दृष्टियोंको समझे बिना उनकी सङ्गति नहीं बैठाई जा सकती। अस्तु।

इस प्रकार डा० वेबरने श्वेताम्बरीय साहित्यसे प्राप्त उल्लेखों के आधार पर दृष्टिवादका अस्तित्व प्रमाणित करनेकी चेष्टाकी थी। तब यह प्रश्न पैदा होता है कि दृष्टिवाद यदि वर्तमान था तो उनका लोप क्यों किया गया? इसके उत्तरमें डा० वेबरने लिखा है-'निश्चयपूर्वक हम कमसेकम यह निर्णय करनेमें समर्थ हैं कि बारहवें अङ्ग और शेष ग्यारह अङ्गोंके मध्यमें गम्भीर अन्तर था। हेम चन्द्रके परिशिष्ट पर्व तथा अन्य स्रोतोंसे यह स्पष्ट है कि दृष्टिवादके यथार्थ प्रतिनिधि भद्रबाहु थे और पाटलीपुत्रमें एकत्र जैनसंघसे उनका विरोध हो गया था। बारहवें अंगके उद्धरणोंमें सुरक्षित वर्णनोंसे इस विरोधके कारणोंकी जांच की जा सकती है। उनके अनुसार दृष्टिवादके पांच भेदोंमें से प्रथम दो भेदोंमें अन्य विषयोंके सिवाय आजीविक और त्रैराशिक नामक

१—इं० एं०, जि० १७, पृ० ३३९-३४०।

दो विरोधी दृष्टियोका भी वर्णन था। सम्भवतया इसके द्वारा 'दृष्टिवाद' नामकी व्याख्याकी जा सकती है। दृष्टिवादका तीसरा भेद चौदह पूर्व थे। सम्भवतया पूर्वोका विषय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सर्वथा अनुकूल नहीं था और धीरे-धीरे श्वेताम्बर सम्प्रदाय कट्टर पन्थका रूप लेता जाता था। दृष्टिवादके लोप हो जानेका सम्भवतया यही कारण था।'

श्वेताम्बर पट्टावलियोके अनुसार यशोभद्रके स्वर्गारोहणके पश्चात् उनके ज्येष्ठ शिष्य संभूतिविजय पट्टासीन हुए और संभूत विजय के पश्चात् उनके शिष्य स्थूलभद्र पट्टासीन हुए। संभूति-विजयके गुरुभाइ श्रुत केवलि भद्रबाहु थे और यद्यपि वे बहुत बड़े विद्वान तथा प्रभावशाली महापुरुष थे और स्थूलभद्रने उनके चरणोकी सेवा करके ही पूर्वोका ज्ञान प्राप्त किया था, तथापि उन्हें वह पद नहीं दिया गया जो उत्तरकालमे स्थूलभद्रको दिया गया। इससे डा० वेबरकी उक्त धारणा उचित ही प्रतीत होती है और यह भी ठीक है कि दृष्टिवादमे विभिन्न दृष्टियोका विवेचन था, इसीसे उसे दृष्टिवाद कहते थे। अतः उसमे आजीविक सम्प्रदायका वर्णन हो सकता है क्योकि आजीविक सम्प्रदायका संस्थापक गोशालक न केवल भगवान महावीरका समकालीन था, किन्तु श्वेताम्बरीय आगमोके अनुसार भगवानका शिष्य भी रह चुका था। किन्तु[२] त्रैराशिक दृष्टिकी उत्पत्ति तो वीर निर्वाणसे ५४४वें वर्षमें बतलाई है। अतः दृष्टिवादमें उसका वर्णन होना सम्भव नहीं है। इससे दृष्टिवादकी जो विषयसूची नन्दी वगैरहमें दी गई है वह अभ्रान्त प्रतीत नहीं होती। और इसलिए उसपरसे किसी निर्दोष परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता।

२—"पंच सया चौयाला तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। पुरिमंत-रंजियाए तेरासियदिट्ठी उप्पन्ना ॥२४५१॥"—वि० भा० ॥

किन्तु परम्परासे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि दृष्टिवादका पठन-पाठन बहुत ही सीमित था और इसका कारण यह भी था कि वह बहुत कठिन था, उसमें दार्शनिक विषयोंको भरपूर चर्चा थी तथा अन्य अंगोंसे उसका विषय भी अति गूढ़ था। सम्भवतया इसीसे वह विस्मृत हो गया।

श्वेतांबरीय उल्लेखोंके अनुसार तो पूर्वोंसे ही अंगोंकी रचना की गई है अतः पूर्वोके स्थानपर अंगोंका अधिक प्रचार होना संभव है। श्री[1]मोदीने पूर्वोके लोप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि अंगोंके अध्ययन ने प्रमुखता लेली क्योंकि उनमें न केवल पूर्वों का सार था, किन्तु वे उनसे सरल भी थे। अस्तु,

आगे हम दृष्टिवाद तथा शेष ग्यारह अंगोंके मध्यमें वर्तमान भेदको स्पष्ट करनेके लिए श्रुत ज्ञानके भेदोंका विवरण देते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतके भेद

श्वेताम्बर परम्परा मे श्रुतज्ञान[2] के चौदह भेद किये हैं—अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत, संज्ञि श्रुत, असंज्ञि श्रुत, सम्यक श्रुत, मिथ्या

१—अन्तगडा०, प्रस्ता० पृ० १८-१९

२— 'से किं तं सुयनाणं परोक्खं ? सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पन्नत्तं, तं जहा—'अक्खर सुयं १ अणक्खर सुयं २ सण्णि सुयं ३ असण्णिसुयं ४ सम्मसुअं ५ मिच्छसुअं ६ साइअं ७ अणाइअं ८ सपज्जवसिअं ९ अपज्जवसिअं १०, गमिअं ११ अगमिअं १२ अंगपविट्ठं अणंग पविट्ठं १४ ॥ ३८ ॥" नन्दी०। "अक्खर सण्णी सम्मं साईअं खलु सपज्जवसियं च। गमियं अंगपविट्ठं सत्त वि एए सपडिवक्खा" ॥ ५५४ ॥—विशे० भा०।

श्रुत, सादि श्रुत, अनादि श्रुत, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंग प्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट।

अक्षर[1] श्रुतके तीन भेद हैं—संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर और लब्ध्यक्षर। अक्षरके आकारको अथवा आकार रूप अक्षरको संज्ञाक्षर कहते हैं। अक्षरकेउच्चारणको अथवा उच्चारणरूप अक्षरको व्यंजनाक्षर कहते हैं और लब्धिरूप अक्षरको अर्थात् अक्षरके क्षयोपशमको लब्ध्यक्षर कहते हैं।

लब्ध्यक्षरके छै भेद हैं—श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, चक्षु इन्द्रिय लब्ध्यक्षर, घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, रसनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, स्पर्शनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, और नौ इन्द्रिय लब्ध्यक्षर। इस लब्ध्यक्षर को ही अक्षर श्रुत कहते हैं। अनक्षरात्मक श्रुतको अनक्षर श्रुत कहते है। अनक्षर श्रुत के अनेक भेद हैं। जैसे–दीर्घ श्वास लेना, थूकना, खांसना, छींकना, आदि। संज्ञीश्रुत[2] के तीन भेद हैं—कालिकी उपदेश, हेतूपदेश और दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षासे। दीर्घ कालीन अतीत वस्तुका स्मरण करनेको और अनागतका विचार करनेको कालिकी संज्ञा कहते हैं। जिस प्राणीके उस प्रकारकी संज्ञा पाई जाती है वह कालिन्की उपदेशसे संज्ञी कहा जाता है। और जिसके इस प्रकारकी संज्ञा नहीं होती उसे असंज्ञी कहते हैं। जैसे सम्मूर्छन पञ्चेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदि। जो बुद्धिपूर्वक इष्ट आहारादिमें प्रवृत्ति करता है और अनिष्टसे बचता है उसे हेतूपदेशसे संज्ञी कहते हैं। चूंकि द्वीन्द्रियादिमें भी इस प्रकारकी प्रवृत्ति पाई जाती है इसलिये वे हेतूपदेशसे संज्ञी है। किन्तु वे अतीत अनागतका

१—नन्दी०, सू०, ३६। विशे० भा०, गा० ४६८ आदि।

२—नन्दी सू० ४०। विशे० भा०–गा० ५०४ आदि।

चिन्तन करनेमें असमर्थ हैं। अतः कालिकी उपदेशकी अपेक्षा वे संज्ञी नहीं हैं। जो क्षायोपशमिक ज्ञानसे युक्त सम्यग्दृष्टि दृष्टिवादके उपदेशसे संज्ञी होता है उसे दृष्टिवादोपदेशसे संज्ञी कहते हैं। इस तरह संज्ञीके तीन भेद होने से श्रुतके भी तीन भेद कहे हैं।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरहंत भगवानके द्वारा प्रणीत द्वादशांग रूप गणिपिटकको[1] सम्यक् श्रुत कहते हैं। वह इस प्रकार है— आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, विवाह पण्णत्ती, ज्ञातृ धर्मकथा, उपासक दशा, अन्तः कृद्दश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्नव्याकरण विपाक सूत्र और दृष्टिवाद। यह द्वादशांगरूप गणि पिटक चतुर्दश पूर्वीका सम्यक् श्रुत है, अन्यका सम्यक् श्रुत भी हो सकता है, मिथ्या श्रुत भी हो सकता है।

यही द्वादशांग गणि पिटक पर्यायार्थिक नय से[2] सादि और सपर्यवसित (सान्त) है और द्रव्यार्थिक नयसे अनादि और अपर्यवसित है। अथवा भव्य का श्रुत सादि और सपर्यवसित है और अभव्यका श्रुत अनादि और अपर्यवसित है।

दृष्टिवाद गमिक श्रुत है और कालिक श्रुत अगमिक है। गणधर[3] के द्वारा रचित द्वादशांग रूप श्रुतको अंग प्रविष्ट कहते हैं और स्थविरोंके द्वारा रचित श्रुतको अंग बाह्य कहते हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बरीय साहित्य मे श्रुत के चौदह भेद गिनाये हैं। यहाँ इन भेदों में से हमारा प्रयोजन केवल गमिक और

१—नन्दी०, सू०४१। वि० भा०, गा० ५२७।

२—नन्दी० सू० ४३।

३—"गणहर थेरकयं वा आएसामुक्कवागरण ओ वा। धुव चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं" ॥ ५५० ॥—वि० भा०।

अगमिक भेदों से हैं। दृष्टिवाद को गमिक श्रुत कहा है और कालिक श्रुत को अगमिक कहा है।

वि० भा०[1] मे कहा है कि जिसमें 'गम' अर्थात् अंग और गणित आदि बहुत हों अथवा जिसमे 'गम' अर्थात् सदृशपाठ बहुत हो उसे गमिक कहते है और दृष्टिवाद मे प्रायः ऐसा पाया जाता है। और जो प्रायः गाथा श्लोक आदि असदृश पाठ-बहुल होता है उसे अगमिक कहते है। कालिक श्रुत प्रायः ऐसा होता है।

कालिक श्रुत

अब हमें देखना है कि कालिक श्रुत किसे कहते है।

नन्दि[2] सूत्रमें श्रुत के अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य दो भेद करके अंगबाह्यके भेदोंको विस्तारसे इस प्रकार बतलाया है—

अंगबाह्यके दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के छै भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कार्योत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कालिक, उत्कालिक। उत्कालिक के अनेक भेद हैं—दशवैकालिक, कप्पा कप्प, चुल्लकप्प श्रुत, महाकल्पश्रुत, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महा प्रज्ञापना प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैकालिक, चन्द्रा विज्झण, सूय प्रज्ञप्ति, पौरुषीमण्डल, मण्डल प्रवेश, विद्या चरण विनिश्चय, गणिविद्या, ध्यान विभक्ति, मरण विभक्ति, आत्म विशुद्धि, वीतराग

१—"भंगगणियाइ' गमियं जं सरिसगमं च कारणवसेण। गाहाइ अगमियं खलु कालियसुयं दिट्ठीवाए वा" ॥५४९॥ —विशे० भा०।

२—नन्दी० सू० ४४।

श्रुत, संल्लेखनाश्रुत, विहारकल्प, चरण विधि, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि। यह सब उत्कालिक श्रुत है।

कालिक के भी अनेक भेद हैं—उत्तराध्ययन, दसाओ, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, क्षुल्लिका, विमान प्रविभक्ति, महा विमान प्रविभक्ति, अंग चूलिका, वर्ग चूलिका, विवाह चूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रवणोपपात, वेलंधरोपपात, देवेन्द्रोपपात, उत्थान श्रुत, समुत्थान श्रुत, नाग परिज्ञा, निरयावली, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिता, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, इत्यादि। चौरासी हजार प्रकीर्णक भगवान ऋषभदेव के समय मे थे। मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके समयमे संख्यात हजार प्रकीर्णक थे और भगवान वर्द्धमान स्वामी के चौदह हजार प्रकीर्णक थे। अथवा जिस तीर्थङ्कर के जितने श्रमण शिष्य थे उसके उतने ही प्रकीर्णक थे और उतने ही प्रत्येक बुद्ध थे। ये सब कालिक श्रुत है।

स्थानांग[1] सूत्र में भी श्रुत ज्ञान के दो भेद—अंग प्रविष्ठ और अङ्गबाह्य बतलाकर अङ्ग बाह्य के दो भेद किये हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। तथा आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद किये हैं—कालिक और उत्कालिक। इस तरह अङ्गबाह्य के ही कालिक और उत्कालिक भेद किये गये हैं। अनुयोग[2]-द्वार में भी ऐसा ही कथन है।

जिसकी स्वाध्यायका काल नियत होता है अर्थात् नियत

१—स्थाना०, २ स्था०, सू० ७१। २—'जइ अणंगपविट्ठस्स अणुओगो, किं कालिअस्स, अणुओगो ? उक्कालिक्स्स अणुओगो ? —अनु०, सू० ४,

कालमें ही जिसकी स्वाध्यायकी जाती है उसे कालिक श्रुत कहते हैं। सूर्योदयसे एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात्, एवं सूर्यास्तसे एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात्, मध्याह्नके समय तथा अर्ध रात्रिके समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। किन्तु दिनके प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर तथा रात्रिके प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहरमें अस्वाध्याय कालको बचाकर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। अतः दिन और रात्रिके प्रथम तथा अन्तिम प्रहरमें ही जिसकी स्वाध्याय करनेका विधान हो वह [1]कालिक श्रुत है। और जो काल वेलाको छोड़कर शेषकालमें पढ़ा जाता है उसे उत्कालिक कहते हैं।

ऊपर दृष्टिवादको गमिक श्रुत और कालिकको अगमिक श्रुत कहा है। अतः इससे दृष्टिवाद और कालिक श्रुतमें प्रतिपक्षी भाव प्रतीत हो सकता है। किन्तु कालिक श्रुत अंग बाह्यका भेद बतलाया है अंग प्रविष्टका नहीं। अतः दृष्टिवादमें और शेष ग्यारह अङ्गोंमें कोई प्रतिपक्षी भाव प्रतीत नहीं होता।

किन्तु मलय गिरिने[2] आवश्यक टीकामें और मलधारी

१—'यदिह दिवसनिशाप्रथमचरिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालेन निर्वृत्त कालिकम्–उत्तराध्ययनादि,यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदूर्ध्वं कालिकादित्युत्कालिकं–दशवैकालिकादीति'॥ –स्था०, सू० ७१, अभयवृत्तिः। 'तत्रदिवसनिशाप्रथमचरिमपौरुषीलक्षणे काले अधीयते नान्यत्रेति कालिकम्–उत्तराध्ययनादि, यत्तु कालवेलावर्जं शेषकालानियमेन पठ्यते तदुत्कालिकम्–आवश्यकादि।–अनु०,सू० ४, मल० टी०।

२—'कालिकश्रुतं—एकादशागरूपं चरणकरणानुयोगरूपमिति गम्यते'।—आव० टी० भा० २ पृ० ३९६।

हेमचन्द्रने विशे० भा०की टीकामें स्पष्ट रूपसे एकादशांगको भी कालिक श्रुत कहा है। हेमचन्द्रने लिखा[१] है कि–'एकादशांगरूप समस्त श्रुत कालग्रहण विधिके द्वारा पढ़ा जाता है इसलिए उसे कालिक कहते हैं।

ऊपरके उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कालिक उत्कालिकका भेद अंग बाह्यमें ही था, अंग प्रविष्टमें नहीं था। दिगम्बर परम्पराके आचाय अकलंक देवने भी अपने[२] तत्त्वार्थ वार्तिकमें अङ्गबाह्यके ही कालिक उत्कालिक भेद किये हैं? इस परसे ऐसा अनुमान होता है कि पीछेसे एकादशांगको भी कालिकमें सम्मिलित कर लिया गया; क्योंकि दो उल्लेखोंमें एकादशांगकी गणना कालिक श्रुतमें की गई है। भगवतीसूत्रमें गौतम भगवानसे प्रश्न करते हैं कि तीर्थङ्करोंके तेईस अन्तरालोंमें कालिक श्रुतका कब-कब विच्छेद हुआ? भगवान् उत्तर देते हैं कि पूर्वके आठ तथा अन्तके आठ जिनान्तरोंमें कालिक श्रुतका विच्छेद नहीं हुआ। किन्तु मध्यके सात जिनान्तरोंमें कालिक श्रुतका विच्छेद हुआ। किन्तु दृष्टिवाद का विच्छेद सभी जिनान्तरोंमें हुआ।' यहाँ पर कालिक श्रुतसे अवश्य ही एकादशांग रूप श्रुतका ग्रहण अभीष्ट है। क्योंकि

१—'इहैकादशाङ्गरूपं सर्वमपि श्रुतं कालग्रहणादिविधिनाऽधीयत इति कालिकमुच्यते। तत्र प्रायश्चरणकरणे एव प्रतिपाद्येते।'
—वि० भा० टी०, गा० २२६४।

२—"तदंगबाह्यमनेकविधं कालिकमुत्कलिकामित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्, अनियतकालमुत्कालिकम्। तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।"—त० वा०, सू० १-२०।

अङ्ग प्रविष्ट और अङ्गबाह्यमें भेद बतलाते हुए कहा[1] है कि अङ्ग प्रविष्ट अर्थात् द्वादशांग समस्त तीर्थङ्करोंके तीर्थमें अवश्य रहता है किन्तु तन्दुलवैकालिक आदि अङ्ग बाह्य अनियत है-उसका रहना अवश्यंभावि नहीं है, क्योंकि वह तो अपने अपने युगके आचार्योंकी रचना है। अतः भगवती[2] मे कालिक श्रुतसे एकादशांग ही लिया गया है यह स्पष्ट है।

इसी तरह आवश्यक[3] में चार अनुयोगोंका विभाग करते हुए कहा है कि कालिक श्रुत चरण करणानुयोग रूप है, ऋषिभाषित धर्मकथानुयोग रूप है, सूर्यप्रज्ञप्ति गणितानुयोग रूप है और दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग रूप है। यहाँ पर भी कालिक श्रुतसे एकादशांगका ग्रहण इष्ट है। यतः एकादशांगरूप श्रुत कालादि विधिके द्वारा पढ़ा जाता था अतः उसे भी कालिक श्रुत मान लिया गया ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु दृष्टिवाद जैसे महत्त्वपूर्ण अङ्गके पठनके लिए कालादिविधि आवश्यक नहीं समझी गई, यह थोड़ा आश्चर्यजनक जैसा लगता है। अस्तु,

---

१—विशे० भा०, टी०, गा०, ५५० ।

२—'एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पएणत्ते ? गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमे पच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पएणत्ते । मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुअस्स वोच्छेदे पएणत्ते । सव्वत्थवि णं वोच्छेदे दिट्ठीवाए।'—भ०, २०श०, ८उ० ।

३—'कालियसुअं च इसि भासिआई तइओ अ सूर पन्नति । सव्वो अ दिट्ठीवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥२२९४॥' —वि० भा० ।

कालिक श्रुत और दृष्टिवाद में अन्तर

आवश्यक[1] निर्युक्तिमें नयोंका विवेचन करते हुए कहा है कि दृष्टिवादमें नयोंके द्वारा वस्तुओंका कथन किया जाता है किन्तु कालिक श्रुतमें नयोंके द्वारा वस्तुका व्याख्यान करनेका नियम नहीं है। यदि श्रोताओंकी अपेक्षासे कालिक श्रुतमें नय द्वारा विचार करना ही हो तो नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीन नयोंके द्वारा ही करना चाहिए; क्योंकि लोक व्यवहारके लिए ये तीन नय ही उपयोगी है।

निर्युक्तिकी टीकामे टीकाकार मलय गिरिने यह शङ्का की है कि यदि कालिक श्रुतमें नयोका अधिकार ही नहीं है तो श्रोताकी अपेक्षासे तीन नयोका अधिकार किस लिए बताया। इसके उत्तरमें कहा गया है कि तीन नयोंके द्वारा कालिक श्रुतमें अभ्यस्त होने पर ही दृष्टिवादके योग्य होता है इस लिए कालिक श्रुतमें श्रोताकी अपेक्षा तीन नयोका ही अधिकार है। आगे आ० नि०मे लिखा[2] है कि 'कालिक श्रुत मूढ़नय वाला है, उसमें नयोका अवतार नहीं होता। जब तक उसमे अनुयोगोका भेद नहीं हुआ था तब तक उसमे नयोका अवतार होता था और जबसे कालिक श्रुतमे अनुयोगोंका भेद हो गया तबसे नयोका समवतार भी बन्द हो गया। आगे उसमे इसका स्पष्टी करण करते हुए लिखा[3] है,—

१—'एएहिं दिट्ठिवाए परूवणा सुत्त अत्थ कहणा य। इह पुण अणब्भुवगभो अहिगारो तीहिं ओसन्नं ॥७६०॥—आ० नि०, भा० २।

२—'मूढनइअं सुअं कालिअं तु न नया समोअरंति इह। अपुहुत्ति समोआरो नत्थि पुहत्ते समोआरो ॥७६२॥

३—जावं ति अज्जवइरा अपुहत्त कालियाणुओगस्स। तेणारेण पुहत्तं कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥७६३॥—आ० नि०।

'जब तक महामति वज्र स्वामी थे तब तक कालिकानुयोग 'अपृथक् था। उनके पश्चात् आर्यरक्षितके समयमे कालिक श्रुत और दृष्टिवादमे अनुयोगोका 'पृथक्त्व' हो गया।'
इसका खुलासा इस प्रकार है—

जब तक वज्र स्वामी थे तब तक प्रत्येक सूत्रका व्याख्यान करते हुए उसमे चारों अनुयोगोंका कथन किया जाता था। आर्य [१] रक्षितके समयमें एक सूत्रका व्याख्यान एक ही अनुयोगपरक किया जाने लगा और इस तरह समस्त श्रुत चार अनुयोगोमे विभाजित कर दिया गया। इस विभागके कर्ता वज्र-स्वामीके शिष्य आर्य रक्षित थे। वे अपने शिष्य दुर्बलिका-पुष्य मित्रको पढ़ाते थे तो विद्वान् होने पर भी शिष्य सूत्रार्थको स्मरण नही रख पाता था। अतः आर्यरक्षितने वर्तमानकालकी स्थितिको पहचान कर कालिकादि श्रुतको चार अनुयोगोंमें विभक्त कर दिया। कालिक सूत्रमे प्रायः चरण-करणका ही प्रतिपादन किया गया हे, इस लिये उसे चरणकरणानुयोगमे रखा गया। ऋषिभाषित उत्तराध्ययनोमें महर्षियोंकी धर्मकथाओंका ही कथन है इस लिए ऋषिभाषितोंको धर्मकथानुयोगमे रखा गया। सूर्य प्रज्ञप्तिमे गणितका विधान होनेसे उसे गणितानियोगमें रखा गया। और सम्पूर्ण दृष्टिवादको द्रव्यानुयोगमे रखा गया। इस तरहसे प्रत्येक सूत्रमें चारों अनुयोगोंका विधान निषिद्ध करके समस्त

१'देविन्दवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअ अज्जेहिं। जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥७७४॥ कालियसुअं च इसिभासिआइं तइओ अ सूरपन्नति। सव्वो अ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥ जं च महाकप्पसुअं जाणि अ सेसाणि छेअ सुत्ताणि। चरणकरणाणुओगत्ति कालिअत्थे उवगयाणि ॥७७४॥'—आ० नि०।

श्रुतको चार अनुयोगमे विभाजितकर दिया गया। चूंकि महाकल्प श्रुत तथा अन्य छेदसूत्र भी कालिक श्रुतमें अन्तर्भूत थे, इस लिये उन्हें भी चरण करणानुयोगमें ही रखा गया।

आ० नि० के अनुसार ऊपर जो कथन किया गया है उसमें कालिक श्रुत और दृष्टिवादकी दृष्टिसे उल्लेखनीय भेद यह है कि कालिक श्रुतका अनुयोगोंमें विभाजन होनेके पश्चात् उसमें नयोंका समवतार निषिद्ध कर दिया गया और श्रोता विशेषकी अपेक्षासे आवश्यक होने पर भी केवल आदिके तीन नयोंके ही अवतारकी अनुज्ञा दी गई। किन्तु समस्त दृष्टिवादका अनुयोगोंमें विभाजन हो जाने पर भी उसमें नयोंका समवतार निषिद्ध नहीं किया गया।

यह हम पहले लिख आये हैं कि वज्रस्वामी अन्तिम दसपूर्वी थे और उनके शिष्य आर्यरक्षित साढ़े नौ पूर्वोंके पाठी थे। अतः उस समय साढ़े नौ पूर्व वर्तमान थे। फिर भी दृष्टिवादमें नयोंका अवतार निषिद्ध न करनेके दो ही कारण हो सकते है प्रथम समस्त नयोसे सूत्रार्थका कथन किये बिना दृष्टिवादका हृदयंगम करना शायद सम्भव न हो, दूसरे जो दृष्टिवादको समझ सकने की सामर्थ्य रखता हो उसके लिये उसमे नयोंका समवतार दुरूह प्रतीत न होता हो।

अस्तु, जो कुछ कारण हो, किन्तु उक्त बातोंसे इतना स्पष्ट है, कि कालिक श्रुत और दृष्टिवाद एक ही श्रेणीके नहीं थे।

नन्दीसूत्र तथा अनुयोग द्वारमें कालिक श्रुत और दृष्टिवादके अवान्तर अधिकारोंका विवरण दिया है उससे भी यही प्रकट होता है कि इन दोनोंमें मौलिक भेद था।

अनुयोग[1] द्वारमे परिमाण सख्याका कथन करते हुए लिखा है—परिमाणसंख्या दो प्रकारकी है—कालिक श्रुत परिमाण-सख्या और दृष्टिवाद श्रुत परिमाण संख्या। कालिक श्रुत परिमाण संख्या अनेक प्रकारकी है—जो इस प्रकार है—पर्याय संख्या, अक्षर संख्या, संघात संख्या, पद संख्या, पादसंख्या, गाथासंख्या श्लोकसंख्या, वेष्टकसंख्या, निर्युक्तिसंख्या, अनुयोग द्वारसंख्या, उद्देशकसंख्या, अध्ययनसंख्या, श्रुतस्कन्धसंख्या और अंग-संख्या। ये कालिकश्रुत परिमाणसंख्या है।

दृष्टिवाद श्रुत परिमाणसख्या इस प्रकार है—पर्याय संख्यासे लेकर अनुयोग द्वार संख्या तक तो कालिक श्रुत के अनुसार ही है। आगे—पाहुड़ संख्या, पाहुडियासंख्या, पाहुडपाहुडियासंख्या और वस्तु संख्या। अर्थात् कालिक श्रुतमे उद्देश, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध और अंगाधिकार होते है तब दृष्टिवादमे पाहुड, पाहुडिया पाहुड़ पाहुडिया और वस्तु नामक अधिकार होते है। नन्दीसूत्रमे जो बारह अंगोका विवरण दिया है उससे भी यही प्रकट होता है कि दोनोके अधिकारोमे मौलिक अन्तर था।

१—'से किं तं परिमाणसंखा ? दुविहा पएणत्ता, तं०—कालिअ सुयपरिमाणसंखा दिट्ठिवायसुअ परिमाणसखा य। से किं तं कालिअसुअ परिणामसंखा ? अणेगविहा पएणत्ता, तं जहा— पज्जवसंखा, अक्खर-संखा अणुओगदारसंखा उद्देसगसंखा अज्झयणसंखा सुअखंधसंखा अंगसंखा, से तं कालिअसुय परिमाणसंखा। से किं तं दिट्ठिवायसुअ परिमाणसंखा ? अणेगविहा पएणत्ता, तं जहा—पज्जवसंखा जाव अणुओगदारसंखा पाहुडसंखा पाहुडिआसंखा पाहुडपाहुडिआसंखा वत्थुसंखा, से तं दिट्ठिवायसुअ परिमाणसंखा से त परिमाणसंखा,। अनु० पृ० २३३।

दृष्टिवाद का विवरण

दृष्टिवाद[1] में सर्व भावोंको प्ररूपणा होती है। संक्षेपसे दृष्टिवादके पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका। परिकर्मके सात भेद हैं—सिद्धश्रेणिका, मनुष्यश्रेणिका, स्पृष्टश्रेणिका, अवगाढश्रेणिका, उवसंपज्जणश्रेणिका, विप्पजहणश्रेणिका, चुआचुअश्रेणिका। सिद्धश्रेणिका परिकर्मके चौदह भेद हैं—माउगापयाइं (मातृकापदानी), एगट्ठिअपयाइं, अट्ठपयाइं, पाढोआमासपयाइं केउभूअ (केतुभूत), रासिबद्ध एगगुण, दुगुण, तिगुण, केउभूअ, पडिग्गह, संसारपडिग्गह, नंदावत्त, सिद्धावत्त। मणुस्सश्रेणिका परिकर्मके भी चौदह भेद हैं—जो उक्त प्रकार हैं, केवल अन्तिम सिद्धावत्तके स्थानमें 'मणुस्सावत्त' नाम है। पुट्ठसेणिआ परिकम्मके ११ भेद हैं—पाठोआमासपयाइं केतुभूत, रासिबद्ध, एगगुण दुगुण, तिगुण, केउभुय, पडिग्गह, संसारपडिग्गह, नन्दावत्त पुट्ठावत्तं। ओगाढसेणिआ परिकम्मके ग्यारह भेद है, जो उक्तप्रकार है केवल अन्तिम पुट्ठावत्तके स्थानमें ओगाढ़वत्त नाम है। उपसंपज्जणसेणिआ परिकर्मके भी पूर्ववत् ग्यारह भेद हैं—केवल अन्तिम नाम ओगाढावत्तके स्थानमें उवसंपज्जणावत्त नाम है। इसी तरह विप्पजहसेणिया परिकर्मके भी उक्त प्रकार ग्यारह भेद हैं। केवल अन्तिम नाम उवसपज्जणावत्तके स्थानमे विप्पजहणावत्त नाम है। इसी तरह चुआचुअसेणिया परिकर्मके भी ग्यारह भेद है। अन्तिम नाम विप्पजहणावत्तके स्थानमें चुआचुआवत्त नाम है। इस प्रकार मूलभेदोंकी अपेक्षा परिकर्मके सात भेद हैं और उत्तर भेदोकी अपेक्षासे ८३ भेद हैं।

१—नन्दी, पृ० २३५ आदि।

इनमेंसे आदिके छै परिकर्म चतुर्नयिक हैं—उनमें चार नयोंको प्रवृत्ति होती है तथा सातों परिकर्म त्रैराशिक मतानुयायी हैं।

इसकी टीकामें मलयगिरिने लिखा[1] है कि गोशालकके द्वारा प्रवर्तित आजीविक सम्प्रदायके अनुयायिओंको ही त्रैराशिक कहते थे क्योंकि वे सब वस्तुको तीनरूप मानते थे। तथा नय भी तीन ही मानते थे—द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक और उभयास्तिक। सूत्रकारने 'सत्त तेरासिया' लिखकर सातों परिकर्मोंको त्रैराशिक-मतानुयायी बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले आचार्य नयविचारके अवसर पर त्रैराशिक मतका अवलम्बन लेकर सातो परिकर्मों का विचार तीन नयोंके द्वारा करते थे।

दृष्टिवादके दूसरे भेद सूत्रके बाईस भेद हैं—उज्जुसुय (ऋजुसूत्र), परिणतापरिणत, बहुभंगिअ, विजयचरिय, अणंतरं परंपरं, मासाणं, संजूह, सभिण्ण, आहव्वाय, सोवत्थिअवत्त, नंदावत्त, बहुल, पुट्ठापुट्ठं, विआवत्त, एवंभूत, दुयावत्त, वत्तमाणप्पय, समभिरूढ, सव्वाओभद्द पस्सास, दुप्पडिग्गह। स्वसमयवक्तव्यता सूत्रकी परिपाटीके अनुसार ये बाईस सूत्र छिन्न छेदनय वाले हैं, आजीविक सूत्रकी पारिपाटीके अनुसार अच्छिन्न छेद नय वाले हैं, त्रैराशिक सूत्रकी परिपाटीके अनुसार तीन नयरूप हैं और स्वसमयसूत्र पारिपाटीके अनुसार चार नयरूप हैं। इसप्रकार ये सब सूत्र ८८ हैं।

दृष्टिवादके तीसरे भेद पूर्वके चौदह भेद हैं—उप्पायपुव्व

१—'तथा चाह सूत्र कृत 'सत तेरासिया' इति सप्त परिकर्माणि त्रैराशिकमतानुयायीनि, एतदुक्तं भवतिपूर्व सूरयो नयचिन्ताया त्रैराशिकमतमवलम्बमानाः सप्तापि परिकर्मणि त्रिविधयापि नयचिन्तया चिन्तयन्ति स्मेति।'—नन्दि०, टी०, पृ० २३६ उ०।

(उत्पादपूर्व), अग्गाणीय, वीरिश्र, अत्थिनत्थिप्पवाय, नाणप्पवाय (ज्ञानप्रवाद), सच्चप्पवाय (सत्यप्रवाद), आयप्पवाय (आत्मप्रवाद), पच्चक्खाणप्पवाय (प्रत्याख्यानप्रवाद), विज्जाणुप्पवाय (विद्यानुप्रवाद), अवंझ (अवन्ध्य) पाणाऊ, किरियाविसाल, लोकबिंदुसार। उत्पाद पूर्वमें दसवस्तु और चार चूलिकावस्तु कहे हैं, अग्रायणी पूर्वमें चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु अधिकार कहे हैं। वीर्यपूर्वमें आठवस्तु और आठ चूलिका वस्तु कहे हैं, अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्वमें अठारह वस्तु और दस चूलिका वस्तु कहे हैं। चूलिका वस्तु अधिकार इन चार ही पूर्वोमें कहे हैं आगे केवल वस्तु अधिकार ही बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं—ज्ञानप्रवादमें बारह वस्तु अधिकार कहे हैं। सत्यप्रवाद पूर्वमें दो वस्तु-अधिकार है आत्म प्रवादमें १६, कर्मप्रवादमें तीस, प्रत्याख्यान पूर्वमें बीस, विद्यानुप्रवादमे पन्द्रह, अवन्ध्य पूर्वमें तेरह, क्रियाविशाल पूर्वमें तीस और लोकविन्दुसारमें २५ वस्तु अधिकार हैं।

अनुयोगके दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। अरहंतोंके पूर्व भव, देवलोकमें गमन, आयु, देवलोक से च्यवन, तीर्थङ्कररूपमे जन्म, अभिषेक, राज्यश्री, दीक्षा, उग्रतप, केवल ज्ञानकी उत्पत्ति, तीर्थप्रवर्तन, उनके शिष्य, गण, गणधर, आर्यिका, चतुर्विधसंघका परिमाण, मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरोंमें जानेवाले, उत्तर विक्रिया करनेवाले, मुनियोंका परिमाण, मुक्तिमें जाने वालोंका परिमाण, आदि का जिसमें कथन हो उसे मूलप्रथमानुयोग कहते हैं। और जिसमें कुलकर गण्डिका, तीर्थङ्कर गण्डिका, चक्रवर्तीगण्डिका, दसार गण्डिका, बलदेव गण्डिका, वासुदेव गण्डिका, गणधर गण्डिका, भद्रबाहु गण्डिका, तपकर्म गण्डिका, हरिवंश गण्डिका, उत्सर्पिणी

गण्डिका, अवसर्पिणी गण्डिका, चित्रान्तर गण्डिका, इत्यादि गण्डिकाओंका जिसमे कथन हो उसे गण्डिकानुयोग कहते हैं।

आदिके चार पूर्वोंकी चूलिका होती है शेषपूर्व बिना चूलिकाके हैं। यह चूलिका भेद है। दृष्टिवादमे संख्यात वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेष्टक, संख्यात श्लोक, संख्यात प्रतिपत्ति, संख्यात निर्युक्ति, संख्यात संग्रहणी, होती हैं। इस तरह बारहवें अगमे एक श्रुतस्कन्ध, चौदह पूर्व, संख्यात वस्तु, संख्यात चूलवस्तु, संख्यात पाहुड,संख्यात पाहुड़ पाहुड़, संख्यात पाहुडिआ, असंख्यात पाहुड पाहुडिआ, संख्यात हजार पद, संख्यात अक्षर, अनंत गम, अनन्त पर्याय संख्यात त्रस, अनन्त स्थावर, आदि भाव[१] होते हैं।

टीकाकार मलय गिरिने इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि 'ये सब प्राय· नष्ट होगया तथापि आगत सम्प्रदायके अनुसार किञ्चित् व्याख्यान किया जाता है'। अतः इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए उन्होने साधारण सा शब्दार्थमात्र किया है, और कचित् कचित् थोड़ा सा विशेष व्याख्यान भी कर दिया है।

उक्त सूत्रसे दृष्टिवादके भेदोंका, अवान्तर अधिकारोंका और स्थूल विषयसूचीका आभास मिल जाता है। और उस परसे इतना ही प्रतीत होता है कि नन्दी सूत्रकी रचनाके समय दृष्टि-वादका परम्परागत विषय परिचय आदि प्राप्त था, किन्तु दृष्टिवादके अस्तित्वका समर्थन तो उस परसे नहीं होता।

किन्तु यह स्पष्ट है कि ग्यारह अंगोंकी अपेक्षा दृष्टिवाद बहुत विशाल था। श्वेताम्बरोके अनुसार तो एकादशांगका सब विषय उसमे आगया था, इतना ही नहीं, बल्कि कोई कोई अङ्ग दृष्टिवाद

१—नन्दी०, सू०।

के अन्तर्गत पूर्वोसे लिये गये हैं, ऐसा भी प्रतीत होता है। इसपर विशेष प्रकाश आगे डाला जायेगा। अतः उस विशाल दृष्टिवाद का सर्वथा लोप नहीं हुआ और पूर्वोके विशकलित अंशोंका ज्ञान परिपाटी क्रमसे बहुत वर्षों तक प्रवर्तित रहा, इतना स्पष्ट प्रतीत होता है।

अब हम दिगम्बर साहित्यसे दृष्टिवाद अंग का जो परिचय मिलता है उसे यहां देते हैं।

दिगम्बर साहित्यमे दृष्टिवादका परिचय अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें कराया है। लिखा [1] है—दृष्टिवादमें तीन सौ त्रेसठ दृष्टियोंका प्ररूपण तथा खण्डन किया गया है। इन तीन सौ त्रेसठ दृष्टियों अथवा मतोंमेंसे एक सौ अस्सी दृष्टियाँ क्रियावादी हैं। चौरासी दृष्टियाँ अक्रियावादी है, सड़सठ दृष्टियाँ अज्ञानपरक हैं और बत्तीस दृष्टियां वैनयिक हैं।

---

[1] 'द्वादशमङ्ग दृष्टिवाद इति। कौत्कल-काणे विद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-माछपिक-रोमश-हारीत-मुण्डा-श्वलायनादीना क्रियावाद-दृष्टिनामशीतिशतम्, मरीचिकुमार-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टिना चतुरशीतिः, साकल्य-वल्कल--कुथिमि-सात्यमुग्री-नारायण-कठ-माध्यन्दिन-मौद - पैप्पलाद-बादरायणाम्बष्ठिकृदौविकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानकुदृष्टिना-सप्तषष्ठिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्णि-वाल्मीकि-रौमहर्षिणि-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रोपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना वैनयिकदृष्टिना द्वात्रिंशत्,एषा दृष्टिशताना त्रयाणा त्रिषष्ठयुत्तराणा प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।'—त० वा० अ०१—२०सू०। "दिट्ठिवादो णाम अंग बारसमं। तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूपं निरूप्यते।......एषा दृष्टिशताना त्रयाणा त्रिषष्ट्युत्तराणा प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।"—षट्खं-,—पु०१, पृ०१०७ १०८।

कुन्दकुन्दके [1] भाव प्राभृतमे एक गाथाके द्वारा उक्त तीन सौ त्रेसठ मतोंका निर्देश किया गया है। तथा गोमट्टसार [2] कर्मकाण्डमे और श्वे० [3] प्रवचन सारोद्धारमे इन दृष्टियोंकी प्रक्रिया भी बतलाई हैं। किन्तु अकलंक देवने उक्त मूल चार दृष्टियो के कतिपय अनुयायिओंके नाम भी दिये हैं। और वे ही नाम सिद्धसेन गणीकी तत्वार्थ टीका तथा धवलाटीकामें भी हैं।

तीन सौ त्रेसठ मत

जैन साहित्यमें तीन सौ त्रेसठ मतोंका उपपादन जिस रीतिसे किया गया है, वह रीति यहाँ दी जाती है—

क्रिया [4] कर्ताके बिना नहो होती और वह आत्माके साथ समवेत है ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं। अथवा जो कहते हैं कि क्रिया प्रधान है, ज्ञान नहीं, वे क्रियावादी हैं। अथवा 'जीवादि पदार्थ हैं, इत्यादि कहने वाले क्रियावादी हैं। इन क्रियावादियोंके १८० भेद इस प्रकार होते है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं।

---

१ 'असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होई चुलसीदी। सत्तट्ठी अण्णाणी वेणेयो होंति वत्तीसा ॥१३५॥''—भा.प्रा.। गो.क. गा.८७६। —सूत्र. नि., गा.११६। 'अज्ञानिकादीना त्रयाणा त्रिषष्ठिनां कुवादिशताना'।—त. भा० टी०८-१सू.।

२ गो. क. गा.। ३—प्र. सारो०. गा० ११८८ आदि।

४—'क्रिया कर्त्रा विना न संभवति, साचात्मसमवायिनीति वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। अन्ये त्वाहु :—क्रियावादिनो ये ब्रुवते क्रिया प्रधानं किं ज्ञानेन? अन्ये तु व्याख्यान्ति—क्रियां जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिका वदितुं शीलं येषा ते क्रियावादिनः॥'— म० सू. टी. ३०—१।

ये नौ पदार्थ स्वतः, परतः, नित्य और अनित्य इन चार विकल्पों के द्वारा तथा काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, और स्वभाव इन पाँच विकल्पोंके द्वारा हैं। अतः इनको परस्पर में गुणा करने से ९ × ४ × ५ = १८० विकल्प होते हैं। इतने ही क्रियावादियोंके प्रकार हैं। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साहित्यमें वर्णित इनकी प्रक्रियामें थोड़ा अन्तर है।

दिगम्बर[१] प्रक्रियाके अनुसार इन विकल्पोंका कथन इस प्रकार होगा-स्वतः जीव कालकी अपेक्षा है, परतः जीव कालकी अपेक्षा है। और श्वेताम्बर प्रक्रियाके अनुसार इनका कथन इस प्रकार होता है—जीव स्वतः कालकी अपेक्षा नित्य है, अजीव स्वतः कालकी अपेक्षा अनित्य ही है।[२]

जीवादि पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकारका कथन करने वाले अक्रियावादी कहे जाते हैं। जो पदार्थ नहीं उसकी क्रिया भी नहीं है। यदि क्रिया हो तो वह पदार्थ 'नहीं' नहीं हो सकता, ऐसे कहने वाले अक्रियावादी कहे जाते हैं।

'नास्ति' एक, स्वतः और परतः ये दो, जीवादि सात पदार्थ

१—'अत्थि सदो परदो विय णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था। कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते हि भंगा हु ॥७८७॥—गो. क.।

२—'नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनः अक्रियावादिनः।' —सूत्र. शी. टी., १-१२। 'अक्रिया क्रियाया अभावम्, न हि कस्यचिदप्यनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भावे च अनवस्थितेरभावादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः।—भ. सू., अभ.टी.३०-१। स्था. अभ. टी., ४-४—३४५।

और कालादि पांचको परस्परमें गुणा करनेसे—स्वतः जीव कालकी अपेक्षा नहीं है परतः जीव कालकी अपेक्षा नहीं है, इत्यादिरूपसे अक्रियावादियोंके १×२×७×५=७० सत्तर भेद होते हैं।[१] तथा सात पदार्थोंको नियति और कालको अपेक्षा 'नास्ति' कहनेसे चौदह भेद और होते हैं। इस प्रकार अक्रियावादियोंके कुल ८४ चौरासी भेद होते हैं। श्वेताम्बर[२] टीका ग्रन्थोंके अनुसार जीवादि सात पदार्थ स्व और पर तथा काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा, इन सबको परस्परमें गुणा करनेसे ७ × २ × ६=८४ चौरासी भेद अक्रियावादियोंके होते हैं।

जो अज्ञानको ही श्रेयस्कर मानते हैं वे अज्ञानवादी[३] कहे जाते हैं। इनके मतसे बिना जाने किये हुए कर्मोंका बन्ध विफल

१—'णत्थी सदो परदो विय सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा।
कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंति संजादा ॥ ८८४ ॥
णत्थि य च सत्त पयत्था णियदीदो कालदो तिपंति भवा।
चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी ॥८८५॥'
—गो. क.।

२—जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याःसप्त पदार्थाः स्वपर भेदद्वये तथा काल-यदृच्छा-नियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमाना श्चतुरशीति विकल्पा भवन्ति"—आचा. शीं. टी १-१-१-४। नन्दी. मलय., सू. ४६।

३—'कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्ति ते अज्ञानिकाः। ते च वादिनश्चेत्यज्ञानिकवादिनः। ते च अज्ञानमेव श्रेयः असञ्चिन्त्यकृत कर्मबन्धवैफल्यात्।'—भग. अभ. टी. ३०-१। स्था. अभ.टी., ४-४-४१। सूत्र. शी. टी. १-१२।

होता है इस लिये अज्ञान ही श्रेयस्कर है।[४] जीवादि नौ पदार्थों के साथ अस्ति आदि सात भंगोंकी योजना करनेसे त्रेसठ भेद होते हैं। तथा एक शुद्ध पदार्थको अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य इन चार भंगोंके साथ मिलानेसे चार भेद और होते हैं। इस तरह अज्ञान वादियोंके सड़सठ भेद होते हैं। श्वेताम्बर टीका ग्रन्थोंमें जीवादी नौ पदार्थोंको अस्ति आदि सात भंगोंके साथ लगानेसे त्रेसठ, और उत्पत्तिको प्रारम्भके अस्ति आदि चार भंगोंके साथ लगानेसे चार इस प्रकार सड़सठ भेद कहे हैं।

जो सब देवताओंको और सब धर्मोंको समान रूपसे[१] देखते हैं वे वैनयिक कहे जाते है। अथवा जो विनयको ही स्वर्गादि का कारण मानते हैं वे वैनयिक हैं। देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बाल, माता और पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय और दानके साथ विनय करनेसे वैनयिकोंके[२] बत्तीस भेद होते हैं। इस प्रकार कुल तीन सौ त्रेसठ मत बतलाये हैं।

७—'को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि। अवयणजुद सत्ततयं इनि भंगा होति तेसट्ठी ॥८८६॥ को जाणइ सत्तचउ भावं सुद्धं खु दोण्णि पंतिभवा। चत्तारि होंति एवं, अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥८८७॥ —गो क.

१—'सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्''—सर्वार्थ० ८-१। 'विनयेन चरति स वा प्रयोजन एषामिति वैनयिकाः। ते च वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः। विनय एव वा वैनयिकं, तदेव ये स्वर्गादि-हेतुतया वदन्त्येवंशीलाश्च ते वैनयिकवादिनः।'—भग० अभ० टी, ३०-१। स्था० अ०टी०, ४-४४-३४५। 'विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालक मतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः'—सूत्र० शी०, टी० १-६-२७।

२—'मणवयणकायदाणगविणओ सुर-णिवइ-णाणि-जदि-वुड्ढे। बाले मादुपिदुम्मि य कायव्वो चेदि अट्ठचऊ' ॥ ८८८ ॥—गो० क०।

बौद्ध निकायमें बासठ मत

दीर्घ निकायके ब्रह्म जाल सुत्तमे बासठ मतोंका निर्देश किया है। उन्हे भी यहां देदेना उचित होगा।

१—नित्यवाद—'भिक्षुओ ! कितनेही श्रमण और ब्राह्मण नित्यवादी हैं वे चार कारणोंसे आत्मा और लोक दोनोंको नित्य मानते हैं।

२—नित्यता-अनित्यतावाद—भिक्षुओ ! कितने श्रमण और ब्राह्मण हैं वे चार कारणो से आत्मा और लोकको अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य मानते हैं।

३—सान्त अनन्तवाद—भिक्षुओं ! कितने श्रमण ब्राह्मण हैं जो चार कारणोंसे लोकको सान्त और अनन्त मानते हैं।

४—अमराविक्षेपवाद—भिक्षुओं ! कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीकसे नही जानता कि यह अच्छा या बुरा। अतः वह असत्य भाषणके भय और घृणासे न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कहता है कि बुरा है। ऐसा वह चार कारणोसे करता है।

५—अकारणवाद—भिक्षुओ ! कितने श्रमण और ब्राह्मण अकारणवादी है। दो कारणो से आत्मा और लोकको अकारण उत्पन्न मानते हैं।

६—मरणान्तर होशवाला आत्मा—भिक्षुओं ! कितने श्रमण और ब्राह्मण मरनेके बाद आत्मा असंज्ञी रहता है ऐसा मानते हैं। ऐसा वे सोलह कारणोंसे मानते हैं।

७—मरणान्तर बेहोश आत्मा—भिक्षुओं ! कितने श्रमण और ब्राह्मण आठ कारणोंसे मरनेके बाद आत्मा असंज्ञी रहता है, ऐसा मानते हैं।

८—मरणान्तर न होश वाला न बेहोश आत्मा—भिक्षुओं ! कितने श्रमण ब्राह्मण आठ कारणोंसे मरनेके बाद आत्मा न संज्ञी रहता है न असंज्ञी रहता है, ऐसा मानते हैं ।

९—आत्माका उच्छेद—भिक्षुओं ! कितने श्रमण ब्राह्मण सात कारणोंसे आत्माका उच्छेद-विनाश मानते हैं ।

१०—इसी जन्ममें निर्वाण—भिक्षुओं ! कितने श्रमण ब्राह्मण पांच कारणोंसे ऐसा मानते है कि प्राणीका इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है ।

इन दस मूल वादोंके क्रमसे ४+४+४+४+२+१६+८+८+७+५=६२ कारणोंसे ६२ मत होते हैं । आत्माकी नित्यता, अनित्यता, नित्यानित्यता, आदिको लेकर ही उक्त मत प्रवर्तित हुए है । उक्त तीन सौ त्रेसठ मतोंमें ही इन्हें भी गर्भित किया जा सकता है । यहां इनके प्रदर्शनका केवल इतना ही प्रयोजन है कि एक ही विचारको लेकर अनेक मतोंकी सृष्टि होना संभव है और इस तरहके मत महावीर और बुद्धके समय में प्रवर्तित थे । उन्हीं सबका निरूपण और निराकरण दृष्टिवादमें किया गया था ।

अब तत्त्वार्थवार्तिकमें जो प्रत्येक वादोंके कतिपय अनुयायियों के नाम दिये हैं, उनका यथा संभव परिचय कराया जाता है ।

अकलंक देवने कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, और आश्वलायनको क्रियावादी कहा है । और सिद्धसेन गणिने इन्हें अक्रियावादी कहा है । इनमेंसे कुछ नामोंके सम्बन्धमें हमें जो जानकारी प्राप्त हो सकी, वह इस प्रकार है—

काणेविद्धि (काण्ठेविद्धि)—पाणिनिकृत व्याकरण (४-१-८१)

में काण्ठेविद्धि आचार्यका नाम आता है। सामवेदके वंश ब्राह्मणमें यह नाम आया है जिससे सूचित होता है कि यह सामवेदके आचार्य थे। (पा० भा०, पृ० ३२१)।

कौशिक—पाणिनि व्याकरण ४-१-१०४ सूत्रके महाभाष्यमें लिखा है-विश्वामित्रने तप तपा मैं अनृषि न रहूँ। वह ऋषि हो गया। पुनः उसने तप तपा-मैं अन्टषिका पुत्र न रहूं। तब गाधि भी ऋषि हो गया। उसने पुनः तप तपा-मैं अनृषिका पौत्र न रहूं। तब कुशिक भी ऋषि हो गया। अतः कुशिकका पौत्र होनेसे विश्वामित्र कौशिक थे। ऋग्वेदमे जिन सात ऋषियोंके नाम आये हैं उनमे एक विश्वामित्र भी है। अथर्ववेदमे भी विश्वामित्र नाम आता है। कौशिक नामक एक ऋषि अथर्वसूत्रोंके व्याख्याकार भी हुए हैं। कौशिक गृह्यसूत्र और कौशिक स्मृति नामक दो ग्रन्थ भी है महाभारतमें धर्मव्याध ने एक कौशिक नामके ब्राह्मणको उपदेश दिया है। हमे यहां कौशिकसे वैदिक ऋषि विश्वामित्र ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं।

माञ्छपिक—धवला टीका (पु० १, पृ० १०७) मे मांधपिक नाम है और सिद्धसेन गणिकी टीकामे (त० भा० टी० भा०, पृ० ६१) मांधनिक नाम छपा है। उसके सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना (पृ० ५९) में लिखा है कि डा० SCHRADER 'मान्थनिक' नाम बतलाते हैं। किन्तु वह पता नहीं बतलाते कि वह कौन थे। सम्पादक श्री कापड़ियाका कहना है कि 'यदि यह नाम ठीक है तो वह मन्थ सिद्धान्तका संस्थापक हो सकता है। वृहदारण्यक (३-७-१, ६-३-१) मे इस मन्थ सिद्धान्तका निर्देश है। कहा जाता है कि श्वेतकेतुका पिता उद्दालक उसका मूल रचयिता था। श्री भगवद्दत्तने अपने वैदिक वाङ्मयके इतिहासमें (भा० २, पृ० ५५) उद्दालक आरुणिकी परम्परा दी

है। उसमें तीसरे नम्बरका नाम 'मधुक पैङ्गय' है यह नाम 'मांच पिक' से बहुत मिलता जुलता है।

हारीत - श्री भगवद्दत्तजी ने लिखा है (पृ० २८) कि हेमाद्रि श्राद्धकल्प में पृ० ७५ पर हारीत स्मृतिपर टीका लिखनेवालेमें जयसेनका स्मरण किया गया है। एक हरीत धर्मसूत्रके रचयिता हुए हैं (हि० ध० पृ० ७०-७५)। वे कृष्ण यजुर्वेद शाखाके थे। ये दोनों एक ही हैं या भिन्न हम नहीं कह सकते। फिर भी अकलंक देवने इन्हींमें से एकका निर्देश किया जान पड़ता है।

मुण्ड—एक उपनिषद्का नाम मुण्डक है। शायद यह उसीसे सम्बद्ध हो?

आश्वलायन—षड्गुरुशिष्यने ऋक् सर्वानुक्रमणी वृत्तिकी भूमिकामें लिखा है कि शौनकने ऋग्वेद सम्बन्धी दस ग्रन्थ लिखे और उनके शिष्य आश्वलायनने तीन ग्रन्थ लिखे-श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और आरण्यक चौथा। (वै० वा० इ०, भा०२, पृ० २२६)। इन्हीं प्रसिद्ध आश्वलायनका उल्लेख अकलंक देवने किया जान पड़ता है।

शेष क्रियावादियोंके विषयमें हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी।

मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायनको अकलङ्कदेवने अक्रियावादी कहा है। और सिद्धसेनगणिने इन्हें क्रियावादी कहा है।

मरीचिकुमार—डा० Schrader भगवान ऋषभदेवके पौत्र मरीचिकुमारको ही उल्लिखित मरीचिकुमार मानते है। और यह उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि मरीचिकुमारके पश्चात् ही कपिल का नाम है जो सांख्य दर्शनका संस्थापक था। जिन सेनने अपने

महापुराण पर्व १८ श्लो ६१, ६२ में लिखा है कि ऋषभदेवका पौत्र मरीचि भी भगवानके साथ प्रव्रजित हुआ और उसने भ्रष्ट होकर सांख्य म का प्रतिपादन किया।

कपिल—कपिल ऋषि सांख्य दर्शनके संस्थापकोंमें से हुए हैं। सांख्यकारिकाकी अन्तिम कारिकासे भी यह प्रकट होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कपिलको ब्राह्मणका बौद्धिक पुत्र कहा है म० भा० के शान्ति पर्वमें भी कपिलको ब्राह्मणका मानस पुत्र कहा है। भागवतमें कपिलको विष्णुका अवतार बतलाया है।

उलूक—वैशेषिक दर्शनके पुरस्कर्ता कणाद ऋषिका नाम उलूक भी था। इसीसे वैशेषिक दर्शनको औलुक्य दर्शन भी कहते हैं। सांख्य कारिका नं० ७१ की माठर वृत्तिमें भी उलूक नाम आया है। उससे प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शनमें भी कोई उलूक नामक ऋषि हुए हैं। डा० [1]कीथने लिखा है कि सांख्य कारिकाके चीनी अनुवादमें सांख्य दर्शनके आचार्योंकी एक तालिका दी हुई है जिसमें पंचशिखके पश्चात् और वर्ष तथा ईश्वर कृष्णके पहले गार्ग और उलूक नाम दिया है। अतः सांख्य दर्शनके उलूक ही उल्लिखित उलूक होने चाहिएं, क्योंकि मरीचि और कपिल भी सांख्य दर्शनके ही पुरस्कर्ताओंमें से थे।

गार्ग्य—यास्कने धातुओंसे नामकी उत्पत्तिके विषयमें गार्ग्यके मतका उल्लेख किया है। ऋक् और यजुः प्राति शाख्यमें भी गार्ग्य का नाम आया है (पा० भा०, पृ० ३३४)। बृहदारण्यक उपनिषद्

१—हि० इं० सा०, पृ० ४४।

में ऋषियोंकी जो तालिका दी है उसमें भी दो गार्ग्योंका निर्देश मिलता है। उनमेंसे एक गार्ग्य याज्ञवल्क्यके समकालीन थे। ऊपर उल्लिखित सां० कारिकाके चीनी अनुवादमें सांख्य दर्शनके जिन आचार्योंका नाम दिया है उनमें एक गार्ग्य नाम भी है। चूंकि अकलङ्क देवने अक्रियावादियोंमें सांख्य दर्शनके पुरस्कर्ता आचार्यों को ही गिनाया है अतःयह गार्ग्य उन्हींमें से होना चाहिए।

व्याघ्रभूति—सि० कौ० में दो कारिकाएं[1] आई हैं जिनमें व्याघ्रभूतिके मतका निर्देश है। कोलब्रुकने भी लिखा है कि व्याघ्रभूति और व्याघ्रादकी वार्तिकोका उल्लेख अनेक ग्रन्थकारों ने किया है। अतः यह व्याघ्रभूति वैयाकरण ज्ञात होते हैं। (त० भा० टी०, प्रस्ता० पृ० ५८)।

माठर—सांख्य कारिका पर माठर वृत्तिके रचयिता माठर प्रसिद्ध हैं। अतः कपिल आदि सांख्योंके साथ उनका ही नाम निर्देश होना सम्भव है। किन्तु दृष्टिवादमें उनके मतका निराकरण होना सम्भव नहीं है क्यों कि उनका काल प्रायः ईस्वी सन्की प्रथम शतीसे पूर्व नहीं है। प्राचीन कालमें माठर[2] नामके एक वैदिक ऋषि भी हुए हैं।

मौद्गल्यायन—तैत्तिरीय उपनिषद्में एक मौद्गल्यायनका उल्लेख है। गोपथ ब्राह्मणमें मौद्गल नामक ऋषिका नाम आया

१—'विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते। व्याघ्रभूत्याद-यत्स्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम्।' १०॥ रजी मस्जी अदि पदी तुद् क्षुध् शुषि पुषी शिषिः। भाष्यानुक्ता नवेहोक्ता व्याघ्रभूत्यादिसम्मतेः ॥११॥'
—सि० कौ०

२—'संध्यास्ति माठरश्चैव याज्ञवल्क्यः पराशरः।'
—वै० वा० इ०, भा० २, पृ० ६३।

है। एक मोग्गलायन बुद्धदेवके शिष्य भी थे। नहीं कह सकते कि अकलङ्कदेवके द्वारा निर्दिष्ट अक्रियावादी मौद्गल्यायन इनमेंसे कौन हैं ?

उल्लिखित व्यक्तियों के उक्त आनुमानिक परिचय से प्रतीत होता है कि अकलंक देव ने कतिपय वैदिक ऋषियों को क्रियावादी और सांख्य दर्शनके प्रवर्तकोको अक्रियावादी कहा है। वैदिक ऋषि क्रियाकाण्डी थे अतः उन्हें क्रियावादी मानना उचित है और सांख्य दर्शन मे आत्मा को अकर्ता माना गया है अतः उसके पुरस्कर्ताओं को अक्रियावादी कहना भी उचित ही है। किन्तु सिद्धसेनने सांख्यवादियोंको क्रियावादी और क्रियाकाण्डी वैदिकोंको अक्रियावादी किस दृष्टिसे बतलाया है यह हम नहीं कह सकते। अस्तु,

साकल्य, वाल्कल, कुथुमि, सत्यमुग्रि, कठ, माध्यंदिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, वसु, जैमिनिको अकलंकने अज्ञानवादी कहा है।

साकल्य—पाणिनिने अष्टाध्यायीमे शाकल्यका उल्लेख किया है। शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ स्थिर किया। पद पाठ मे जो इति का प्रयोग है उसे पाणिनीने शाकल्य कृत अनार्ष इति कहा है (१-१-१६)। (पा० भा० पृ० ३३३)। महाराज जनक की सभा मे याज्ञवल्क्य का ऋषियों के साथ जो महान् संवाद हुआ था उसका वर्णन शतपथ काण्ड ११-१४ में है। ऋषियों में एक विदग्ध शाकल्य था। याज्ञवल्क्य का उत्तर न देने से उसका मस्तक गिर गया। यह शाकल्य ऋग्वेद का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। यही पदकारों मे सर्व श्रेष्ठ था। इसका पूरा नाम देव मित्र शाकल्य था। (वै० वा० इ०, भा० २, पृ० ७६)।

वाल्कल—वाल्कल या वल्कल नाम अशुद्ध प्रतीत होता है। सिद्धसेनगणिकी तत्वार्थ टीका (भा० २, पृ० १२३) में वाष्कल नाम दिया है। यही शुद्ध पाठ जान पड़ता है। बाष्कल ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण चरण था। शाकलों और वाष्कलों का साथ-साथ उल्लेख भी देखा जाता है। चरण एक प्रकार की शिक्षा सस्था थी जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिनका नाम मूल संस्थापक के नाम से पड़ता था। वाष्कल चरण के प्रमुख शिष्य पराशर थे जिन्होंने पाराशर्य शाखाका प्रारम्भ किया। पाराशर्य लोगो को कोई स्वतंत्र शाखा या छन्द ग्रन्थ न था, उसके लिये वे वाष्कल शाखा पर निर्भर थे। (पा० भा०, पृ० ३१५)। सम्भवतया अकलंक देवने वाष्कल चरण के संस्थापक ऋषि का ही नाम अज्ञानवादियों मे लिया प्रतीत होता है।

कुथुमि—साम वेद की एक शाखा का नाम कुथुम है। वायुपुराण अध्याय २३ मे द्वैपायन से पूर्व के प्रत्येक द्वापर के अन्त मे होनेवाले २७ व्यासो के नाम लिखे है। उनमे १६ वां व्यास भरद्वाज था। उसके समकालीन हिरण्य नाभ कौसल्य लौगाक्षि और कुथुमि थे। ये सामवेदाचार्य द्वपायन व्यास से कुछ ही पहले हुए थे (वै० वा० इ०, भा० १, पृ० ७०)। सम्भवतया अकलंक देव ने सामवेदाचार्य कुथुमि का ही निर्देश अज्ञानवादियो मे किया है।[1]

सात्यमुग्नि—पाणिनि ने साम वेद के अन्य चरणो में शौचिवृत्ति और सात्यमुग्नि चरणों का नाम लिया है। (४-१-८१)।

१—आश्वलायन गृह्य सूत्रकी नारायण वृति मे लिखा है—'शाकलसमाम्नायस्य वाष्कलसमाम्नायस्य चेदमेव सूत्रं गृह्यं चेत्यध्येत्टप्रसिद्धम्।'

साम वेद के राणायनीय चरण की एक शाखा का नाम सत्यमुग्रि था। इनके विषय में आपिशली शिक्षा के षष्ठ प्रकाश में लिखा है कि सात्यमुग्रि शाखावाले सन्ध्यक्षरों को ह्रस्व पढ़ते हैं। अर्ध एकार और अर्ध ओकार के उच्चारण को सात्यमुग्रि और राणायनीय चरणों की परिषत् ने अपने प्रातिशाख्यों में स्वीकार किया था। (पा० भा०, पृ० ३२०। वै० वा० इ०, भा० १, २१३)। इन्हीं सात्यमुग्रि का उल्लेख अकलंक देव ने अज्ञानवादियों में किया प्रतीत होता है।

नारायण—नारायण' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके स्थान में 'राणायन' होना चाहिये। लेखकों के प्रमाद या बुद्धि दोष के कारण राणायन का नारायण हो गया जान पड़ता है। सिद्धसेनगणि की टीका मे 'राणायन' पाठ ही मुद्रित है। यह ऊपर लिखा है कि सामवेद की राणायनीय चरण की एक शाखा का नाम सात्यमुग्रि है। अतः सात्यमुग्रि के निकट में राणायनीय शाखा के संस्थापक राणायन का ही निर्देश उचित प्रतीत होता है। किन्तु एक शाखा चारायणीय भी थी। चर ऋषि का गोत्रापत्य चारायण है। पाणिनीय गण (४-१-९९) में चर का स्मरण किया गया है। चारायणों का एक मंत्रार्षाध्याय भी मिलता है। (वै० वा० इ०, भा० १,पृ० १९०)। अतः यह कहना शक्य नहीं है कि नारायण के स्थान में राणायन होना चाहिये या चारायण।

कठ—महाभारत[1] (शान्तिपर्व अ० ३४४) में राजा उपरिचर वसु के यज्ञ का वर्णन है, वहाँ १६ ऋत्विजों में से एक आद्य कठ भी थे। इससे प्रतीत होता है कि कठों में जो प्रधान कठ

१—'आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायन पूर्वजः ॥ ६ ॥'

था, अथवा जो उन सब का मूल गुरु था, उसे ही आद्य कठ कहा है। पाणिनि ने कठों का स्वतंत्र उल्लेख किया है। यह चरकों का अति प्रसिद्ध चरण[1] था, जिसके अनुयायी गाँव-गाँव में फैल गए[2] थे। कठों की शाखा के विषय में कहा जाता[3] था कि वह अत्यन्त विशाल और सुविरचित ग्रन्थ था। (पा० भा०, पृ० ३१८)। इन्ही कठों के आद्य गुरु का उल्लेख अकलंक देव ने अज्ञान वादियों में किया प्रतीत होता है।

माध्यन्दिन—शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा का नाम माध्यन्दिन शाखा है। इस समय यही शाखा सब से अधिक पढ़ी जाती है। संहिता के हस्तलिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद या वाजसनेय संहिता ही कहा गया है। इसके संस्थापक माध्यन्दिन ऋषि का ही निर्देश अकलंक देव ने अज्ञानवादियों में किया जान पड़ता है।

मौद और पैप्पलाद—मौद और पैप्पलाद दोनो[4] अथर्ववेदके चरण थे। इन दोनों चरणोमे ज्ञानसाहचर्य था। पाणिनिने 'कार्तकौजपादि गणमें (६–२–३७) 'कठकलापाः' कठकौथुमाः

१—'चरण शब्दाः कठ कलापादयः।'—का०वृ० ४-२-४६।

२—'ग्रामे ग्रामे च काठकं कालापकं च प्रोच्यते॥ पा० महा० ४—३—१०१।

३—'कठं महत् सुविहितम्'—पा० महा० ४–२–६६, वा० २।

४—पात० महा० के पस्पशाह्निकमें अथर्ववेदको नवशाखा युक्त कहा है। यथा—'नवधाथर्वणो वेदः।' इन नौ शाखाओंके विषयमे आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूहमें लिखा है—'तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा पैप्पलादाः स्तौदाः मौदाः शौनकीयाः जाजलाः जलदाः ब्रह्मवदा देवदर्शाः चारणवैद्याः चेति। - वै. वा. इ., भा. १, पृ. २२०।

मौदपैप्पलादाः' उदाहरणोंके द्वारा इस बातका उल्लेख किया है (पा० भा०, पृ० २६४) । पात० महा० (४-२-६६) में 'मौदाः' पैप्पलादाः प्रयोग भी मिलते हैं । अतः महाभाष्य कालमे ये शाखाएं बहुत प्रसिद्ध रहीं होगी । अथर्व परिशिष्ट (२२-३) मे मौदका मत दिया है ।

स्कन्द पुराण (नगर खण्ड) के अनुसार पिप्पलाद सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्यका ही एक सम्बन्धी था । प्रश्न उपनिषद्‌के आरम्भमें लिखा है कि भगवान पिप्पलादके पास सुकेशा भारद्वाज आदि छ: ऋषि गये थे । वह पिप्पलाद महाविद्वान और समर्थ पुरुष था ।

बादरायण—परम्परासे ब्रह्म सूत्रोंका रचयिता बादरायणको माना जाता है । मत्स्यपुराण (१४-१६) मे कहा है कि वेदव्यास का एक नाम बादरायण भी था । कृष्ण द्वैपायन व्यास पराशर ऋषिके पुत्र थे तथा महाभारतके रचयिता थे । जैमिनि सूत्रों (१-१-५, ५-२-१९) में भी बादरायणका निर्देश है । एक बादरायण [1]स्मृतिकार भी हुए हैं । सूत्रकार बादरायणका निर्देश अकलङ्कदेवने किया हो, यह सम्भव प्रतीत होता है ।

बादरायणके पश्चात् [2]तत्त्वार्थवार्तिकमे प्रदत्त दो नामोंको लेकर अनेक पाठान्तर मिलते है । यथा, 'अम्बष्ठिकृदौ विकायन, अम्बष्ठिकृदैलिकायन, अम्बरीशस्विष्ठिकृदैतिकायन' ।

सिद्धसेन गणिकी त० भा० टीका (भा० २, पृ० १२३) में 'स्विष्टिकृद् अनिकात्यायन; मुद्रित है । तथा धवला टीका (पु० १, पृ० १०८) मे 'स्वेष्टकृदैतिकायन' नाम दिये हैं । इनसे मिलते

१—हि० ध०, पृ. ७१४ । २—भा. ज्ञा. काशी संस्करण, पृ. ७४ ।

जुलते जिन नामोंके सम्बन्धमें हमें जानकारी प्राप्त हो सकी, उन्हें दिया जाता है।

अम्बरीश—अंगिरा कुलके मंत्रद्रष्टाओंमें अम्बरीश एक क्षत्रीय कुलोत्पन्न मंत्रद्रष्टा हुआ है। राजा अम्बरीश बहुत पुराना व्यक्ति माना जाता है। महाभारतमेंभी इसका नाम आया है। कौटिल्यके अर्थशास्त्र में (१-६) भी उसका नाम आया है।

स्वैदायन—शतपथमे शौनक स्वैदायन[1] नामक आचार्यका नाम आता है।

चैकितायन—बृहदारण्यकमे लिखा है कि शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य, और प्रवाहण जाबालि ये तीनो उद्गीथमें कुशल थे। प्रवाहण जाबालिका चैकितायनदाल्भ्य[2] से संवाद हुआ था।

वसु—व्यास मुनिसे ऋग्वेद पढ़नेवाले शिष्यका नाम पैल था। महाभारत[3] मे लिखा है कि युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके समय व्यास ऋत्विक कर्मके लिये एक पैल को साथ लाये थे। यह पैल वसु का पुत्र था। पुराणोमे लिखा है कि व्याससे ऋग्वेद पढ़कर पैलने उसकी दो शाखाएं करदीं। एकको उसने वाष्कल को पढ़ाया और दूसरीको इन्दुप्रमति को। इस प्रमतिको वेदवेदांगपारग कहा है। ब्रह्माण्डपुराणके तीसरे पादमें लिखा है

१—'स्वैदायनेनेति। शौनको ह स्वैदायन आस।'—शतपथ० ११-४-१-१।

२—'त्रयो होद्गीथे कुशला बभुवुः। शिलकः शालावत्यः। चैकितायनो दाल्भ्यः। प्रवाहणो जैवलिः।' बृह० ६-२-३।

३—'पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्॥' ३५॥—म० भा०, सभापर्व, अ० ३६।

कि इस इन्दु प्रमति का पुत्र वसु और वसुका पुत्र उपमन्यु था। सम्भवतया इन दोनोंमें से ही किसी एक वसुका निर्देश अकलंकदेवने किया है।

जैमिनि—ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि नामके अनेक विद्वान् हुए हैं। एक जैमिनि व्यास[1] ऋषिका शिष्य था। महाभारत सभापर्व (४-१७) से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिरके सभा-प्रवेशके समय जैमिनि उपस्थित था। उधर आदिपर्वमें लिखा[2] है कि महाराज जनमेजयके नागयज्ञमें जैमिनि उद्गाता का कार्य करता था। साम संहिताकारोंके लांगल समूहमें भी एक जैमिनि का नाम आता है। सामवेदाचार्य जैमिनि और उनके शिष्य तलवकारने जैमिनि ब्राह्मणका संकलन किया था। इसे ही सामवेद को जैमिनीय संहिता का प्रवक्ता कहा जाता है। एक जैमिनि मीमांसा शास्त्रके रचयिता भी हुए हैं। वेदान्तसूत्रों में उनका उल्लेख है।

उक्त वैदिक ऋषियों और आर्योंको अकलंक देवने अज्ञानवादी कहा है।

अकलंक देव ने वशिष्ठ, पाराशर जतुकर्णि, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूणको वैनयिक दृष्टि कहा है।

१—'ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया। विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ॥१३०॥ वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्। सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥ १३१ ॥'—म० भा०, आदिपर्व, अ० ६४।

२—'उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सार्य जैमिनिः'—म० भा०, आदिपर्व, अ. ४८।

वशिष्ठ--वशिष्ठ नामके भी अनेक व्यक्ति पाये जाते हैं। एक तो वह वशिष्ठ है, जिनकी गणना[1] दस महर्षियों में की गई है। एक वशिष्ठ योगवाशिष्ठ रामायण के रचयिता हुए हैं। एक वशिष्ठ धर्म सूत्र के रचयिता हुए हैं। इनमें से किन वशिष्ठ का ग्रहण निर्देश अकलंक देवको अभिप्रेत है यह निर्णय कर सकना दुःशक्य है। तथापि आगे के नामों को देखते हुए वैदिक ऋषि वशिष्ठ का ही ग्रहण इष्ट प्रतीत होता है। इन्होंने अथर्व वेद के मंत्रोंका[2] उद्धार किया था।

पाराशर—वासिष्ठ कुल में सात ब्रह्मवादी हुए हैं। इनमें प्रथम वशिष्ठ थे और दूसरे थे पराशर। इसी पराशर का पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास था। इसीसे उसे पाराशर्य भी कहते थे। चूँकि व्यास का नाम आगे लिखा है अतः वसिष्ठ के पश्चात् 'पराशर' नाम ही उचित प्रतीत होता है। सिद्ध सेन गणि की टीका में 'पाराशर' नाम पाया जाता है।

जतुकर्णि (जातुकर्ण्य)—पुराणों में लिखा है कि वाष्कलने चार संहिताएं बनाकर अपने चार शिष्योंको पढ़ाई। उनके नाम[3] थे-बौद्ध्य, अग्निमाठर, पराशर और जातुकर्ण्य। श्री मद्भागवतके

१-'भृगुर्मरीचिरत्रिश्च ह्यङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥ ६६ ॥ ब्रह्मणो मनसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः। परत्वेनर्षयो यस्मात् स्मृता स्तस्मान्महर्षयः ॥ ६७ ॥ —ब्रह्माण्डपु०, -२-३२-६२।

२-किरात १०-१० की टीका में मलिनाथ लिखते हैं-'अथर्वणस्त मंत्रोद्धारो वशिष्ठकृत इत्यागमः।'

३-'बौध्यं तु प्रथमां शाखां द्वितीयमग्नि माठरम्। पराशरं तृतीयां तु जातुकर्ण्यमथापरम्।' —वै० वा० इ०, भा० १, पृ० ९३।

बारहवें स्कन्धके वेदशाखा प्रकरणमे जातुकर्ण्यको ऋग्वेदीय आचार्य माना जाता है। वायु पुराण अ० २ः में और ब्रह्माण्ड पुराण, पाद २, अ० ३५ में द्वैपायन से पहले जातुकर्ण्य, पराशर, शक्ति आदि व्यास माने गये हैं। वायु पुराण के प्रथम अध्यायमे लिखा है कि वशिष्ठ का पौत्र जातुकर्ण्य था। उसी से व्यासने वेदाध्ययन किया। ब्रह्मांड पुराण (१-१-११) में भी यही बात लिखी है। वृहदारण्यक उपनिषद् २-६-३ और ४-६-३ में भी लिखा है कि पाराशर्य-व्यास ने जातुकर्ण्य से विद्या सीखी। वायु पुराणके अनुसार जातुकर्ण्य वशिष्ठका पौत्र था। अत. वह पराशर का भाई हो सकता है। (वैं० वा० इ० भा० १, पृ० ६५)। अतः जतुकर्णि के स्थान मे जातुकर्ण्य पाठ ठीक प्रतीत होता।

वाल्मीकि— रामायणके रचयिता वाल्मीकि ऋषि प्रसिद्ध है।

रोम हर्षणी (रोम हर्षण)—पुराण संहिताओंके रचयिता के रूपमें एक सूत रोमहर्षण का नाम मिलता है। वायु पुराण मे लोमहर्षण या रोमहर्षण नामकी व्याख्या इस प्रकार की है—जो अपने कथनो के द्वारा सुनने वालेके शरीरके रोमोको पुलकित कर देता है वह वक्ता रोमहर्षण कहा जाता है।

सत्यदत्त—सत्य काम जावाल, सत्ययज्ञ आदि नामके व्यक्तियों का तो निर्देश मिलता है। किन्तु सत्यदत्त नामकी जानकारी नही मिल सकी।

व्यास—पराशर ऋषि के पुत्र महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास प्रसिद्ध हैं।

एलापुत्र या इलापुत्र—श्री कापड़ियाने लिखा है कि पुराणों से पता चलता है कि प्रजापति कर्दमका पुत्र इल या एल था। वह वाल्हीक देशका राजा था। वह स्त्री रूपमे परिवर्तित हो गया

और उसका नाम इला या एला हो गया। इस अवस्था में उसके पुरुरवा नामक पुत्र हुआ। हम नहीं कह सकते कि निर्दिष्ट एला-पुत्र वही है या दूसरा (त० भा० टी०, भा० २ की प्रस्ता०, पृ० ६१)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी एक ऐल नामक राजा का निर्देश मिलता है।

औपमन्यव—छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार औपमन्यव प्राचीन शाल, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य और बुडिल आश्वतराश्वि ये पाँच महाश्रोत्रिय आत्माका स्वरूप जानने के लिए गए थे। उल्लिखित औपमन्यव और प्राचीन शाल औपमन्यव एक ही प्रतीत होते हैं।

ऐन्द्रदत्त—यह नाम नहीं मिलता। इन्द्रदत्त भी हो सकता है, किन्तु इन्द्रदत्त नामके भी किसी व्यक्तिका पता नहीं चलता। हाँ, इससे मिलता जुलता इन्द्रोत शौनक नाम मिलता है। इन्द्रोत शौनक ने जनमेजयका अश्वमेध यज्ञ कराया था।

अय स्थूण—शतपथ ब्राह्मण (१४-६ ३-१५,२०) में एक गुरु शिष्य परम्परा दी है। उसमें 'जानकि आयस्थूण' नाम मिलता है।

अकलंक देवके अनुसार इन सब वादियों के मतोंका वर्णन और निराकरण दृष्टिवादमें था। अकलंक देवने जो तत्तत्

१–'प्राचीनशालऔपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विः...ते ह संपादयाचक्रु रुद्दालकों वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमभ्येति-छा० उ० ५-११-१.४.।

२–'एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम्। याजयामास विधिवद् वाजिमेधेन शौनकः ॥३८॥–म० भा०, शान्ति०, अ० १५१। शतपथ० १३-५-३-५ में भी इन्द्रोत शौनक नाम मिलता है।

वादियों के कतिपय नामों का निर्देश किया है, उसका क्या आधार था, यह हम बतलानेमें असमर्थ हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि अकलंक देव के द्वारा निर्दिष्ट उक्त सभी वादी प्रायः वैदिक ऋषि हैं। और अक्रियावादियोंमे सांख्य दर्शन के पुरस्कर्ताओं का तथा अज्ञान वादियों मे ब्रह्म सूत्रकार बादरायण और पूर्व मीमांसा के प्रवर्तक जैमिनि का नाम निर्देश किया है। ये सभी दर्शनकार प्राचीन हैं। किन्तु बौद्धमत के प्रवर्तक का या किसी आचार्य का नाम निर्देश अकलंक देव ने नहीं किया है। यद्यपि उनके समय में बौद्ध दर्शन की ही तूती बोल रही थी और अपने ग्रन्थों में उन्होने धर्मकीर्ति वगैरहका काफी खण्डन भी किया है। इससे ऐसा लगता है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट नाम अवश्य ही किसी परम्परागत स्रोत से उन्हे प्राप्त हुए होंगे। सिद्धसेन गणि ने भी अपनी तत्त्वार्थ भाष्य टीका के आठवें अध्याय के आरम्भ में वे ही नाम दिये हैं, जो अकलंकदेवके तत्त्वार्थ वार्तिकसे लिये गये प्रतीत होते है। किन्तु सिद्धसेन गणि ने यह नहीं लिखा कि दृष्टिवादमे इन मतो का निरूपण और निराकरण था। यह तो केवल अकलंकदेवने ही लिखा है।

अकलंक देव ने दृष्टिवाद के पाँच भेद बतलाये हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। और पूर्वगत के चौदह भेद गिनाये हैं, तथा यह भी बतलाया है कि किस पूर्व में किन २ विषयों का वर्णन था। अकलंक देव के पूर्ववर्ती पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि (अ० १, सू० २०) नामक अपनी तत्त्वार्थवृत्ति मे भी दृष्टिवाद के उक्त पाँच भेद तथा पूर्व के चौदह भेदों के नाम दिये हैं। किन्तु उन पूर्वों में वर्णित विषय का निर्देश नहीं किया।

अकलंक देव के पश्चात् हुए श्री वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला[1] और जयधवला[2] टीकाओं के प्रारम्भ में दृष्टिवाद के उक्त भेदों का तथा उनमें वर्णित विषयों का प्रतिपादन करने के साथ ही साथ उन सब के परिमाण का भी कथन किया है। अकलंक देव ने तो केवल चौदह पूर्वों के ही विषय का निर्देश किया है। किन्तु वीरसेन स्वामीने दृष्टिवादके अन्य चार भेदोंमें भी वर्णित विषयका निर्देश किया है।

दृष्टिवाद के सम्बन्ध में यह जानकारी तो उत्तर कालीन टीकाकारों से प्राप्त होती हैं। प्राचीन मूल ग्रन्थकारों से जो जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

दिगम्बर परम्परा के दो महान सिद्धान्त ग्रन्थ कुछ वर्षों से ही प्रकाश मे आये हे। उनमें से एक का नाम है कसाय पाहुड और दूसरे का नाम है 'छक्खण्डागम'। दोनो सिद्धान्त ग्रन्थों का निकास पूर्वों से हुआ था। ये उनके देखने से स्पष्ट होता है। कसाय पाहुड की प्रथम[3] गाथा मे बताया है कि 'ज्ञान प्रवाद नामक पाँचवे पूर्व के दसवे वस्तु अधिकार में पेज्ज प्राभृत है। उससे प्रकृत कसाय पाहुड की उत्पत्ति हुई है। टीकाकार वीरसेन स्वामी ने[4] लिखा है कि 'अंग और पूर्वो का एकदेश आचार्य परम्परा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ, और ज्ञान

१—षट्ख., पु. १, पृ. १०६–१२२ तथा पु. ६, पृ. २०३–२२४।

२—क. पा., भा. १, पृ. १३२–१४८।

३—'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥१॥' —क. पा., भा. १, पृ. १०। ४—क. पा., भा. १, पृ. ८७।

प्रवाद नामक पाँचवे पूर्व की दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषाय प्राभृत रूपी महा समुद्र के पार को प्राप्त श्री गुणधर भट्टारक ने प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित होकर सोलह हजार पद प्रमाण पेज्ज दोस पाहुड़ ग्रन्थ का विच्छेद होने के भय से केवल एक सौ अस्सी गाथाओं मे उपसंहार किया।

इसी तरह षट्खण्डागम का उद्गम अग्रायणी[१] नामक दूसरे पूर्व के पंचम वस्तु अधिकार के चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृत से हुआ है। टीकाकार वीरसेन स्वामी ने[२] बतलाया है कि अग्रायणी पूर्व मे चौदह वस्तु अधिकार होते है—पूर्वान्त, अपरान्त ध्रुव अध्रुव, चयनलब्धि, अर्धोपम, प्रणधिकल्प, अर्थ भौम, वतादि (?) सर्वार्थ, कल्प निर्याण, अतीत काल मे सिद्ध और बद्ध तथा अनागत काल मे सिद्ध और बद्ध। इनमे से चयन लब्धि नामक पाँचवे वस्तु अधिकार में प्राभृत नामक बीस अधिकार होते है। उनमे चौथे प्राभृत का नाम कर्मप्रकृतिप्राभृत है। इस कर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीस अधिकार होते हैं।

उक्त सिद्धान्त सूत्रों से यह प्रकट है कि पूर्वो में वस्तु और प्राभृत नाम के अधिकार होते थे। वीरसेन स्वामी ने प्रत्येक पूर्व में वस्तु नामक अधिकारो की संख्या बतला कर लिखा है[३] कि एक एक वस्तु अधिकार मे प्राभृत नामक बीस-बीस अर्थाधिकार होते हैं और इन प्राभृताधिकारों मे से भी एक एक अर्थाधिकार में चौबीस-चौबीस अनुयोग द्वार नामक अर्थाधिकार होते हैं।

१—'अग्गेणीयस्स पुव्वस्य वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम ॥४५॥' —षट्खं., पु. ९, पृ. १३४। २—षट्खं., पु. १, पृ. १२३-१२४। ३—क. पा., भा. १, पृ. १५१।

श्रुतज्ञान के बीस भेद

षट्खण्डागम[1] के वर्गणा नामक खण्ड में श्रुतज्ञानके बीस भेद बतलाये हैं—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पदसमास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति समास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास और पूर्व, पूर्व समास।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है। यह ज्ञान नष्ट नहीं होता इसलिये इसे अक्षर कहते हैं। अथवा केवल ज्ञान अक्षर है क्योंकि उसमें हानि वृद्धि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव का ज्ञान भी वही है, इसलिये भी उस ज्ञान को अक्षर कहते हैं। यह ज्ञान केवल ज्ञान का अनन्तवां भाग है। तथा केवलज्ञान की तरह ही निरावरण है, क्योंकि आगमका कथन है कि अक्षरका अनन्तवां भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है। इसके आवृत होने पर जीवके अभाव का प्रसंग आता है।

इस लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीवराशि का भाग देनेपर जो

१—'पज्जय-अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं। पाहुड-पाहुड-वत्थू-पुव्व समासा य बोद्धव्वा॥१॥—षट्खं० पु० १३, पृ० २६०। श्वेताम्बरीय प्रथम नवीन कर्म ग्रन्थ में भी श्रुतज्ञान के ये २० भेद दिये हैं यथा—पज्जय अक्खर पय-संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो। पाहुड पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा॥ ७॥ किन्तु अन्यत्र सर्वत्र ज्ञान की चर्चा में श्वेताम्बर परम्परा में पूर्वोक्त चौदह भेद ही पाये जाते हैं।

लब्ध आता है उसे लब्ध्यक्षर में मिला देने से पर्यायज्ञानका प्रमाण होता है। पुन: पर्याय ज्ञान मे सब जीवराशि का भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे उसे उसी पर्याय ज्ञान मे मिला देने पर पर्याय समास ज्ञान होता है। अन्तिम पर्याय समास ज्ञान मे सब जीव राशि का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी में मिलाने पर अक्षर ज्ञान होता है। यह अक्षर ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरों के बराबर होता है।

अक्षर के तीन भेद है—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर श्रुतकेवली पर्यन्त जीवो के जितने क्षयोपशम होते है उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जघन्य लब्धक्षर, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधर के होता है। एक अक्षर से जो जघन्य श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुत ज्ञान है। इस इस अक्षर के ऊपर दूसरे अक्षर को वृद्धि होने पर अक्षर समास नामक श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर की वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरो की वृद्धि होने तक अक्षर समास श्रुत ज्ञान होता है।

संख्यात अक्षरों को लेकर एक पदनामक श्रुत ज्ञान होता है। पद[१] के तीन भेद है—अर्थ पद, प्रमाण पद और मध्यमपद। जितने से अर्थ का ज्ञान हो, वह अर्थपद है। अर्थ पद के अक्षरो

१—'तिविहं पदमुद्दिट्ठं पमाणपद मत्थ मज्झिमपदे च। मज्झिम पदेण वुत्ता पुव्वगाणं पद विभागा ॥१६॥ बारस सद कोडीओ तेसीदि हवंति तह ह लक्खाइं। अट्ठावरण्ण सहस्सं पंचेव पदाणि सुदणाणे ॥२०॥
—षट्खं०, पु०, १३, पृ० २६६

का कोई नियम नहीं है क्योंकि अनियत अक्षरों से अर्थ का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। आठ अक्षरों का प्रमाण पद होता है और सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख, सात हजार आठ सौ अट्ठासी अक्षरों का मध्यमपद होता है। मध्यम पद के द्वारा पूर्व और अंगों का पद विभाग होता है।

द्वादशांग के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच बतलाई है। इन पदों में संयोगी अक्षर ही समान हैं, संयोगी अक्षरों के अवयव अक्षर नहीं, क्योंकि उनकी संख्या का कोई नियम नही है।

इस मध्यम पद श्रुत ज्ञान के उपर एक अक्षर के बढ़ने पर पद समास श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते एक अक्षर से न्यून संघात श्रुत ज्ञान के प्राप्त होने तक पद समास श्रुतज्ञान होता है। उसमे एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघात नाम का श्रुतज्ञान होता है। यह संघात श्रुतज्ञान मार्गणा ज्ञान का अवयवभूत है। जैसे गति मार्गणा मे नरक गति विषयक ज्ञान संघात श्रुत ज्ञान है।

संघात श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघात समास श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर वृद्धि के क्रम से बढ़ते हुए एक अक्षर से न्यून प्रतिपत्ति श्रुत ज्ञान पर्यन्त संघात समास श्रुतज्ञान होता है। उसमें एक अक्षर की वृद्धि होने पर प्रतिपत्ति श्रुत ज्ञान होता है। प्रतिपत्ति श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर प्रतिपत्ति समास श्रुत ज्ञान होता है, इस प्रकार एक एक अक्षर वृद्धि होते होते एक अक्षर से न्यून अनुयोग द्वार श्रुत ज्ञान पर्यन्त प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान होता है। उसमें एक अक्षर की वृद्धि होने पर अनुयोग द्वार

श्रुत ज्ञान होता है। आशय यह है कि अनुयोग द्वार के जितने अधिकार होते हैं उनमे से एक अधिकार की प्रतिपत्ति संज्ञा है। और एक अक्षर से न्यून सब अधिकारो की प्रतिपत्ति समास संज्ञा है। इसी तरह प्रतिपत्ति के जितने अधिकार होते हैं उनमें से एक एक अधिकार की संघात संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारो की संघात समास संज्ञा है।

अनुयोग द्वार श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर अनुयोग द्वार समास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते एक अक्षर से न्यून प्राभृत प्राभृत श्रुत ज्ञान के प्राप्त होने तक अनुयोग द्वार समास श्रुत ज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर प्राभृत प्राभृत श्रुत ज्ञान होता है।

प्राभृत प्राभृत श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर प्राभृत-प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते एक अक्षरसे न्यून प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृत प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होनेपर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। सारांश यह कि एक प्राभृतमे संख्यात अधिकार होते है। उनमेसे एक एक अधिकार की प्राभृत प्राभृत संज्ञा है और प्राभृत प्राभृतके अधिकारोमेसे प्रत्येक अधिकारकी अनुयोग-द्वार संज्ञा है।

प्राभृत श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होनेपर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। उसमें एक अक्षर की

वृद्धि होनेपर वस्तु श्रुतज्ञान होता है। वस्तु श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होनेपर वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक एक अक्षर की वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्व श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पूर्व श्रुत ज्ञान होता है। पूर्व श्रुतज्ञानके जितने अधिकार हैं उनमेंसे प्रत्येक की वस्तु संज्ञा है। और पूर्वगतके जो चौदह भेद हैं उनमेंसे प्रत्येककी पूर्वसंज्ञा है।

प्रथम पूर्व श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंग प्रविष्ट और अंग बाह्यरूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरोंकी वृद्धि होने तक पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है।

श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका उक्त विवेचन वीरसेन स्वामीने पट्खण्डागमके वर्गणा खण्डकी धवला टीकामें (पृ० २६१–६७) किया है। उसीके आधार पर संकलित गोमट्टसार जीवकाण्डके ज्ञान मार्गणा अधिकारमें भी उनका विवेचन मिलता है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें पूर्वमें दर्शित चौदह भेदोंका ही निरूपण पाया जाता है। इन बीस भेदोंका वहाँ संकेत तक भी नहीं मिलता। हाँ, कर्मविपाक नामक प्रथम कर्म ग्रन्थमें एक गाथाके द्वारा उक्त बीस भेद अवश्य गिनाये हैं और उसके रचयिता देवेन्द्र सूरिने स्वोपज्ञ टीकामें उनका संक्षिप्त स्वरूप भी दिया है और लिखा[1] है कि विस्तृत स्वरूप जाननेके

१—'एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशति भेदाः दर्शिताः, विस्तारार्थिना तु बृहत्कर्मप्रकृतिरन्वेषणीया'।—स. च. क. पृ. १६।

लिए बृहत्कर्म प्रकृतिका अन्वेषण करना चाहिये। देवेन्द्र सूरिकी टीकामे एक बात और भी उल्लेखनीय है। उन्होंने पदका स्वरूप बतलाते हुए लिखा[1] है—'जिससे अर्थका बोध हो उसको पद कहते हैं। पदके सम्बन्धमें इस प्रकारके कथन मिलते है तथापि जिस किसी पदसे आचार आदि ग्रन्थोंका प्रमाण अट्ठारह हजार आदि कहे जाते हैं, वही यहां लेना चाहिये। द्वादशांग श्रुतके परिमाणमें उसीका अधिकार है। और यहां श्रुतके भेद प्रस्तुत हैं। उस प्रकारकी आम्नायका अभाव होनेसे उस पदका प्रमाण ज्ञात नहीं है।'

इससे प्रकट है कि पदका जो प्रमाण दिगम्बर परम्परामें मिलता है, और जो ऊपर बतलाया है उसकी आम्नाय श्वेताम्बर परम्परामें लुप्त हो गई थी। उक्त बीस भेदोंके सम्बन्धमे भी शायद ऐसी ही बात हो। दिगम्बर परम्परामें भी श्रुतज्ञानके उक्त बीस भेद केवल षट्खण्डागमके सूत्रमे ही मिलते है। और वह भी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके भेदोके विवेचनके प्रसंग से।

यह हम लिख आये हैं कि अग्रायणी पूर्वके चयनलब्धि नामक पञ्चम वस्तु अधिकारके महाकर्मप्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृतसे षट्खण्डागमका उद्गम हुआ है। उधर श्वेताम्बर पर-

१ – 'पदं तु 'अर्थपरिसमाप्तिःपदम्'इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केन चित्पदेनाऽष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्। तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते।'—स. च. क. पृ. १६। 'इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदमित्यादि पदलक्षणसद्भावेऽपि तथाविधसम्प्रदायाभावात्तस्य प्रामाण्यं न समवगम्यते।' प्र. सारो.द्वा० ६२।

म्परामें भी ये बीस भेद कर्म ग्रन्थमे ही मिलते हैं। इससे कार्मिकों की परम्परासे इन भेदोंका सम्बन्ध ज्ञात होता है। दिगम्बर साहित्यसे तो कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंकी परम्पराका भेद परिलक्षित नहीं होता। किन्तु श्वेताम्बर साहित्यसे तो दोनों परम्पराओंके अस्तित्व तथा मतभेदोंपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों परम्परायें अनेक अंशोमें स्वतंत्र थीं, तथा सैद्धान्तिकोंसे कार्मिकोंकी परम्परा। प्राचीन होनेके साथ ही साथ प्रामाणिक मानी जाती थी। संभव है कि कार्मिक परम्परा पूर्वविदोंके उत्तराधिकारियोंकी परम्परा हो। इस विषयमे अन्वेषणकी आवश्यकता है। अस्तु,

श्रुतज्ञानके इन बीस भेदोंको देखकर एक शंका होना स्वाभाविक है। वीरसेन[1] स्वामीने स्वयं उस शंकाको उठाकर उसका जो समाधान किया है उसे यहां देते हैं—

शंका—चौदह प्रकीर्णक अध्याय रूप अंगबाह्य, आचार आदि ग्यारह अंग, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका, इनका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानके उक्त भेदोंमेसे किसमें होता है ? अनुयोगद्वार या अनुयोगद्वार समास ज्ञानमें तो इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों प्राभृत श्रुतज्ञानसे बंधे हुए है। प्राभृत प्राभृत या प्राभृत प्राभृत समासमे भी इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों पूर्वगतके अवयव हैं। परन्तु परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और एकादश अंग पूर्वगतके अवयव नहीं हैं ? इस लिये इनका

१—षट्खं. पु. १३, पृ. २७६।

अन्तर्भाव श्रुतज्ञानके उक्त बीस भेदोंमेंसे किसी भी भेदमें नहीं हो सकता ?

समाधान—अनुयोग द्वार और अनुयोगद्वार समासमें इन सबका अन्तर्भाव होता है। और अनुयोग द्वार तथा अनुयोग द्वार समास प्राभृत प्राभृतके ही अवयव है, ऐसा कोई नियम नही है। अथवा प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञानमे इनका अन्तर्भाव कहना चाहिये। किन्तु पश्चादानुपूर्वीकी विवक्षा करने पर पूर्व समास श्रुतज्ञानमे इनका अन्तर्भाव होता है।

उक्त समाधान से प्रकट होता है कि वस्तु, प्राभृत और प्राभृत प्राभृत नामक अधिकारो का सम्बन्ध केवल पूर्वो से है, किन्तु अनुयोग द्वार, प्रतिपत्ति वगैरह ग्यारह अंगो आदि मे भी होते है। पूर्व निर्दिष्ट श्वेताम्बर साहित्य से भी यही तथ्य प्रकट होता है, जैसा पूर्व मे लिख आये है।

इस तरह से ग्यारह अंगो और पूर्वोमे अध्यायगत भेद था, इस बात का समर्थन दिगम्बर साहित्य से भी होता है। तथा पूर्वों को लेकर जो श्रुत ज्ञान के भेद बतलाये गये हैं वे विकास क्रम या वृद्धि क्रम को दृष्टि मे रखकर बतलाये हैं। अतः पूर्वो का अध्ययन अथवा ज्ञान क्रम से होता था, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।

पदों का प्रमाण

अंगो और पूर्वों के पदों का प्रमाण दिगम्बर साहित्यमे[१] विस्तार से बतलाया है। श्वेताम्बर साहित्य[२] में भी बतलाया है।

१—षट्खं, पु० १, पृ०९९ –१०७। २—'अट्ठारस पय सहस्सा आयारे दुगुण दुगुण सेसेसु।-स. च. क., पृ. १७।

पूर्वों के पदों के प्रमाण में तो दोनों परम्पराओं में विशेष अन्तर नहीं है किन्तु अंगों के पदों के प्रमाण को लेकर दोनों परम्पराओं मे बहुत अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पहले आचारांग मे अट्ठारह हजार पद थे, और आगे प्रत्येक अंग मे क्रम से दूने दूने पद थे। किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग के पदों का प्रमाण नीचे लिखे अनुसार था। उसके सामने वाली संख्या श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार है,

१—आचाराङ्ग	१८०००	१८०००
२—सूत्रकृताङ्ग	३६०००	३६०००
३—स्थानाङ्ग	४२०००	७२०००
४—समवाय	१६४०००	१४४०००
५—वियाहपण्णति	२२८०००	२८८०००
६—णाह धम्मकहा	५५६०००	५७६०००
७—उपासकाध्ययन	११७००००	११५२०००
८—अन्तकृद्दशा	२३२८०००	२३०४०००
९—अनुत्तरोपपादिक	९२४४०००	४६०८०००
१०–प्रश्न व्याकरण	९३१६०००	९२१६०००
११–विपाकसूत्र	१८४०००००	१८४३२०००
ग्यारह अंगों के पदों का जोड़	४१५०२०००	३६८०६०००

चौदह पूर्वों के पदोंका प्रमाण

दि०[1]	श्वे०[2]	
१—उत्पाद	१००००००००	यही
२—अग्रायणी	९६०००००	यही
३ – वीर्य प्रवाद	७००००००	यही
४—अस्ति नास्ति प्र०	६००००००	यही
५ ज्ञान प्रवाद	९९९९९९९	"
६—सत्य प्रवाद	१०००००६	"
७—आत्मप्रवाद	२६०००००००	"
८—कर्म प्रवाद	१८००००००	यही
९—प्रत्याख्यान	८४०००००	यही
१०—विद्यानुवाद	११००००००	यही
११—कल्याण	२६०००००००	यही
१२—प्राणावाय	१३०००००००	१५६०००००
१३—क्रिया विशाल	९०००००००	यही
१४—लोक बिन्दुसार	१२५००००००	१२५०००१
	९५५०००००५	

अंगोंके पदोंके प्रमाणकी उपपत्ति

दिगम्बर[3] साहित्य मे बारह अंगो के पदो का जोड़ एक सौ

१—षट्खं, पु. १, पृ. ११४-१२२ तथा क. पा०, भा. १ पृ० ९५-९६। २—स. च. क., पृ. १७–१८। नन्दी और समवायाग वृति मे उत्पाद पूर्व मे एक करोड़ पद बतलाये हैं अन्यत्र ग्यारह करोड़ बतलाये हैं।—प्रव. सारो०, ९२ द्वा०।

३— "बारुतर सय कोडी तेसीदि तह य होंति लक्खाणं। श्रट्ठावण्ण सहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं" ॥–गो० जी०।

बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच बतलाया है। और अंग बाह्य के अक्षरों[1] का प्रमाण आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार एक सौ पिचहत्तर बतलाया है और इसका कारण बतलाते हुए उपपत्ति भी दी है।

श्रुतके अक्षर

षट्खण्डागम के वर्गणा[2] खण्ड में प्रथम यह प्रश्न किया है कि श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ (उत्तर भेद) हैं ? आगे उसका समाधान[3] किया गया है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ हैं क्योंकि जितने अक्षर हैं उतने ही श्रुतज्ञान है-एक एक अक्षर से एक एक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।

अक्षरों का प्रमाण इस प्रकार है—तेतीस व्यंजन है। अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नौ स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से सत्ताईस होते है। प्राकृत में ए ऐ ओ औ का भी ह्रस्व भेद चलता है। अं, अः, ≍ क ≍ प ये चार अयोगवाह होते है। इस तरह सब अक्षर चौसठ होते हैं। इन चौसठ अक्षरों के संयोग से जितने अक्षर निष्पन्न होते हैं वे भी उन चौसठ अक्षरों के ही प्रकार हैं, उनसे बाहर नहीं है। उनका प्रमाण[4] लाने के

१— अड कोडि ए लक्खा अट्ठ सहस्सा य एयसदिगं च। पएण-त्तरि वएणाओ पइएणयाणं पमाणं तु ॥ ॥—गो० जी। २–'सुदणाणा-वरणीयस्स कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ' ॥४३॥—षट्खं०, पु० १३, पृ० २४७। ३ – 'सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स सखेज्जाओ पयडीओ ॥४४'॥ 'जावदियाणि अक्खराणि अक्खर सजोगा वा। ४५॥' षट्खं० पु० १३, पृ० २४७। ४—'संजोगावरणट्ठं चउसट्ठिं थावए दुवे रासिं। अएणोएणसमब्भासो रूवूणं णिद्दिसं गणिदं ॥४६॥''— षट्खं०, पु० १३, पृ० २४८।

लिये चौसठ जगह 'दो' का अंक रखकर उन सब को परस्पर मे गुणा करने से १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ इतनी [1] राशि होती है। इसमें एक कम करने से समस्त अक्षरों की संख्या आती है।

इस अक्षर संख्या मे एक पद के अक्षरो की संख्या १६३४८-३०७८८८ का भाग देने से लब्ध ११२८३५८००५ आता है। इतने ही द्वादशांग के पदो का प्रमाण है और शेष बचता है-८०१०८१७५। यह अंग बाह्य के अक्षरो का प्रमाण है।

चौसठ मूल अक्षरो से जितने अक्षर निष्पन्न होते हैं उतने ही श्रुत ज्ञानके भेद है, यह बात तो स्पष्ट है और वह भी स्पष्ट है कि किसी भी भाषा का कोई भी अक्षर उन अक्षरों से बाहर नहीं रहता सबका समावेश उन्हीं मे हो जाता है। किन्तु उन समस्त अक्षरो की संख्या मे जो एक पद के अक्षरों की संख्या से भाग देकर लब्ध प्रमाण द्वादशांग के पद बतलाये है इसका ठीक आशय व्यक्त नहीं होता। चौसठ अक्षरों के संयोग से जो अक्षर राशि उत्पन्न होती है वह अपुनरुक्त अक्षर राशि है। और उसी को पद प्रमाण से माप कर द्वादशांग के पद बतलाये हैं। तो क्या द्वादशांग मे पुनरुक्त शब्द नही होते ? इत्यादि अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती है जिनके समाधानका साधन प्राप्य नहीं है।

पहले लिख आये हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिवादको

१—'एयट्ठ च च य छ सत्तयं च च य सुण्ण सत्त तिय सत्ता। सुण्णं णव पण पंच य एगं छक्केक्कगो य पणगं च ॥१३॥'—षट्खं०, पु० १३, पृ० २५४। गो० जी०, गा० ३५२।

गमिक और कालिक श्रुत एकादशांग को अगमिक कहा है। जिसमें सदृश पाठ हो उसे गामिक और जिसमें असदृश पाठ हों उसे अगमिक कहा है। किन्तु भाष्यकार भी उसे स्पष्ट नहीं कर सके तो बेचारे टीकाकार कहाँ से करते।

श्वेताम्बर परम्परा की आवश्यक[१] निर्युक्ति में भी श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ विस्तार से कहने की प्रतिज्ञा करके कहा है कि लोक मे जितने प्रत्येक अक्षर और अक्षर संयोग हैं उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ जाननी चाहियें। फिर आगे लिखा है कि श्रुतज्ञान की सर्व प्रकृतियोंका कथन करने की शक्ति मुझमें नहीं है इस लिये श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का कथन करते हैं। इन चौदह भेदों का स्वरूप पहले लिख आये हैं।

इस तरह जब आवश्यक निर्युक्तिकार ने ही अक्षर और अक्षर संयोग प्रमाण श्रुतज्ञान के भेद बतला कर भी उनका प्रतिपादन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की तब विशेषावश्यक भाष्यकार भी उनका वर्णन कहाँ से करते। अतः जैसे श्वेताम्बर परम्परा में 'पद' का प्रमाण अज्ञात था वैसे ही अक्षर संख्या का प्रमाण भी अज्ञात था। इसी से उसमें उक्त बातों के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। किन्तु दिगम्बर परम्परा मे द्वितीय अग्रायणी पूर्व से निसृत षट्खण्डागम के सूत्रों से उक्त विषयों की जानकारी मिलती है तथा वीरसेन स्वामी की धवला टीका से उसपर अच्छा प्रकाश भी पड़ता है। तथापि इस सम्बन्ध में

१—'सुयणाणे पयडीओ वित्थरतो आवि वोच्छामि ॥१६॥ पत्तेयमक्खराइं अक्खर संजोग जत्तिया लोए। एवइया सुयनाणे पयडीओ होंति नायव्वा॥१७॥ कत्तो में वण्णेउं सत्ती सुयनाण सव्वपयडीओ। चोद्दस विहनिक्खेवं सुयनाणे आवि वोच्छामि॥१८।'—आ॰ नि॰।

विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है; क्यों कि तीर्थङ्करकी वाणी को सर्व भाषात्मक कहा है और ऊपर जो श्रुत के अक्षर बतलाये हैं उनमे सब भाषाओं के अक्षरों का समावेश हो जाता है।

दृष्टिवाद में वर्णित विषय का परिचय

अकलंक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिक की वृत्ति मे बारह अंगों में वर्णित विषय का संक्षिप्त निर्देश किया है। उनके पश्चात् हुए वीरसेन स्वामी ने भी अपनी धवला तथा जयधवला टीका में बारह अंगो का विषय परिचय दिया है। प्रथम यहाँ दृष्टिवाद के विषय का परिचय दिया जाता है। टिप्पण मे श्वेताम्बर साहित्यसे प्राप्त जानकारी का भी निर्देश किया जाता है।

दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत चूलिका। इनमे से केवल पूर्वगत के १४ भेदों का विषय परिचय अकलंक देव ने कराया है। शेष चार भेदों का नहीं कराया। किन्तु वीरसेन स्वामी ने उनका भी विषय परिचय दिया है। पहले उन्हीं चार भेदों का विषय परिचय दिया जाता है।

१ परिकर्म

परिकर्म के पाँच भेद है—चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति। चन्द्र प्रज्ञप्ति छत्तीस लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि-वृद्धि तथा सकल ग्रासी, अर्ध भाग ग्रासी या चतुर्थ भागग्रासी ग्रहण आदि का वर्णन करती है। सूर्य प्रज्ञप्ति पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य सम्बन्धी आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, प्रमाण, गमन, बिम्ब की ऊँचाई,

दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करती है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीप में स्थित भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्यों और तिर्यञ्चों का तथा पर्वत, नदी, द्रह वेदिका, मेरु, वन, आदि का वर्णन करती है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा द्वीपों और समुद्रों के प्रमाण का तथा उनके अन्तर्गत नाना प्रकार के अन्य पदार्थों का वर्णन करती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी और अरूपी द्रव्यों का, भव्य और अभव्य जीवो का तथा सिद्धोंका वर्णन करती है[1]।

२ सूत्र

दृष्टिवाद का दूसरा भेद सूत्र[2] अट्ठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक है. कर्म से अलिप्त ही है, अकर्ता ही है, निर्गुण ही है, अभोक्ता ही है, सर्वगत ही है, अणुमात्र ही है, निश्चेतन ही है, स्वप्रकाशक ही है, पर प्रकाशक ही है, नास्ति स्वरूप ही है इत्यादि रूप से नास्तिवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद,

१—षट्खं० पु० १, पृ० १०६–११०। १–क० पा०, भा० १, पृ० १३२–१३३। नन्दि० सू: ५७ की मलय० टीका मे लिखा है—परिकर्म का अर्थ है योग्यतापादन। जिसके अभ्याससे शेष सूत्रादि रूप दृष्टिवाद को ग्रहण करने मे समर्थ होता है उस शास्त्र को परिकर्म कहते हैं। परिकर्म के उक्त भेद श्वेताम्बर परम्परा मे नही हैं।

२—नन्दि टीका में लिखा है-पूर्व गत सूत्रो के अर्थ का सूचन करने से सूत्र कहते हैं। वे सूत्र सब द्रव्यो सब पर्यायो, सब नयो और सब भंगो के प्रदर्शक होते हैं।

ज्ञानवाद और वैनयिक वादियों के तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन करता है। तथा उसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का वर्णन भी है।

३ प्रथमानुयोग

[1]प्रथमानुयोग पांच हजार पदोंके द्वारा चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, और नौ प्रति नारायणोंके पुराणों का तथा जिन, विद्याधर, चक्रवर्ती, चारण मुनि और राजा आदिके वंशों का वर्णन करता है।

५ चूलिका

दृष्टिवादके पॉचवे भेद चूलिकाके पॉचभेद हैं—जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। जलगता चूलिका दो करोड़,

---

१ क. पा. भा. १, पृ. १३८। षट्खं, पु० १, पृ. ११२। नन्दी० टी.—तीर्थङ्करोके पूर्व भवो का तथा कल्याणकोंका वर्णन रहता है।

२ षट्खं०, पु० १, पृ. ११३। क. पा०, भा० १, पृ.१३६। श्वेताम्बरीय साहित्यमे लिखा है कि चूलिका चोटीको कहते हैं। जैसे मेरू की चूलिका है वैसे ही दृष्टिवादकी चूलिका है। परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोगमे जो उक्त अनुक्त अर्थ होते हैं उन सब का संग्रह चूलिकाओं में होता है। चूलिका आदिके चार पूर्वों की हैं शेष पूर्वोंकी चूलिका नहीं हैं। प्रथम पूर्वकी चूलिकाओंका प्रमाण चार, दूसरे पूर्वकी चूलिकाओंका प्रमाण बारह, तीसरे पूर्वकी चूलिकाओंका प्रमाण आठ और चौथे पूर्वकी चूलिकाओंका प्रमाण दस है। इस तरह सब चौतीस चूलिकाएं हैं।—नन्दी० टी०, सू० ५७। पृ. २४६।

नौ लाख, नवासी हजार दो सौ पदोंके द्वारा जलमें गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण का तथा अग्नि का स्तम्भन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्निपर आसन लगाना, अग्निपर तैरना आदि क्रियाओंके कारणभूत प्रयोगोंका वर्णन करती है। थलगता चूलिका उतने ही पदोंसे कुलाचल, मेरु महीधर, गिरि और पृथ्वीके भीतर गमनके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण का तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी अन्य शुभाशुभ कारणों का वर्णन करती है। मायागत चूलिका उतने ही पदोंके द्वारा महेन्द्र जालका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका उतने ही पदोंके द्वारा सिंह, घोड़ा, हाथी, हरिण, खरगोश, वृक्ष आदिके आकारसे रूप को बदलने की विधिका तथा नरेन्द्रवादका और चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म, लेनकर्म आदिका वर्णन करती है। आकाशगत चूलिका उतने ही पदोंके द्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। इन पांचों ही चूलिकाओंके पदोंका जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार है।

४ पूर्वोंका परिचय

१ उत्पादपूर्व—जीव, काल और पुद्गलद्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है। इसमे दस वस्तु, दोसौ प्राभृत और एक करोड़ पद होते हैं।

२ अग्रायणीपूर्व— क्रियावाद आदि की प्रक्रिया को अग्रायणी कहते हैं उसका जिसमें वर्णन हो उसे अग्रायणी पूर्व कहते हैं (त. वा०, पृ. ७४)। अग्रायणी पूर्व अंगोंके अग्र का कथन करता है (षट्खं; पु. १ पृ· ११५)। अग्रायणी पूर्व सातसौ

सुनय और दुर्नयों का तथा छै द्रव्य, नौ पदार्थ और पांच अस्तिकायोंका वर्णन करता है (क॰ पा॰, भा. १, पृ. १४०)। अग्र अर्थात् द्वादशांगमें प्रधानभूत वस्तुके 'अयन' अर्थात् ज्ञान को अग्रायण कहते हैं। वही जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीय कहते हैं। वह सातसौ सुनय दुर्नयों का तथा पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का वर्णन करता है। अग्र अर्थात् परिमाण, उसका 'अयन' अर्थात् जानना, उसके लिये जो हितकर हो वह अग्रायणीय पूर्व है (नन्दी॰ मलय॰ सू॰ ५६)।

इसपूर्वमें १४ वस्तु २८० प्राभृत और छियानवें लाख पद होते हैं।

३ वीर्यानुप्रवाद—छद्मस्थ केवलियोंके वीर्यका, सुरेन्द्र और दैत्यपतियों की ऋद्धियों का, नरेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेवोंके वीर्यलाभ करने का तथा द्रव्योंके सम्यक् लक्षणका कथन करता है (त. वा॰, पृ. ७४)। वीर्यानुप्रवाद पूर्व आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य आदि का वर्णन करता है (क. पा॰, भा॰ १, पृ. १४०, षट्खं, पु. १, पृ. ११५)। जिसमें अजीवों का तथा सकर्मा और निष्कर्मा जीवोंका वीर्य कहा गया हो वह वीर्यप्रवाद है (नन्दी॰ मलयटीका, सू. १४७) इसमें आठ वस्तु, १६० पाहुड और सत्तर लाख पद हैं।

४ अस्तिनास्तिप्रवाद—पांच अस्तिकायोंका और नयोंका अनेक पर्यायोंके द्वारा यह है और यह नहीं है इत्यादि रूपसे कथन करता है। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की गौणता और मुख्यताके द्वारा छहों द्रव्योंके स्वरूपकी अपेक्षा अस्तित्वका और पररूपकी अपेक्षा नास्तित्वका कथन करता है (त॰ वा॰, पृ ७५)। स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा

समस्त द्रव्योंके अस्तित्वका और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्व का कथन करता है। (क. पा. भा. १, पृ.- १००–षट्खं. पु. १, पृ ११५) । लोकमे जो वस्तु जिस प्रकार अस्ति अथवा नास्ति है, स्याद्वाद की दृष्टिसे वही अस्ति नास्ति रूप है इत्यादि कथन अस्तिनास्तिप्रवाद करता है (नन्दि०- चू०, मलय०,सू० ५६ तथा सम० अभ० टी०सू० १४७) । इसमें १८ वस्तु, ३६० पाहुड़ और साठ लाख पद होते हैं।

५ ज्ञानप्रवाद—पांचो ज्ञानोंकी उत्पत्तिके कारणोंका विषयों का, ज्ञानियों और अज्ञानियो का तथा इन्द्रियोंका प्रधानरूपसे कथन करता है (त. वा., पृ. ७५) । पांच ज्ञानों और तीन अज्ञानों का कथन करता है। (षट्खं०, पृ. ११६) । मति श्रुत अवधि मनः पर्यय और केवल ज्ञान का कथन करता है (क. पा.,- १४१) । (नन्दी. मलय. सू. ५६ । सम० अभ० टी०, सू. १४७) । इसमें १२ वस्तु, २४० पाहुड़ और एक कम एक करोड़ पद हैं।

६ सत्यप्रवाद—वचन गुप्ति का, वचन संस्कार के कारण शिर कण्ठ आदि आठ स्थानों का, बारह प्रकार की भाषा का, वक्ताओं का, अनेक प्रकार के असत्य वचन और दस प्रकार के सत्य वचनों का कथन करता है (त० वा०, पृ० ७५, षट्खं०, पृ० ११६) । व्यवहार सत्य आदि दस प्रकार के सत्यों का और सप्तभंगी के द्वारा समस्त पदार्थों के निरूपण करने की विधि का कथन करता है (क० पा०, पृ० १४१) । (नन्दि० मलय० सू० ५६ । सम० अभ० टी० सू० १४७) । इसमें बारह वस्तु, दो सौ चालीस पाहुड़ और एक करोड़ छै पद होते है ।

७ आत्म प्रवाद—आत्मा के अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों का और छ काय के जीवों

के भेदों का युक्ति पूर्वक कथन करता है (त. वा', पृ. ७६)। जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है (पट्खं० पृ. ११८)। जीव विषयक नाना दुर्नयों का निराकरण करके जीव द्रव्य की सिद्धि करता है (क० पा., पृ· १४१) (नन्दी० चू०, हरि०, मलय०, टी०सू० २६। सम० अभ० टी० सू० १४७)। इसमें सोलह वस्तु, तीन सौ बीस पाहुड़ और छब्बीस करोड़ पद होते है।

८ कर्म प्रवाद— कर्मों के बन्ध उदय उपशम निर्जरा अवस्थाओं का, अनुभवबन्ध और प्रदेश बन्ध के आधारों का तथा कर्मों की जघन्य मध्यम उत्कृष्ट स्थिति का कथन करता है (त. वा. पृ· ७६) आठो कर्मो का कथन करता है (पट्खं०, पृ. १२१) समवदान क्रिया ईर्या पथ क्रिया, तप और अधःकर्म का कथन करता है (क. पा., पृ. १४२)। प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश आदि भेदों के द्वारा तथा अन्यान्य उत्तरोत्तर भेदो के द्वारा ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो का कथन करता है। (नन्दी० चू०, मलय०, सू० २६। सम., अभ., सू. १४७)। इसमें बीस वस्तु, चारसौ पाहुड़ और एक करोड़ अस्सी लाख पद होते हैं।

९ प्रत्याख्यान— व्रत नियम प्रतिक्रमण प्रतिलेखन तप कल्प उपसर्ग आचार प्रतिमा विराधना, आराधना, और विशुद्धि के उपक्रमों का, मुनि पद के कारणों का तथा परिमित या अपरिमित द्रव्य और भावों के त्याग का कथन करता है (त० वा०, पृ० ७६)। द्रव्य भाव आदि की अपेक्षा परिमित कालरूप और अपरिमित कालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियो का कथन करता है (षट्खं०, पृ० १२१)। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के भेद से अनेक प्रकार के

परिमित और अपरिमित काल रूप प्रत्याख्यान का कथन करता है (क. पा, पृ. १४३) । समस्त प्रत्याख्यान का कथन करता है (नन्दि० चू०, मलय० सू० ५६ । सम. अभ· सू० १४७) । इसमें तीस वस्तु, छ सौ पाहुड़ और चौरासी लाख पद होते हैं ।

१० विद्यानुप्रवाद— समस्त विद्याओं का, आठ महा निमित्तों का, तद्विषयक रज्जु राशिविधि, क्षेत्र श्रेणी लोकप्रतिष्ठा, लोक का आकार और समुद्घातका कथन करता है । (त० वा०, पृ० ७६) अंगुष्ठ प्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का, और अन्तरीक्ष भौम अंग स्वर स्वप्न लक्षण व्यंजन. चिन्ह इन आठ महानिमित्तों का कथन करता है (षट्खं० पृ० १२१) । उक्त विद्याओं का तथा उन विद्याओं को साधने की विधि का और सिद्ध हुई विद्याओं के फल का कथन करता है (क० पा०, पृ० १४४) । अनेक विद्यातिशयों का कथन करता है (नन्दी० चू०, मलय० सू० ५६ । सम० अभ० सू० १४७) । इसमे १५ वस्तु, तीन सौ पाहुड़ और एक करोड़ दस लाख पद होते हैं ।

११ कल्याण प्रवाद—सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और तारा गणों के गमन, उत्पत्ति, गतिका विपरीत फल, शकुन शास्त्र, तथा अर्हन्त बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती आदि के गर्भावतरण आदि महा कल्याणकों का कथन करता है (त० वा०, पृ० ७७ । षट्खं० पृ० १२१ । क० पा०, पृ० १४५) । उसमे सब ज्ञान तप और संयम के योगों को शुभ फलदायी होने से सफल तथा प्रमाद आदि को अशुभ फलदायी कहा है (नन्दी० चू०, मलय० सू० ५६ । सम० अभ० सू० १४७) । इसमें दस वस्तु, दो सौ पाहुड़ और छब्बीस करोड़ पद होते हैं ।

१२ प्राणावाय—आयुर्वेद के काय चिकित्सा आदि आठ अंगों का, भूतिकर्म का, जाँगुलि प्रक्रम का और प्राणायाम का विस्तार से कथन करता है (त० वा० पृ० ७७ । षटखं० पृ० १२२ । क० पा० पृ० १४६) भेद सहित आयु प्राण का तथा अन्य प्राणों का कथन करता है (नन्दी० चू०, मलय० सू० ५६ । सम० अभ०, सू० १४७) । इसमे दस वस्तु, दो सौ पाहुड़ और तेरह करोड़ पद है । श्वेताम्बर उल्लेख के अनुसार इसमें एक करोड़ ५६ लाख पद है ।

१३ क्रिया विशाल—लेख आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणों का, शिल्प का, काव्य के गुण दोषों का, छन्द रचनाओं का तथा क्रिया के फल के भोक्ताओं का कथन करता है । (त० वा०, पृ० ७७ । षट्खं० पु० १ पृ० १२२) । नृत्य शास्त्र गीतशास्त्र लक्षणशास्त्र छन्दशास्त्र अलङ्कारशास्त्र तथा नपुंसक स्त्री और पुरुष के लक्षण आदि का कथन करता है (क० पा० पृ० १४८) । कायिकी आदि क्रियाओं का, सभेद संयम क्रिया का, तथा छन्द क्रिया का वर्णन करता है (नन्दी० मलय० सू० ५६ । सम० अभ० १४७ सू०) । इसमे दस वस्तु, दो सौ पाहुड़ और नौ करोड़ पद हैं ।

१४ लोक विन्दुसार—आठ व्यवहार, चार बीज, परिकर्म और राशि विभाग का कथन करता है । (त० वा०, पृ ७८ । षट्खं० पु० १, पृ० १२२) । परिकर्म, व्यवहार, रज्जु राशि, कलासवर्ण (गणित का एक प्रकार), गुणाकार, वर्ग घन, बीजगणित और मोक्ष के स्वरूप का कथन करता है (क० पा० भा० १, पृ० १४८) । लोक विन्दुसारको इस लोकमें अथवा शास्त्र रूपी लोक मे विन्दुसार कहा है (नन्दी चू०, मलय० सू० ५६ ।

सम० अभ० सू० १४७)। इसमें दस वस्तु, दो सौ पाहुड़ और साढ़े बारह करोड़ पद हैं।

इस तरह चौदह पूर्वों में १६५ वस्तु और तीन हजार नौ सौ पाहुड़ होते हैं।

उक्त विषय परिचयसे ज्ञात होता है कि पूर्वोंमें आत्मा, कर्म, ज्ञान, त्याग आदिके साथही साथ मंत्र तंत्र ज्योतिष गणित आयुर्वेद, कला आदिका भी वर्णन था। तथा दार्शनिक मतों की प्रक्रिया भी उसमे बतलाई गई थी। इसीसे पूर्वोंका प्रतिपाद्य विषय स्वसमय और पर समय दोनों कहा है। अर्थात् उसमें स्वमतके साथ परमतोंके सिद्धान्तोंका भी प्रतिपादन था। इसीसे बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद था।

चौदह पूर्वोंका यह विषय परिचय उपलब्ध दिगम्बर साहित्य में सर्वप्रथम अकलंक देवके तत्त्वार्थ वार्तिकमें ही उपलब्ध होता है। उन्होने किस आधारसे यह लिया यह कह सकना शक्य नहीं है। श्वेताम्बरोंमें नन्दि चूर्णिमें मिलता है. वहींसे हरिभद्र, अभय-देव. मलयगिरि आदि टीकाकारोंने लिया है। उसके अवलोकनसे पूर्वों की विषयसम्बन्धी विविधता तथा गहनताका आभास मिलता है। तथा यह भी प्रकट होता है कि उनका परिमाण बहुत विशाल होना चाहिये। यद्यपि प्रत्येक पूर्वके वस्तु और पाहुड़ नामक अधिकारोंकी जो संख्या दी है वह उचित ही प्रतीत होती है किन्तु पदोंका जो प्रमाण दिया है वह अवश्यही विस्मय कारक है। किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके साहित्यमें पदों का प्रमाण प्रायः एकसा ही मिलता है।

एकादशांग

बारहवें दृष्टिवादके सम्बन्धमें यथा संभव प्रकाश डालनेके पश्चात् अब हम शेष ग्यारह अंगोंकी ओर आते हैं।

पूर्वों से अंगों को उत्पत्ति

यह पहले लिख आये हैं कि श्वेताम्बर साहित्यमें कहा है कि पूर्वोसे अंगोंकी उत्पत्ति हुई। व्यवहार[1] सूत्रमे लिखा है कि पहले आचार प्रकल्प नौवें प्रत्याख्यान पूर्वमे गर्भित था। वहीसे आचारांगमे उसे लाकर रखा गया। दिगम्बराचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि नामक तत्वार्थवृत्तिमे (अ० ९; सू० ४७) पुलाक मुनिका जघन्य श्रुत 'आचार वस्तु' कहा है और उत्कृष्ट श्रुत अभिन्नाक्षर दस पूर्व कहा है। यह हम देख आये हैं कि वस्तु नामक अधिकार पूर्वोमे ही होते थे। अतः 'आचार वस्तु' अवश्य ही किसी पूर्वगत होना चाहिये। संभव है नौवें पूर्वगत ही हो; क्योकि उसका प्रतिपाद्य विषय आचार ही था। यद्यपि इससे यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि अगोकी रचना पूर्वोसे हुई थी और न दिगम्बर परम्परामे ऐसा कोई संकेत ही मिलता है तथापि पूर्वविद् का महत्त्व ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, केवल। 'अंगविद्' का कोई महत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। यही इससे प्रकट होता है।

तथा अंगोंमें प्रतिपादित कोई विषय ऐसा प्रतीत नहीं होता, जो पूर्वोमें वर्णित न हो। इससे भी श्वेताम्बरीय साहित्यके उक्त

१—आयारपकप्पो ऊ नवमे पुव्वंमि आसि सोधी य। तत्तो चिय निज्जूढो इहाहि तो कि न सुद्धिमवे ॥१७१॥ —व्य० सू०, ३उ०।

कथनका समर्थन किया जा सकता है। अस्तु, अब हम प्रत्येक अंगका विषय परिचय देकर उसके साथ श्वेताम्बरीय ग्यारह अंगोंका भी क्रमशः यथा संभव समीक्षापूर्वक परिचय करायेंगे।

१ आचारांग—आठशुद्धि, तीनगुप्ति, पाँच समिति रूप चर्या का कथन करता है (त० वा०, पृ० ७२)। मुनिको कैसे चलना चाहिये, कैसे खड़ा होना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये कैसे सोना चाहिये, कैसे भोजन करना चाहिये और कैसे बोलना चाहिये, इत्यादिका कथन करता है (षट्खं० पु० १, पृ० ६६। क० पा०, भा० १ पृ० १२२)। इसमें अट्ठारह हजार पद थे।

वर्तमान श्वे० आचारांग सूत्रमे भिक्षुओंकी चर्या बतलाई है। इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध 'बम्भचेरिय'मे आठ अध्ययन हैं— १ सत्थ परिण्णा, २ लोग विजओ, ३ सीओसणिज्ज, (शीतोष्णीय), ४ सम्मत्त, ५ आवंतो अथवा लोगसार, ६ धूय, ७ विमोह, ८ उवहाण सुय। नौवां महापरिण्णा नष्ट हो गया। इससे वज्र स्वामी ने आकाश गामिनी विद्याका उद्धार किया था। शीलांकाचार्यके मतसे महापरिण्णा आठवां अध्ययन था, विमोक्षाध्ययन सातवां और 'उवहाण सुय' नौवां। ऐसा वि० प्र० (पृ० ५१) में लिखा है। किन्तु यह ठीक नहीं है। आचारांग[१] निर्युक्तिमे महापरिण्णाका नम्बर ७वां है।

१—सत्थ परिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्तं। तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णा य ॥३१॥ अट्ठमए य विमोक्खो उवहाणसुयं च नवमंग भणियं। इच्चेसो आयारो आयारग्गाणि सेसाणि ॥३२॥—आचा० नि०।

तदनुसार [1]शीलांकाचार्यने भी महापरिएणाको सातवां ही बतलाया है।

प्रथम[2] अध्ययन सत्थपरिएणा या शस्त्रपरिज्ञामें जीवका अस्तित्व बतलाकर उनकी हिंसा आदि न करनेका अर्थात् जीव संयमका विधान है। दूसरे लोक विजय अध्ययनमें बतलाया है कि लोक आठ कर्मोसे कैसे बँधता है और कैसे बन्धनसे छूटना चाहिये। तीसरे शीतोष्णीय अध्ययनमे बतलाया है कि अनुकूल प्रतिकूल शीतोष्ण परीषहको सहना चाहिये। चौथे सम्यक्त्वमें बतलाया है कि सन्मार्गमे दृढ़तापूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये। पाँचवे लोकसारमे बतलाया है कि असारको छोड़कर सारभूत रत्नत्रयको ग्रहण करना चाहिये। छठे धूतमें बतलाया है कि मुनिको निःसङ्ग रहना चाहिये। सातवेंमे बतलाया है कि मोहसे उत्पन्न परीषह और उपसर्गोको भलेप्रकारसे सहना चाहिये। आठवें विमोक्षमें अन्तक्रियाका कथन है। नौवे उपधानमें बतलाया है कि ऊपरके आठ अध्ययनोंमें जिन बातोका कथन किया गया है उसका पालन महावीर प्रभुने किया था।

डा० जेकोबी, विटरनीट्स आदि का मत है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध दूसरेसे प्राचीन है। तथापि पहलेमें विरुद्ध जातीय तात्त्वोंको एकत्र बैठानेका प्रयत्न किया गया है। सूत्र गद्य रूप भी

१—'अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः तच्च व्यवच्छिन्नम्'—आचा० नि०, पृ० २३५ पू०।

२—जिअसंजमो अ लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं। सुह दुक्खतितिक्खावि य सम्मत्तं लोगसारो य ॥३०॥ निस्संगया य छट्ठे मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा। निज्जाणं अट्ठमए नवमे य जिणेण एवं ति ॥३४॥

हैं और पद्य रूप भी हैं जैसाकि बौद्ध साहित्यमें प्रायः देखा जाता है। कभी दूरतक गद्यात्मक सूत्र चले गये है, तो कभी गद्य पद्यात्मक और कभी केवल पद्यात्मक। (हि० इ० लि०, भा० २, पृ० ४१५-४३६)।

इस प्रकार प्रथम श्रुत स्कन्धमें नौ अध्ययन हैं। दूसरे श्रुत-स्कन्धमे १६ अध्ययन हैं—पिंडेसणा १, सेज्जा (शय्या) २, इरिया (ईर्या) ३, भासाजायं ४, वत्थेसणा (वस्त्रैषणा) ५, पाएसणा (पात्रैषणा) ६, उग्गह पडिमा ७, सात सत्तिक्कया १४, भावणा १५, और विमुत्ती १६। इस तरह सब पचीस अध्ययन हैं। अब चौबीस हैं। प्रथम श्रुत स्कन्धमें ४४ और दूसरेमें ३४ उद्देस हैं। किन्तु पहले ७८ नहीं किन्तु ८५ उद्देसग थे।

दूसरे श्रुत स्कन्धमें मुनि सम्बन्धी आचारोंका ही विशेष रूप से कथन है। डा० विटरनीट्सका कथन है कि दूसरा श्रुत स्कन्ध प्रथम श्रुत स्कन्धसे बहुत अर्वाचीन है। यह बात उसमे जो चूला हैं, उनसे प्रकट होती है। प्रथम दो चूलाओमे साधु और साध्वियो के दैनिक आचारका कथन है। उनमें बतलाया है कि साधुका कैसे आहार लेना चाहिये, कैसे चलना चाहिये और कैसे जीवन-यापन करना चाहिये। तीसरी चूलामे भगवान महावीरकी जीवनी है। स्कन्धके अन्तमें बारह पद्य हैं जिनमें वर्णित विषय बौद्ध थेर गाथाओंका स्मरण कराता है (हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ४३८)

आचारांग सूत्रपर निर्युक्ति है जिसे भद्रबाहु कृत कहा जाता है। एक चूर्णि है और शीलांक (८७६ ई०) की टीका है।

२ सूत्रकृतांग—ज्ञानविनय, प्रज्ञापन, कल्प्याकल्प्य, छेदोप-स्थापना तथा व्यवहार धर्मका कथन करता है (त० वा०, पृ०

७३। षट्खं० पु० १, पृ० ६६)। स्व समय परसमयका तथा स्त्री सम्बन्धी परिणाम, क्लीवत्व, अस्फुटत्व, कामावेश विलास, रति सुख, और पुरुषकी इच्छा करना आदि स्त्रीके लक्षणोंका कथन करता है (क० पा०, भा० १, पृ० १२२)। एक सौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सड़सठ अज्ञानवादी, और बत्तीस वैनयिकवादी, इस तरह तीन सौ त्रेसठ मतोंका खण्डन करके स्वसमयकी स्थापना करता है (नन्दी० सू० ४७, सम० सू० १४७)। उसमें छत्तीस हजार पद होते हैं।

वर्तमान [1]सूत्रकृतांगमें दो श्रुत स्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध श्लोक तथा अन्य छन्दोंमें निबद्ध है। दूसरा श्रुत स्कन्ध अध्ययन ५-६ को छोड़कर गद्यमें रचा गया है। दोनों श्रुत स्कन्धोंमे २३ अध्ययन हैं–प्रथममें १६ और दूसरेमें सात। इनके नाम वि० प्र० (पृ० ५२) मे दिये हैं।

१ समय—इसमे चार उद्देश हैं। तथा चार्वाक, बौद्ध, नियतिवाद आदि दर्शनोंकी समीक्षा है। प्रथम उद्देशकी समाप्ति इस श्लोकार्धके द्वारा होती है–'नायपुत्ते महावीरे एवं आह जिणोत्तमे'

२ वेयालीय–वेतालिय–वैदारिक–इसमे तीन उद्देश है। प्रथम का आरम्भ इस प्रकारसे होता है—

'संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा'

जिस छन्दमे यह पद्य रचा गया है उसे पिंगल तथा वराहमिहिर ने वेतालीया कहा है। शायद इसीसे इस अध्ययनका नाम वेतालीय रखा गया है। किन्तु डा० वेबरका कहना है सूत्र[1]कृतांगके वेतालीय नामक अध्ययनके कारण ही उक्त

१–'सूयगडे सुयखंधा दोन्निउ पढमम्मि सोलसज्झयणा। चउ, तिय, चउ, दो दो एक्कारस पढम सुयखंधस्स ॥ १ ॥ —वि० प्र०, पृ० ५२।

छन्दको वेतालीय नाम मिला है। और इसलिये वे[1] इस ग्रन्थको बहुत प्राचीन बतलाते हैं। एक उल्लेखनीय बात और भी इसमें है। माहण (ब्राह्मण) शब्द का प्रयोग मुनिके अर्थमें किया गया है। मा-हन-हिंसा न करनेवाला। डा० वेबर इसे भी प्राचीनता का सूचक बतलाते हैं। इस अध्ययनमें हित-अहितका उपदेश दिया गया है। उदाहरणके लिये-एक[2] पद्यमें कहा है—'जो पुरुष कषायोंसे युक्त है वह चाहे नंगा और कृश होकर विचरे, चाहे एक मासके पश्चात् भोजन करे, परन्तु अनन्तकाल तक उसे जन्मधारण करना पड़ता है।'

अध्ययनका अंतिम वाक्य इस प्रकार है—

'एवंसे उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाण दंसणधरे अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥२२॥ त्ति बेमि।'

सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामीसे कहते हैं-'उत्तम ज्ञानी, उत्तम दर्शनी, सर्वोत्कृष्ट ज्ञान दर्शनके धारक अर्हन्त नातपुत्त भगवान ने विशाला नगरीमें कहा था, सो मैं आपसे कहता हूँ।'

टीकाकार शीलांक ने आरम्भमें इस अध्ययनका सम्बन्ध भगवान आदिनाथसे जोड़ा है। अर्थात् भगवान आदिनाथ ने अपने पुत्रोंको लक्ष्य करके ऐसा कहा और इसी लिये अन्तिम उक्त वाक्यका अर्थ करते हुए उसकी संगति भी भगवान ऋषभदेव

१-इन्डि० एण्टि०, जि० १७, पृ० ३४४-३४५।

२-'जइवि य णिगणे किसे चरे, जयविय भुंजिय मास मंतसो। जे इह मायाइ मिज्जई आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥'

के साथ बैठनेकी कोशिश की है। किन्तु उक्त वाक्यसे स्पष्ट है कि भगवान महवीरको लक्ष्य करके ही उक्त वाक्य दिया गया है।

३—उवसग्ग परिन्ना (उपसर्ग परिज्ञा)—इसमें चार उद्देश हैं। उपसर्गोंसे बचनेका उपदेश है।

४—इत्थी परिन्ना (स्त्री परिज्ञा)—इसमें दो उद्देश हैं। इसमे बतलाया हे कि स्त्रियोंके उपसर्गसे भ्रष्ट हुए साधु दुःख भोगते हैं। अतः स्त्रियोकी ओर आकृष्ट नही होना चाहिए।

५—नरय विभत्ती (नरक विभक्ति)—दो उद्देश है। इसमें नरकके दुःखोंका वर्णन है। प्रारम्भिक[१] पद्यमे सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीसे कहते है–'मैने केवल ज्ञानी महर्षि महावीरसे पूछा था नरकमे कैसा दुःख है ? आप जानते है। मुझको कहिये कि जीव किस तरह नरकको प्राप्त होते है।'

६—वीरत्थवो (वीरस्तव)—इसमे वीर प्रभुकी स्तुति है। प्रारम्भिक[२] पद्यो मे कहा गया है–'श्रमण, ब्राह्मण गृहस्थ और अन्य तीर्थियोंने पूछा–'एकान्त रूपसे कल्याणकारी धर्मका उपदेश देनेवाला वह कौन है ? उस ज्ञानपुत्रके ज्ञान दर्शन शील कैसे थे। आप यह सब जानते हैं सो हमे कहिये।'

८—कुसील परिभासिय (कुशील परिभाषा)—इसमे बतलाया है कि अग्नि आदिका आरम्भ करने वाला हिंसक है। नमक खाना छोड़ देनेसे, प्रभात कालमे स्नान करनेसे और अग्नि होमसे मोक्ष नही मिलता। अतः साधु अनुदिष्ट भोजनसे अपना

१–'पुच्छिस्स ऽहं केवलियं महेसिं कहं भिता वा णरगा पुरत्था। अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं कहिं नु बाला नरयं उविंति ॥१॥'

२–'पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य अगारिणो या पर तित्थिआ य। से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥१॥'

निर्वाह करे और सब दुःखोंको सहन करे। ऐसा करनेसे वह संसार समुद्रसे पार हो जाता है।

८–विरिय (वीर्य)—प्रमाद करना बाल वीर्य है और प्रमाद न करना पंडित वीर्य है। बाल वीर्य जीवोंको अनन्तकाल तक कष्ट देता है। अतः साधु कषायोंको जीते, पापोंका त्याग करे, पापका अनुमोदन न करे और परीषह उपसर्गोंको सहे।

९–धम्मो (धर्म)–इसमें परिग्रहकी बुराई बतलाई है और लिखा है कि धन पुत्र ज्ञाति आदिका मोह छोड़कर धर्मका पालन करना चाहिये।

१०–समाहि (समाधि)—इसमें बतलाया है कि साधु घरसे निकलकर प्रव्रज्या धारण करके निराकांक्ष हो जाय, निदानका छेदन करके शरीरसे ममत्व त्याग दे और न जीवनकी इच्छा करे और न मरण की।

११–मग्गो (मार्ग)—छै कायके प्राणियोंकी हिंसा न करना मोक्षका मार्ग है। साधु सावद्य कर्मकी अनुमति न दे। एक[1] पद्यमें कहा है–'जो बुद्ध भूतकालमें हो चुके और जो भविष्यकालमें होंगे उनका आधार शान्ति है।' टीकाकार ने बुद्धका अर्थ तीर्थङ्कर किया है।

१२–समोसरण—इसमें क्रियावादी अज्ञानवादी और वैनयिकवादियोंके मतोंके दोष दिखलाकर स्वमतका दर्शन कराया गया है। अन्तमें कहा है–'साधु मनोहर शब्द और रूपमें आसक्त न हो, अमनोज्ञ गंध और रससे द्वेष न करे तथा जीने और मरनेकी

१–जे य बुद्धा अतिक्कंता जे य बुद्धा अणागया। संति तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगती जहा ॥३६॥

इच्छा न करता हुआ संयमसे गुप्त और मायासे रहित होकर रहे।'

१३-अहतहं (यथातथं)—इसमें सम्यक् चारित्रका वर्णन करते हुए पार्श्वस्थ आदि मुनियोंका स्वरूप बतलाया है।

१४-गंथ (ग्रन्थ)—आचार्यकी आज्ञा पालन करता हुआ साधु विनय सीखे, सदा गुरुकुलमे निवास करे, मंत्र विद्याका प्रयोग न करे, आदि कथन है।

१५-जमईयं (यमतीतं)—तीर्थङ्करका उपदेश ही सत्य है, वैर न करना साधुका धर्म है, स्त्री सेवन न करनेवाला पुरुष सबसे पहले मोक्षगामी होता है, आदि कथन है।

१६-गाहा (गाथा)—इसमे माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ शब्दोंकी व्याख्या है।

दूसरे श्रुतस्कन्धमें सात अध्ययन हैं। शुरुके चार अध्ययन गद्यमें हैं।

१ पुंडरिए (पुण्डरिका)—इसमे सरोवरके बीचमें स्थित कमलसे मोक्षकी तुलना की है तथा बतलाया है कि क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी उस कमल यानी मोक्षको लेनेका संकल्प करते हैं किन्तु कामभोग रूपी कीचड़में फंसे रह जाते हैं।

इस अध्ययनका आरम्भ 'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं'–'आयुष्मन्! मैंने सुना उन भगवान ने ऐसा कहा था' वाक्यसे होता है। इसके द्वितीय भागको छठे अंगके अध्ययन २-४ मे भी दोहराया है।

२ किरिया ठाणं (क्रिया स्थान)—इसमें बारह सांपराय क्रियाओंको त्यागकर 'ईर्या पथ'को अंगीकार करनेका उपदेश है।

३ आहार परिन्ना (आहार परिज्ञा)—शुद्ध एषणीय आहार सम्बन्धी वर्णन है।

४ पच्चक्खान किरिय (प्रत्याख्यान क्रिया)—जिसने प्राणियों के घातका प्रत्याख्यान नहीं किया है वह उनका घात न करनेपर भी उनका हिंसक कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका समाधान दृष्टान्त देकर किया है।

५ अणगारं-अनयार सुतं (अनाचारश्रुतं)—इसमें आचार को स्वीकार करने और अनाचारको त्यागनेका विधान है। यह[1] अध्ययन ३४ पद्योंमे है।

६ अद्दइज्जं (आद्रकीयं)—इसमें आर्द्रक कुमारका गोशाल आदि अन्य तीर्थियोंके साथ शास्त्रार्थका विवेचन है। इसमें ५५ पद्य हैं। अन्तिम पद्य 'बुद्धस्स आणाए' आदिमें वीर का निर्देश 'बुद्ध' शब्दसे किया गया है।

७ नालंद इज्जं (नालन्दीयं)—यह गद्यमे है। इसमें बतलाया है कि नालन्दामे लेप गाथापतिके बगीचेमे ठहरे हुए भगवान गौतमके पास उदक पेढालपुत्र आता है और उनसे वाद पूर्वक प्रश्न करता है। गौतम स्वामी उसको अनेक रीतिसे उत्तर देते है। यह उदक पार्श्वनाथकी परम्पराका था। गौतमके उत्तरोंसे सन्तुष्ट होकर वह चतुर्याम धर्मको छोड़कर सप्रतिक्रमण पञ्च महाव्रत रूप धर्मको स्वीकार कर लेता है।

इस तरह सूत्र कृतांगमे साधुओंकी धार्मिक चर्याका वर्णन है तथा अन्य तीर्थिकोके मतोंका खण्डन है। अकलक देव ने जो

१–प्रथम पद्य इस प्रकार है—'आदाय बंभचेरं च आसुपन्ने इमं वइं। अस्सि धम्मे अणायारं नायरेज्ज कयाइवि ॥१॥

इस अंगका प्रतिपाद्य विषय बतलाया है उसमें स्वसमय पर-समय निरूपणका निर्देश नहीं है, किन्तु वीरसेन स्वामी ने उसका भी निर्देश किया है। अकलंक देवके अनुसार तो दृष्टिवादका प्रतिपाद्य विषय स्वसमय और परसमय है। दृष्टिवादके एक भेदका नाम भी 'सूत्र' है। वीरसेन स्वामीके अनुसार उसमें ३६३ मतोका निराकरण किया गया है। नन्दिसूत्रके अनुसार भी 'सूत्र'में तेरासिय आदि मतोका खण्डन-मण्डन था। संभव है कि इस दूसरे अंगका निकास दृष्टिवादके सूत्र नामक भेदसे हुआ हो। इसीसे दोनोमे नाम साम्यके साथ विषयमें भी आंशिक समानता है।

प्रो० विटरनीट्स् का कहना है कि दो श्रुतस्कन्धोंमेंसे प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और दूसरा श्रुतस्कन्ध केवल एक परिशिष्ट है जो बादको जोड़ दिया गया है। यह सम्भव है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध एक ही व्यक्तिके द्वारा रचा गया हो। उससे भी अधिक सम्भव यह है कि किसी संग्राहकने एक पुस्तक का रूप देनेके लिये विभिन्न पद्यों और उपदेशों को एक प्रकरण रूपमे संयुक्त कर दिया हो। इसके विपरीत दूसरा श्रुतस्कन्ध, जो गद्यमें लिखा गया है, भद्दे ढंगसे एकत्र किये गये परिशिष्टों का केवल एक पिण्ड है। फिर भी भारतके धार्मिक सम्प्रदायोके जीवन का ज्ञान कराने की दृष्टिसे दूसरा भाग भी महत्त्वपूर्ण है।' (हि० इ. लि.-जि० २, पृ. ४४१)।

इस अंग पर भी एक निर्युक्ति, चूर्णि तथा शीलांक की संस्कृत टीका है। इस अंग का जर्मन भाषामें अनुवाद डा० जेकाबीने किया था। उसका अंग्रेजी अनुवाद (से. बु. ई. जि. ४५ में) प्रकाशित हो चुका है।

३ स्थानांग—इसमें अनेक जगह पाये जाने वाले अर्थों का निर्णय किया जाता है (त. वा. पृ. ७३)। एक को आदि लेकर एकोत्तर क्रमसे स्थानों का वर्णन करता है (षट्खं, पु. १, पृ.,-१०० । क. पा. भा. १, पृ. १२३)। इसमें जीव, अजीव, स्वसमय, पर समय लोक, अलोक लोकालोक आदि को व्यवस्थित किया जाता है (नन्दी. सू. ४८, समय. सू. १३८)। इसमें दिगम्बरोंके अनुसार बयालीस हजार और श्वेताम्बरोंके अनुसार बहात्तर हजार पद हैं।

वर्तमान स्थानांग सूत्र में दस अध्ययन हैं। उनमें एकसे लेकर दस संख्या तकके अर्थों का कथन है। तदनुसार ही पहले अध्ययन का नाम एक स्थानिक, दूसरेका द्विस्थानिक, तीसरेका त्रिस्थानिक इत्यादि क्रमसे है। शुरूके पांच अध्ययनोमे उद्देशविभाग है, शेषमें नहीं है।

इस अंगमे कुछ उल्लेखनीय बाते हैं उनका यहां निर्देश करना अनुचित न होगा।

१ वस्त्र[1]धारण करनेके तीन कारण बतलाये हैं—लज्जा, जुगुप्सा और परीषह। इन तीन कारणोंसे साधु को वस्त्रधारण करना चाहिये।

२ भर[2]त और ऐरावत क्षेत्रोंमें प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर को छोड़कर शेष बाईस तीर्थङ्कर चतुर्याम धर्म का उपदेश करते

---

१ 'तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तं.—हिरिपत्तियं दुगंछापत्तियं परीसहपत्तियं ॥ १७१ ॥'

२— भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिम-पच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं. सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ

हैं—समस्त प्राणातिपातका त्याग, असत्यका त्याग, अदत्तादान का त्याग और समस्त परिग्रह का त्याग। सब महाविदेहोंमें भगवान अर्हन्त चतुर्यामधर्मका उपदेश करते हैं।

३ पांच[1] कारणोंसे अचेलपना (वस्त्रत्याग) प्रशस्त है—देखभाल कम करनी पड़ती है १, प्रशस्त लाघव रहता है २, विश्वसनीय रूप है, जिनानुमत तप है ४, और महान् इन्द्रिय निग्रह होता है।'

इसकी टीकामें टीकाकार अभयदेव सूरिने लिखा[2] है—जिसके वस्त्र नहीं होते उसे अचेल कहते हैं। वह जिनकल्पी विशेष होता है। और स्थविरकल्पी अल्प मूल्य वाले वस्त्रधारण करनेसे अथवा अल्प वस्त्रधारण करनेसे अथवा परिमित जीर्ण मलिन वस्त्रधारण करनेसे अचेल कहलाता है। आगमिक साहित्यके सभी टीकाकारों ने वस्त्र पात्र का खूब पोषण किया है, अस्तु।

वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणा (परिग्गहा) ओ वेरमणं। सव्वेसु महाविदेहेसु अरहता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति (सू. २६६)।

१ - पंचहि ठाणेहि, अचेलए पसत्थे भवति, तं.—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे, (सू. ४५५)।

२—'न विद्यते चेलानि—वासांसि यस्यासावचेलकः, स च जिन-कल्पिक विशेषः—स्थविर कल्पिकश्चाल्पाल्पमूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनव-सनत्वादिति।'—स्था०, सू० ४५७।

४—इसमें[1] भगवान महावीर के तीर्थ में हुए सात निन्हवों के नाम, उनके कर्ता व्यक्ति और उनके स्थानोंका निर्देश है।

५—श्रेणिक[2] के तीर्थङ्कर होने का कथन करते हुए लिखा है-कि जैसे महावीर भगवान ने निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिये नंगा रहना, दीक्षित होना, स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, छाता नहीं लगाना, जूता नहीं पहनना, भूमि शय्या, फलक शय्या काष्ठ शय्या, केश लोच, ब्रह्मचर्य, आदि का उपदेश दिया, वैसे श्रेणिक भी प्रथम तीर्थङ्कर महापद्म होकर निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिये यही सब मार्ग बतलायेगा।

६—श्वेताम्बर[3] मत में दस आश्चर्य माने गये हैं, जिनमें एक महावीर का गर्भपरिवर्तन भी है उन दस अच्छेरों का भी इसमें निर्देश है।

इस अंग में निर्दिष्ट कतिपय विषयों से इसकी प्राचीनता

१—'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवतणा णिण्हगा पं०, तं०—बहुरता जीवपतेसिता अवतिता सामुच्छेइत्ता दोकिरिता तेरासिता अवद्धिता। (सू० ५८७)।

२—"...... से जहानाम ते अज्जो! मते समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणाते अदंतवणे... " एवमेव महापउमे वि अरहा समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावं जाव लद्धावलद्ध वित्ति पण्णवेहिती ...(सू० ६९३)।

३—'दस अच्छेरगा पं०, तं०—उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थे अभाविया परिसा। कण्हस्स अवरकंका उत्तरणं चंद सूराणं॥ १॥ हरिवंस कुलुप्पत्ती चमरुप्पातो त अट्ठसय सिद्धा। असंजतेसु पूया दसवि अणंतेण कालेण॥२॥'

संदिग्ध है। स्थान[1] ४-१ मे अंगबाह्य रूप से चार पन्नत्तिओं का निर्देश है—वे चार पन्नत्ति हैं—चंद पन्नत्ति, सूर पन्नत्ति, जम्बू द्वीप पन्नत्ति और द्वीप सागर पन्नत्ति। इसी तरह स्था०[2] ३-१ में भी तीन पन्नत्तिओ के पढ़ने का निर्देश है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमे चंद पन्नतीको सातवाँ सूरपन्नति को पाँचवाँ और जम्बूद्वीप पन्नत्ति को छठा उपांग माना है। इन उपांगो मे एक द्वीपसागर पन्नती को और मिला दिया है। इसे कोई स्वतंत्र ग्रन्थ श्वेताम्बर आगमोमे नहीं माना है। अंगोंमें उपांगोका निर्देश एक विचित्र ही बात है। तथा यहाँ उनको जो अंग-बाह्य कहा गया है यह भी विचित्र है क्योकि इन पन्नतियोंकी गणना अंग बाह्यमें नही की गई है। साथ ही द्वीपसागर पन्नति नामक कोई स्वतंत्र ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नही है। दिगम्बर साहित्य मे उक्त चारों पन्नतियोंको दृष्टिवादके एक भेद परिकर्म के अन्तर्गत माना है।

स्थान १० मे एक और उल्लेखनीय कथन है। वह है[3] दशा नामक दस ग्रन्थोंका निर्देश। प्रत्येकमे दस दस अध्ययन बतलाये

१—'चत्तारि पन्नतीओ अंगबाहिरियातो पं०, तं०—चंद पन्नत्ती, सूर पन्नत्ती, जंबूदीव पन्नत्ती दीवसागर पन्नती' (सू. २७७)।

२—'तओ पन्नत्तीओ कालेण अहिज्जंति तं०—चंदपन्नती सूर पन्नती दीवसागर पन्नती'। (सू. १५२)

३—'दस दसाओ पं० तं०— कम्मविवाग दसाओ, उवासग दसाओ, अंतगडदसाओ, अणुतरोववाय दसाओ, आयार दसाओ, पण्हा वागरण दसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धी दसाओ, दीह दसाओ, संखेवित दसाओ। स्था०, पृ, ४७९।

हैं और उन अध्ययनोंके नाम भी दिये हैं दस दशाओंमेंसे चार नाम इस प्रकार है-उवासगदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाय दसा और पण्हावागरण दस। ये चारो क्रम से सातवां आठवां नौवां और दसवां अंग हैं। प्रथम दशा का नाम 'कम्मविवाग दसा' है जो ग्यारहवें अंग विपाक सूत्र का स्मरण कराता है। टीकाकार अभय देव का कहना[1] है कि ग्यारहवें विपाक सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम कर्मविपाक दशा है। एक 'आचार दशा' है। इसे टीकाकार दशा श्रुतस्कन्ध बतलाते हैं जो छै छेद सूत्रों में से है। शेष चार दशाओं से टीकाकार भी अपने को अपरिचित बतलाते हैं।

यहाँ प्रत्येक दशा के दस दस अध्ययन बतलाये हैं। उवासग दशा नामक सातवें अंग में दस अध्ययन पाये जाते हैं। किन्तु आठवे अंग अन्तगड दशा और नौवे अंग अनुत्तरोववास दशा में क्रम से नौवे और तेतीस अध्ययन (वि० प्र० पृ० ५६) बतलाये हैं। अतः डा० वेबर[2] का कहना था कि आठवें और नौवें अंग की जो प्रतियां हमारे सामने हैं, स्थानांग सूत्र के रचयिता के सामने उनसे भिन्न प्रतियां थीं। तथा स्थानांग में अन्तगड० और अनुत्तरोपातमें जो दस दस अध्ययन गिनाये हैं वे

१—'कर्म विपाकदशा—विपाकश्रुताख्यैकादशाङ्गस्य प्रथम श्रुतस्कन्धः,...आचार दशाः दशाश्रुतास्कन्ध इति या रूढा....प्रश्न व्याकरण, दशाः दशममङ्गमिति, तथा बन्धदशा-द्विगृद्धि दशा दीर्घ-दशा संक्षेपिक-दशाश्चास्माकमप्रतीता इति।'—स्था० टी०, पृ० ४८०।

२—इण्डि० ए०, जि० १८, पृ० ३६६ आदि।

उपलब्ध प्रतियों में नहीं पाये जाते। अतः टीकाकार अभयदेव[१] ने लिखा है कि यह अध्ययन विभाग वाचनान्तर की अपेक्षा से है उपलब्ध वाचना की अपेक्षा से नहीं है। समवायांग मे भी आठवें और नौवें अंग मे दस दस अध्ययन बतलाये हैं। अतः समवायांग के रचयिता के सामने भी उपलब्ध प्रतियों से भिन्न प्रतियां थीं। छठे दशा का नाम 'पण्ह वागरण दसाओ' है। यह निश्चय है कि यह दसवें अंग का नाम है। किन्तु दसवें अंग में दस अध्ययन नहीं है, दस द्वार हैं। दस अध्ययनों के जो नाम स्थानांग में दिये है उनसे प्रकट होता है कि स्थानांग के रचयिता के सामने दसवें अंग की प्रति उपलब्ध अंग से बिल्कुल भिन्न थी। स्थानांग मे पण्ह[२] वागरण दसाओं के दस अध्ययनो के नाम इस प्रकार दिये हैं—उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरिय भासियाइं, महावीर भासियाइं, खोमग पसिणाइं, कोमलपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहु पसिणाइं। किन्तु उपलब्ध प्रश्न व्याकरण अंग के दस द्वारों के नाम इस प्रकार हैं—हिंसा, मुसावाय, तेणिय, मेहुण, परिग्गह, अहिंसा, सच्च, अतेणिय, बंभचेर और अपरिग्गह। दोनों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। समवायांग (सू. १४५) और नन्दी (सू. ५५) में भी प्रश्न व्याकरणमें खोमग. अद्दाग., अंगुट्ठ. और बाहु. नामके अध्ययन बतलाये हैं। अतः नन्दी और समवायांग सूत्रके रचयिताके सामने भी प्रश्न व्याकरण सूत्रकी वही प्रति होनी चाहिये जो तीसरे अंगके रचयिताके सामने थी।

१—'तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाऽध्ययनविभागो उक्तो न पुनरुपलभ्यमानवाचनापक्षेयेति', स्था०, टी०, पू० ४८३ पृ०।

२—'प्रश्न व्याकरणदशा इहोक्तरूपा न दृश्यन्ते दृश्यमानास्तु पञ्चास्रव पञ्च संवरात्मिका इति'—स्था० टी०, पृ० ४८५ पू०।

दस दशाओंमेंसे अन्तिम संखेविय दसाके दस अध्ययनोके नाम इस प्रकार बतलाये है – खुड्डिया विमाण पविभत्ती, महल्लिया विमाण विमाण पविभत्ती, अंगचूलिया, वग्ग चूलिया, विवाह चूलिया, अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाते, बेलंधरोववाते, वेसमणोववाते (स्था. सू० ७५५)। किन्तु नन्दि० में इन सबको अगांग पविट्ठ'की सूचीमें गिनाया है।

स्थानांगके सातवें अध्ययनमे सात निन्हवोंके नामोंका पाया जाना भी उल्लेखनीय है। सत्यका अपलाप करने को और करने वालोको निन्हव के नाम से पुकारा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे ऐसे सात निन्हव माने गये हैं। पीछे से इनमे आठवॉ निन्हव वोटिक' और सम्मिलित कर लिया गया। स्थानांग मे सात का ही निर्देश होने से कहना होगा कि इसकी रचना के समय तक दिगम्बरो को निन्हव मे नही गिनाया गया था। इन सात निन्हवोंमे से दो का प्रादुर्भाव तो भगवान महावीर की मौजूदगीमे ही हो गया था और शेष पॉच उनके बाद उद्भूत हुए। इनमे से अन्त का सातवॉ निन्हव वीर निर्वाणसे ५८४ वर्ष बाद हुआ। अतः प्रकृत स्थानांग सूत्र भी उसके बाद का ही होना चाहिये।

स्थानांग सूत्र की टीका सम्बत् ११२० में नवाङ्ग वृत्तिकार अभयदेवने अणहिल पाटनमें अजित सिंह के शिष्य यशोदेव गणिकी सहायतासे बनाई थी। धर्मसागर गुर्वावलीके अनुसार अभय देवका स्वर्गवास सं० ११३५ मे हुआ।

४. समवायाङ्ग—समवाय में सब पदार्थोंके समवाय का विचार किया जाता है (त० वा०, पृ० ७३)। षट्खं०, पु० १, पृ० १०१)। द्रव्य क्षेत्र काल और भावों के समवायका

वर्णन करता है (क० पा०, भा० १, पृ० १२४) । एक से लेकर एक एक बढ़ाते हुए सौ तक के पदार्थों का कथन करता है अर्थात् एक से लेकर सौ तक की संख्या पर्यन्त पदार्थ का अन्तर्भाव जिस संख्याके अन्तर्गत होता है उसका कथन उस उस संख्या स्थान के अन्तर्गत किया जाता है (नन्दी०, सू० ४९ । समवा०, सू० १३९) । दिगम्बरों के अनुसार इसमें एक लाख चौसठ हजार पद थे और श्वेताम्बरों के अनुसार एक लाख चवालीस हजार पद थे ।

समवायांग की विषय तालिका स्थानांग के ही अनुरूप है अन्तर यह है कि स्थानांग मे एक से लेकर दस स्थानो तक ही विवेचन है तब समवाय में एक से लेकर सौ तक का समवाय प्रतिपादित किया गया है । इसे तीसरे अंग का पूरक कहा जा सकता है । इस अङ्ग का प्रारम्भ इस प्रकार होता है--'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवंतेण एवं अक्खायं' । इह खलु समणेण भगवया महावीरेण... इमे दुवाल संगे गणिपिडगे पण्णत्ते तं जहा०' आयुष्मन् मैंने सुना उन भगवानने ऐसा कहा 'श्रमण भगवान महावीरने द्वादशांग गणिपिडग का उपदेश दिया' । यहाँ भगवान म ावीरके चालीस विशेषण दिये गये हैं । आगे बारह अङ्गोके नाम देकर लिखा है--'तत्थंण जे से चउत्थे अंगे समवाएत्ति आहिते तस्स णं अयमत्थे पण्णते, तं जहा ।–' 'इनमेंसे जो चौथा समवाय नाम का अङ्ग है उसका यह अर्थ कहा है, प्रथम तीन अङ्गों के आरम्भ में इस प्रकार की उत्थानिका नहीं पाई जाती ।

यह अंग विविध सूचनाओं और ज्ञातव्य विषयोंसे भरपूर है । इसमें बारहों अंगों की विस्तृत विषय सूची दी हुई है ।

ब्राह्मी लिपी आदि के १८ प्रकार[1] के भेदोंका निर्देश है दृष्टिवाद[2] के ४६ मातृकापद और ब्राह्मी लिपीके ४६ मात्रकाक्षर बतलाये हैं।

इसमें शुरुके तीन अंगोंको एक इकाईके रूपमें रखकर तीनोंके अध्ययनोंकी संख्या ५७ बतलाई[3] है—आचारमें २४ सूत्रकृतमें २३ और स्थानमें १०।

इस अंगकी एक सबसे उल्लेखनीय वस्तु है—इसमें नन्दी-सूत्रका निर्देश पाया जाना। दृष्टिवाद[4] के अठासी सूत्रोंका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि नन्दीकी तरह कथन कर लेना चाहिये। समवायांग में द्वादशांगका वर्णन नन्दीसे प्रायः अक्षरशः मेल खाता है। अतः डा० वेबर का कहना था कि हमें यह विश्वास करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, कि नन्दी और समवायमें पाये जाने वाले समान वर्णनोंका मूल आधार

१—' बंभीए णा लिवीए अट्ठारसविहे लेख विहाणे पं० तं०—वंभी. जवणी, लियादोसा, ऊरिया, खरोट्ठिआ, खरसाविआ, पहाराइआ, उच्चत्तरिआ, अक्खर पुट्ठिया, भोगवयता, वेणतिया, णिण्हइया, अंकलिवि, गणिय लिवी, गंधव्वलिवी, भूयालिवी, आदंसलिवी, माहेसरीलिवी, दामिलिवी, बोलिदीलिवी।—सम०, पृ० ३३उ०।

२—'दिट्ठिवायस्स णं छायालीसं माउयापया पं०। बंभीए णं लिवीए छायालीसं माउयक्खरा पं० .. ॥४६॥ —सम०

३—'तिण्हं गणिपिडगाणं आचार चूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पं० .. ...॥ ५७ सू०।—सम०।

४—'दिट्ठिवायस्य णं अट्ठासीइ सुत्ताइं पं०,तं०— उज्जुसुयं परिणयापरिणयं एवं अट्ठासीइ सुत्ताणि भाणियव्वाणि जहा नन्दीए ...— ॥ सू० ८८ ॥—सम०।

नन्दी है। और यह कार्य समवायके संग्राहकका या लेखकका होना चाहिये। आगे डा० वेबरने लिखा[१] है कि 'किन्तु हमारे इस अनुमानमे एक कठिनाई है और वह यह है कि नन्दी और समवायके ढंगमे अन्तर है। किन्तु समवायसे नन्दी की विषयसूची बहुत संक्षिप्त है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नन्दीमे दत्त विषयसूची प्राचीन है। इसके सिवाय नन्दीमे उक्त द्वादशांगकी विषयसूचीको लेकर जो पाठभेद पाये जाते हैं, निश्चय ही समवायके पाठोंसे उत्तम तथा प्राचीन है।'

नन्दी और समवायमे प्रत्येक अंगोके पदोका प्रमाण दिया है। किन्तु पदके अक्षरोंका प्राचीन प्रमाण श्वेताम्बर परम्परामे लुप्त हो चुका था। जो श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन सबमे उनका ग्रन्थ परिमाण ३२ अक्षरका ग्रन्थ (श्लोक) के हिसाबसे दिया है। नीचे प्रत्येक अंगके ग्रन्थाग्रका परिमाण तथा उल्लिखित पदोका प्रमाण दिया जाता है।

अग	ग्रन्थ प्रमाण (श्लोक ३२ अक्षर)	पद संख्या (जो नन्दि में बतलाई है)	दिगम्बर (पद सख्या)
१	२५५४	१८००० पद	१८०००
२	२३००	३६००० "	३६०००
३	३७५०	७२००० "	४२०००
४	१६०७	१४४००० "	१६४०००
५	१५७४०	२८८००० नं०	२२८०००
		८४००० स०	
		१-४००० भग०	

१—इं० ए०, जि० १८ पृ० ३७४।

६	५८७५	५७६०००	५५६०००
७	८१२	११५२०००	११७०००
८	८६०	२३०४०००	२३२८०००
९	१९२	४६०८०००	९२४४०००
१०	१३८०	९२१६०००	९३१६०००
११	१३१	१८४३२०००	१८४०००००

इस तालिकासे प्रकट होता है कि जब आगम ग्रन्थोंके अनुसार द्वादशांगका प्रमाण उत्तरोत्तर लगभग दूना बतलाया है तब वर्तमान श्वे० आगमोंका प्रमाण ६ संख्याके बाद एक दम अल्प हो गया है।

समवायांगके सम्बन्धमें प्रो० विन्टरनीट्सने लिखा है—'इस बातके प्रमाण हैं कि या तो वर्तमान समवायांगकी रचना बादमें की गई है या उसमें कुछ भाग बादके रचे हुए हैं। उदाहरण के लिये, नम्बर अट्ठारहमें अठारह प्रकारकी ब्राह्मी लिपि बतलाई है, नम्बर छत्तीसमें उत्तराध्ययनके छत्तीस अध्ययनोंका निर्देश है, तथा नन्दी जैसे अर्वाचीन ग्रन्थका उल्लेख है। इसके सिवाय अंगोंका जो विस्तृत परिमाण उसमें बतलाया गया है, वर्तमान परिमाणके साथ उसका कोई मेल नहीं है।' (हि० इ० लि०, जि० २, पृ० ४४२)।

५—व्याख्या प्रज्ञप्ति—'जीव है या नहीं इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का समाधान करता है (त० वा०, पृ० ७३। षट्खं०, पु० १, पृ० १०१)। साठ हजार प्रश्नोंके उत्तरोंका तथा छियानवे हजार छिन्न छेदों से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन करता है (क० पा०, भा० १, पृ० १२५)। अनेक सुरेन्द्र नरेन्द्र राजर्षियों के द्वारा पूँछे गये संशयों का तथा भगवान के द्वारा दिये

गये उनके विस्तृत उत्तरोका, जिनका प्रमाण ३६००० है, कथन करता है। (सम०, सू० १४०)

उपलब्ध पाँचवें अंग को भगवती भी कहते हैं। इसमें ४१ शतक हैं। इनमें से कुछ शतकों में अवान्तर शतक और उद्देसक भी हैं। ग्रन्थ के अन्तः अवलोकन से प्रकट होता है कि इसमें १३८ शतक हैं,जिनमे अन्तःशतक भी सम्मिलित हैं। तथा १९४२ उद्देशक हैं। तथा एक लाख चौरासी हजार पद हैं। यह बात सम्भवतः उस समय लिखी गई होगी जब पाँचवें अंग ने वर्तमान परिमाण का आधा रूप भी प्राप्त नहीं किया था। वर्तमान भगवती का परिमाण १५७५० श्लोक प्रमाण है। उसके प्रत्येक शतक में उद्देशकों की संख्या को देखने से प्रमाणित होता है कि उसने इतना परिमाण क्रमशः लिया है। प्रत्येक के उद्देसगों का परिमाण इस प्रकार है—शतक एक से आठ तक में, बारह से चौदह तक मे और १८ से २० तक में प्रत्येक में दस-दस उद्देश हैं। नौवें और दसवें शतक में चौतीस चौतीस उद्देश हैं। ग्यारहवेंमें बारह हैं, पन्द्रहवेंमें उद्देश ही नहीं हैं, सोलहवेमे चौदह, सतरहवेंमें सतरह उद्देश है। किन्तु इक्कीसवें शतकमे अस्सी, बाइसवें में साठ, तेईसवें मे पचास, चौबीसवें में चौबीस छब्बीस से तीस तक प्रत्येक में केवल ग्यारह-ग्यारह उद्देश हैं। पच्चीसवें में बारह, किन्तु इकतीसवें और बत्तीसवेंमें अट्ठाईस अट्ठाईस उद्देस हैं। तेतीसवें और चौतीसवें में एक सौ चौबीस, पैंतीस और छत्तीसमें एक सौ बत्तीस, चालीसवेंमें दो सौ इकतीस और इकतालीसवें शतकमें एक सौ छियानवें उद्देश हैं। उनकी विषय सूचीसे भी यही प्रमाणित होता है कि पाँचवें अङ्ग का विस्तार क्रमशः हुआ है।

प्रारम्भ के बीस शतकों को पौराणिक बाना पहनाया गया है। वे सब बिना किसी क्रम के गूँथे गये हैं और उनमें कोई एक ऐसा तन्तु नहीं प्रतीत होता जो सब को जोड़ता हो। उनमें भगवान महावीर के कार्यों और उपदेशों के विविध उल्लेख हैं। राजगृही के राजा श्रेणिक के समय में भगवान महावीर अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभूति से वार्तालाप करते हैं। किन्तु शतक २१ से विषय बदल जाता है। २१-२३ श. पौदोके विषयमें है। २४-३० श० में जीव की विभिन्न दशाएँ बतलाई हैं अर्थात् २४ में जीवका उद्गम, २५ में लेश्यादि भाव, २६ मे कर्मबन्ध, २७ में कर्ता कर्म करण, २८ में पाप कर्मादि दण्डक, २९ में कर्म प्रस्थापनादि और ३० मे समवसरण का कथन है। ३१ से ४१ तक कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग का वर्णन है। अन्तिम शतकों के सम्बन्ध में वेबर का कथन था कि वे एक जन गणना की सूचियों के तुल्य हैं। (इं० एं० जि० १६, पृ० ६३)।

अतः श्री वेबर का यह निश्चित मत था कि शुरु के बीस शतकों के साथ २१ आदि शतक बिना किसी परिवर्तन के साथ पीछे से जोड़ दिये गये हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस योग को करने में कोई मार्ग दर्शक अवश्य था; क्यों कि प्रत्येक शतक के प्रारम्भ में एक आर्या दी गई है जो प्रत्येक शतक के प्रत्येक उद्देश का विषय सूचन करती है। इससे पूर्व के किसी अङ्गमें यह बात नहीं पाई जाती। दूसरे अन्य आगमोंके उद्धरण बहुतायत से पाये जाते हैं। उनके कारण विषय प्रसंग प्रायः न केवल छिन्न हुआ है किन्तु नष्ट भ्रष्ट हो गया है। रायपसेणीय, पन्नवणा, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति नामक उपाङ्गों से भी उद्धरण लिये गये हैं। तथापि यह प्रश्न अवश्य रह जाता है कि यह कार्य संकलयिता का है या प्रतिलेखकों का। यह सन्देह तो करना ही

नहीं चाहिये कि जिस ग्रन्थ से जो उद्धरण लिये गये हैं वे उसमें हैं या नहीं ? रायपसेणीसे जो उद्धरण लिये गये हैं वह उसमें पाये जाते हैं। (इं० ए० जि० १६, पृ० ६३)। अस्तु,

ग्रन्थ का आरम्भ पञ्च नमस्कार मंत्र से होता है। उसमें 'नमो बम्हीए लिवीए' पद और जुड़ा हुआ है। उसके पश्चात् आरम्भिक पद्य है फिर 'तेणं कालेणं तेण समएण' आदि आता है। ग्रन्थ का प्रारम्भिक कुछ भाग प्रश्नोत्तर के रूपमें है जिसमे भगवान महावीर अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और कुछ भाग ऐतिहासिक संवाद के रूप मे है। इस भागमे भगवान महावीर के पूर्वकालीन तथा समकालोन व्यक्तियों का विवरण उपलब्ध होता है। भगवान महावीर के शिष्योंमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, और वायुभूतिका नाम तो है किन्तु सुधर्मा का नाम इसमें नहीं आया। नौवें शतकमें जमालिका वर्णन है जो महावीर का शिष्य था। किन्तु निन्हवका जनक था। १५ वें शतक में आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक मक्खलिपुत्र गोशालक का वृतान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस शतक के विषय में डा० विन्टर नीट्स का कहना है कि यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ रहा होगा जो भगवतीमें जोड़ दिया गया।

इस अङ्ग में यद्यपि भगवान पार्श्वनाथका वर्णन नहीं है किन्तु उनकी परम्परा के अनुयायी अनेक पार्श्वापत्यीयोंका वर्णन हैं उनमें कालासवेसियपुत्त आदि नाम उल्लेखनीय हैं। पार्श्व के अनेक अनुयायी महावीरके अनुयायी बने ऐसे भी अनेक उल्लेख इस अङ्गमें मिलते हैं।

इनके सिवाय भी यत्र तत्र कुछ ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं। यथा चम्पाके राजा कुणिक के समय में काशी कोसल के नौ

लिच्छवि राजाओं और वेज्जी विदेह पुत्र की विजय, सहस्रानीक के प्रपौत्र और शतानीक के पुत्र कौशाम्बी नरेश उदयन की चाची जयन्तीका, जो वैशाली श्रावक की संरक्षिका थी, महावीर के उपदेश से भिक्षुणी बनना आदि।

शतक नौ और बारह मे कुछ विदेशी दासियों के नाम आये हैं, जो एक ब्राह्मण परिवार में काम करती थीं। उनमें पल्हवीया आरबी, वहली, मुरंडी और पारसी नाम उल्लेखनीय हैं। ये नाम ईसा की दूसरी शताब्दी से चौथी शताब्दी तक के समय का स्मरण कराते हैं। और इस तरह इनका मूल उद्गम हमें गुप्त काल में ले जाता है। (इ० एं० जि १६ पृ० ६५)।

६—ज्ञातृ धर्मकथा—बहुतसे आख्यान और उपाख्यानोंका कथन है, (त० वा०, पृ० ७३)। तीर्थङ्करोंकी धर्मकथाओंके स्वरूप का वर्णन करता है (क० पा०, भा० १ पृ० १२५)। तीर्थङ्करोंकी धर्म देशनाका, सन्देहको प्राप्त गणधर देवके सन्देह को दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकार की कथा और उपकथाओंका वर्णन करता है (षट्खं०, पृ० १०२)। ज्ञातों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक पारलौकिक ऋद्धि विशेष, भोग परित्याग, प्रव्रज्या, पर्याय, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान, संलेखना, प्रायोपगमन, देव लोक गमन, सुकुल मे जन्म लेना, बोधिलाभ, अन्त क्रिया आदि का कथन करता है (नन्दी० सू० ५१, सम० सू० १४१)।

इसका प्राकृत नाम श्वेताम्बर साहित्यमें णायाधम्मकहा और दिगम्बरा साहित्यमें णाहधम्मकथा है। 'णाय' का संस्कृत रूप ज्ञात और 'णाह' का संस्कृत रूप नाथ होता है।

भगवान महावीर स्वामीको श्वेताम्बर साहित्यमें ज्ञातृवंशी और दिगम्बर साहित्य मे नाथवंशी लिखा है। इस अन्तर का कारण प्राकृत रूपांमे अन्तर होजाना प्रतीत होता है। णाय धम्म कहा और णाहधम्मकथा के आदि मे भी जो णाय या णाह शब्द है वह महावीर भगवान से ही सम्बद्ध जान पड़ता है। अतः भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट कथा जिसमें हों वह णायधम्मकहा है। टीकाकार [१] अभय देव और मलयगिरीने णाया का अर्थ ज्ञाता किया है। और ज्ञाता का अर्थ उदाहरण किया है। ज्ञाता धर्मकथा अर्थात् उदाहरण प्रधान धर्मकथा। यह अर्थ विशेष संगत प्रतीत नही होता।

वेबरने 'णायाधम्म कहा' [२] का अर्थ किया है—'नाय' अर्थात् ज्ञातृवंशी महावीरके धर्म के लिये कथाएँ जिसमें हों,

उपलब्ध 'णाया धम्म कथा' नामक अंग मे दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहलेमें १९ अध्ययन है जिन्हे 'ज्ञात' कहा है, दूसरे में १० वर्ग-धर्म्मकथा हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ-'तेणं कालेणं तेणं समएणं' आदि प्रचलित परिपाटीके अनुसार होता है। ग्रन्थके प्रारम्भमें यह भी लिखा है—पाँचवाँ अंग समाप्त हुआ, छठे अंग का क्या विषय है ?

इस अंग की आरम्भिक उत्थानिका आदिका जो रूप है वही रूप अंग ७ से ११ तक के अंगो में भी है। इसपरसे डा० वेबर का कहना था कि ये छहों अङ्ग एक प्रूप में सम्बद्ध हैं तथा

१—'ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधानधर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा'। समः टी०, सू० १४१। नं० टी०, सू. ५१।

२—Stories for the Dharma of NAYA इं० एं०, जि० १९, पृ० ६६।

इन सबका संकलन एक ही व्यक्तिके द्वारा हुआ होगा। ये सब आपसमें एक शृंखला की तरह बद्ध हैं। अर्थात् आरम्भिक शैली आदि की दृष्टि से शुरू के चार अङ्ग एक समूहमें आते हैं और अन्त के छै अङ्ग एक समूहमें आते हैं। किन्तु पाँचवाँ अङ्ग इन सबसे भिन्न प्रतीत होता है। प्रथम श्रुत स्कन्ध के १९ अध्ययनोंके नामादि इस प्रकार हैं—

१ उक्खित० (उत्क्षिप्त)—श्रेणिक पुत्र मेघकुमार की कथा है। वह पूर्व भवमें हाथी था। एक खरगोश को बचानेके लिये उसने अपना पैर उत्क्षिप्त किया। इससे इस अध्ययन का नाम उत्क्षिप्त है।

२ संघाडग० (संघाटक)—एक दूसरेसे संबद्ध सेठ और चोर की कथा है।

३ अंडग० (अंडक)—मोरके अंडे की कथा

४ कुम्म० (कूर्म)—कछवे की कथा

५ सेलय० (शैलक)—शैलक की कथा

६ तुम्ब० (तुम्ब)

७ रोहिणि० सेठ की बधू रोहिणी की कथा

८ मल्ली० —१९ वें स्त्रीतीर्थङ्कर मल्लिकी कथा

९ मायन्दी —माकन्दी नामक वणिक पुत्र की कथा

१० चंदिमा० (चन्द्रमा) -

११ दावद्दव० —इस नाम के समुद्र तट पर स्थित वृक्ष की कथा

१२ उदग० (उदक)—

१३ मंडुक्क० (मंडूक)—नन्द का जीव मेण्डक की कथा

१४ तेतली० —तेतली पुत्र नामक अमात्यकी कथा

१५ नंदिफल० —नन्दि नामक वृक्ष का फल
१६ अवरकंका० —घातकी खण्ड के भारत क्षेत्र की राजधानी। इसमें द्रौपदी की कथा है
१७ आइएगा० (आकीर्ण)—समुद्रमें रहनेवाले अश्व की कथा
१८ सुसुमा० —सुसुमा नामक सेठ पुत्री की कथा
१९ पुंडरीय० (पुण्डरीक)

इस तरह प्रत्येक अध्याय में एक एक स्वतंत्र कथा है। अधिकांश कथाओं में कथापर बल न देकर कथा से सम्बद्ध उदाहरण पर ही विशेष जोर दिया गया है। कुछ कथाएँ तो केवल उदाहरण रूप ही हैं। शायद इसी से टीकाकारों ने ज्ञात का अर्थ उदाहरण किया है।

दूसरा श्रुतस्कन्ध विषय और शैलीकी दृष्टि से प्रथमसे सर्वथा भिन्न है, तथा सातवें और नौवें अंग से विशेष रूप से सम्बद्ध है। नन्दि तथा समवयांगमें कहा है कि एक एक धर्मकथा में पाँच सौ पाँच सौ आख्यायिकाएँ और एक-एक आख्यायिका में पाँच सौ पाँच सौ उपाख्यायिकाएँ, इसी तरह एक एक उपाख्यायिका में पाँच सौ आख्यायिका और पाँच सौ उपाख्यायिकाएँ होती है, इस तरह ज्ञाता धर्मकथा में साढ़े तीन करोड़ कथाएँ होती हैं। इस कथन के प्रकाश में उपलब्ध ज्ञाता धर्मकथा को देखने से निराशा ही होती है।

इस अंग पर अभय देव कृत टीका है।

७ उपासकाध्ययन—श्रावक धर्म का लक्षण कहता है (त० वा०, पृ० ७३)। ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रत धारण करनेकी विधि तथा उनके आचरणका वर्णन करता है। (षट्खं०, पृ० १०२। क० पा०, भा १, पृ० १२९)। उपासकों की

ऋद्धिविशेष, परिषद्, विस्तार पूर्वक धर्म श्रवण, बोधिलाभ सम्यक्त्व विशुद्धि, मूल गुण, उत्तर गुण, अनेक अतिचार, प्रतिमा, उपसर्ग, प्रत्याख्यान, प्रोषधोपवास, सल्लेखना, स्वर्गगमन, चयन, मनुष्य जन्म धारण, संयम धारण, मोक्ष प्राप्ति आदि का कथन करता है (सम०, सू० १४२)

श्वेताम्बर साहित्य में सातवें अंगका नाम उवासग दसा (उपासक दशा) है। उपलब्ध अंगमें दस अध्ययन हैं। इन अध्ययनोंमें दस उपासकोंकी कथाएँ हैं—जिन्होंने प्रथम स्वर्ग प्राप्त किया और फिर मोक्ष प्राप्त किया। दस कथा इस प्रकार हैं–१ वाणिय ग्राम में आनन्द। २ चम्पामें कामदेव, ३ वाराणसीमें चुलणी पिता, ४ वाराणसीमें सुरादेव, ५ आलभियामें चुल्ल शतक, ६ कम्पिल्लपुर मे कुण्ड कोलिक, ७ पोलासपुरमें सद्दाल पुत्र, ८ राजगृह में महाशतक, ९ श्रावस्तीमें नन्दिनी पिता और १० श्रावस्तीमें लेनिया पिता। सारी कथाएँ बिल्कुल एक साँचे में ढली हुई हैं। अन्त की कथाओंमें तो पूर्वकी कथाओंसे केवल नाम मात्रका अन्तर है।

८ अन्तःकृद्दश—जिन्होने संसार का अन्त किया उन्हें अन्तःकृत कहते हैं। नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल, पालम्बु, अष्ट पुत्र ये दस वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ में अन्तकृत केवली हुए। इसी प्रकार ऋषभ देव आदि तीर्थङ्करों के तीर्थ में अन्य दस दस अनगार दारुण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत केवलो हुए। दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन अन्तःकृद्दश अंग करता है। अथवा, अन्त:कृतकी दशा का जिसमें कथन हो उसको अन्तःकृद्दशा कहते हैं। उसमें अर्हन्त आचार्य और सिद्धों की विधि का

कथन होता है। (त० वा०, पृ० ७३। षट्खं०, पु० १, पृ० १०३)। प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ मे चार प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्योंको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त हुए सुदर्शन आदि दस दस साधुओंका वर्णन करता है (क० पा० भा० १, पृ० १३०)। अन्तःकृतोंके नगर, उद्यान, चैत्य, वन खण्ड, समवसरण, राजा, माता पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इह लौकिक, पार लौकिक ऋद्धिविशेष, भोग त्याग, प्रव्रज्या, परित्याग श्रुतपरिग्रहण, तप, उपधान, संल्लेखना, भक्त प्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, अन्तःक्रिया आदि का कथन करता है (नं०, सू० ५३। सम० सू० १४३)।

टीकाकार[1] अभयदेवके अनुसार अन्तकृत अर्थात् तीर्थङ्कर, जिन्होने कर्म और कर्मोके फल रूप संसार का अन्त कर दिया उनको दशा। प्रथम वर्गमें दस अध्ययन होनेसे उसे अन्तकृत दशा कहते हैं। इस तरह दिगम्बर साहित्यमे अन्तःकृद्दश का जो अर्थ मिलता है वह श्वेताम्बर साहित्य मे नहीं मिलता।

उपलब्ध 'अन्त गड दसाओ' नामक आठवे अङ्गमें आठ वर्ग और आठ वर्गोंमें क्रमसे १०+८+१३+१०+१०+१६+१३ १०=९० अध्ययन हैं। किन्तु स्थानांग और समवायांगमें प्रस्तुत अङ्ग में दस अध्ययन बतलाये हैं। इसके सिवाय समवायांगमें सात वर्ग और १० उद्देशनकाल भी बतलाये हैं। नन्दिमें आठ वर्ग ही बतलाये हैं, अध्ययनों का निर्देश नहीं किया है। स्थानांगमें

१—'अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलस्य वा संसारस्य कृतो यैस्ते अन्तकृतास्ते च तीर्थङ्करादयस्तेषां दशाः—प्रथम वर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्यया अन्तकृतदशाः।'—सम० टी०, सू० १४३।

दस अध्ययनोंके जो नाम दिये हैं, प्रस्तुत अङ्गोंके नामोंसे उनका मेल नहीं खाता। किन्तु दिगम्बर ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट नामोंसे मेल खाता है। स्थानांगमें ८ वें अङ्गके दस अध्ययनोंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं—णमि, मातंग, सोमिल, रामगुत्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकम, पल्लतेतिय, अंबडपुत्त। तत्वार्थ वार्तिकमें निर्दिष्ट नामोंसे ये नाम मिलते हैं। जो कहीं अन्तर है वह लेखकोंकी कलाका परिणाम जान पड़ता है। टीकाकार[1] अभयदेव इसे वाचनान्तर की अपेक्षा स्वीकार करते हैं।

अतः परम्परामें और प्रस्तुत आठवे अङ्गके नामसे उपलब्ध ग्रन्थमें एक दम विरोध है। टीकाकार[2] अभयदेव इस विरोध पर प्रकाश डालनेमें अपने को असमर्थ पाते हैं। अस्तु

विषयके अनुसार आठ वर्गोंको तीन स्तरोंमें विभाजित किया जा सकता है। १ एक से ५ तकके वर्ग—इनमें कृष्ण वासुदेवसे सम्बन्धित व्यक्तियों की कथाएँ हैं। ६ ठा और सातवाँ वर्ग—इसमें भगवान महावीरके शिष्योंकी कथाएँ हैं। ८ वाँ

१—'एतानिच 'नमि' इत्यादिकानि अन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशांग प्रथमवर्गेऽध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते। ततो वाचनान्तरापेक्षाणि इमानीति संभावयामः।' —स्था० टी., सू. ७०५४।

२—'नवरं दस अज्झयण त्ति प्रथमवर्गापेक्षयैव घटन्ते, नन्द्यां तथैव व्याख्यातत्वात्।—यच्चेह पठ्यते 'सत्त वग्गा' त्ति तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया, यतोऽत्र सर्वेऽप्यष्टवर्गाः। नन्द्यामपि तथा पठितत्वात्, तद्वृत्तिश्चेयं 'अट्ठवग्गा' त्ति। अत्र वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वा, सर्वाणि चैकवर्गगतानि युगपदुद्दिश्यन्ते, ततो भणितं 'अट्ठ उद्देसण काला' इत्यादि। इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति नास्याभिप्रायमवगच्छामः।'—सम० टी०, सू. १४३।

वर्ग—इसमें रत्नावली, मुक्तावली आदि दस तपोंका वर्णन है। इन तपों को राजा श्रेणिक की दस आर्याओंने किया था।

९ अनुत्तरोपपाददश—उपपाद जन्मही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं। जो उपपाद जन्मसे अनुत्तरोंमें उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुत्तरोपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस अनुत्तरोपपादिक वर्धमान तीर्थङ्करके तीर्थमे हुए। इसी तरह ऋषभ आदि तेईस तीर्थङ्करोके तीर्थमें अन्य दस दस अनगार दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादि अनुत्तरोंमें उत्पन्न हुए। इस तरह अनुत्तरोंमे उत्पन्न होने वाले दस साधुओका जिसमे वर्णन हो उसे अनुत्तरोपादिकदश नामक अंग कहते हैं। (त० वा० पृ० ७३। षट्खं, पु. १०३। क. पा०. पृ० १३०)। अनुत्तरोपपातिक साधुओंके नगर उद्यान चैत्य, वनखण्ड माता पिता समवसरण धर्माचार्य आदि पूर्वोक्त बीस बातो का कथन करता है (नन्दी० सू० ५४। समवा० सू० १४४)।

[1]अभयदेवके अनुसार 'अनुत्तर अर्थात् प्रधान और उपपात अर्थात् जन्म' प्रधान जन्म वाले व्यक्तियोंसे सम्बद्ध दस अध्ययन जिसमे हो उसे अनुत्तरोपपादिक दशा कहत

१—'नास्मदुत्तरो विद्यते इत्यनुत्तर उपपतनमुपपातो जन्म इत्यर्थः। अनुत्तरः प्रधानः संसारे अन्यस्य तथाविधस्याभावात् उपपातो येषा ते तथा त एवानुत्तरोपपातिकाः, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दश-दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशा।'—सम० टी०, सू० १४४।

हैं। किन्तु स्थानांग[1] की टीकामें अभयदेवने अनुत्तरोपपादका वही अर्थ किया है जो दिगम्बर ग्रन्थोंमें किया गया है।

उपलब्ध आठवें अंगमें तीन वर्ग हैं और उनमें क्रमसे १०+१३+१० = ३३ अध्ययन हैं। किन्तु स्थानांगमें अनुत्तरोपपातिकदशामे दस अध्ययन बतलाये हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं—ईसिदास, धण्ण, सुणक्खत्त, कातिन (तिय), सट्ठाण, सालिभद्द, आणंद, तेतली, दसन्नभद्द और अतिमुत्त। इनमेंसे शुरूके छै नाम तत्त्वार्थवार्तिकसे मिलते हैं। अभयदेव[2] ने लिखा है कि इनमेंसे कुछ नाम तीसरे वर्गके अध्ययनोंके साथ मेल खाते हैं, सब नहीं। इसके सिवाय समवायांग और नन्दिमें आठवें और नौवें अंग की जो विषय सूचियाँ दी हैं वे प्रस्तुत आठवें नौवें अंगोंसे मेल नहीं खातीं। अतः डा० वेबर का कहना था कि 'समवाय और नन्दिके रचयिताओंके सामने मौजूदा दोनों आगमोंको प्रतियोंसे सर्वथा भिन्न ही प्रतियां होनी चाहियें। अतः हमे उक्त दोनो अंगोंकी जो प्रतियां प्राप्त हैं वे परिवर्तित तथा अत्यन्त खण्डित दशामें हैं (इं० ए०, जि० २०, पृ० २१-२२)।

प्रो० विंटरनिटस ने आठवें और नौवें अंगके विषयमें लिखा है कि—'इन दोनों अङ्गोंकी रचना एक ही आधार पर की गई है,

---

१—'उत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरः, उपपतनमुपपातो जन्म इत्यर्थः। अनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः सोऽस्ति येषां ते ऽनुत्तरोपपातिकाः सर्वार्थसिद्धयादिविमानपञ्चकोपपातिन इत्यर्थः।' —स्था० टी०, सू० ७५४।

२—'इह च त्रयो वर्गास्तत्र तृतीयवर्गे दृश्यमानाध्ययनैः कैश्चित् सह साम्यमस्ति न सर्वे।' स्था० टी० सू० ७५४।

साहित्यिक दृष्टिसे इनका मूल्य स्वल्प ही है। आठवें अङ्ग अन्तगडदसाओंमें मूलतः दस अध्ययन थे किन्तु अब वह आठ वर्गोंमें विभाजित है। नौवें अङ्ग अणुत्तरोववाइयदसाओमें भी मूलमें दस अध्ययन थे। अब उनके स्थानमें तीन वर्ग और तेतीस अध्ययन हैं। जैसा कि स्थानांगसे ज्ञात होता है, दोनों अङ्गोंकी मूल विषय सूचीसे वर्तमान दोनों अंगोंकी विषय सूची एकदम भिन्न है। यदि अन्य कारणों पर दृष्टि न दी जाये तो भी अपनी स्थितिके आधार पर दोनों अंग साहित्यिक श्रेष्ठताका दावा नहीं कर सकते। इनमे वर्णित कथाएँ न केवल एक ठप्पेके रूपमें चित्रित की गई हैं किन्तु बहुधा उनका केवल ढाँचा ही उपस्थित किया गया है और उनमें बँधे बधाये शब्दों और वाक्यों को भरनेका काम पाठकके लिए छोड़ दिया गया है। उदाहरणके लिए—उस समय एक चम्पा नाम नगरी थी, उसमें एक पुण्ण भद्द नामक चैत्य था, एक वन था (वण्णओ)। 'वण्णओ'का यह अभिप्राय है कि नगरी और वनका पूरा वर्णन यहाँ उपांग प्रथमकी तरह भर लेना चाहिए। दूसरा उदाहरण भगवान महावीरके शिष्य स्थविर सुधर्माका है। कथामे यहाँ केवल उनका नाम मात्र दिया है और उनका पूरा वर्णन छठे अंगमें है सो यहाँ जानना, ऐसा लिख दिया है (हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ४५०)।

१० प्रश्न व्याकरण—आक्षेप और विक्षेपके द्वारा हेतु और नयके आश्रित प्रश्नोंके व्याकरणको प्रश्न व्याकरण कहते हैं। उनमें लौकिक और वैदिक अर्थोका निर्णय किया जाता है (त० वा० पृ० ७२) आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी, इन चार कथाओंका निरूपण करता है "यह अंग प्रश्नके अनुसार नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख दुःख, जीवित, मरण, जय,

पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्याका भी प्ररूपण करता है (षट्खं० पृ० १०५। क० पा०, भा० १, पृ० १३१)। प्रश्नव्याकरण में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न और एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्नोंका कथन रहता है। अन्य भी अनेक विद्यातिशयोंका तथा नागकुमार और सुपर्णकुमार तथा अन्य भवनवासी देवोंके साथ साधुओंके दिव्य सम्वादोंका वर्णन रहता है। (नन्दी, सूत्र० ५५। समवा० सू० १४५)।

उपलब्ध 'पण्हावागरणाइं' नामक दसवें अंगमें दस द्वार हैं। जिनमें पाँच व्रतोंका तथा पाँच पापोंका वर्णन है। जम्बूको लक्ष्य करके सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। प्रश्नोंके व्याकरण के रूपमें कुछ भी नहीं है। अतः ग्रन्थ में वर्णित विषयकी न तो उसके नामके साथ ही कोई संगति है और न स्थानांग समवायांग और नन्दिमें दत्त विषय सूचीके साथ ही उसका कोई मेल है। समवाय और नन्दिके अनुसार प्रश्न व्याकरणमें ४५ अध्ययन और ४५ उद्देश आदि हैं। किन्तु प्रस्तुत अंगमें यह सब कुछ भी नहीं है।

स्थानांगमें प्रश्न व्याकरणमें दस अध्ययन बतलाये हैं— उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरिय भासिआइं, महावीर भासिआइं, खोमग पसिणाइं, कोमल पसिणाइं, अद्दाग पसिणाइं, अंगुट्ठ पसिणाइं और बाहु पसिणाइं। अध्ययनोंकी दस संख्या को देखकर ऐसा लगता है कि स्थानांगका वर्णन उपलब्ध प्रश्न व्याकरण नामक अंग से मेल खाता है क्योंकि उसके द्वारोंकी संख्या भी दस है। किन्तु दस द्वारोंके नामोंका स्थानांगमें दिये दस अध्ययनोंके नामोंसे रंचमात्र भी साम्य नहीं है। अतः

स्थानांगकारके सामने प्रस्तुत अंगकी वर्तमान प्रति तो नहीं ही थी।

प्रश्न व्याकरणकी टीकामें टीकाकार अभयदेवने लिखा है—प्रश्न व्याकरण शब्दका प्रश्नोंका व्याकरण रूप व्युत्पत्यर्थ पूर्वकालमें था। इस समय तो इस ग्रन्थमें आसवपंचक और संवर पंचकका ही व्याख्यान पाया जाता है। ये सब बातें इस बातको प्रमाणित करती हैं कि दसवाँ अंग अपने मूल रूपमें अथवा प्राचीन रूपमें वर्तमान नहीं रहा। अतः उसका स्थान इस नये अंगने ले लिया (इं० एं०, जि० २०, पृ० २३। हि० इं० जि० २, पृ० ४५२)।

११ विपाक सूत्र—सुकृत अर्थात् पुण्य और दुष्कृत अर्थात् पापके विपाकका विचार करता है (त० वा० पृ० ७४। षट्खं० पु० १, पृ० १०७)। द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा शुभ अशुभ कर्मोंके विपाकका वर्णन करता है (क०, पा० भा० १, पृ० १ २) (नन्दी० सू० ५६। समवा० सू० १४०)।

वर्तमान ग्यारहवें अंगमें दो श्रुत स्कन्ध हैं। प्रत्येकमें दस-दस अध्ययन हैं, जिनमें दस-दस कथाओंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया है। गौतम इन्द्र भूति अनेक दुखी प्राणियोंको देखते हैं। उनकी प्रार्थना पर महावीर बतलाते हैं कि पूर्वजन्ममें कौन कर्म करनेसे आदमी इस प्रकारका कष्ट भोगता है, किन-किन पर्यायोंमें उसे जन्म लेना पड़ता है और किन उपायोंसे वह पुनः शुभ गतिमें जन्म ले सकता है। उदाहरणके लिए—एक अम्बरदत्त नामक व्यक्ति भयानक रोगोंसे पीड़ित है क्योंकि पूर्वजन्ममें वह एक वैद्य था और उसने एक

रोगीको मांस खाना बतलाया था। इस तरह वह अनेक जीवित प्राणियोंके वधमें कारण हुआ था।

इस तरह वर्तमान आगम ग्रन्थों में से ६ से ग्यारह तक के आगम कथा प्रधान हैं और वे अपने मूलरूप में नहीं हैं किन्तु एकदम परिवर्तित रूप में हैं। रह जाते हैं शेष पाँच आगम। उनमें से भगवतीका रूप सब से निराला है। उसमें पन्नवणा, जीवाभिगम, उववाइय, राजप्रश्नीय, नन्दी, आयारदसाओ आदि का निर्देश होने से यह स्पष्ट है कि उसका संकलन भी उत्तर कालमें हुआ है। किन्तु उसमें प्राचीन इतिहास की सामग्री अवश्य है। शेष चार अङ्ग अवश्य ही अपना वैशिष्टय रखते हैं। किन्तु वे भी अपने मूल रूप मे नहीं हैं यह स्पष्ट है।

दिगम्बर ग्रन्थों में प्राप्त विषय सूची

अङ्गों और पूर्वोंको विषय सूची वर्तमान में उपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य में सर्व प्रथम अकलंक देव के तत्त्वार्थ वार्तिक में उपलब्ध होती है। प्रश्न होता है कि जब दिगम्बर परम्परा में अङ्ग साहित्यका लोप पहले ही हो चुका था तो यह विषय सूची किस आधार से दी गई ?

दि० जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की धवला और जय धवला टीका में श्री वीरसेन स्वामी ने भी विस्तार पूर्वक अङ्गों और पूर्वोंकी विषय सूची दी है, वह विषय सूची प्रायः तत्त्वार्थ वार्तिक के अनुरूप है, उसमें कहीं कहीं वीरसेन स्वामी ने तत्त्वार्थ वार्तिक का नाम लेकर प्रमाण रूप से उसे उद्धृत भी किया है। और दृष्टिवाद के जिन भेदों का विषय परिचय अकलंक ने नहीं दिया, उनका भी विषय परिचय वीरसेन स्वामी ने कराया है। और

उनका विषय परिचय श्वेताम्बर साहित्य में भी नहीं है। अतः वीरसेन स्वामी के सामने तत्त्वार्थ वार्तिक के सिवाय अन्य भी कुछ साहित्य होना चाहिए और संभवतः अकलंक देव के सामने भी वही साहित्य रहा हो।

दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम तथा कसाय पाहुड़ पर अनेक टीकाएँ पूर्वमें रची गई हैं। उनमें से कई टीकाएँ वीरसेन स्वामी के सामने भी उपस्थित थीं। उन टीकाओं में से कोई टीका अकलंक देव के सामने अवश्य होनी चाहियें; क्यों कि अकलंक देव ने षटखण्डागम का उपयोग अपनी तत्त्वार्थ[1] वार्तिक में किया है यह उससे स्पष्ट है। इसके सिवाय अकलक-देव ने अपने तत्वार्थ[2] वार्तिक में 'व्याख्या प्रज्ञप्ति दण्डकेषु' का दो बार निर्देश करके उसका प्रमाण दिया है। 'व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डकेषु' के बहुवचनान्त प्रयोग से ऐसा अनुमान होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति में दण्डक नामक अधिकार होने चाहिये। दण्डक नामके अधिकार श्वेताम्बर अगामिक साहित्य मे तो उपलब्ध नहीं होते किन्तु षट् खंडागम[3] के जीवट्ठाणमें चूलिकाके अन्तगत महा दण्डक नामक अधिकार भी पाये जाते हैं। परन्तु व्याख्या-प्रज्ञप्ति पाँचवें अङ्ग का नाम है और वर्तमान भगवतीमें वह उद्धरण नहीं मिलते जो व्याख्या प्रज्ञप्ति दण्डकों से अकलंक देव ने दिये हैं। अत व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक नाम से कोई ग्रन्थ जो संभवतया पाँचवे अङ्ग का ही अंगभूत होगा अकलंक देव के सामने उपस्थित था। इत्यादि बातों से यही ज्ञात होता है कि अकलंक देव ने जो द्वादशांगका परिचय दिया है वह किसी

१—पृ० १५३—२४४। २—पृ० १५३, २४५।
३—पु० ६, पृ० १३३ आदि।

उपलब्ध आधार से दिया है और वह आधार नन्दी, समवायांग वगैरह से भिन्न ज्ञात होता है, क्योंकि उससे उनका मेल नहीं खाता।

हाँ, स्थानांग में नौवे और दसवें अङ्ग के दस अध्ययनों के जो नाम दिये हैं वे नाम अकलंक देव के द्वारा दिये गये उक्त दोनो अंगों के परिचयमें पाये जाते हैं। वे नाम न समवायांग में हैं और न नन्दी में हैं। किन्तु हम यह कह सकने में असमर्थ हैं कि अकलंक देव ने उन्हें स्थानांग से ही लिया है या अन्यत्र से; क्योंकि कुछ नामों में अन्तर भी है।

अंग बाह्य श्रुत

श्रुतके दूसरे मुख्य भेदका नाम अंगबाह्य अथवा अनंग प्रविष्ट है। अंग प्रविष्टके रचयिता गणधर थे इस बातमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें कोई मतभेद नहीं पाया जाता। किन्तु अंगबाह्यके रचयिताके विषयमें दोनों ही सम्प्रदायोंमें दो मत पाये जाते हैं।

दिगम्बर परम्परामें आचार्य पूज्यपाद तथा तदनुयायी अकलङ्क देव अंगबाह्यको आरातीय आचार्योंके द्वारा रचित बतलाते हैं। पूज्यपादने लिखा है कि 'वक्ता तीन होते हैं—सर्वज्ञ तीर्थङ्कर, श्रुतकेवली और आरातीय। सर्वज्ञने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया। उनके साक्षात् शिष्य गणधरोंने उसे स्मरण रख कर अंग और पूर्वरूप ग्रन्थोंकी रचना की। और आरातीय'

१—'आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषसंक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। —सर्वार्थ०, १–२०।

आचार्योंने काल दोषसे अल्पायु और अल्प बुद्धिवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिए दसवैकालिक आदि रचे। अकलङ्क[1] देवने भी इसी कथनका अनुसरण किया है। किन्तु श्री वीरसेन स्वामीने कृति अनुयोग[2] द्वारकी धवला टीकामें स्पष्ट रूपसे इन्द्रभूति गौतम को अंग प्रविष्ट और अंग बाह्यका कर्ता बतलाया है। एक बात और भी उल्लेखनीय है कि धवला[3] और जयधवला[4] टीकाके आरम्भमें उन्होंने इन्द्रभूति गौतमको केवल अंगों और पूर्वोका कर्ता बतलाया है, जैसाकि तिलोय पण्णत्ति (अ. १, गा. ७६) में बतलाया है। वहाँ अंग बाह्यके कर्तृत्वका निर्देश नहीं किया है।

वीरसेन स्वामीके लघु समकालीन श्री जिनसेन ने तो अपने हरिवंश पुराण[5] में स्पष्ट रूपसे यह लिखा है कि भगवान महावीरने पहले अंग प्रविष्टका व्याख्यान किया और फिर अंग बाह्यका व्याख्यान किया। और गौतम गणधरने उसे सुनकर उपांग सहित द्वादशांग श्रुत स्कन्धकी रचना की। इस तरह जो अंग बाह्य पहले गणधरोंके शिष्य प्रशिष्य रचित माने जाते थे

—१'आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्।

—त० वा०, १-२०-१३।

२—'गोदमगोत्तेण बह्मणेण इंदभूदिणा आयार... दिट्ठिवादाणां.... अंगबज्झाणं च....रयणा कदा'। —षट् खं०, पु० ६, पृ. १२६।

३—षट् खं०, पु० १, पृ० ६५। ४ क० पा०, भा० १, पृ० ८३।

५—'अंगप्रविष्टतत्त्वार्थं प्रतिपाद्य जिनेश्वरः।
अंगबाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपतः॥ १०१॥
अथ सतर्द्धिसम्पन्नः श्रुत्वार्थं जिन भाषितम्।
द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धं सोपाङ्गं गौतमो व्यधात्॥ १११॥
—हरि० पु०, २स०।

उत्तर कालमें उन्हें गणधर कृत माना जाने लगा। यही बात हम श्वेताम्बर परम्परा में भी पाते हैं।

अनुयोग[1] द्वार और नन्दिसूत्र[2]में द्वादशांगको सर्वज्ञ प्रणीत कहा है। तथा अनुयोग[3] द्वारमें गणधरके लिए सूत्रको आत्मागम तथा अर्थको अनन्तरागम कहा है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों ग्रन्थ गणधरको द्वादशांगका रचयिता मानते हैं। अंग बाह्यके रचयिताके विषयमें दोनों ग्रन्थ मूक हैं। उमास्वातिके तत्वार्थ-[4]भाष्यमें, विशेषावश्यक[5] भाष्यमें, और वृहत्कल्प भाष्यमें स्पष्ट रूप से अंग प्रविष्टको गणधर कृत और अंग बाह्यको आचार्य कृत बतलाया है।

किन्तु जब तत्त्वार्थ भाष्यमें अङ्ग बाह्य और अंग प्रविष्टमें केवल यही भेद बतलाया है कि एक आचार्य रचित होता है और दूसरा गणधर रचित तब विशेषा०[6] भा० में उक्त भेदके सिवाय दो भेद और बतलाये हैं—गणधरके पूछने पर तीर्थङ्कर जो वचन कहते हैं उससे जो निष्पन्न होता है वह अंग प्रविष्ट है और बिना प्रश्नके जो अर्थ प्रतिपादन तीर्थङ्कर करते हैं, उससे जो निष्पन्न होता है वह अंगबाह्य है। तथा अंग प्रविष्ट सब तीर्थङ्करोंके तीर्थमें नियत है। किन्तु अंगबाह्य नियत नहीं है।

१—अनु० सू० पृ० २१८। २ नं. सू. ४०। ३—'गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे'। ...अनु., २१९।

४—सू. १—२०। ५—गा० १४४।

६—'गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुवचलविसेसओ वा अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥ ५५० ॥'

नन्दिचूर्णि[1] में तथा नन्दिकी हरिभद्रीय[2] वृत्तिमें भी दोनोंमें दो भेद बतलाये हैं—एक कर्तृनिमित्तक और एक नियत-अनियत। इन दोनोंके सिवाय जो तीसरा अन्तर विशे० भा० में बतलाया है उस परसे अंगबाह्यके भी गणधर रचित होनेकी बात प्रस्फुटित होती है; क्योंकि अप्रश्नपूर्वक जो अर्थ प्रतिपादन तीर्थङ्करने किया उसको भी गणधरोंने ही ग्रन्थरूपमें निबद्ध किया होगा। वि० भा०के टीकाकार हेमचन्द्रने तीनों अन्तरोंके तीन उदाहरण दिये हैं। स्थविरकृत अंगबाह्य जैसे भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति आदि। अप्रश्न पूर्वक अर्थ प्रतिपादनके आधार पर रचित अंगबाह्य जैसे आवश्यक आदि। अनियत अंगबाह्य जैसे तन्दुल वैकालिक आदि। तीनों अन्तर एक ही अंगबाह्यमें नहीं घटाये हैं।

अब आवश्यक अंगबाह्यको लीजिये। आवश्यक निर्युक्ति, विशे० भा० और उनकी टीकाओंसे बराबर यह परिलक्षित होता है कि आवश्यकके अन्तर्गत सामायिक आदि अध्ययनोंकी रचना तीर्थङ्करके उपदेशके अनुसार गणधरोंने की थी। आवश्यक[3] नि०में कहा गया है कि मैं गुरुजनके द्वारा उपदिष्ट और आचार्य परम्परासे आगत सामायिक निर्युक्तिको कहता हूं। टीकाकार मलयगिरिने गुरुजनका अर्थ तीर्थङ्कर और गणधर किया है। इसी तरह विशेषावश्यक भाष्यमें सामायिकका निरूपण करते हुए कहा है कि सामायिकका कथन तीर्थङ्कर करते हैं

१—पृ० ४७। २—पृ० ६०।

३—'सामाइअनिज्जुति वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं।
आयरियपरंपरएण आगयं आणुपुव्वीए ॥ ८७ ॥'

और गणधर[1] उसे सुनते हैं। इस सब कथनका तात्पर्य यही निकलता है सामायिक आदि आवश्यक गणधर कृत हैं।

अतः श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी अंगबाह्यके गणधर कृत होनेकी मान्यता रही है। हरिवंशकार जिनसेनके समयमें दोनों सम्प्रदायोंमें इस मान्यताका प्राबल्य था ऐसा प्रतीत होता है।

अंगबाह्यको उत्तरकालमें क्यों गणधर प्रणीत माना जाने लगा, इस सम्बन्धमें कुछ कहना शक्य नहीं है। फिर भी अंग प्रविष्टकी तरह उसका भी प्रामाण्य और महत्ता स्थापित करने की भावना उसके मूलमें अवश्य रही है। अस्तु,

अंगबाह्यके भेद

दिगम्बर परम्परामें पूज्यपाद[2]ने तत्वार्थसूत्रके अनुसार अंग-बाह्यके अनेक भेद बतलाते हुए उनकी संख्या या नामोंका कोई निर्देश नहीं किया। केवल उदाहरण रूपसे दश वैकालिकका नाम निर्देश मात्र कर दिया। अकलंक[3] देवने नन्दिसूत्रकी तरह अंगबाह्यके कालिक और उत्कालिक भेद करके उदाहरण रूपमें उत्तराध्ययनका नाम निर्देश कर दिया।

किन्तु वीरसेन स्वामीने अपनी धवला[4] जयधवला[5] टीकामें अंगबाह्यके चौदह भेदोंके नाम गिनाकर उनका विषय परिचय भी संक्षेपमें दिया है। सम्भवतः उन्हींका अनुसरण करते हुए जिनसेनने भी अपने हरिवंश[6] पुराणमें अंगबाह्यके १४ भेद

१—गा० २१२२। गा० २१२५।

२—सर्वार्थ० १-२०। ३—'तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात।' त० वा०, १-२०-१४। ४—षट्खं०, पु०, १, पृ० ९६। ५—क० पा०, भा० १, पृ० ९७। ६—स० २, श्लो० १०२-१०५।

गिनाये हैं। उन भेदोंमें दशवैकालिक और उत्तराध्ययनका भी नाम है। चौदह भेद इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दश वैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। वीरसेन स्वामीके पश्चात् उन्हींका अनुकरण करते हुए नेमिचन्द्र[1] सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्रुत[2] सागर सूरि आदिने भी अंगबाह्यके भेद गिनाये हैं।

यह हम लिख आये हैं कि नन्दि० (सू० ४४) में अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त भेद करके आवश्यक व्यतिरिक्तके कालिक और उत्कालिक भेद किये हैं। तथा दश वैकालिकको उत्कालिकके भेदोंमे और उत्तराध्ययनको कालिकके भेदोंमे गिनाया है।

अंगबाह्यके भेदों का समीकरण

नन्दी सूत्रमें अंगबाह्यके जो भेद गिनाये हैं उनके साथ में इनमेंसे कुछ भेदोंका समीकरण हो जाता है—

नन्दीमे अंगबाह्यके दो मूल भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। तथा आवश्यकके छै भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। उक्त भेदोंमेसे शुरुके चार दोनोंमें एक ही हैं, केवल अन्तके दो में अन्तर है। नन्दिमें कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान हैं और ऊपर वैनयिक और कृतिकर्म हैं। यद्यपि दिगम्बर परम्परामें षडावश्यक वे ही हैं जो श्वेताम्बर परम्परामें हैं, और

१—गो० जी०, गा० ३६६-३६७।

२—त० वृ०, पृ० ६७।

कृतिकर्मका विधान श्वेताम्बर परम्परामें भी है। किन्तु संभवतया वीरसेन स्वामीने ग्रन्थ रूपका निर्देश करनेके कारण प्रतिक्रमण और कायोत्सर्गके स्थानमें वैनयिक और कृतिकर्मका निर्देश किया है। ये दोनों भी आवश्यकोंके अंगभूत ही हैं।

नन्दीमें कालिक श्रुत तथा उत्कालिकके बहुतसे भेद गिनाये हैं। उनमेंसे जो भेद वीरसेनोक्त अंगबाह्यके भेदोंसे मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—दश वैकालिक, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, तथा उत्तराध्ययन, कल्प्य, व्यवहार। दिगम्बर साहित्यमें कल्प्य व्यवहारको एक गिनाया है। इस तरह चौदह भेदोंमें से नौ भेदोंके नाम श्वेताम्बर सम्मत अंगबाह्यके भेदोंके नामोंसे मेल खाते हैं। शेषमें से एक भेद पुण्डरीक है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्धके प्रथम अध्ययनका नाम भी पुण्डरीक है। इसी तरह एक भेदका नाम 'णिसिहिय है, इसका संस्कृत रूपान्तर निषिद्धिका किया जाता है। उधर नन्दीमें कालिकके भेदोंमें एक भेदका नाम 'निसिह' है जिसका संस्कृतरूप निशीथ है। श्वेताम्बरोंमें निशीथ नामक सूत्र प्रसिद्ध है। हम नहीं कह सकते कि इन भेदोंका परस्परमें कोई सम्बन्ध है या नहीं।

प्रो० विंटरनीट्सका कहना है कि यह अनुमान करना सम्भव है कि जो मूल ग्रन्थ दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे मान्य है, वे जैनोंके पवित्र साहित्य के प्राचीनतम अंश हैं। तथापि जिन ग्रन्थोंके नाममें साम्य है उनमें प्रतिपादित विषयकी दृष्टिसे कहाँ तक एकरूपता है यह प्रश्न अनुसन्धान करनेके लिये रह जाता है (हि. इं. लि., जि. २ पृ. ४७४)। इसके सम्बन्धमें पूर्वमें प्रकाश डाला जा चुका है।

दि० अंगबाह्यका विषय परिचय

आगे धवला[1] जयधवलाके आधार पर दिगम्बर सम्मत अंग बाह्यके भेदोंका विषय परिचय दिया जाता है।

१ सामायिक नामक अंगबाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा समता भाव रूप सामायिकका वर्णन करता है। तीनों सन्ध्याओंमें या पक्ष और मासके सन्धिदिनोंमें अथवा अपने इच्छित समयमें बाह्य और अंतरंग पदार्थोंमें कषायका निरोध करनेको सामायिक कहते हैं। उसके चार भेद हैं—द्रव्य-सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक। सचित्त और अचित्त द्रव्योंमें राग द्वेषके निरोध करनेको द्रव्य सामायिक कहते हैं। ग्राम, नगर, देश आदिमें राग द्वेषका निरोध करना क्षेत्र सामायिक है। छ ऋतुओंमें साम्य भाव रखनेको या राग द्वेष न करनेको काल सामायिक कहते हैं। समस्त कषायोंका निरोध करके तथा मिथ्यात्वको दूर करके छ द्रव्य विषयक निर्बाध अस्खलित ज्ञानको भाव सामायिक कहते हैं। सामायिक नामक अंग बाह्यमें इन सबका वर्णन रहता है।

२ चतुर्विंशतिस्तव नामक अंग बाह्य उस उस काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थङ्करोंकी वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, आकार, ऊँचाई, पाँच महा कल्याणक, चौतीस अतिशयोंका स्वरूप और तीर्थङ्करोंकी कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओं तथा चैत्यालयोंका वर्णन करता है।

१—षट्खं०, पु० १, पृ० ९६-९८ तथा पु० ९, पृ० १८७-१९१। क० पा०, भा० १, पृ० ९७-१२१।

३ वन्दना नामक अंगबाह्य एक जिनेन्द्र सम्बन्धी और उन एक जिनेन्द्र देवके अवलम्बनसे जिनालय सम्बन्धी वन्दना का सांगोपांग वर्णन करता है।

४ प्रमादसे लगे हुए दोषोंका निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। उसके सात भेद हैं—दिन सम्बन्धी, रात्रि सम्बन्धी, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक, और औत्तमार्थिक। प्रतिक्रमण नामक अंगबाह्य इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका कथन करता है।

५ वैनयिक नामक अंग बाह्य ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चरित्र विनय, तप विनय और उपचार विनयका वर्णन करता है।

६ कृतिकर्म नामक अंगबाह्य अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधुकी पूजा विधिका वर्णन करता है।

७ दशवैकालिक नामक अंगबाह्य–मुनियोंकी आचार विधि और गोचर विधिका वर्णन करता है।

८ उत्तराध्ययन चार प्रकारके उपसर्ग और बाईस परीषहोंके सहनेके विधानका और उनके सहन करनेके फलका तथा अनेक प्रकारके उत्तरोंका वर्णन करता है।

९ कल्पव्यवहार–साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित विधिका वर्णन करता है।

१० कल्प्याकल्प्य–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर मुनियोंके यह योग्य और यह अयोग्य है, इत्यादिका वर्णन करता है।

११ महाकल्प्य–दीक्षाग्रहण, शिक्षा, आत्म संस्कार, सल्लेखना और उत्तमस्थान रूप आराधनाको प्राप्त हुए साधुओंके करने योग्य आचारका वर्णन करता है।

१२ पुण्डरीक अंगबाह्य—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक सम्बन्धी इन्द्र सामानिक देव आदिमें उत्पत्तिके कारणभूत दान पूजा शील तप उपवास, सम्यक्त्व और अकाम निर्जराका तथा उनके उपपाद स्थान और भवनोंके स्वरूपका वर्णन करता है।

१३ महापुण्डरीक अंगबाह्य—उन्ही इन्द्रों आदिमें उत्पत्तिके कारण भूत तपो विशेष आदिका वर्णन करता है।

१४ निषिद्धिका अंगबाह्य—अनेक प्रकारके प्रायश्चितका वर्णन करता है।

अंगभिन्न श्वेताम्बरीय आगम

वर्तमानमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उक्त ग्यारह अंगोंके सिवाय ३४ आगम और भी माने जाते हैं। वे हैं—१२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, १० पइन्ना (प्रकीर्णक), एक नन्दि और एक अनुयोग द्वार। इस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय ४५ आगमोंको वर्तमानमें मानता है। किन्तु स्थानक वासी सम्प्रदाय उसमें से केवल बत्तीस आगमोंको ही मानता है जो इस प्रकार हैं-११ अंग और १२ उपांग ये २३, एक निशीथ २४, एक बृहत्कल्प २५, एक व्यवहार सूत्र २६, एक दशाश्रुत २७, एक अनुयोग द्वार २८, एक नन्दि सूत्र २९, एक दश वैकालिक ३०, एक उत्तराध्ययन ३१, और एक आवश्यक ३२।

औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्प चूलिका और वृष्णिदशा ये बारह उपांग हैं जिन्हें श्वताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय मानते हैं। प्रत्येक अंग

का एक एक उपांग माना जाता है इस लिये अंगोंकी तरह उपांगोंकी संख्या भी बारह ही मानी गई है।

निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशा श्रुत स्कन्ध, पंचकल्प और महानिशीथ ये छै छेदसूत्र हैं। इनमेंसे स्थानक वासी केवल शुरूके चारको मानते हैं। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन पिण्डनिर्युक्ति या ओघनिर्युक्ति ये चार मूल सूत्र हैं। इनमेंसे अन्तिम निर्युक्तिको स्थानकवासी सम्प्रदाय नही मानता।

चतुः शरण, आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव, ये दस पइन्ना हैं जिन्हें स्थानकवासी मान्य नहीं करते। और दिगम्बर सम्प्रदायमें तो बारह अंगोंके सिवाय शेष आगमोंका कोई स्थान ही नहीं है।

नन्दि और अनुयोगद्वार

श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यका परिचय प्राप्त करने के लिये नन्दिसूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र कोशके तुल्य हैं। उनको देखने से प्रतीत होता है कि उनके रचयिताओंने मूल आगमिक साहित्य का ज्ञान कराने के लिये जो जो वस्तुएँ तथा उपाय आवश्यक समझे उनका संकलन अपनी इन कृतियों में करनेका प्रयत्न किया था। चूँकि नन्दि में अनुयोग द्वारका नाम आया है इसलिये अनुयोग द्वार नन्दीसे प्राचीन है। किन्तु आगमके विषय में नन्दिको अधिकारी माना जाता है। दोनोंमे ज्ञानकी चर्चा है। अनुयोगद्वारमें श्रुतके भेद अंग प्रविष्ट और अङ्ग बाह्य करके अङ्ग बाह्यके कालिक और उत्कालिक भेद किये हैं और उत्कालिक के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ये दो भेद किये हैं।

किन्तु नन्दि में अङ्गबाह्यके आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त भेद करके आवश्यक व्यतिरिक्तके कालिक और उत्कालिक भेद किये हैं। इसकी विस्तारसे चर्चा पहले आ चुकी है। अनुयोग द्वार में केवल आवश्यक की चर्चा है किन्तु नन्दी में अगंग पविट्ठ या अङ्ग बाह्य में उन सब ग्रन्थों के नाम दिये हैं जो आगमकी श्रेणी में आते हैं किन्तु जिन्हें अङ्गों में सम्मिलित नहीं किया गया है।

इस ग्रन्थसूची मे बहुतसे नाम ऐसे हैं जो वर्तमान में आगम के अङ्गभूत रूपसे माने जाते हैं। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि वर्तमान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उन ग्रन्थोंको जिन विशेष विभागों में विभाजित माना जाता है, नन्दी में उन विभागोंका कोई संकेत तक नहीं है। वे विभाग हैं उपांग, पइन्ना, छेदसूत्र और मूलसूत्र। नन्दिमें इनका निर्देश नहीं है। पइन्नाका निर्देश है किन्तु भिन्न अर्थ मे। तथा नन्दी में अनंग प्रविष्ट के अन्तर्गत ऐसे भी बहुतसे ग्रन्थ निर्दिष्ट हैं, जो या तो प्राप्त ही नहीं हैं या ग्रन्थोंके अन्तर्गत अध्ययनोंके नाम रूपमें पाये जाते हैं, किन्तु पृथक् ग्रन्थके रूप में नहीं पाये जाते।

नन्दी में प्रदत्त ग्रन्थसूचीकी एक और भी विशेषता है। उसमें नन्दीका भी नाम है। अब यदि आगमोंको पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धि गणि नन्दि[1] के रचयिता हैं तो नन्दिकी ग्रन्थ-सूची से वर्तमान आगम ग्रन्थों में पाया जाने वाला अन्तर खास

१—नन्दि सूत्र के रचयिता देववाचक देवर्द्धिसे भिन्न थे। ऐसा जै० सा० इ० गुजराती में लिखा है। किन्तु वे दोनों समकालीन थे।

तौरसे उल्लेखनीय है। इससे यह सिद्ध होता है कि देवर्द्धि गणिके पश्चात् आगमिक साहित्यका न केवल पुनः विभाजन हुआ है किन्तु उनका पुनःसंस्कार भी किया गया है।

नन्दिसूत्र और अनुयोग द्वार दोनों गद्यमें रचे गये हैं यद्यपि बीच-बीचमें गाथा भी आती हैं। नन्दीके प्रारम्भमें पचास गाथाएँ हैं। प्रथम गाथाके द्वारा तीर्थङ्कर सामान्यका स्तवन किया है। गाथा दो और तीनमें वीर भगवानका स्तवन है। तत्पश्चात् १४ गाथाओंसे संघका स्तवन है। जैन-साहित्यमें संघका स्तवन इतना विस्तार से मेरे देखने में नहीं आया। गाथा १८-१९ में चौबीस तीर्थङ्करोंका निर्देश है। गाथा २०-२१ में वीर भगवानके ग्यारह गणधरोंका निर्देश है। गाथा २२ में वीर शासनका जयकार है। गाथा २३ से स्थविरावली प्रारम्भ होती है, जिसके स्थविरोंकी नामावली इस प्रकार है—

१ सुधर्मा, २ जम्बू, ३ प्रभव, ४ शय्यंभव, यशोभद्र, ६ सम्भूत, ७ भद्रबाहु, ८ स्थूलभद्र, ९ महागिरि, १० सुहस्ती, ११ बलिस्सह, (बहुलका सहोदर), १२ स्वाति, १३ श्यामार्य, १४ शाण्डिल्य, १५ आर्य जीत धर, १६ समुद्र, १७ मंगु, १८ आर्य नन्दिल, ९ नागहस्ती, २० रेवती नक्षत्र, २१ सिंह २२ स्कन्दिलाचार्य, २३ हिमवन्त, २४ नागार्जुन, २५ भूत दिन्न २६ लोहित्य और २७ दूष्यगणि।

नन्दिसूत्रमें प्रदत्त यह स्थविरावली सुहस्तीसे आगे, कल्प सूत्रकी स्थविरावलीसे भिन्न हो जाती है। अवचूरी में इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सुहस्तीकी शिष्य परम्पराका

उल्लेख कल्पसूत्रमें कर दिया है, उसका यहाँ अधिकार नहीं है क्योंकि उसमें नन्दिसूत्रके कर्ता देववाचक गुरु नहीं आते।[1]

इस सम्बन्धमें डा० वेबरका कहना था कि साक्षियोंसे प्रमाणित होता है कि नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें सुहस्तीके अनन्तर पूर्ववर्ती अथवा भाई महागिरिकी शिष्य परम्परा दी गई है (इं० एं०, जि० २१, पृ० २६४)। हमारे सम्मुख आगमोदय समितिसे मलयगिरिकी टीकाके साथ प्रकाशित नन्दीसूत्रकी प्रति है। उसके मुख पृष्ठ पर मुद्रित है 'आर्य महागिरिकी आवलीमें हुए दूष्यगणिके शिष्य देववाचक रचित नन्दिसूत्र।' अतः नन्दिसूत्रकार महागिरिकी परम्परामें थे। हमने ऊपर जो स्थविरोंकी नामावली दी है, वह भी उसीके अनुसार दी है। किन्तु डा० वेबरने अपने नन्दिसूत्र विषयक लेखमें जो स्थविरोंकी नामावली दी है उसमे इससे अन्तर है। डा० वेबरने सुहस्तिका नाम ब्रैकेट में देकर भी उसकी गणना नहीं की है। तथा मंगु और नन्दिलके बीचमें १७ धम्म, १८ भद्दगुत्त, १९ वइर और २० आर्य रक्षित के नाम दिये हैं। रेवती नक्षत्र और स्कन्दिलाचार्यके मध्यका 'सिंह' नाम उसमे नहीं है। तथा नागार्जुनके पश्चात् और भूतदिन्नसे पहले गोविन्द नाम और है।

अवचूरिके कथनानुसार स्थविरावलीके कतिपय नामोंमें बड़ी अनिश्चितता है। कुछ गाथाओंको जिनमें धम्म आदि नाम हैं प्रक्षिप्त माना जाता है। इसीसे गाथा संख्यामें भी अन्तर है।

१—'सुहस्तिनः शिष्यावलिकायाः श्रीकल्पे उक्तत्वात् न तस्य इहाधिकारः तस्यां नन्दिकृद् देववाचक गुर्वनुत्पत्तेः।'—गा. २७ की अवचूरी।

नन्दि सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र में मिथ्या श्रुतोंके नाम दिये हैं। अनुयोग[1] द्वार में तो भारत रामायणसे लेकर सांगोपांग चार वेद पर्यन्त मिथ्या श्रुत कहा है। किन्तु नन्दि[2] में भारत रामायणसे लेकर वेद पर्यन्त मिथ्याश्रुतकी लम्बी तालिका दी है जिनमेंसे कुछ नामोंका पता नहीं चलता। टीकाकार ने भी उनका कोई खुलासा नहीं किया। कुछ नाम इस प्रकार हैं—

कोडिल्लय (कौटिलीय अर्थशास्त्र), घोडगमुह (वात्स्यायनके पूर्वज घोटक मुखका कामसूत्र), वइसेसिअ (वैशेषिक दर्शन), बुद्ध वयण (बौद्ध सिद्धान्त), तेरासिय (त्रैराशिकमत) काविलिअं (कपिल दर्शन), लोगायय (लोकायत दर्शन), सट्ठि तंत (षष्ठितंत्र), माठर (माठर प्रणीत वृत्ति), पुराण, व्याकरण, भागवत, पातञ्जलि, गणित, नाटक अथवा बहत्तर कलाएं और सांगोपांग चार वेद।

नन्दी और अनुयोग द्वार दोनों में ज्ञानकी चर्चा है। उसमें जो अन्तर है उसका स्पष्टी करण प्रारम्भ में कर दिया गया है।

आवश्यक प्रसंग वश नन्दि और अनुयोग द्वारका परिचय

१—'भारहं रामायणं जाव चत्तारि वेआ सागोवंगा से तं लोइए आगमे।'—अनु०, पृ. २१८।

२—'भारहं रामायणं भीमासुरुक्खं कोडिल्लयं सगडभद्दिआओ खोड (घोडग) मुहं कप्पासिअं नागसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसिअं बुद्धवयणं तेरासिअं काविलिअं लोगाययं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं भागवं पायंजली पुस्सदेवयं लेहं गणिअं सउणरुअं नाडयाइं, अहवा बावत्तरी कलाओ चत्तारि अ वेआ संगोवंगा······से तं मिच्छा सुअं॥—नंदि० (सू० ४२)।

करानेके पश्चात् आगे हम क्रमानुसार ही श्वेताम्बरीय अङ्गेतर आगमों का परिचय करायेंगे।

बारह उपांग

बारह अंगोंके बारह ही उपांग हैं। एक एक अङ्ग का एक एक उपांग है। कतिपय अंगोंमें उपांगोंका उल्लेख है तो उपांगों में भी अंगों और उपांगोंका निर्देश मिलता है। किन्तु अंगों और उपांगोंका सम्बन्ध केवल बाहिरी है। डा० वेबरका कहना था कि किसी एक हाथने अंगों उपांगोंको वह रूप दिया था जिसमें वह आज पाये जाते हैं। डा० विन्टर निट्सने लिखा है कि साहित्यिक दृष्टिसे बारह उपांग विशेष आकर्षक नहीं हैं।

१ प्रथम उपांग औपपातिकके दो भाग हैं। दूसरा भाग प्रथमके तृतीयांशके लगभग है। प्रथम भागमें भगवान् महावीर का वर्णन है। बिम्बसारका पुत्र कुणिक भगवान् महावीर-के पास उपदेश सुनने के लिये जाता है। उपदेशमें अच्छे और बुरे कर्मोंके करनेसे चारों गतियोंमें जन्म लेनेका तथा साधु और गृहस्थके कर्तव्योंका निर्देश है। दूसरे भागका पहलेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरा भाग अनेक उपवि-भागोंमें बंटा हुआ है। इसमें बतलाया है कि गौतम इन्द्र-भूति भगवान् महावीरके पास जाते हैं और उनसे अनेक प्रश्न करते हैं। भगवान् उनका उत्तर देते हैं। अधिकतर प्रश्न पुनर्जन्मसे सम्बन्ध रखते हैं। इस भागके मध्यमें कुछ उल्लेखनीय बातें भी हैं। उसमें आठ[१] ब्राह्मण परिव्राजकों

१—'कण्हे अ करकंडे य अंबडे य परासरे। कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते अ णारए॥ —औप० सू०, पृ. १७२।

के और आठ क्षत्रिय[1] परिव्राजकोंके नाम दिये हैं तत्पश्चात् अंग ५ की तरह ब्राह्मण साहित्यके ग्रन्थोंका निर्देश है—

तीसरे स्थानांगकी तरह ७२ कलाएँ और सात निन्हवोंका भी नाम आता है। अंग ५-६ की तरह कुछ विदेशी दासियोंका भी निर्देश है यथा-सिंहली, आरबी, पुलिंदी, मुरुण्डी, पारसी आदि। ग्रन्थके अन्तमें २२ गाथाएँ हैं जिनमें सिद्धोंका वर्णन हैं इस उपांग पर अभयदेवकी टीका और पार्श्व चन्द्रकी अवचूरी है।

२—इसका नाम रायपसेणइज्ज या राज प्रश्नीय है। ग्रन्थों के नामका संस्कृतरूप अशुद्ध है ऐसा डा० वेबरका कहना था। ऐसा अनुमान[2] किया जाता है कि मूलतः इस ग्रन्थका सम्बन्ध प्रसेनजित्से था। उसके स्थानमें परासका निर्देश मिलता है। डा० वेबरने लिखा[3] है कि डा० ल्युमनने लिखा है कि बौद्ध त्रिपिटक दीघनिकायमें एक 'पयासी सुत्त' नामक प्रकरण है। उसके साथ इस उपांगका घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि इसमें भी राजा पएसीकी चर्चा है।

अतः या तो इस दूसरे उपांग और उक्त बौद्धनिकाय दोनोंका मूल आधार एक है अथवा उपांग दो का आधार उक्त बौद्ध निकाय है।

ग्रन्थका आरम्भ इस प्रकार होता है-सूर्याभ नामक देव अपनी विभूतिके साथ भगवान महावीरकी वन्दनाके लिये आता

१—'सीलई ससिहारे (य) णग्गई भग्गई तिश्र। विदेहे रायाराया रायारामे बलेति श्र॥ 'ओप० सू०,'पृ० १७२।

२—हि. इं. लि. (विन्ट.), जि. २, पृ. ४५५,। ३—इं. एं., जि. २० पृ. ३६९-३७०।

है। गौतम गणधर भगवानसे उसके विषयमें पूछते हैं। भगवान उत्तर देते हैं कि सूर्याभ देव पूर्व भवमें पएसी नामक राजा था। एक बार उसने अपने एक दरबारीको भेंट लेकर श्रावस्ती भेजा। वहां पार्श्वनाथकी परम्पराके निर्ग्रन्थ श्रमण केसी कुमार थे उनकी ख्याति सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और अपने राजा पएसी को उनके पास ले आया। राजा और केसी कुमारके बीचमें जो वार्तालाप हुआ वही इस उपांगमें ग्रथित है। केसी कुमार ने यह प्रमाणित किया कि शरीरसे भिन्न आत्मा है। राजा पएसी आत्माको नहीं मानता था। वह कहता है-मैंने एक चोरको मार डाला उसके टुकड़े २ कर दिये। किन्तु मुझे तो उसमें आत्माका कोई चिन्ह तक नहीं मिला। केशी उत्तर देते हैं कि तुम्हारा यह कर्म उस मनुष्यकी तरह ही है जो आगके लिये लकड़ियोंको तोड़ तोड़ कर देखता है। इत्यादि, इस पर मलयगिरि की टीका है।

३-जीवाभिगम नामक तीसरे उपांगमें गौतम इन्द्रभूतिके प्रश्न और भगवान महावीरके उत्तरके रूपमें जीव, अजीव और जम्बूद्वीप सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतों आदिका विस्तारसे वर्णन है। जिस भागमें द्वीप-सागर वगैरहका वर्णन है वह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसे सम्बन्ध रखता है। उद्धरणोंकी भी बहुतायत है। इस पर मलयगिरिकी टीका है।

४ चौथा उपांग पन्नवणा अथवा प्रज्ञापना है। इसमें जीव की विभिन्न दशाओं का वर्णन है। यह छत्तीस पदोंमें विभाजित है, जिनमेंसे अनेकमें दोसे लेकर छै तक उद्देसक हैं। ग्रन्थके अन्त की चार गाथाओंमें छत्तीस पदोंके नाम दिये हैं। उन ३६ पदोंमेंसे पहले, तीसरे, पांचवे, दसवें और तेरहवें पदोंमें जीव

और अजीव की, सोलहवें और बाईसवें पदोंमें आस्रवकी, तेईसवें पदमें बन्धकी, तथा छत्तिसवें पदमें केवलि समुद्घात की चर्चा करते हुए संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्ररूपणा है। ग्रन्थ का आरम्भ पञ्च नमस्कार मंत्रसे होता है। उसके पश्चात् 'एसो पंच णमोयारो' आदि पद्य है जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वज्रस्वामीका माना जाता है। उसके बाद नौ कारिकाओंसे ग्रन्थ का आरम्भ होता है। डा० जेकाबी इन गाथाओंको देवर्द्धि गणि की कृति बतलाते थे। इन गाथाओंमेसे पहली गाथामें भगवान महावीर का स्तवन है, दूसरीमे 'पण्णवणा' का और तीसरी चौथी गाथाओंमे उसके कर्ता श्यामार्य का।

उनमे श्यामार्यको तेईसवां धीरपुरुष बतलाया है। टीकाकार मलयगिरिके अनुसार श्यामार्य सुधर्माके बाद तेईसवें थे। किन्तु तपागच्छकी पट्टावलीमे नौवें सुस्थितके समकालीन महागिरिके शिष्य बलिस्सह और बलिस्सहके शिष्य सूत्रकार स्वाति और उनके शिष्य श्यामाचार्यको श्यामार्य बतलाया है। नन्दीसूत्र और मेरुतुंगकी प्राचीन स्थविरावलियोंमें वीर भगवान्के बाद श्यामार्यका नम्बर तेरहवां है[1]। अतः तेईसवीं संख्या घटित नहीं होती। किन्हींका ऐसा भी सुझाव रहा है कि भगवान महावीरसे गणना करते समय उनके ग्यारह गणधरोंको भी सम्मिलित कर लेनेसे श्यामार्यका नम्बर तेईसवां आ जाता है। किन्तु अन्यत्र कहीं भी पट्टधरोंकी गणनामे ग्यारह गणधरोंको सम्मिलित नहीं किया गया[2]। अस्तु

इस पर भी मलयगिरिकी टीका संस्कृत में हैं।

१—इं० एं०, जि० २०, पृ० ३७३। २ हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ४५७।

५ पांचवा उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति है। इसमें बीस प्राभृत हैं जिनमें सूर्यके मण्डल, परिभ्रमण, गति, दिनमान, हानिवृद्धि, प्रकाश संख्या, वर्षका आरम्भ और अंत, वर्षके भेद, चन्द्रमाकी हानि वृद्धि, चन्द्र सूर्य आदिकी ऊँचाई, विस्तार आदिका कथन है। इस ग्रन्थमें सूर्य और चन्द्र दोनोंका कथन है। अतः डा० विन्टरनीट्स[२]का कथन है कि चूंकि इसका विभाग प्राभृतोंमे है और प्राभृत दृष्टिवादके अन्तर्गत थे, अतः दिगम्बर साहित्यमे जो सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्तिको दृष्टिवादका भेद माना है वह उचित है। स्थानांग४-१में इन्हे अंगबाह्य कहा है।

६ छठा उपांग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है—इसमें जम्बूद्वीपका वर्णन है इसका सम्बन्ध जैन भूगोलसे है। किन्तु भारतवर्ष का वर्णन करते हुए राजा भरतकी कथाने ग्रन्थका बहुत सा भाग ले लिया है।

७ सातवां उपांग चन्द्र प्रज्ञप्ति है। इसमें चन्द्र सम्बन्धी बातोंका वर्णन है यह सूर्यप्रज्ञप्तिसे मिलता जुलता हुआ है।

८ आठवां अंग कल्पिका या निरयावलियाओं है। 'निरया-वलियाओ' का अर्थ है—'नरकोंकी पंक्ति'। इसमे बतलाया है कि चम्पा नगरीके राजा कुणिकके अथवा अजात शत्रुके दस भाई युद्धमे वैशाली नरेश चेटकके द्वारा मारे गये और मरकर नरकोमे गये।

९ नौवां उपांग कल्पावतंसिका है। इसमें राजा श्रेणिकके दस पौत्रोंकी कथाएं हैं जो दीक्षा धारण करके मरकर विभिन्न स्वर्गोमें गये। प्रत्येकका कथन एक-एक अध्ययनमें होनेसे इसमें दस अध्ययन है।

१० दसवां उपांग पुष्पिका है। इसमें भी दस अध्ययन हैं। इसमें बतलाया है कि दस देवी-देवता पुष्पक विमान में बैठ कर महावीर भगवानकी बन्दना करनेके लिये आते हैं। वहां भगवान गौतम गणधरसे उनके पूर्वभव कहते हैं।

११ ग्यारवां उपांग पुष्पचूलिका है। इसमें भी दस अध्ययन है। इसमें भी पुष्पिका की तरह श्री ह्री आदि दस देवियोंके पूर्व भवोंके वृत्तान्त हैं।

१२ बारहवां उपांग वृष्णिदशा है। इसमें बारह अध्ययन है। जिनमें अरिष्ट नेमि तीर्थङ्करसे दीक्षा लेने वाले वृष्णिवंश के बारह राज कुमारों की कथाएं हैं। प्रथम अध्ययनमें बलदेव के पुत्र और कृष्णके भतीजे निषढ़ कुमार की कथा है।

न. ८ से १२ तकके उपांगो को निरयावलि सूत्र कहते हैं। डा० [1]विन्टर नीट्ज का अनुमान है कि यह मूलतः एक ही ग्रन्थ था और उसके पांच विभाग थे। सम्भव तया उपांगो की संख्या बारह करनेके लिये उसके पांच विभागों को पांच ग्रन्थों का रूप दे दिया गया।

यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि बारह अंगों के साथ इन बारह उपांगो का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों की विषय तालिकाओंके देखनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

छै छेद सूत्र

छेद सूत्रोंका अन्तर्भाव कालिक श्रुत में किया गया है तथा चारअनुयोगों में से चरणकरणानुयोग में। स्पष्ट है कि छेद सूत्रों का विषय मुनियोंके आचार से सम्बद्ध है।

१—हि. इं० लि०, जि० २, पृ० ४५७—४५८।

प्रथम छेद सूत्र निशीथ है। कहा गया है कि प्रस्तुत सूत्र प्रारम्भ में भी ऐसा ही पृथक् था जैसा आज है। किन्तु पश्चात् प्रथम आचारांग में मिल गया और पुनः उससे पृथक् हो गया। इसमें बीस उद्देशक है। उनमे बतलाया है कि करने, कराने और अनुमोदनासे साधु प्रायश्चित्तका भागी होता है। अन्तिम उद्देसकमें मासिक, चातुर्मासिक आदि प्रायश्चित्तोंका और उनकी विधि बतलाई है। विन्टर नीट्स इसे अर्वाचीन बतलाते हैं।

दूसरा छेद महानिशीथ है। नन्दिसूत्र वगैरहमें अनंग प्रविष्टमें इसका नाम आता है[1]। इसका आरम्भ अंगोंकी तरह-'सुयं मे आउसं तेनं भगवया एवं आक्खायं' (आयुष्मन्: मैंने सुना उन भगवानने ऐसा कहा) वाक्यसे होता है और प्रत्येक अध्ययन 'त्ति बेमि'के साथ समाप्त होता है। श्री वेबर[2] का कहना था कि इसके सिवाय अन्य कोई बात इसमें ऐसी नहीं है जिससे इसे प्राचीन कहा जा सके। इसके छठे अध्ययनमे 'दसपुव्वी'का निर्देश है। अतः इसकी रचना अन्तिम दस पूर्वी वज्र स्वामीके पश्चात् होनी चाहिये।

कहा जाता है कि मूल महा निशीथ सूत्र तो नष्ट हो गया। हरिभद्रसूरि ने उसका फिरसे उद्धार किया। वर्तमान महानिशीथ सूत्रमें आलोचना और प्रायश्चित्तका वर्णन है। व्रतभंगसे

---

१ 'जं च महाकप्पसुयं जाणि य सेसाणि छेदसुत्ताणि। चरणकरणाणुओगोत्ति कालियत्थं उवगयाणि।' ७७७। आव० नि०। वि० भा० गा० २२९५। २—इं. एं. जि. २१, पृ० १८५। हि. इं. लि. (विन्ट.) जि २, पृ. ४६५।

खासकर ब्रह्मचर्यव्रतके भंगसे कितना दुःख उठाना पड़ता है यह बताकर कर्म सिद्धान्त को सिद्ध किया है। इसमें तांत्रिक कथनों का तथा आगमेतर ग्रन्थों का निर्देश होनेसे यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अर्वाचीन है। [1]कहीं कहीं इसे छठा छेद सूत्र भी बतलाया है। इस पर केवल चूर्णि है, कोई टीका नहीं है।

तीसरा छेद सूत्र व्यवहार है। आवश्यक सूत्रके अनुसार दसा, कप्प, व्यवहार एक श्रुत स्कन्ध है और उसका नाम 'दसा कप्प व्यवहार' है। इसमें व्यवहारको कल्पके बाद रखा गया है। किन्तु रत्नसागरमें व्यवहारको छेद सूत्रोंमें सर्वोपरि बतलाया है। इसमें दस उद्देसक हैं। पहले उद्देसकमें बतलाया है कि आलोचना करने वाला और आलोचना सुनने वाला साधु कैसा होना चाहिये। तथा आलोचना किस भावसे करनी चाहिये और उसका क्या प्रायश्चित्त देना चाहिये। दूसरेमें बतलाया है कि एक संघके दो साधु साथ-साथ विहार करें और दोनों को दोष लगे तो एक तपश्चर्या करे, दूसरा उसकी वैयावृत्य करे। फिर दूसरा तपश्चर्या करे और पहला वैयावृत्य करे। इसी तरह यदि अनेक साधु साथ २ विहार करते हों तो जिसको दोष लगे वह तपश्चरण करे। किन्तु बिना कारण किसी तपस्वीसे अपनी वैयावृत्य नहीं कराना चाहिये। इत्यादि अनेक बातोंका कथन है। तीसरे उद्देसकमें बतलाया है कि गणी पद किसे देना चाहिये। चौथेमें बतलाया है कि किस रीतिसे विहार करना चाहिये और कैसे चतुर्मास करना चाहिये। पांचवेमें साध्वियों के विहार तथा चतुर्मासकी रीति बतलाई है। छठेमें साधुकी भिक्षा, बसति आदि सम्बन्धी दोषोंके प्रायश्चित्तका विधान है।

---

१ जै. सा. इ. (गु०), पृ. ७६।

सातवेंमें साध्वियोंके लिये नियम स्वाध्याय आदिका विधान है। आठवेंमें बतलाया है कि साधुको गृहस्थकी आज्ञा लेकर ही उसके मकानमें ठहरना तथा उसके पटा आदिका व्यवहार करना चाहिये। भिक्षाके लिये जाते समय किसी साधुको किसी साधुका कोई उपकरण पड़ा मिले तो पूछकर जिसका हो उसको दे दे। तथा भोजन कितना करना चाहिये, आदि बातोंका कथन है। नौवें उद्देसकमे शय्यातरका अधिकार है। जो गृहस्थ साधुको अपना मकान ठहरनेके लिये देता है उसे शय्यातर कहते हैं। उसका तथा उसके दास-दासियों तकका भोजन न करनेकी मर्यादा आदिका वर्णन है। दसवेंमे प्रतिमा, परिषह व्यवहार आदि अनेक विषयोंका तथा अमुक अमुक आगमकी शिक्षा कब देना चाहिये, आदि बातोका कथन है। मूल ग्रन्थ गद्यमें है। उसपर प्राकृत गाथाओंमे भाष्य है। उस पर मलयगिरिकी टीका है।

चौथे छेद सूत्र दसा श्रुतस्कन्धमे दस अध्ययन हैं। तीसरे स्थानांगके दसवें स्थानमें आयार दसाओं'नामसे इसका उल्लेख है तथा उसमें उसके दस अध्ययनोंके जो नाम दिये हैं वे ही नाम वर्तमान अध्ययनोके भी हैं। इससे श्री[1] वेबर इसे प्राचीन मानते थे। प्रथम सात दशा 'सुयं मे आउसं तेनं भगवया एवं अक्खायं' वाक्यसे आरम्भ होती हैं और 'त्ति बेमि'के साथ समाप्त होती हैं।

पहली दशामें असमाधिके बीस स्थानोंका कथन है। दूसरीमें अशक्ति लाने वाले इक्कीस सबल दोषोंका कथन है। तीसरीमें गुरुकी ३३ असादनाओंका चौथी दशामें आचार्यकी आठ सम्पदाओंका, पाचवें अध्ययनमें चित्त समाधिके दस स्थानोंका,

---

१ इं० ए० जि० १६, पृ० २११।

छठेमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका, और सातवेंमें बारह भिक्षु प्रतिमाओंका कथन है।

इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें महावीर भगवान का वर्णन है। नौवें अध्ययन में मोहनीय कर्म के तीस बन्ध स्थानोंका वर्णन है और दसवें में बतलाया है कि श्रेणिकने चेलनाके साथ महावीर भगवानके एक साधुके मुखसे क्या सुना ?

यतः कल्पसूत्र एक स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बहुमान्य ग्रन्थ है अतः उसके सम्बन्धमें कुछ विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है।

इसके तीन भाग हैं। श्री वेबरके अनुसार प्रथममें भगवान महावीरका इतिवृत्त है, दूसरे भागमें उनके पूर्ववर्ती २३ तीर्थङ्करों का वर्णन है और तीसरे भागमें स्थविरावली है। और डा० विंटरनिट्सके अनुसार पहले भागमें जिन चरित दूसरे भागमें स्थविरावली और तीसरे भागमें सामाचारी है। इन तीन भागों को मिलाकर कल्पसूत्र नाम दिया गया है। कल्पसूत्रका मुख्य भाग भगवान् महावीरका जीवनवृत्त है जो बहुत विस्तारसे काव्य शैलीमें निबद्ध किया गया है। उसे पढ़ते समय बौद्ध-ग्रंथ ललित विस्तराका स्मरण आ जाता है। ललित विस्तरा-में बुद्धके जन्मादिका जैसा वर्णन है, कल्प सूत्र में प्रतिपादित महावीरके जन्मादिका वर्णन उससे बहुत कुछ मिलता हुआ है। उदाहरणके लिए यहाँ दोनोंसे अनुदित करके एक प्रसंग दिया जाता है।

कल्पसूत्र	ललित विस्तरा
१ ऐसा न कभी हुआ, न होता है, न होगा कि अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव अथवा वासुदेव अन्त कुलों में, प्रान्त कुलों मे, तुच्छ कुलों में दरिद्र कुलों मे, कृपण कुलों में, भिक्षुक कुलो में और ब्राह्मण कुलों मे जन्मे थे, जन्मे हैं या जन्मेगे। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव उग्रकुल मे, भोगकुल मे, राजन्य कुल मे क्षत्रिय कुल में, हरिवंश कुल में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कुल में जन्मे थे, जन्मे हैं और जन्मेंगे।	१ बोधि सत्त्व चाण्डाल कुल, वेणु कार कुल, रथकार कुल, पुक्कस कुल जैसे हीन कुलों में जन्म नहीं लेते। वे या तो ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं या क्षत्रिय कुल में। जब लोक ब्राह्मण प्रधान होता है तो ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं और जब लोक क्षत्रिय प्रधान होता है तब क्षत्रिय कुलमें जन्म लेते हैं (पृ० २१)

महावीरके गर्भ परिवर्तन तथा जन्मका वर्णन आचारांग सूत्रसे मिलता है। भ० महावीरके चरित्रके पश्चात् भगवान पार्श्व-नाथ और नेमिनाथका संक्षिप्त चरित है, जिसमें उनके पञ्च कल्याणकों का निर्देश है। नेमिनाथसे लेकर अजित नाथ पर्यन्त का केवल अन्तर काल मात्र बतलाया है। किन्तु ऋषभ देवके पञ्च कल्याणकोंका निर्देश किया है।

स्थविरावलीमें देवर्द्धि गणि तक स्थविरोंका निर्देश है। अतः यह स्पष्ट है कि श्रुत केवली भद्रबाहु उसके रचयिता नहीं हो

सकते। भगवान महावीरके ६८० वर्ष पश्चात् पुस्तक वाचनाका उल्लेख होनेसे भी उसका समर्थन होता है। अतः श्री वेबर[1] का विश्वास था कि कल्पसूत्रका मुख्य भाग देवर्द्धि गणिके द्वारा रचा गया है। उनका यह भी कहना था कि यथार्थ में कल्पसूत्र अथवा उसका वर्तमान आभ्यन्तर भाग 'कल्पसूत्र' कहे जानेका दावा नहीं रखता; क्योंकि उसकी विषय सूचीके साथ उसका कोई मेल नहीं खाता। 'दसाओं' के आठवें अध्ययन पर्युषणा कल्पके साथ उसका मेल होनेके बाद उसे वह नाम दिया गया है।

कल्पसूत्रपर सबसे प्राचीन टीका जिन प्रभ सूरिकी है जिसका नाम 'सन्देह विषौषधि' है। १३०७ई०मे उसको रचना हुई है। उसीके प्रारम्भ मे उसे कल्पसूत्र नाम दिया हुआ है। कल्पसूत्रका अन्तिम भाग पर्युषणा है। डा० विन्टर नीट्स[2] ने इसे कल्पसूत्रका प्राचीनतम भाग होनेकी संभावना व्यक्त की है। अपने इस अनुमानको पुष्टि में उनका कहना है कि कल्पसूत्रका पूरा नाम वास्तव में पर्युषणा कल्प है। और यह नाम इस अन्तिम भागके लिये ही उपयुक्त हो सकता है। आज भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रतिवर्ष पर्युषण पर्व मे इसका पाठ होता है। उनका यह भी कहना है कि परम्पराके अनुसार जिन चरित्र, स्थविरावली और सामाचारी कल्पसूत्रके नामसे मूल आगमों में सम्मिलित नहीं थे। देवर्द्धि गणि ने उन्हें आगमों मे सम्मिलित किया, यह परम्परा कथन बहुत करके ठीक प्रतीत होता है।

१–इं० एं० जि० २१, पृ० २१२–२१३। २–हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ४६३–४६४।

पाँचवा छेदसूत्र बृहत्कल्पसूत्र है। कोई[1] इसे दूसरा छेद सूत्र मानते हैं। साधु और साध्वियों के आचार का यह एक प्रमुख और प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें छै उद्देशक है, जिनमें निषेध परक नियमों का 'न कप्पई' करके और विधिपरक नियमों का कप्पई, करके निर्देश है। प्राकृत गाथाओंमें सूत्रों पर विस्तृत भाष्य होनेसे इसे कल्पभाष्य भी कहते हैं। भाष्यमें विविध विषयों का अच्छा संग्रह है।

एक सूत्र[2] में कहा है कि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को पूरब मे अंग-मगध तक, दक्षिणमें कौशाम्बी तक, पश्चिममें स्थूणा नगरी तक और उत्तरमे कुणाला नगरी तक ही जाना चाहिये। इतना ही आर्य क्षेत्र है उससे बाहर नहीं जाना चाहिये, उसके बाहर ज्ञान, दर्शन और चारित्र उत्पन्न नहीं होते।

आर्य देश की यह मर्यादा और निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसी मे विहार करनेका आदेश अन्वेषण की दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

डा० विन्टर नीटस[3] व्यवहार सूत्र नामक छेद सूत्र को बृहत्कल्प सूत्र का पूरक मानते हैं। उनका कहना है कि कल्प-सूत्र दण्डके उत्तर दायित्व का शिक्षण देता है और व्यवहार सूत्र अमुक दोषके लिये अमुक दण्ड का विधान करता है।

१—जै० सा० इ० (गु०), पृ० ७७।

२—'कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंग मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंबीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ, उत्तरेण जाव कुणाला विसयाओ एत्तए। एत्ताव ताव कप्पइ एत्ताव ताव आरिए खेते। णोसे कप्पइ एत्तो वाहिं। तेण परं नत्थ नाण दंसण चरित्ताः उप्पज्जति त्ति बेमि ॥ ५० ॥

३—हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ४६४।

छठा छेदसूत्र पंचकल्प मूलरूपमें उपलब्ध नहीं है। विचारामृतसंग्रह के अनुसार पंचकल्प संघदास वाचक की कृति है। रत्न सागरमें जीतकल्प को छठा छेदसूत्र लिखा है। यह जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण की कृति है। इसमें जैन श्रमणोंके आचारका तथा प्रायश्चित्त का वर्णन है।

चार मूल सूत्र

श्री वेबर[1] और विन्टर नीट्सने उत्तराध्ययन को प्रथम मूल-सूत्र बतलाया है। उत्तराध्ययन वगैरह को क्यों मूलसूत्र कहा गया है यह स्पष्ट नहीं होता। 'मूल' शब्द का व्यवहार टीकाके आधार भूत ग्रन्थके लिये होता है। यतः इन सूत्र ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं इस लिये उन्हें मूल सूत्र कहा जाता था ऐसा डा० विन्टर नीटस[2] का मत है। चार्पेन्टियर ने उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावनामें मूलसूत्र का अनुवाद किया है-'स्वयं महावीरके शब्द' जो किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता। शुब्रिंग की राय थी कि जो आध्यात्मिक पथके मूल अर्थात् शुरूमें स्थित हैं उनके लिये जो सूत्र थे उन्हें मूलसूत्र कहा गया था। श्री वेबर कहना था कि इन ग्रन्थों का यह नाम काफी अर्वाचीन है और मूल सूत्र का मतलब 'सूत्र' से अधिक कुछ भी नहीं है। किन्तु ये सूत्रग्रन्थ गद्यसूत्र रूप नहीं हैं, किन्तु पद्योंमें हैं। उनमें उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष प्राचीन है।

१ आवश्यक—इस सूत्रमें छै अध्याय है। उनमें सामायिक,

१—इं० एं० जि० २१, पृ० ३०६।

२ - हि० इं० लि०, पृ० ४६६ का टि० १।

चतुर्विंशतिस्तव, बन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन छै आवश्यको का कथन है। जिन क्रियाओं का प्रति दिन करना आवश्यक है उनका प्रतिपादन करनेसे इस ग्रन्थ का नाम आवश्यक सूत्र पड़ा है। दिगम्बर परम्परामें भी ये छै आवश्यक मान्य हैं और अंग बाह्यके भेदोंमें उनकी गणना पृथक् पृथक् की गई है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उन छहोंके संकलन को आवश्यक नाम दिया गया है। इसके रचयिताके विषयमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। आवश्यक सूत्र पर आवश्यक निर्युक्ति नामक व्याख्या है जिसे भद्रबाहु रचित माना जाता है। आवश्यक निर्युक्तिके साथ ही आवश्यक सूत्र का प्रकाशन हुआ है। और उस पर मलय गिरि की टीका है। निर्युक्तिके सिवाय उस पर दो प्राचीन टीकाएँ और भी हैं-एक चूर्णि और एक हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति।

२ दशवैकालिक-विकालमें भी पढ़ा जा सकनेके कारण इसे वैकालिक कहा जाता है और इसमें दस अध्ययन हैं इस लिये इसे दशवैकालिक कहते हैं। पहले अध्ययन का नाम द्रुम पुष्पिका है। जैसे द्रुमके फूल को हानि पहुँचाए बिना भौंरा उसका रस चूस लेता है वैसे ही जैन श्रमण प्रवृत्ति करता है। इसमे धर्म की प्रशंसा की गई है। दूसरे श्रामण्यपूर्विका अध्ययनमें नये प्रव्रजित श्रमण को धैर्य पूर्वक प्रवृत्ति करनेका सन्देश दिया गया है। तीसरे क्षुल्लिकाचारकथा नामक अध्ययनमें लघु आचार कथा है और आत्म संयम को उसका उपाय बतलाया है। चौथे षटजीवनिका नामक अध्ययनमें आचार का सम्बन्ध छै कायके जीवोंसे होनेके कारण अन्य जीवों की रक्षा का कथन

है। पांचवे पिण्डैषणा नामक अध्ययनमें भिक्षा शुद्धि का कथन है। छठे महाचारकथा नामक अध्ययनमें महाजनोंके योग्य महान आचार का कथन है। सातवें वचनविशुद्धि नामक अध्ययनमें निर्दोषवचन का विधान है। आठवें आचार प्रणिधि नामक अध्ययनमें आचारमें प्रणिहित-दत्तचित्त होने का विधान है। नौवें विनय समाधि नामक अध्ययनमें विनय सम्पन्न होने का विधान है। दसवें सभिक्षु अध्ययनमें कहा है कि जो भिक्षु नवों अध्ययनोंमें प्रतिपादित विधानों का प्रतिपालक है वही सच्चा भिक्षु है। इन दस अध्ययनोंके सिवाय दो अध्ययन और हैं जिन्हे चूलिका कहा जाता है। उनमेंसे प्रथम का नाम रतिवाक्य है। यह साधु को संयममें स्थिर करनेके लिये है। और दूसरेमे अनियत चर्या का विधान है।

विधिमार्गप्रपा[1] मे दशवैकालिकके बारह अध्ययन बतलाये हैं। दोनों अन्तिम अध्ययनों को भी दसके साथ गिना है। किन्तु दशवैकालिक[2] निर्युक्तमें दस अध्ययनों का विधान करके अन्तिम दो अध्ययनों को चूलिका बतलाया है। इस ग्रन्थ पर भी एक निर्युक्ति है जिसे भद्रबाहुरचित माना जाता है। उसमें लिखा[3] है कि दश वैकालिक का चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्वसे, पांचवा अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्वसे और सातवां अध्ययन सत्यप्रवादपूर्वसे उद्धृत किया गया है तथा शेष अध्ययन नौवे प्रत्याख्यान पूर्वके तीसरे वस्तु अधिकारसे उद्धृत किये गये हैं। उसीमें दूसरा मत यह भी दिया है कि दशवैकालिक का उद्धार द्वादशांगरूप गणिपिटकसे किया गया है।

---

१ पृ. ४६। २ गा०, १६-२४। ३—गा० १६-१८।

इसी निर्युक्ति[४] में आचार्य शय्यंभव को दशवैकालिक का रचयिता बतलाया है। यह शय्यंभव जिनप्रतिमा दर्शनसे प्रतिबुद्ध हुए थे और जब इन्होने गृहत्याग किया इनकी स्त्री गर्भवती थी। उसके मनक नामक पुत्र हुआ। आठ वर्ष का होने पर मनकने अपनी मातासे अपने पिता का समाचार पूछा। यह ज्ञात होने पर कि पिता साधु होगये हैं, मनक उनकी खोजमें निकला और उनका शिष्य बन गया। पिताने जाना कि उसके पुत्र की आयु केवल छै मास बाकी है। उसने उसके लिये दशवैकालिक का उद्धार किया।

इसमें तो सन्देह नहीं कि दशवैकालिक प्राचीन है और दिगम्बर सम्प्रदायमें भी उसकी मान्यता रही है। किन्तु उसका प्राचीन रूप यही था या भिन्न, यह अन्वेषणीय है। यापनीय संघके अपराजित[५] सूरिने भी उसपर एक टीका रची थी।

उत्तराध्ययन—'उत्तर' शब्दके दो अर्थ होते हैं—'पश्चात्' और जवाब। उत्तराध्ययन निर्युक्तिके अनुसार इसका अध्ययन-पठन आचारांगके पश्चात् होता था इसलिये इसे उत्तराध्ययन कहते हैं। दूसरी परम्पराके अनुसार भगवान महावीरने अपने निर्वाणसे पूर्व अन्तिम वर्षावासमें छत्तीस प्रश्नों का उत्तर दिया था, उत्तराध्ययन उसीका सूचक है।

इसमें छत्तीस अध्ययन हैं। चौथे अंगमें इनके नाम आये हैं।

४—'मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा। वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं नाम ॥१५॥'—दश० नि०।

५—'दशवैकालिकटीकाया श्री विजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादि दोपा इति नेह प्रतन्यते।' —भ० आ०, गा० ११९७ टी०।

और वे वर्तमान उत्तराध्ययनके अध्ययनोंके नामोंसे प्रायः मिलते हैं। डा० विन्टरनीट्स[1] का कहना है कि 'वर्तमान उत्तराध्ययन अनेक प्रकरणों का एक संकलन है और वे प्रकरण विभिन्न समयोंमें रचे गये थे। उसका प्राचीनतम भाग वे मूल्यवान पद्य हैं जो प्राचीन भारत की श्रमणकाव्य शैलीसे सम्बद्ध हैं और जिनके सदृश पद्य अंशतः बौद्ध[2] साहित्यमें भी पाये जाते हैं। ये पद्य हमें बलात् सुत्तनिपातके पद्योंका स्मरण करादेते हैं।'

विनय नामक प्रथम अध्ययनमें 'बुद्ध' शब्द आता है। यथा 'कठोर अथवा मिष्ट वचनसे मुझे बुद्ध जो शिक्षा देते हैं, अपना लाभ मानकर उसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये[3]॥' इस

१—हि. इं. लि., भा. २ पृ० ४६६–६७।

२—यहाँ उदाहरणके लिये उत्तराध्ययनसे तथा बौद्ध धम्मपदसे दो उद्धरण दिये जाते हैं।

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
ण सो सुअक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥ ४४॥
—उत्त० अ० ६,।

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसि॥ ११॥—धम्म० बालग्ग
जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहि तं वयं बूम माहणं॥ २७॥ उत्त०, अ० २५।
वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु तमहं बूमि ब्राह्मणं॥ १६॥
—धम्म०, ब्राह्मणवग्ग।

३—जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा। मम लाभु त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे॥ २७॥

अध्ययनमें दत्त उपदेश हृदयग्राही हैं। परीषह नामक दूसरा अध्ययन 'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं' वाक्यसे प्रारम्भ होता है। इसमे बाईस परीषहों का कथन पद्यमें है। तृण परीषह का वर्णन करते हुए लिखा[1] है—'अचेल, रूक्ष, तपस्वी संयमी तृणों पर सोता है अतः उसके शरीर का विदारण होता है। तथा घाम का भी कष्ट होता है। किन्तु तृणपरीषहसे पीड़ित होने पर भी साधु वस्त्रगृहण नहीं करते॥ तीसरे चतुरङ्गीय अध्ययनमे चार वस्तुओं को उत्तरोत्तर दुर्लभ बतलाया है। प्रथम नरजन्म, दूसरे धर्मश्रवण, तीसरे श्रद्धा और चौथे अपनी शक्ति को संयममें लगाना।

चौथे असंस्कृत नामक अध्ययन मे कहा है कि जीवन असंस्करणीय है इसे बढ़ाया नहीं जा सकता और वृद्धावस्था आने पर रक्षाका कोई उपाय नहीं है अतः प्रमाद मत करो। पाँचवे अकाममरण नामक अध्ययन मे अकाम मरण और सकाम मरणका वर्णन है। छठे क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय नामक अध्ययन मे साधुके सामान्य आचारका कथन है। अन्तिम वाक्य में कहा है कि [2]अनुत्तर ज्ञान दर्शनके धारी ज्ञातृपुत्र भगवान वैशालिक (विशालाके पुत्र महावीर) ने ऐसा कहा।

सातवें औरभ्रीय नामक अध्ययन में पाँच दृष्टान्तोंके द्वारा निर्ग्रन्थोंका उद्बोधन किया गया है। वे पाँच दृष्टान्त हैं-मेढ़ा, काकिनी, आम्र फल, व्यापार और समुद्र। आठवें कापिलीय

१—गा० ३४-३५। २—एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालीए वियाहिए। १८॥ त्ति बेमि।

नामक अध्ययन में कपिल मुनिने केवल ज्ञानी होकर चोरोंको समझानेके लिए जो उपदेश दिया उसका संकलन है।

नौवें नमि प्रव्रज्या नामक अध्ययनमें नमि नामक प्रत्येकबुद्ध राजाकी दीक्षाका वर्णन है। मिथिलाका राजा नमि कामभोगोंसे विरक्त होकर जिन दीक्षा लेता है और इन्द्र ब्राह्मणका रूप बनाकर उससे प्रश्न करता है। अन्तमें राजाके वैराग्य पूर्ण उत्तरोंसे सन्तुष्ट होकर इन्द्र नमस्कार करके चला जाता है। मिथिलाका राजा नमि ऐतिहासिक व्यक्ति है। इसके विषयमें पहले लिख आये हैं। यह भगवान पार्श्वनाथके कालमें हुआ था। दसवें द्रुम पत्रक नामक अध्ययनमें महावीर स्वामी गौतम गणधरसे कहते हैं कि 'जैसे वृक्षका पत्ता पीला होकर झड़ जाता है वैसा ही मानव जीवन है। अतः गौतम एक क्षणके लिये भी प्रमाद मत कर'। छत्तीस पद्योंमें से प्रत्येकका अन्तिम चरण 'समयं गोयम ! मा पमायए' है। सभी पद्य सुन्दर उपदेशप्रद हैं।

ग्यारहवें बहुश्रुत नामक अध्ययनके प्रारम्भिक पद्यमें कहा गया है कि 'संयोगसे मुक्त अनगार भिक्षुके आचारका कथन करूँगा उसे सुनो। बारहवें हरिकेशीय नामक अध्ययनमें हरिकेशी मुनिकी कथा है। हरिकेशी मुनि जन्मसे चाण्डाल था। एक दिन भिक्षाके लिए वह एक यज्ञ मण्डपमें चला गया। वहाँ ब्राह्मणोंसे उसका वार्तालाप हुआ। ब्राह्मणोंने उसे वहाँसे चला जानेके लिए कहा। वह नहीं गया तो कुछ तरुण विद्यार्थियोंने उसे मारा। तब यक्षोंने उन कुमारोंको पाटा। पीछे हरिकेशीसे क्षमा याचना करने पर छोड़ा। चित्रसम्भूतीय नामक तेरहवें अध्ययन चित्र और सम्भूति नामक मुनियोंका वृत्तान्त है। चौदहवें

इषुकारीय अध्ययनमें बतलाया है कि एक ही विमानसे च्युत होकर छै जीवोंने अपने २ कर्मके अनुसार इषुकार नामक नगरमें जन्म लिया और जिनेन्द्रके मार्गको अपनाया। संभिक्षु नामक पन्द्रहवें अध्ययनमें भिक्षुका स्वरूप बतलाया है। प्रत्येक पद्यके अन्तमे 'स भिक्खू' (वह भिक्षु है) पद आता है। इसीसे इस अध्ययनका नाम सभिक्षु है। सोलहवें ब्रह्मचर्य समाधि नामक अध्ययनमें ब्रह्मचर्यके दस समाधि स्थानोंका कथन है। इ का आरम्भ भी 'सुयं मे आउसं' आदि वाक्यसे होता है। दस सूत्रोंके द्वारा दस समाधियोंका कथन है। तत्पश्चात् श्लोकोंके द्वारा उन्हींका प्रतिपादन है। सतरहवें पापश्रमण नामक अध्ययन में पापाचारी श्रमणोंका स्वरूप बतलाया है। अठारहवें संयतीय अध्ययनमें संजय राजाकी कथा है। उन्नीसवें मृगापुत्रीय अध्ययनमें मृगापुत्रकी कथा है। बीसवें महा निर्ग्रन्थीय अध्ययन में एक मुनिकी कथा है। इक्कीसवें समुद्रपालीय अध्ययनमें समुद्र पालकी कथा है। बाईसवें रथनेमीय अध्ययनमें रथनेमिकी कथा है। रथनेमि नेमिनाथका छोटा भाई था। वह प्रव्रजित होगया था। एक दिन साध्वी राजुल वर्षासे त्रस्त होकर एक गुफामे चली गई और वस्त्र उतार कर सुखाने लगी। उसी गुफा में रथनेमि तपस्या करता था वह राजुलको देखकर उसपर आसक्त हो गया। राजुलने उसे सम्बोधकर सुमार्गमें लगाया।

तेईसवें केशिगौतमीय नामक अध्ययनमें पार्श्वनाथ परम्परा के केशी और गौतम गणधरके संवादका वर्णन है। पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताके प्रकरणमें इसकी चर्चा आचुकी है। प्रवचनमाता नामक चौबीसवें अध्ययनमें पाँच समिति और तीन गुप्तियोंका कथन है इनको प्रवचनकी माता कहा गया है। पचीसवें यज्ञीय

अध्ययनमें जयघोषकी कथा है। विजयघोष नामक ब्राह्मण यज्ञ करता था। जयघोष मुनि भिक्षाके लिए पहुँचे। उसने भिक्षा नहीं दी। दोनोंका संवाद हुआ। जयघोषने कहा कि यज्ञोपवीत धारण करनेसे ही कोई ब्राह्मण नहीं होजाता और न वल्कल पहिननेसे तपस्वी ही होजाता है। सामाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययनमें साधुओंकी सामाचारीका कथन है। खलुङ्कीय नामक सत्ताईसवें अध्ययनमें गर्ग नामक मुनिकी कथा है। उसमें खलुङ्क–गलिया बैलका दृष्टान्त दिया है। अट्ठाईसवें मोक्षमार्ग नामक अध्ययनमें मोक्षके मार्ग ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का वर्णन है। उनतीसवें सम्यकत्व पराक्रम नामक अध्ययनमें संवेग, निर्वेद, धर्म श्रद्धा आदि तिहत्तर द्वारोंका कथन है। इसका आरंभ 'सुयं में आउसं' आदि वाक्यसे होता है। यह सूत्ररूप है। आदि और अंतमें लिखा है कि भगवान महावीरने इसका कथन किया है। तीसवें तपोमार्ग नामक अध्ययनमें तपका वर्णन है। चरण विधि नामक इकतीसवें अध्ययनमें चारित्रकी विधिका कथन है। प्रमाद स्थान नामक बत्तीसवें अध्ययन में प्रमादका कथन है तथा राग द्वेष और मोह को दूर करनेके उपाय बतलाये हैं। कर्म प्रकृति नामक तेतीसवें अध्ययनमें कर्मोंके भेद प्रभेद तथा उनकी स्थिति बतलाई है। चौंतीसवें लेश्या नामक अध्ययनमें छै लेश्याओं का स्वरूप बतलाया है। पैंतीसवे अनगार मार्ग नामक अध्ययनमें संक्षेपमें मुनिका मार्ग बतलाया है। छत्तीसवें जीवाजीवविभक्ति नामक अध्ययनमें जीव और अजीव द्रव्यों का कथन है।

इस तरहसे वर्तमान उत्तराध्ययन सूत्र विविध प्रकरणों का एक संग्रह जैसा है। न वो यह प्रश्नोत्तररूप ही है और न

आचारांग आदिके बाद ही पढ़ने योग्य है। यह एक उपदेशात्मक तथा कथात्मक संग्रह है जिसमें प्राचीनता की पुट है। इस पर भी एक निर्युक्ति है जिसे भद्रबाहु की कहा जाता है। एक चूर्णि है। और शान्ति सूरि तथा नेमिचन्द्र की संस्कृत टीकाएँ हैं। डा० हर्मन जेकोबीने इसका जर्मनीमें अनुवाद किया था। उसका अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थ माला की ४५ वीं जिल्दमें सूत्रकृतांगके अनुवादके साथ प्रकाशित हुआ है।

पिण्ड निर्युक्ति या ओघ निर्युक्तिको चौथा मूलसूत्र माना जाता है। परम्परासे इन्हें भी भद्रबाहुकी कृति कहा जाता है। पिण्डका अर्थ भोजन है। अतः पिण्ड निर्युक्तिमे भोजन सम्बन्धी उद्गम, उत्पादन, एषणा आदिका कथन है। कहा जाता है कि दशवैकालिक सूत्रमें पिण्डैषणा नामक पांचवा अध्ययन है। उसी की निर्युक्तिको बड़ा हो जानेके कारण अलग करके पिण्ड निर्युक्ति नाम दे दिया गया। ओघनिर्युक्तिमे मुख्यरूपमे चरित्रका कथन है। इसमे चरण सत्तरी, प्रति लेखना आदि अनेक द्वार हैं।

दस पइन्ना

पइन्ना अथवा प्रकीर्ण फुटकर ग्रन्थ हैं। श्री विन्टर नीट्स इन्हे वेदोके परिशिष्टोंकी तरह मानते हैं और उन्हीकी तरह ये पद्यबन्ध हैं तथा जैनधर्म सम्बन्धी विविध विषयोंका इनमें वर्णन है। इनकी सख्या दस है।

१ चतुः शरण—इसमें बतलाया है कि अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्म इन चारकी शरण लेनेसे पापकी निन्दा और पुण्यका अनुमोदना होती है। इन चारोंका स्वरूप भी बतलाया है। इसमे

६३ गाथाएँ हैं। पहली गाथामें षडावश्यकका कथन है। इसका रचयिता वीरभद्रको कहा जाता है।

२ आतुर प्रत्याख्यान—में बाल मरण और पंडित मरणका स्वरूप समझते हुए पंडितको रोगावस्थामें क्या २ प्रत्याख्यान करना चाहिये, कैसे सम्बंधि मरण करना चाहिये आदिका कथन है।

३ भक्त परिज्ञा—मरणके तीन प्रकार हैं-भक्त परिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन। भक्त परिज्ञाके दो प्रकार हैं-विचार पूर्वक और अविचार पूर्वक। भोजनके छोड़ देनेको भक्त परिज्ञा कहते हैं। इसमें भक्त परिज्ञा मरणकी विधिका निरूपण है। इसमें १७२ गाथा हैं।

४ संस्तारक—समाधि मरणके लिये प्रासुक तृणोंकी शय्या बनाई जाती है उसे सथरा कहते हैं। इसमें १२३ गाथाओंसे संथरेका कथन है।

५ तन्दुल वैचारिक—इसमें शरीरकी रचना आदि को लेकर भगवान महावीर और गौतमके बीचमें हुए संवादका वर्णन है। गद्य और पद्य मिश्रित है। इसमें बतलाया है कि जीव गर्भमें कितने दिन रहता है कैसे आहार ग्रहण करता है कैसे उसका शरीर बनता है। उसमें कितनी हड्डियां स्नायु वगैरह होते हैं। इसके नामके विषयमें टीकाकार विजय विमल गणि ने लिखा[1] है कि सौ वर्षकी आयुवाले पुरुषके द्वारा प्रतिदिन खाये गये चावलोंकी संख्याके विचारसे उपलक्षित होनेके कारण इसे तन्दुल वैचारिक कहते हैं। इसकी गाथा संख्या १३९ है।

१.. 'तन्दुलानां वर्षशतायुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकं नामेति।'

६ चन्द्रवेध्यक—चन्द्रवेधके उदाहरणके द्वारा यह बतलाया है कि आत्माका ऐसा ही एकाग्र ध्यान करना चाहिये। उसीसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसमें १७४ गाथाएँ हैं।

७ देवेन्द्रस्तव—३०७ गाथाओंके[१] द्वारा देवेन्द्रोंका कथन है।

८ गणिविद्या—८२[२] गाथाओंके द्वारा ज्योतिषका कथन है।

९ महा प्रत्याख्यान—१४२ गाथाओंके द्वारा महा प्रत्याख्यान का कथन है।

१० वीरस्तव—४३ गाथाओं में महावीर भगवानके नामोंकी गणना-स्तुतिरूप है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दस पइन्नाओंकी तालिका अनिश्चित है। कोई देवेन्द्रस्तव और वीरस्तवको एक साथ लेते हैं तथा संस्तारकको नहीं लेते। उनके स्थान में वे गच्छाचार पइन्ना और मरण समाधिको गिनते हैं। गच्छाचार मे साधु साधियोंके आचारका कथन है जो महानिशीथ और व्यवहार सूत्रसे लिया गया है। मरण समाधि में ६६३ गाथाओंके द्वारा समाधि मरणकी विधि आदि वर्णित है। इस मे लिखा है कि मरण विशुद्धि, मरण समाधि, भक्त परिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान आदि ग्रन्थोंसे मरण समाधि ग्रन्थकी रचना की गई है।

संक्षेप मे यह श्वेताम्बरीय अंगबाह्य ग्रन्थोंका परिचय है। उक्त साहित्यके आधार पर जैनाचार्योंने जो साहित्य रचा उसका इतिहास आगे दिया जायगा। यह तो उसकी केवल पूर्व पीठिका है।

२—डा० विन्टर० ने ३०० गाथा संख्या लिखी है।

३—डा० विन्टर ने गाथा संख्या ८६ लिखी है-पृ० ४६१।

नाम सूची

[इस सूची में ग्रन्थ, ग्रन्थकार, संघ, स्थल, क्षेत्र, राजा आचार्य आदि के नामों का समावेश किया गया है। यदि कहीं कोई नाम लगातार आया है तो वहाँ पृष्ठांक के बाद 'आदि' लिख दिया गया है। जिस पृष्ठांक के आगे टि. लिखा है उस पृष्ठ की टिप्पणी देखना चाहिये।]

ग्रन्थ लेखनमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी संकेत-विवरण पूर्वक सूची

अगुत्तर	अगुत्तर निकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप सम्पादित
अनु०	अनुयोगद्वार सूत्र	आगमोदय समिति सूरत
अंतगड	अंतगडदसाओ	गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय अहमदाबाद
अग्निपु०	अग्निपुराण	आनन्दाश्रम प्रेस पूना
अथर्व०	अथर्ववेद	संस्कृत संस्थान बरेली
अनगार० टी०	अनगारधर्मामृत टीका	माणिकचन्द जैन ग्रन्थ-माला बम्बई (वाराणसी)
अनेकान्त	मासिक पत्र	वीरसेवा मन्दिर दरिया-गंज देहली
अभि० चि० टी०	अभिधानचिन्तामणि टीका	
अभि० र०	अभिधान रत्नमाला	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
अभि० रा०	अभिधान राजेन्द्र	
अर्ली हि० वैष्ण०	अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्टस्	हेमचन्द्रराय चौधरी
अशोक	डा० राधाकुमुद मुकर्जी	

आ० आ०	आर्यों का आदिदेश	डा० सम्पूर्णानन्द वाराणसी
आउट रि० लि० इं० रि० लि० इ०	एन आउट लाइन आफ दी रिलीजस लिट् रेचर आफ इ०	J. N. FARGU-HAR
आक्स० हि० इ०	आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया	
आचार दिनकर		
आचा० नि०	आचाराग निर्युक्ति शीलाकटीका सहित	आगमोदय समिति बम्बई
आचा० शी० टी०	आचाराग सूत्र शीलाक टीका	आगमोदय समिति बम्बई
आचा० सू०	आचाराग सूत्र	आगमोदय समिति सूरत
आ० चू०	आवश्यक चूर्णि	ऋषभ देव केशरीमल रतलाम
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	आगमोदय समिति सूरत
आप० परि०	आप स्तम्ब परिभाषा	
आप स्तम्ब धर्म सूत्र		बम्बई संस्कृत सिरीज
आ० पु०	आदि पुराण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
आर्क्यो० गुज०	आर्क्योलॉजी आफ गुजरात	एच० डी० संकलिया
आव० टी० मलय०	आवश्यक टीका मलय गिरि	जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी बाजार बम्बई
आश्वलायन गृह्य सूत्र		जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता

अश्वलायन श्रौत सूत्र		आनन्दाश्रम प्रेस पूना
इ० इ० रि० इन्साइ० इ० रि०	इन्साइक्लोपिडिया इथिक्स एण्ड रिलीजन	प्रथम सस्करण
इ० ए० इन्डि० एण्टि०	इण्डियन एण्टीक्वेरी	
इ० थीज्म	इण्यिन थीज्म	मैकनिकल
इण्डियन कल्चर		
इ० पा०	इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
इ० फि०	इण्डियन फिलोसोफी	डा० राधाकृष्णन्
इ० आ० रे०	इण्डो आर्यन रेसेस	रा० ब० रामप्रसाद चन्दा
इ० से० जै०	इण्डियन सैक्ट आफ दी जैनास्	बुहलर
ईशावा० उ०	ईशावास्योपनिषद्	उपनिषदाङ्क गीताप्रेस गोरखपुर
उत्त० उत्तरा०	उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्र रचित वृत्ति सहित	सेठ क्षेभचन्द्र पुष्पचन्द्र वलाद निर्णय सागर प्रेस बम्बई
उ० पु० उत्तर पु०	उत्तर पुराण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
उपदेश पद वृत्ति	मुनि चन्द्र रचित	मुक्ति कमल जैन मोहन माला बड़ौदा
ऋग्वेद		आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना
ऋग्वेद भूमिका		हितचिन्तक प्रेस बनारस १६३३

ऋषिमण्डल	पद्म सुन्दर रचित वृत्ति सहित	
एतरे॰ आ॰ सा॰ भा॰	एतरेय आरण्यक सायण भाष्य	आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना
एत॰ ब्रा॰	एतरेय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना
एंशि॰ इ॰	एशियंन्ट इण्डिया	रा॰ ब॰ कृष्ण स्वामी आयंगर
एंशि॰ इ॰	एंशियन्ट इण्डिया	आर॰ सी॰ मजूमदार
औप॰ सू॰	औपपातिक सूत्र	प॰ भूरामल अहमदाबाद प्रकाशित
ओरन		लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
कठ॰ उ॰	कठ उपनिषद्	गीताप्रेस गोरखपुर
क॰ पा॰	कसाय पाहुड	जैन संघ मथुरा
कर्मकाण्ड	कर्मकाण्ड गोम्मटसार	रायचन्द शास्त्रमाला अगास
क॰ व॰ भा॰	कलक्टेड वर्क्स आफ डा॰ आर॰ जी॰ भण्डारकर	पूना
क॰ सू॰ / कल्प सू॰	कल्प सूत्र सुबोधिनी टीका सहित	
का॰ वृ॰	काशिका वृत्ति	
किरातार्जुनीय	मल्लिनाथीय टीका सहित	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
कुमार संभव		निर्णयसागर प्रेस बम्बई
कूर्म पु॰	कूर्म पुराण	मनसुखलाल मोर कलकत्ता

कै० हि०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया	कैम्ब्रिज १९३५
कौषीतकी ब्राह्मण		उपनिषदाक गीता प्रेस गोरखपुर
गरुड पु०	गरुड पुराण	
गी०	भगवद्गीता	
गी० र०	गीता रहस्य	लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत छठा संस्करण
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	रायचन्द शास्त्र माला अगास
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	,, ,,
गोपथ ब्राह्मण		
गौतम धर्मसूत्र		आनन्दाश्रम प्रेस पूना
ग्लि० पो० हि०	ग्लिम्प्सेस आफ पोलिटिकल हिस्ट्री	रतिलाल मेहता
छा० उ०	छान्दग्योपनिषद्	उपनिषदाक गीता प्रेस गोरखपुर
ज० डि० ले०	जर्नल ऑफ डिपार्टमेण्ट आफ लेटर्स	
ज० ध०	जयधवला-कसाय पाहुड टीका	भा० जैन संघ मथुरा
ज० प०	जम्बुद्वीप पण्णत्ति	जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर

ज० रा० ए० सो०	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी	
ज० वि० उ० रि० सो०	जर्नल आफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी	पटना
जै० ना० इ०	जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया	चिम्मन लाल शाह
जै० शि० सं०	जैन शिला लेख संग्रह	माणिकचन्द ग्रन्थमाला
जै० सा० इ०	जैन साहित्य और इतिहास	श्रीनाथूराम प्रेमी बम्बई
जै० सा० इ० गु०	जैन साहित्यनो इतिहास गुजराती	जैन श्वे० कान्फ्रेंस बम्बई
जै० सि० भा०	जैन सिद्धान्त भास्कर	जैन सिद्धान्त भवन आरा
जै० सा० वि०	जैन साहित्य में विकार	पं० बेचरदास दोशी
जै० सा० स०	जैन साहित्य संशोधक	पूना से प्रकाशित
जै० हि०	जैन हितैषी	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई
ज्योति० टी०	ज्योतिष्करण्ड टीका	रतलाम संस्करण
ज्योतिर्विदाभरण		
तत्त्वार्थ०	तत्त्वार्थ वार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
त० भा० टि	तत्त्वार्थ भाष्यटीका	देवचन्दलाल भाई ग्रन्थमाला
ति० प०, त्रि० प०	तिलोयपण्णत्ति	जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर
ति० प०	तित्था गाली पइन्ना	
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक	आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना

तै० उ० तैत्ति० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्	उपनिषदांक गीताप्रेस गोरखपुर
तैत्ति० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना
तै० स	तैत्तिरीय संहिता	
त्रि० सा०	त्रिलोकसार	माणिकचन्द ग्रन्थ माला भा० ज्ञानपीठ वाराणसी)
द० सा०	दर्शन सार	जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई
दशभ०	दशभक्ति	सोलापुर संस्करण
दिग्घनिकाय		महाबोधि सभा सारनाथ काशी
धवला	षट् खण्डागम के अन्तर्गत	सेठ शितावराय लक्ष्मी-चन्द भेलसा (विदिशा)
नन्दि०	नन्दिसूत्र	आगमोदय समिति
नन्दि चूर्णि		
नन्दि टी०	नन्दिटीका	आगमोदय समिति
न० पट्टा०	नन्दिसंघ पट्टावली	जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित
नागरी प्रचारिणी पत्रिका		नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
निरया०	निरयावलियाओ	गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय अहमदाबाद
निरुक्त		निर्णय सागर प्रेस बम्बई
नैषध काव्य		निर्णय सागर प्रेस बम्बई

पउम०	पउमचरिउ	विमल गणि रचित
पञ्चव०	पञ्चवस्तुक	जीवनचन्द शाकर चन्द जवेरी बम्बई
पञ्च ब्रा०	पञ्चविंशति ब्राह्मण	
पञ्चा० विव०	पञ्चाशक विवरण	निर्णय सागर प्रेस बम्बई से मुद्रित
पट्टा० समु०	पट्टावली समुच्चय	वीरमगाव (गुजरात)
परि० प० प० प०	परिशिष्ट पर्व	हेमचन्द्राचार्य प्रणीत
पा० चा०	पार्श्वनाथका चातुर्याम	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई
पा० भा०	पाणिनिकालीन भारत	मोतीलाल बनारसी दास काशी
पा० महा०	पातञ्जल महाभाष्य	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
पा० स० म०	पाइअसद्दमहण्णव	प० हरगोविन्द दास कलकत्ता
पाली टीका परमत्थ जोतिका		
पीप इन टु अर्ली हिस्ट्री		भाण्डारकर लेख संग्रह पूना, जि० १
पो० हि० एं० इ०	पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशियन्ट इंडिया	राय चौधरी
प्रज्ञा०	प्रज्ञापना (मलयगिरि-टीका सहित)	
प्रव० सारो०	प्रवचन सारोद्धार	श्रीनेमिचन्द्राचार्य रचित

प्रश्नोपनिषद्		उपनिषदांक गीता प्रेस गोरखपुर
प्रा० भा० सं० इ०	प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास	स्व० रमेशचन्द्रदत्त
प्री० बु० इ० फि०	हिस्ट्री आफ प्री बुद्धि-स्टिक इंडियन फिलॉसोफी	डा० बरुआ
प्रीहि० इ०	प्री हिस्टोरिक एशियन्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया	डा० राखलदास बनर्जी
प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ		
प्रो० रा० ए. सो. बं०	प्रोसीडिंग्स् रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल	
बु० इ०	बुद्धिस्ट इण्डिया	रे डेविड्स
बु० च०	बुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायन
बोधपा०	बोधपाहुड	षट् प्राभृतादि संग्रहान्तर्गत मा० ग्रन्थ मा०
बौधायन धर्म सूत्र		चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी
बौ० ध० द०	बौद्धधर्म और दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव
ब्रह्माण्डपु०	ब्रह्माण्ड पुराण	मनसुखलाल मोर
भ० आ०	भगवती आराधना	शोलापुर संस्करण
भ० सू० अभयटी०	भगवती सूत्र अभयदेव टीका सहित	श्री जैन भास्करोदय प्रेस जामनगर

भद्रबाहु चरित्र	पं० उदयलाल कृत अनुवाद	जैन भारती भवन बनारस
भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति		
भा० अनु०	भारतीय अनुशीलन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
भा० आ हि०	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी	डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
भा० इं० पत्रिका	अनल्स आफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना	
भा० इ० रू०	भारतीय इतिहास की रूपरेखा (प्र० सं०)	जयचन्द विद्यालङ्कार
भा० पु०	श्री मद्भागवत पुराण	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
भा० प्रा०	भाव प्राभृत (षट्प्राभृतादि संग्रह)	मा० जैन ग्रन्थमाला
भा० प्रा० रा०	भारत के प्राचीन राजवंश	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बम्बई
भारतीय विद्या		भारतीय विद्याभवन बम्बई
भाव स०	भाव संग्रह	माणिकचन्द ग्रन्थमाला
भा० स० अ०	भारतीय संस्कृति और अहिंसा	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बम्बई
म० नि०	मज्झिमनिकाय	महाबोधि सभा सारनाथ
मनु०	मनुस्मृति	चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी
महानारायण उपनिषद्		"

महापरिनिव्वाण सुत्त		भिक्षु धर्म रक्षित संपादित
महावंश		„
मार्कण्डेय पुराण		मनसुखलाल मोर कल०
मार्डर्न रिव्यु		प्रवासी प्रेस कलकत्ता
मुण्ड० उ०	मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
मूला०	मूलाचार	माणिकचन्द ग्रन्थमाला
मै० सं०	मैत्रायणी सहिता	स्वाध्याय मण्डल खेतान
मैत्रायणी उपनिषद्		उपनिषदाक गीता प्रेस गोरखपुर
मो० सा०	मोहेजोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता	नागरी प्रचारणी सभा काशी
मौ० सा० इ०	मौर्य साम्राज्य का इतिहास	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
यजुर्वेद		
योग०	योग शास्त्र वृत्ति	हेमचन्द्राचार्य
योग दर्शन		
रत्न० श्रा०	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	माणिकचन्द ग्रन्थमाला
राज० इति०	राजस्थान का इतिहास	हीराचन्द गौरीशंकर ओझा
रि० इ०	रिलीजन आफ इण्डिया	प्रो० हापकिन्स
रि० इ०	रिलीजन आफ इण्डिया	ए० बार्थ
रि० फि० वे०	रिलीजन एण्ड फिलॉसोफी आफ दी वेद	ए० बी० कीथ
ल० जा०	लघुजातक	मास्टर खिलाड़ी लाल बनारस

लिङ्ग पुराण		मनसुखलाल मोर
लो० प्र०	लोकप्रकाश	जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी बम्बई
वायु पुराण		मनसुखलाल मोर कलकत्ता
वाराह पुराण		
विनय पि०	विनय पिटक	महाबोधि सभा सारनाथ काशी
वियना ओरियन्टल जर्नल		
वि० प्र०	विधि मार्ग प्रथा	मुनि जिन विजय सम्पादित
वि० श्रे० विचार श्रे०	विचार श्रेणि	
विशे० भा० वि० भा०	विशेषावश्यक भाष्य	यशो विजय ग्रन्थ माला काशी
विष्णु पु०	विष्णु पुराण	गीताप्रेस गोरखपुर
वी० नि० स० जै० का०	वीर निर्वाण सम्वत और जैन काल गणना	मुनि कल्याण विजय
बृ० क० को० हरि० क० को०	हरिषेण कृत बृहत्कथाकोश	सिन्धि सिरीज भारतीय विद्या भवन बम्बई
बृ० जा०	बृहज्जातक	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
बृ० सं०	बृहत्संहिता	सुब्रह्मण्य शास्त्री बेंगलोर
बृह० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्	उपनिषदाक गीता प्रेस गोरखपुर

वेदान्त सूत्र		
वै० इ०	वैदिक इन्डेक्स	मोतीलाल बनारसीदास काशी
वै० ए०	वैदिक एज	भारतीय इतिहास समिति
वै० वा० इ०	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त लाहौर
वै० सा०	वैदिक साहित्य	भरतीय ज्ञानपीठ काशी
व्य० सू०	व्यवहार सूत्र	अहमदाबाद सस्करण
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण	
शै० वै०	शैविज्म वैष्णविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम	डा० भण्डारकर
श्र० भ० म०	श्रमण भगवान महावीर	मुनि कल्याण विजय लिखित
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
षट् खं०	षट् खण्डागम	सेठ सिताबराय लखमी चन्द भेलसा
षट् प्रा० टी०	षट् प्राभृत टीका	माणिक चन्द जैन ग्रंथ माला काशी
स० च० क०	सटीका चत्वारि कर्मग्रन्थाः	आत्मानन्द जैन ग्रंथ माला भावनगर
सम० सू० सम वां०	समवायाग सूत्र	आगमोदय समिति बम्बई
सागार०	सागार धर्माभृत	माणिक चन्द ग्रंथमाला काशी
सामाचारी शतक		

सि० कौ०	सिद्धात कौमुदी	
सूत्र०	सूत्रकृताङ्ग	
सूत्र० नि०	सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति	
सूत्र० शी० टी०	सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्ग टीका सहित	जैन ज्ञानोदय सोसायटी राजकोट
सूत्र प्रा०	सूत्र प्राभृत (षट् प्राभृता दिसंग्रहान्तर्गत)	मा० ग्र० काशी
से० बु० इ०	सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट	
सेन०	सेन प्रश्न	
स्कन्द पुराण		मनसुख लाल मोर कलकत्ता
स्ट० जै०	स्टडीज इन जैनिज्म	डा० हर्मन जेकोबी का लेख संग्रह
स्था०	स्थानाङ्ग सूत्र शीलाङ्क टीका सहित	अहमदाबाद से प्रकाशित
ह० इ० सा०	हरिटेज आफ इंडिया दी साख्य सिस्टम	डा० कीथ
ह० च०	हर्षचरित एक अध्ययन	विहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना
हरि० पु०	हरिवंश पुराण	माणिक चन्द ग्रन्थ-माला काशी
हा० जै०	हार्ट आफ जैनिज्म	मिसेज स्टिवेन्सन लिखित
हि० इ० फि०	हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी	डा० दासगुप्ता लिखित

हि० इ० लि० (विन्टर०)	हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर	डा० विंटर नीट्स लिखित
हि० ध०	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज्	पी० वी० काणे
हि० ध० म०	हिन्दू धर्म समीक्षा	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई
हि० प्री० इ०		वालिस
हि० प्री० इ० फि०	हिस्ट्री आफ प्री बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासोफी	डा० बरुआ
हि० फि० ई० वे०	हिस्ट्री आफ फिलासोफी ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न	डा० राधाकृष्णन्
हि० ब्रा० एसे०	हिस्ट्री आफ ब्राह्मणिकल एसेटिकसिज्म	पूना ओरियन्टल सिरीज नं० ६४, १९३९
हि० स०	हिन्दू सभ्यता	डा० राधा कुमुद मुकर्जी लिखित
हिस्ट्री आफ इन्डियन लॉजिक		डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण
हे० टी०	हेतुविन्दु टीका	गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज बड़ौदा

शुद्धि-पत्र

शत्रश्रो	शत्रुश्रो	१४
नाट	नाक	१८
समभते	समझते	१८
श्रार्यी	श्रार्य	१६
विकासक	विकासके	२३
ऋषियो	ऋषियों	३५
उच्चारण	उच्चारण	३६
पढता	पढ़ता	३७
पढ़ता	पढता	३७
रशाल	मशाल	३७
श्रध्वर्यु	श्रध्वर्यु	३६
श्रावश्यको	श्रावश्यक	३६
डीहिं०	प्रीहिं०	४६
प्रजाषति	प्रजापति	६५
श्रमत	श्रमृत	६५
छौर	श्रौर	६७
हि० रि० ई० वे०	हिं० रि० ई० वे०	७५
पुनजन्म	पुनर्जन्म	८०
सबका	सबको	८०
श्रचार्य	श्राचार्य	८२

बाहिये	चाहिये	८३
मान्येनः	मन्यिनः	९०
निष्मीलित	निमीलित	९९
ब्राम्रण	ब्राह्मण	१११
ज० ए०	ज० रा०	११२
आश्रदाता	आश्रयदाता	११४
पुरमें	पुराणमें	१२५
निश्चत	निश्चित	१३७
आकीर्तिकर	अकीर्तिकर	१४६
श्रोयस्कर	श्रेयस्कर	१४७
नहावीरः	महावीरः	१७२
हदेव मायामो	देव...मायामोह	१७७
हिसंता	संहिता	१७७
रप्रचा	प्रचार	१८२
पू फूर्व में ली	पूर्व मे फली	१८२
याज्ञवल्क्य	याज्ञवल्क्य	१८७
पुरणां की	पुराणो की	१९०
परोह्नत	परोहित	१९०
प्रभुत्व	प्रमुख	१९२
वै	है	१९२
षार्श्वनाथ	पार्श्वनाथ	१९४
२ ति० प०	१ ति० प०	१९४
पहले	पहले	२०६
(Maller)	(Mallep)	२०९
आक्ततत्त्घ	आत्मतत्त्व	२१०
आत्मविषवक	आत्मविषयक	२११

चेकट	चेटक	२३६
जिन्होने	जिन्होने	२४३
श्रे०	श्वे०	२५७
श्रूरि	सूरि	२६७
उयोद्धात	उपोद्धात	२६८
समवसक	समवयस्क	३०५
ननी	नही	३४४
पर्षों	वर्षों	३४७
सम्सत्	सम्वत्	३४७
श्रापत्तिजदक	श्रापत्ति जनक	३५१
उपव्ररित	उपचरित	४२३
त्तिच	चित्त	४५१
प्रनुख	प्रमुख	४५५
पद्म मुन्दिर	पद्म सुन्दर	४६७
स्यापित	स्थापित	५१६
कल्पसूत्र	बृहत्कल्प	५२७
श्रुतकवली	श्रुतकेवली	५५२
तन्दुल वैकालिक	तन्दुल वैचारिक	६७६